ISSN 2321-1288

Registered & Listed in UGC (Care List)

RAJASTHAN HISTORY CONGRESS

Chief Editor
Professor S.P. Vyas
Ret. Professor & Head, Jai Narain Vyas University, Jodhpur
Emeritus Fellow, UGC ; SAF, ICHR, New Delhi

Editor
Dr. Manorama Upadhyaya
Principal, Mahila P.G. Mahavidyalaya, Jodhpur

Managing Editors
Dr. T.V. Vyas
Dr. Anil Purohit
Dr. Ravindra Tailor

PROCEEDINGS VOLUME XXXIV

DEPARTMENT OF HISTORY
INSTITUTE OF ADVANCED STUDIES IN EDUCATION (DEEMED TO BE UNIVERSITY), GANDHI VIDYA MANDIR, SARDARSHAHAR, CHURU

19-20 DECEMBER - 2019

www.rajhisco.com
rajhisco@gmail.com

Editorial Board takes no responsibility for inaccurate misleading data, opinion and statement appeared in the articles published in this Proceedings. It is the sole responsibility of the contributors. No part of this Proceedings can be reproduced without the written permission of the Secretary, who also holds the copyright © of the 'Proceedings Rajasthan History Congress'.

❏ *Published by :*
Prof. S.P. Vyas
Secretary, Rajasthan History Congress
Department of History
J.N.V. University, Jodhpur

❏ *To be had from* :
Dr. Manorama Upadhyaya
Hony. Treasurer, Rajasthan History Congress
Mahila P.G. Mahavidyalaya, Jodhpur

❏ ISSN 2321-1288
❏ Registered & Listed in UGC (Care List)

The Publication of this Proceedings' Volume has been financially supported by the Indian Council of Historical Research, New Delhi. The responsibility for the facts or opinions expressed in the articles is entirely of the authors and not of the ICHR.

❏ Price :
Rs. 350/- only

❏ *Printed at :*
Jangid Computers, Jodhpur
M. : #91-6376545732

Preface

I feel honoured and proud, to present before the readers and scholars, the proceedings of 34th session, organized by Department of History, Institute of Advanced Studies in Education (Deemd to be University), Gandhi Vidya Mandir, Sardarshahar, Churu from 19-20 December, 2019. In placing the learned, scholarly papers, chronology has been adhered to, as far as possible. A number of papers of outstanding merit were presented in this session, breaking new ground and adding new research areas and elements to the history and culture of Rajasthan.

I am grateful towards Prof. Vasant Shinde, Archaeologist and Former Vice Chancellor of World Acclaimed Deccan College Deemed University, Pune for delivering the Presidential Address and I believe that under his presidentship we will be able to make more improvements in the institution of Rajasthan History Congress.

My thanks are due to Dr. Manorama Upadhyaya, Treasurer, Rajasthan History Congress for undertaking the responsibility of preparing and bringing out this volume. Despite all care, mistakes are bound to creep in. I hope readers will overlook them.

I also extend my thanks to all those who have made the publication of this proceeding possible. I humbly acknowledge the guidance of Prof. P.R. Arya. I appreciate the hard-work and sincere efforts of Dr. Tejendra Vallabh Vyas, Dr. Anil Purohit, Dr. Ravindra Tailor in the publication of the proceedings. Thanks are also due to Mr. Bhanwarlal Suthar and Mr. Sunil of M/s. Jangid Computers for the printing of the proceedings.

Prof. S.P. Vyas
Secretary,
Rajasthan History Congress

सचिव प्रतिवेदन

राजस्थान इतिहास कांग्रेस के 34वें अधिवेशन का उद्घाटन दिनांक 19 दिसम्बर 2019 को सुबह 10.00 बजे IASE (Deemed to be University), सरदारशहर के प्रशाल भवन में सम्पन्न हुआ। कार्यक्रम के मुख्य अतिथि प्रो. बी.एल. शर्मा, कुलपति पं. दीनदयाल उपाध्याय शेखावटी विश्वविद्यालय, सीकर, अध्यक्ष श्री हिमांशु दुगड़, गांधी विद्या मंदिर थे। स्थानीय सचिव, डॉ. अविनाश पारीक के स्वागत उद्बोधन के बाद 33वें अधिवेशन का प्रतिवेदन सचिव द्वारा प्रस्तुत किया गया।

Editorial Board द्वारा निम्नांकित शोध पत्रों का चयन किया –

1. राव गणपतसिह चितलवाना पुरस्कार – 1100/– डॉ. सुमित को दिया गया। उनके शोध–पत्र का विषय था – 18वीं शताब्दी में मारवाड़ में वस्त्र कारीगरों की जाति पंचायतें/न्यात पंचायतें।

2. डॉ. गजानन्द चौधरी पुरस्कार 1500/– डॉ. रवीन्द्र टेलर को दिया गया। शोध पत्र का विषय था – राजस्थान के धार्मिक सहिष्णुता के संवर्धन में जैन मंदिर स्थापत्य कला का योगदान।

34वें अधिवेशन के अध्यक्ष प्रो. वसन्त शिंदे द्वारा अपने उद्बोधन 'राजस्थान में पुरातत्व के विकास एवं तकनीक' पर किया गया। उन्होंने स्थानीय इतिहास लेखन की महत्ती आवश्यकता पर बल देते हुए कहा कि नवीन इतिहास लेखन में इतिहास को क्षेत्रीय दृष्टि से देखें एवं लिखे जाने की आवश्यकता है। साथ ही वैज्ञानिक इतिहास लेखन को परिलक्षित करते हुए

हड़प्पा संस्कृति के विविध आयामों पर प्रकाश डाला तथा हड़प्पाई लोगों के प्रवसन की भी चर्चा की।

प्रो. जी.एन. शर्मा स्मृति व्याख्यान डॉ. मयंक कुमार द्वारा दिया गया। विषय था 'भारत का आरम्भिक आधुनिक काल : संभावनाएं और अन्तर्विरोध'। उन्होंने कहा कि भारतीय इतिहास के काल-विभाजन में, अधिकांश देशों की भांति मध्यकाल को अन्धकार के युग के रूप में चित्रित किया गया है, जो अवधारणा अब स्वीकार्य नहीं है। उन्होंने इसके कारणों को भी स्पष्ट किया। राजस्थान में मध्यकाल का विवेचन प्रस्तुत करते हुए उन्होंने राज्यशक्ति के केन्द्रीकरण पर चर्चा की। प्राकृतिक तथा सामाजिक संसाधनों के दस्तावेजीकरण में इन सूचनाओं की प्राप्ति पर चर्चा की।

प्रो. नीलिमा वशिष्ठ द्वारा '19वीं शताब्दी में मारवाड़ की चित्रांकन परंपरा में नवीन प्रयोग' विषय पर प्रो. आर.पी. व्यास स्मृति व्याख्यान दिया। उन्होंने 19वीं शताब्दी में मारवाड़ की लघु चित्र शैली में हुए नवीन प्रयोगों पर अपना अध्ययन प्रस्तुत करते हुए कहा कि लघु चित्र शैली का विकास विभिन्न राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों में परिवर्तन का परिणाम था।

दो दिवसीय इस आयोजन में कुल 11 तकनीकी सत्रों का आयोजन किया गया। समापन समारोह की मुख्य अतिथि प्रो. पुष्पा मोटीयानी थी। उन्होंने गांधीवादी विचारधारा एवं इतिहास-लेखन पर अपने विचार प्रकट किये। साधारण सभा की बैठक एवं अनुमोदन के साथ 34वां सत्र समाप्त हुआ।

दिनांक 19.12.2019 को सांय 05.00 बजे प्राचार्य कक्ष में कार्यकारिणी सभा की बैठक आहूत की गई। सभा में निम्नांकित बातों पर चर्चा की गई तथा प्रस्ताव पारित किये गये—

1. सदस्यों द्वारा सबसे पहले 34वें अधिवेशन के अध्यक्ष प्रो. बसन्त शिन्दे एवं नवनियुक्त कार्यकारिणी सदस्य डॉ. सुमेष्ठा एवं डॉ. वीरेन्द्र शर्मा का करतल ध्वनि से स्वागत किया गया।

2. गत 33वें अधिवेशन के प्रस्तावों का अनुमोदन समिति द्वारा सर्वसम्मति से किया गया।

3. प्रो. वसन्त शिन्दे द्वारा ऑनलाइन पोर्टल पर राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस द्वारा पुस्तकों की अपलोडिंग की प्रशंसा की गई तथा अधिक लोगों को जोड़ने की बात कही गई। साथ ही उन्होंने यह कहा कि इस माध्यम से राजस्थान इतिहास कांग्रेस नवीन शोध कार्य सभी तक पहुंचा रहा है। अध्यक्ष महोदय ने यू.जी.सी. केयर लिस्ट में प्रोसिडिंग्स के अंकन पर सदस्यों के प्रयासों की सराहना की।

4. डॉ. सुमेष्ठा द्वारा यह सुझाव दिया गया कि एडवांस स्टडी सेन्टर शिमला, आई. सी. एच. आर. एवं अन्य विश्वविद्यालयों से राजस्थान इतिहास कांग्रेस की वेबसाइट को लिंक कर इतिहास कांग्रेस को राष्ट्रीय पटल पर मुखरित किया जावे।

5. प्रो. एस.पी. व्यास द्वारा प्रोसिडिंग्स को मूल्यांकन की प्रक्रिया को विस्तार से प्रस्तुत किया गया। इस पर सभी सदस्यों द्वारा अधिवेशन में प्रस्तुत पत्रों पर अध्यक्ष द्वारा स्वीकृत-अस्वीकृत अथवा रिविजन हेतु टिप्पणी करने की प्रणाली की प्रशंसा की गई।

6. प्रो. वसन्त शिन्दे ने राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस की सदस्यता वृद्धि हेतु प्रयास किये जाने पर बल दिया। साथ ही डॉ. सुमेष्ठा के प्रस्ताव पर टिप्पणी करते हुए कहा कि इस हेतु राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस रिसर्च ट्रेनिंग वर्कशाप का आयोजन किया जावे एवं इस हेतु फण्डिंग प्राप्त की जावे।

7. कोषाध्यक्ष डॉ. मनोरमा उपाध्याय द्वारा गत वर्ष की ऑडिट रिपोर्ट प्रस्तुत की गयी।

8. 35वें अधिवेशन के सत्राध्यक्ष हेतु प्रो. शिव कुमार भनोत, पूर्व विभागाध्यक्ष एवं प्रोफेसर, महाराजा गंगासिंह विश्वविद्यालय, बीकानेर के नाम का प्रस्ताव किया गया। जिसे सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया।

9. प्रो. जी.एन. शर्मा स्मृति व्याख्यान हेतु प्रो. एन.एस. राव, इतिहास विभाग महाराजा गंगासिंह विश्वविद्यालय, बीकानेर तथा प्रो. आर.पी. व्यास स्मृति हेतु डॉ. राजेश कुमार, निदेशक आई.सी.एच.आर. का नाम सर्वसम्मति से स्वीकृत किया गया।

10. राजस्थान इतिहास कांग्रेस की वार्षिक सदस्यता शुल्क 300/- से बढ़ाकर 500/- करने का प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकार किया तथा आजीवन सदस्यता शुल्क को यथावत रखा गया।

11. संस्थानों को सदस्यता हेतु प्रेरित करने को कहा गया तथा शुल्क 2100/- प्रस्तावित किया गया।

12. 35वें अधिवेशन के आयोजन हेतु दो प्रस्ताव प्राप्त हुए। श्री जगदीश प्रसाद झाबरमल तिबरवाला विश्वविद्यालय, झूंझुनू के अध्यक्ष द्वारा तथा जनार्दनराय नागर राजस्थान विद्यापीठ के अन्तर्गत मणिक्यलाल वर्मा श्रमजीवी महाविद्यालय, उदयपुर से प्रस्ताव प्राप्त हुए। समिति ने माणिक्यलाल वर्मा श्रमजीवी महाविद्यालय उदयपुर में 35वें अधिवेशन के आयोजन को स्वीकार किया।

13. समिति द्वारा सर्वसम्मति से कुलाधिपति, कुलपति, प्रोवाईस चांसलर, डॉ. अविनाश पारीक, स्थानीय सचिव, प्राचार्य बी.एड. कॉलेज तथा आई.ए.एस.ई. विश्वविद्यालय के समस्त प्रशासनिक अधिकारियों, प्राध्यापकों एवं कर्मचारीगणों का सफल आयोजन एवं सुन्दर व्यवस्था हेतु करतल ध्वनि से आभार व्यक्त किया गया।

उपरोक्त प्रस्तावों को बाद में साधारण सभा में रखा गया जिसे सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया।

अन्त में दो मिनिट का मौन रखकर उन इतिहासकारों को श्रद्धांजलि दी गई, जो अब हमारे बीच नहीं हैं। इतिहास जगत के ये नाम सदा स्मरण रहेंगे—

प्रो. डी.सी. शुक्ला

डॉ. राम पाण्डे

डॉ. देवीलाल पालीवाल

डॉ. ए.के. मित्तल

प्रो. एस.पी. व्यास
सचिव,
राजस्थान इतिहास कांग्रेस

अनुक्रमणिका

1. Presidential Address
- Prof. Vasant Shinde ... 1

2. प्रोफेसर गोपीनाथ शर्मा स्मृति व्याख्यान
– डॉ. मयंक कुमार ... 7

3. प्रोफेसर आर.पी. व्यास स्मृति व्याख्यान
– प्रो. नीलिमा वशिष्ठ ... 25

4- Mahatma Gandhi's Harijan tour of Ajmer-Merwara, 4-6 July, 1934 and Public Response in Rajputana States
- Prof. V.K. Vashishtha ... 43

5. Jagirdari System in the South-Eastern Rajasthan during the Eighteenth Century
- Prof. Narayan Singh Rao ... 58

6. **Prof. Pema Ram Prize Paper**
Understanding Military Labour : The Role of Non-Combatants in the Marwar Army in Eighteenth Century
- Dr. Deepak Solanki ... 73

7. Trade Between the Jaipur State and the Marathas During the late Eighteenth Century
- Dr. Kalpana Malik ... 82

8. **Rao Ganpat Singh Chitalwana Prize Paper**
Agricultural production and taxation in the document Arhsatta of Chatsu
- Dr. Mahvish Musharraf ... 91

9. Indegenious versus Modernisation of Education in Rajputana by Christian Missionaries
- Dr. Sobha Singh ... 99

10. The Growth of Modern Education during the Reign of Maharaja Ram Singh II
-Mayuri Singhal ... 106

11. The Attires of Maharajas during the Festivals in 18th Century Marwar, with special reference to Hakikat Bahis and Miniature paintings of Marwar
- Rajshree Shekhawat ... 113

12. Makers of Eighteenth Century Jaipur Fabric
-Swati Kulshrestha ... 119

13. Revisiting Luigi Pio Tessitori
- Prof. Shankar Goyal ... 126

14. Season Songs - The Barahmasa as an Expression of Female Eros and Desire
- Dr. Jagriti Upadhyaya 131

15. Issue of Legitimacy in the Amber State : A study of the Roznamcha Paturkhana
- Kavita Kumari ... 145

16. Nayala : The Clinton City
- Dr. Ritika Kumari Meena ... 160

17. Caste and Religion : Case study of a local deity- Dalibai
- Dr. Rajshree Dhali ... 165

18. Memorial Stones : A Study of Regional Context in Early Medieval Indian History
- Dr. Neeraj Sahay ... 172

19. Mathas, Acharyas and Ascetics : Lakulisha-Pashupatas in Early Medieval Western India
- Ravina Meena ... 181

20. Archaeological Distribution Pattern of Settlements in Hanumangarh District Rajasthan
- Dr. Vikas Pawar ... 204

21. Mysteries of Cupules in the Perspective of Primitive Age with Special Reference to Rajasthan
- Dr. Virendra Sharma ... 211

22. Arjunayanas and Malavas; Some Reflections on Tribal Republics of Early Rajasthan
- Om Prakash Singh ... 219

23. Interpreting Integration Process in Early Medieval Rajasthan : A Case Study of the Making of Mewar Kingdom - Pinal Jain ... 225

24. Stoney Realm : Minerals as Makers of Social and Culturtal Spaces in Bikaner State during Late Medieval Times -Dr. Nitin Goyal ... 233

25. महाराजा विजयसिंह कालीन सनद परवाना बहियों में सामाजिक अपराध और दण्ड - फिरदोस बानो ... 243

26. शाहपुरा रियासत के रिकार्डस में उपलब्ध विभिन्न ब्याह (शादी) एवं शुभ प्रसंग की पत्र पत्रिकाओं में सामाजिक-सांस्कृतिक परम्पराओं का अवलोकन - डॉ. दिनेश राठी ... 249

27. मारवाड़ के कारखाना-जात विभाग का ऐतिहासिक सर्वेक्षण (खाना रिकार्ड कारखाना-जात के आधार पर) - मरजीना बानो ... 254

28. मारवाड़ में न्याय प्रशासन (मारवाड़ प्रशासन रिपोर्ट-1890-1995 के आधार पर) - निगार खानम ... 262

29. शेखावाटी के ठिकानेदारों के जयपुर राज्य के साथ सम्बन्ध : एक अध्ययन - डॉ. रश्मि मीना ... 269

30. राजस्थान का जलियाँवाला बाग : मानगढ़ धाम - डॉ. उषा लामरोर ... 284

31. विश्व युद्धों में अलवर रियासत की भूमिका-एक अध्ययन - डॉ. फूलसिंह सहारिया ... 290

32. हाड़ौती के स्वतन्त्रता संघर्ष कालीन लोक गीतों में गाँधीवादी राष्ट्रीयता - डॉ. (श्रीमती) सज्जन पोसवाल ... 303

33. सविनय अवज्ञा आन्दोलन और प्रांतीय कांग्रेस समिति-अजमेर (1930-31) - डॉ. विधि शर्मा ... 313

34. सूफी संत सदाराम जी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व - गणपत राम ... 328

35. राजस्थान के स्वतंत्रता संघर्ष के साहित्यिक पाथेय : डॉ. सुधीन्द्र (सन् 1917-1954 ई.) - डॉ. प्रणव देव ... 338

36. किसानी संघर्ष के प्रेरक : श्री शिवदयाल राजावत और उनका किसान संदेश - डॉ. अर्चना द्विवेदी ... 348

37. शहीद शिरोमणि कुंवर प्रताप सिंह बारहठ : भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का योद्धा -डॉ. दिनेश कुमार चारण एवं डॉ. सुदर्शना बारैठ ... 355

38. शेखावटी किसान आन्दोलन एवं जन जागरण के प्रणेता : चौधरी ताराचंद झारोड़ा -देवेन्द्र कुल्हार ... 364

39. शेरे राजस्थान लोकनायक श्री जयनारायण जी व्यास का बीकानेर रियासत में भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन में योगदान - डॉ. महेन्द्र पुरोहित ... 371

40. राजस्थान की जनजातीय संस्कृति में 'भील जनजाति' एक विश्लेषणात्मक अध्ययन - डॉ. ललित कुमार पंवार ... 386

41. राजस्थान में मीणा जनजाति की महिलाओं का एक सांस्कृतिक अध्ययन - अंकलेश कुमार ... 393

42. सीरवी समाज का उद्‌भव एवं विकास - एक ऐतिहासिक अध्ययन - डॉ. कुलवन्त सिंह शेखावत ... 400

43. जोधपुर राज्य के खानसामें व उनके कार्यों का अध्ययन
– डॉ. सुशीला शक्तावत ... 408

44. मरुक्षेत्र की ओरण संस्कृति एवं उसका महत्व :
एक विश्लेषणात्मक अध्ययन
– डॉ. सुरेश कुमार ... 417

45. 19वीं शताब्दी में पश्चिमी राजस्थान के प्रमुख उद्योग
व्यवसाय : एक अवलोकन
– डॉ. अनिल पुरोहित ... 425

46. संग्रहालय विज्ञान एवं बीकानेर स्थित गंगा गोल्डन जुबली
संग्रहालय का संग्रह – एक अध्ययन
– डॉ. कनिका भनोत ... 432

47. मेड़ता नगर का राव दूदा और उसका समय
– डॉ. तेजन्द्र वल्लभ व्यास ... 438

48. राजस्थान में स्वामीभक्ति के ऐतिहासिक पहलू
– डॉ. साहब राम कुमावत ... 448

49. जैसलमेर के प्रमुख व्यापारिक मार्ग एवं लड़पलाण (मौसमी
विस्थापन) से विकसित व्यापार : एक विवेचन
– डॉ. रविन्द्र टेलर ... 453

50. मारवाड़ में अफीम सेवन की परम्परा :
एक ऐतिहासिक अध्ययन
–डॉ. भरत देवड़ा ... 461

51. करणी माता : स्थानीय लोक देवी से राज्य देवी
– डॉ. मोनिका ... 473

52. कान्हड़दे प्रबन्ध में वर्णित समाज : एक अध्ययन
– डॉ. (श्रीमती) प्रेरणा माहेश्वरी ... 480

53. सामंती समाज एवं उपाश्रित तबके में बाबा रामदेव
के प्रति आकर्षण
– डॉ. तमेघ पंवार ... 488

54. ठिकाना रोहिट के दस्तावेजों में सामाजिक और
सांस्कृतिक जीवन – एक अध्ययन
– नयना आचार्य ... 495

55. मण्डोर के राव जी की गैर
– डॉ. प्रतिभा सांखला ... 506

56. राजस्थान की विस्मृत राजकुमारी देवलदे
– डॉ. सोमेश कुमार सिंह ... 512

57. राजस्थान का ऐतिहासिक परिदृश्य : संस्कृत के संदर्भ में
–एकता ... 521

58. जोधपुर राज्य में परम्परागत जल स्रोतों का प्रबन्धन
(अभिलेखागारीय बहियों के संदर्भ में)
– डॉ. सुखाराम ... 526

59. मेवाड़ राज्य के सिंचाई कार्यों का ऐतिहासिक एवं अनुसंधानपरक
अध्ययन (उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्द्ध 1874–1921)
– डॉ. नारायण लाल माली ... 531

60. पदराड़ा : पाटकेपद्र
– अजय मोची ... 542

61. **Prof. Gajanand Chaudhary Prize Paper**
अज्ञात प्राचीन मचीन्द ग्राम का मन्दिर
– डॉ. हेमेन्द्र चौधरी ... 551

62. बीकानेर रियासत में धातु मुद्रा का विकास
– डॉ. राजेन्द्र सिंह शेखावत ... 560

63. बीकानेर की निकाय प्रणाली
– सुनीता स्वामी ... 567

64. जैसलमेर पर अलाउद्दीन खिलजी का आक्रमण
– डॉ. (सुश्री) बिन्दु भसीन ... 571

65. पूर्व बीकानेर राज्य में परम्परागत हस्तकला उद्योग एवं व्यवसाय : एक अवलोकन (1818-1947 ई.)
- डॉ. राजशेखर पुरोहित ... 577

सारांश/Summary

66. Khejarli - National Forest Martyr's Day
- Dr. K. Rani Lakshmi ... 581

67. सरदारशहर में शिक्षा के लिए प्रवसन जातियों का मूल्यांकन
- डॉ. विश्वेश्वर शर्मा ... 583

68. मुगलकालीन डाक व्यवस्था : मारवाड़ के विशेष सन्दर्भ में
- सोनिया शर्मा ... 585

69. रेलवे का बीकानेर राज्य पर प्रभाव (1891-1947 ई.)
- डॉ. मयंक गुप्ता ... 586

70. सरदारशहर : जल संसाधनों की धरती
- आकाश भोजक ... 588

71. 1857 की क्रान्ति में राजस्थानी साहित्यकारों की भूमिका
- डॉ. आनन्द श्रीवास्तव ... 589

72. भारतीय संस्कृति के सम्प्रत्यय, महत्व एवं आवश्यक तत्व
- कुमार गौरव ... 590

73. झुंझनूं जिले के प्रमुख दर्शनीय स्थल
- श्रीमती एकता ... 591

74. साहित्य और कलानुशासन : अन्तरावलम्बन की भूमिका
- डॉ. कल्पना मौर्य ... 591

75. शेखावाटी के पर्यटन स्थलों का ऐतिहासिक अध्ययन
- डॉ. धर्मराज शिवाजी पवार ... 593

76. राजकीय संग्रहालय (अकबर दुर्ग) अजमेर में प्रदर्शित शिल्प व मूर्तिकला का ऐतिहासिक विश्लेषण
- रमा शर्मा ... 596

77. राजस्थान में किसान आन्दोलन
- श्रवण कुमार खीचड़ ... 598

78. भरतपुर के जाट शासक जवाहरसिंह द्वारा दिल्ली की लूट का ऐतिहासिक अध्ययन
- डॉ. कुलराज व्यास ... 601

List of Members ... 603

Audit Report ... 614

Presidential Address

Prof. Vasant Shinde

I take this opportunity to thank the executive committee and members of Rajasthan History Congress for electing me President of the Congress to deliver keynote address on the occasion of annual conference of the society to be held at Sardarshahar, Churu on 19 and 20 December 2019. I consider this a great personal honour as well as the honour of the Deccan College, Deemed University I represented for 42 years. I am happy to state that Deccan College has played a pioneer key role in generating primary data for reconstructing the history of Rajasthan. It also gives me immense satisfaction to state that I have contributed a bit to the History-writing of this great state as I did archaeological research in the Mewar region at the sites of Balathal, Bagor and Gilund from 1993-2006. Rajasthan is one of the distinct states of the country having geographical and geological as well as cultural variations, which have deep roots in the prehistory of the region. People of the state take deep pride in presenting this great varied tradition and preserving it to the posterity. The entire nation takes pride in the colourful diversity in cultural heritage of the state of Rajasthan.

Archaeological research in the state, in a true sense, was initiated by two stalwarts namely, R.C. Agrawal (first Director of the State Department of Archaeology and Museum) and H.D. Sankalia (founder of the Department of AIHC and Archaeology at Deccan College) in early fifties of the last century. Subsequently, scholars like V.N. Mishra of Deccan College carried out extensive and intensive archaeological investigations in 1950's and in 1960's and discovered a number of sites of different cultural periods ranging from Paleolithic to Early Historic. His work in the western desert of Rajasthan have brought to notice a numbers of Palaeolithic sites, some of which like Didwana, were excavated and their cultural significance noted. A team from Deccan College has worked extensively and intensively in parts of Bikaner and Jaisalmer area and not only studied characteristic of the Stone Age culture but also reconstructed

ancient climate to understand impact of climate on human cultures. The Palaeolithic culture in this area has been dated to around 5 to 2 lakhs years before the present.

The archaeological researches carried out at Bagor in the Mewar region of Rajasthan, first by V.N. Mishra and subsequently by the present author have revealed very interesting stories about the transition from hunting gathering to agriculture and interaction between people from different regions. For the first time the characteristic features and chronological stages of the Mesolithic phase in India were properly identified at Bagor in the context of South Asia. R.C.Agarwal, and H.D. initiated a very important research on Protohistoric phase of Rajasthan, which was subsequently continued by V.N. Mishra, V.S. Shinde and G.L. Possehl. In the mid 50's both Agarwal and Sankalia carried out limited excavation at the site of Ahar located at the outskirt of Udaipur city and established for the first time the cultural sequence of the Mewar region, from Chalcolithic to the Medieval period. The excavation at Ahar for the first time confirmed the presence of Protohistoric Chalcolithic phase dated to around 2000 BCE, which was termed by Sankalia as Chalcolithic Ahar in that region. It was believed that the Chalcolithic people were the first farmers of Mewar who flourished from 2000 to 1500 BCE. It was also thought that the ideas of agriculture and basic technologies spread from the Harappan region on the Western side. In the western part of Rajasthan R.C Agarwal discovered a complex of Protohistoric site at Ganeswar and Jodhpura. He conducted excavations at both the sites and discovered the Protohistoric phase, which was termed by him as Ganeshwar-Jodhpura cultural complex. For the first time R.C. Agarwal could establish interaction between the local Ganeshwar Chalcolithic communities and the Harappans. The sites of Ganeswar and Jodhpura are located close to the Khetri Copper belt and it was believed that they exploited the source of copper and manufactured various copper objects and traded with the Harappans and other contemporary cultures in other parts of the country. As a result of exchange network, one can see immense Harappan influence on pottery, copper, tool types and other material culture of the Chalcolithic communities of that region. Unfortunately, this important research could not be continued on a large scale. The sites of Ganeshwar and Jodhpura should have been excavated on large scale not only for establishing cultural sequence but

also to reconstruct the life of the Chalcolithic communities in that region.

In 1990's and the early 21st century a lot of archaeological research activities were initiated in the Mewar region of Rajasthan. A team of researchers from Deccan College in collaboration with Rajasthan Vidyapith in Udaipur began revisiting the Protohistoric and Early Historic sites reported by V.N. Mishra in 1950's and in 1960's to document their history in detail. V.N Mishra had discovered more than hundred Chalcolithic and Early Historic sites in this region and when they were revisited it was noticed that most of the sites have been destroyed due to developmental or agricultural activities. In order to generate more data on the Chalcolithic life style the site of Balathal in Udaipur district was selected for horizontal excavation. The research at the site turned out to be very significance as for the first time the the formative stage of Chalcolithic in Mewar region dated between 3900-2500 BCE, contemporary to the Early Hrappan phase in other parts of Rajasthan was discovered. The presence of the formative Chalcolithic phase established for the first time that there was an independent origin and development of agricultural activities and communities in Mewar part of Rajasthan. Three phase of Chalcolithic,viz. Early, Mautre and Late were identified and the excavation revealed a gradual growth from early phase to the well-developed mature phase dated to around 2500 BCE. This gradual growth was reflected in their structural activities as well as in ceramic technology. The Chalcolithic people began their life style very modestly in Mewar by constructing circular huts and using handmade crude and rough pottery. A gradual growth was noticed in the structural activities and also in the ceramic technology. The circular huts were replaced gradually by rectangular structure which in the subsequent phase were found to be well arranged in a linear pattern, finally developing into a well-planned settlement. Similarly, the handmade crude and rough pottery was developed gradually into fine variety by using wheel made technology. Around 2500 BCE, the Chalcolithic farmers of Mewar developed cultural and trade contact with the Harappans in Gujarat. The cultural contact with the Harappan in the Mewar region was evident in the presence of typical Harappan pottery, introduction of typical Harappan bricks for constructing and laying the settlement in a typical Harappan fashion with a street and structural complexes on its either sides. For the first time, the excavation revealed the development of Proto Urban in

Mewar region outside the Harappan territory during the Chalcolithic phase. The Harappan influence is also evident in the presence of fortification walls typical Harappan construction technology.

In the beginning of the 21st century, an International collaboration between Deccan College and the University of Pennsylvania, USA was initiated at the site of Gilund. Gilund is the largest Chalcolithic site in Mewar region, spread over an area of roughly 20 hectare and divided into two parts. The excavation at this site further corroborated an independent origin, development and decline of Chalcolithic phase that was excavated at the site of Balathal. However, the most important evidence obtained from the Gilund site revealed the origin of the formative stage of Chalcolithic phase in Mewar region. Beneath the Chalcolithic deposit was encountered 1.5m thick Mesolithic deposit at the site. Excavation in the Mesolithic levels revealed two phases, namely Aceramic Mesolithic and Ceramic Mesolithic. The Aceramic phase is dated roughly between 6000-4500 BCE, which contained the remains of circular flimsy structures and geometric and non-geometric typical microlithic tools. In the subsequent ceramic phase dated between 4500-3500 BCE were found fragments of very brittle ceramic which is the precursor to the Chalcolithic ceramic in this region. It is evident that the Chalcolithic ceramic tradition evolved from the Mesolithic ceramic in this region. The author carried out a fresh excavation in that part of the site of Bagor which was undisturbed. This excavation at Bagor produced the same kind of evidence as that found in the Mesolithic phase at the site of Gilund. These three sites clearly establish one more zone of independent origin of agriculture and village life in the Indian sub-continent. This research work initiated by a team of International researchers needs to be continued further so that we can clearly understand the cultural process and the factor responsible for the beginning of settled life in this part.

In 1960s and 70s a very important archaeological excavation was undertaken in the Western Rajasthan by B.B. Lal of the Archaeological Survey of India at the site of Kalibangan located in Hanumangarh District. Kalibangan is a typical Harappan site which has two phases of the Harappan cultures; Early Harappan (3000-2500 BCE) and mature Harappan (2500-1900 BCE). The significance of the excavation is that for the first time the presence of Harappan culture was clearly established in the Saraswati

basin. For the first time the Early Harappa phase was identified and defined at the site. The excavation also revealed the earliest and the only evidence of ploughed field dated to around 3000 BCE. It was also established that the Harappans introduced the rotation of crop system and both kharif and rabi crops. The agricultural tools and ploughing system and all crops introduced by the Harappans continued from the Harappans times to modern time in the Subcontinent. This excavation also provided the evidence of tandoori chicken and banana for the first time in the Mature Harappan levels.

The Early Historic phase in Rajasthan is not properly researched till date. Attempt is not made to understand factors responsible for cultural growth leading to second urbanization. In 1950's the site of Rang Mahal in the Western part of Rajasthan, not very far from Kalibangan, were carried out which provided hint that this was the important place for Kushana Empire. Distinct painted Black-on-Red ceramic tradition was found associated with the Early Historic phase at the site. This painted ceramic looks similar to that of the Harappan painted ceramic, leading to surmise that the Early Historic Rang Mahal ceramics were derived from the Harappan tradition. It is suggested that a large scale horizontal excavation be carried out at Early Historic site such as Nagari to understand not only the town planning of that particular period but also the factors responsible for the development of second urbanization.

The Medieval history of Rajasthan is well documented by using available textual sources. However, the history written on textual sources tends to remain biased as textual records are created for the ruler and they don't reflect the history of the common people. In order to reconstruct true history of any particular period, it is necessary to generate archaeological sources which can be synthesized with the textual source for reconstructing real history. Rajasthan is also rich for fortand it is argued that they are mostly used from security point of view and connected with the military organization. However, forts also play important role in the socio-economic and religion organizations and therefore these facets needs to be studied .

I will suggest that the Department of Archaeology of the state government undertakes a massive excavation on Early Historical sites for

two reasons; one, to study the settlement pattern and two develop the site from tourism point of view. The team of excavators should include besides archaeologists, various scientists such as geologist, botanist, zoologist, chemist etc. and other experts such as art historian, numismatics and epygraphists and palaeographer. A large number of sites are being destroyed which is threatening the important cultural heritage of not only the state but the country. There is immense scope in developing some sites from tourism point of view which can generate revenue for the state and the country. Systematic efforts need to be done to protect the site from destruction. We must make sure there is participation from the local people in the protection and preservation of the cultural heritage. The Rajasthan History Congress also will have to make academic plan for next five years, in which emphasis will be given to that region which has not been explored sufficiently an identify those areas in history which are considered to be gray area in the history of Rajasthan. It is the responsibility of such body to make sure that the entire regional history is systematically reconstructed which can enable reconstruction of the entire history of the country. I hope there will be meaningful dialogue between historians and archaeologists in this conference resulting inot positive outcome.

I wish a grand success of this conference.

प्रोफेसर गोपीनाथ शर्मा स्मृति व्याख्यान

भारत का आरम्भिक आधुनिक काल: संभावनाएं और अंतर्विरोध

डॉ. मयंक कुमार

माननीय अध्यक्ष महोदय, कुलपति महोदय, राजस्थान इतिहास कांग्रेस के 34वें अधिवेशन के अध्यक्ष, सचिव, कार्यकारिणी सदस्यगण, स्थानीय सचिव एंव उनके सहयोगी, सम्मानित अतिथिगण, विद्वतजन एवं इतिहास कांग्रेस के सभी प्रतिभागी। प्रो. एस.पी. व्यास, सचिव राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस एवं उनकी पूरी टीम ने मुझे प्रोफेसर गोपीनाथ शर्मा के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने हेतु चुना इसके लिए मैं आप सबका आभारी हूँ।

सुप्रतिष्ठित इतिहासकार प्रोफसर गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में आचार्य व एमिरेट्स प्रोफेसर के पद पर कार्यरत रहे। आपने विशेषकर राजस्थान इतिहास लेखन को नयी दृष्टि व नयी सोच के साथ, नवीन अनुसंधानों के माध्यम से बहुआयामी क्षितिज तक पहुंचाया। जिस वक्त इतिहास लेखन में राजनैतिक एवं आर्थिक प्रशासनिक मुद्दों का प्रभाव काफी ज्यादा था उस वक्त उन्होंने सामाजिक, धार्मिक व सांस्कृतिक इतिहास लेखन के दृष्टिकोण से अभिलेखागारीय व साहित्यिक सामग्री के आधार पर इतिहास लेखन पर जोर दिया। तदोपरांत अभिलेखीय स्रोतों में निहित इतिहास के कई और आयामों पर इतिहासकारों की दृष्टि गयी। खासकर राजस्थान के 16–18वीं सदी के स्रोतों ने भारतीय इतिहास को नए मायनों से पुर्नलिखित करने में गहरी भूमिका निभाई। मैं आप सबके सामने इस काल को आरम्भिक आधुनिक काल की मान्यता दिलाने के लिए अपनी दलीलें पेश कर रहा हूँ। इस काल को आरम्भिक आधुनिक काल कहने से जुड़ी संभावनाओं और अंर्विरोध पर आप सबका ध्यान आकर्षित कराना चाहता हूँ।

अपने मत के समर्थन में साक्ष्य पेश करने से पहले यह बात साझा करना जरूरी है कि कुछ इतिहासकार सम्मिलित रूप में इस विषय पर शोध कर रहे है और उम्मीद है कि अगले वर्ष उससे सम्बंधित एक पुस्तक मीना भार्गव और प्रत्यय नाथ के संपादन में

उपलब्ध करा पाएंगे। जैसा कि आप लोग आगे देखेंगे कि यह लेख मूलत: बीकानेर अभिलेखागार में उपलब्ध स्रोतों पर आधारित है जिनसे परिचय कराने के लिए मैं अपने गुरू प्रोफेसर दिलबागसिंह जी का तहेदिल से शुक्रिया अदा करता हूं साथ ही साथ प्रोफेसर घनश्याम लाल देवड़ा जी का भी शुक्रिया अदा करता हूं जो उन स्रोतों के विविध इस्तेमाल के लिए मुझे प्रेरित करते रहते हैं।

न केवल भारतीय इतिहास के काल विभाजन में बल्कि ज्यादातर देशों में काल विभाजन में मध्यकाल को अन्धकार–युग के रूप में चित्रित किया गया है[1] परन्तु आज इतिहासकारों को यह प्राय: स्वीकार नहीं है और इसकी वजहें भी हैं। *अगर, मैं यह कहूं कि मैं दो काफी विवादित अवधारणाओं – काल विभाजन और आधुनिक के संबन्धों, जो कि अपने आप ही में काफी जटिल हैं, की बात कर रहा हूं, तो गलत नहीं होगा।* खासकर भारतीय उपमहाद्वीप के सन्दर्भ में जहाँ पर 18वीं सदी के मध्य से ब्रिटिश उपनिवेशिक राज्य की स्थापना की वजह से काल विभाजन राजनैतिक अस्त्र के रूप में दुरुपयोग का शिकार हुआ था।

विस्तार में जाये बिना काल विभाजन के इतिहास की यूरोपीय परंपरा की संक्षेप में चर्चा करके अपनी बात आगे बढ़ाना चाहूंगा। जर्नल ऑफ मेडीवल एंड अर्ली मॉर्डन स्टडीज के एक हालिया विशेषांक में जॉन डेगानिस और मागरिट ग्रीर सुझाव देते हैं कि अतीत के त्रिपक्षीय विभाजन की शुरुआत को इतिहास के काल विभाजन की प्रक्रिया की शुरुआत के रूप में देखा जा सकता है।[2] एक प्रक्रिया जो रेनहार्ट कोसेलेक के अनुसार एक महत्वपूर्ण बौद्धिक प्रक्रिया है जिसमें आधुनिकता की शुरुआत देखी जा सकती है।[3] यूरोपीय इतिहास के त्रिपक्षीय विभाजन की अवधारणा पहली बार मानवतावाद के आगमन के समय की गई थी। गौरवशाली प्राचीन अतीत और आधुनिक पुन:जागरण के बीच के एक हजार साल को 'अँधेरा', 'खराब', 'बर्बरवाद' और 'आदिमता' के रूप में चित्रित किया गया था।

जैसा कि डागनेईस और ग्रीर बताते हैं, यह वह कुछ विशेषण थे जिनका यूरोपीय सेनाओं ने पंद्रहवीं शताब्दी के अंत से उपनिवेशित इलाकों के देशज समाज के लिए इस्तेमाल किया था। अर्थात, इस प्रकार उपनिवेशित इलाकों के देशज समाज को एक गैर–आधुनिक अथवा आदिम समय में रहने वाले लोगों के रूप में माना जाने लगा।[4] और उन्हें ही तथाकथित आदिम स्थिति के लिए जिम्मेदार भी घोषित कर दिया जाता था । इसी प्रक्रिया में, मध्ययुग को कई किस्म की नकारात्मक विशेषताओं से नवाजा भी जाने लगा। नकारात्मक विशेषताओं को 'मध्ययुग' की मूल प्रवृत्ति के रूप में प्रचलित कर दिया गया। अर्थात् मध्ययुग उस काल के रूप में चित्रित किया जाने लगा जहाँ हर वह खराब प्रवृत्ति दर्शायी जाने लगी जो उस वक्त के लोगों के अनुसार गलत या खराब थी

जैसे- चुड़ैल की अवधारणा एवं हत्या, तर्कहीनता, यातना, 'कट्टरपंथी' धार्मिक रीति-रिवाज, आदि।[5] सोलहवीं शताब्दी से दुनिया के विभिन्न इलाकों पर यूरोपीय उपनिवेशीकरण के विस्तार के साथ-साथ उनके अतीत के उपनिवेशीकरण की शुरुआत भी देखने को मिलती है।[6]

यह ध्यान देना दिलचस्प है कि हमें भारतीय उपमहाद्वीप में अतीत के वर्गीकरण की मुख्य रूप से दो परम्पराएं दृष्टिगोचर होती हैं, एक दुनियावी और रैखिक हैं जिसे विभिन्न संवत् में देखा जाता है, शक, विक्रम, आदि और[7] दूसरा वर्गीकरण एक आस्था विशेष पर अधिक जोर देने के साथ चक्रीय है, अर्थात्, युग-कल्प, हिन्दू युग, मुस्लिम काल आदि।[8] यह वर्गीकरण का दूसरा तरीका है जो वर्तमान चर्चा के लिए अधिक प्रासंगिक है। कलियुग के रूप में मध्यकालीन अतीत का नकारात्मक वर्णन और साथ ही साथ एक उज्ज्वल शानदार भविष्य की संभावना ने त्रिपक्षीय काल विभाजन की यूरोपीय समझ को भारत में मान्यता दिलाने के लिए आवश्यक उपजाऊ जमीन प्रदान की। उन्नीसवीं सदी के आरंभ में ओरिएंटलिस्ट, ब्रिटिश विद्वानों और औपनिवेशिक अधिकारियों द्वारा दक्षिण एशिया के शुरूआती अकादमिक इतिहास लिखे गए थे, जहां काल विभाजन के लिए आसानी से या कहें कि चतुराई से एक धार्मिक अथवा सभ्यतागत विभाजन को आधार बनाते हुए ऐतिहासिक समय को क्लासिकल हिंदू पुरातनता और बीच के काल को मुस्लिम अथवा 'अंधकार युग' के रूप में विभाजित किया, जो कि 'ब्रिटिश' काल से पहले आता था।

इस स्कीम को स्कॉटिश इतिहासकार जेम्स मिल (1773-1836) ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हित को ध्यान में रखते हुए दक्षिण एशियाई अतीत पर अपनी पुस्तक द हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया (1819) में प्रमुखता से स्थापित किया था। जेम्स मिल ने लिखा कि दक्षिण एशियाई प्राचीन काल के गौरवशाली स्वर्ण युग, को मुस्लिम आक्रमण ने बाधित कर दिया था। उनका तर्क यह बताने में प्रयासरत था कि पूर्व-औपनिवेशिक दक्षिण एशियाई समाज स्थूल तथा स्थिर था, जिसे परिवर्तनहीनता के रूप में दर्शाया गया था। दूसरे अर्थों में मुस्लिम शासन की लगभग छह शताब्दियों को दुर्गम और हिन्दुओं के शोषण काल के रूप में प्रदर्शित करने की सोची समझी राजनीति की गयी थी। उनके अनुसार इस काल से मुक्ति दिलाने में ब्रिटिश राज की विधि सम्मत राज सत्ता ने गहरी भूमिका निभाई और मध्यकाल खत्म करके हिंदुस्तान में आधुनिक काल की शुरुआत की गयी। ऐसा बाद के ब्रिटिश इतिहासकारों ने दोहराना शुरु किया। यह ब्रिटिश राज था जोकि दक्षिण एशिया को मुक्त करने और आधुनिक करने के मिशन के साथ आया था।[9] इस प्रकार यह घोषित किया जाने लगा कि भारत में अंग्रेजों के आने के साथ आधुनिक युग की शुरुआत हुई और चाहे न चाहे दक्षिण एशियाई मध्यकाल कालीन अतीत

'मुस्लिम' युग के रूप में विदेशी आक्रमणों, देशी समाज की अधीनता, सांस्कृतिक और बौद्धिक क्षय के अर्थों में दर्शाया जाने लगा। न केवल यूरोप में, बल्कि दुनिया के कई अन्य हिस्सों में भी मध्यकालीन को इन्हीं विशेषताओं से नवाजा गया। 'मध्ययुगीन मुस्लिम' काल की आड़ में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन को सही ठहराने के लिए सही माहौल तैयार किया गया था।

हालांकि बाद में राष्ट्रवादी इतिहासकारों और उसके बाद मार्क्सवादी इतिहासकारों द्वारा इस तरह के काल विभाजन को चुनौती दी गई। बदकिस्मती से 1980 के दशक के बाद से हम भारत के सार्वजनिक जीवन में उसी औपनिवेशिक काल विभाजन की प्रवृत्ति का पुनरुत्थान देखते हैं जिसमें मध्य युग को अंधकार-मुस्लिम काल के रूप में दर्शाया जाता था, हालाँकि प्रोफेशनल इतिहास लेखन इस तरह के दकयानूसी काल विभाजन को नकारता रहा है।[10] आज के वक़्त में काल विभाजन के राजनैतिक इस्तेमाल, जिसमें मुस्लिम शासकों खासकर औरंगज़ेब सरीखे शासकों के राज्य को 'भारतीय राष्ट्र' के 'हिंदू बहुसंख्यकों' पर उत्पीड़न के एक काले युग के रूप में दर्शाता है, तब प्रोफशनल इतिहासकारों के लिए इस पर चर्चा सामयिक है। इसीलिए यह जरूरी है कि हम इतिहास के इस काल खंड की व्याख्या तत्कालीन अभिलेखागरीय और साहित्यिक स्रातों के आधार पर करे और यह समझने की कोशिश करें कि क्या यह काल कथाकथित मध्ययुगीन-अंधकार का युग माना भी जा सकता है या इसको आरम्भिक आधुनिक काल की शुरुआत माना जा सकता है?

इस संदर्भ में मैं 'आधुनिक' की अवधारणा की भी जांच करना चाहूंगा जो मध्ययुग के बरखिलाफ खुद को अतीत से अलग करते हुए एक नए तरीके से परिभाषित करता नज़र आता है। शुरू में मैं यह बात भी कह देना चाहता हूँ कि इस लेख का उद्देश्य आधुनिकता के प्रश्न या आधुनिक होने के लोकप्रिय प्रतिपादन पर चर्चा नहीं है। इसके बजाय, मैं यह तर्क देना चाहूंगा कि क्या भारतीय इतिहास में 1500 से 1800 के बीच की अवधि को प्रारंभिक आधुनिक काल कहा जा सकता है और क्यों इसे 'मध्ययुगीन' नहीं कहा जाना चाहिए।

प्रारंभिक आधुनिक काल पर चर्चा शुरु करने के लिए मैं जे.एफ. रिचर्ड्स[11] द्वारा आरंभिक आधुनिक काल की प्रवृत्तिओं का उल्लेख करते हुए समकालीन भारतीय उपमहाद्वीप और विशेषत: राजस्थान में दृष्टिगोचर प्रवृत्तियों से तुलना करने की कोशिश करूँगा। दिपेश चक्रबर्ती के अनुसार जे.एफ. रिचर्ड्स का सुझाव है कि 'कम से कम छह विशिष्ट लेकिन एक दूसरे की बड़े पैमाने पर पूरक प्रक्रियाएं प्रारंभिक आधुनिक दुनिया को परिभाषित करती हैं।' वे निम्नलिखित हैं (1) 'वैश्विक समुद्री मार्ग' जो यूरोपीय लोगों की सामुद्रिक खोज, मानचित्रण और दस्तावेजीकरण (रिपोर्टिंग) का

कारण बने। (2) 'वास्तव में वैश्विक विश्व अर्थव्यवस्था का उदय; (3) 'बड़े स्थिर राज्यों.... और बड़े पैमाने पर अन्य जटिल संगठनों की वृद्धि; (4) 'दुनिया की आबादी का दो गुना होना; (5) 'भूमि का गहन उपयोग; जिसमें देशी समाजों का विनाश या विस्थापन शामिल है, और (6) 'कई नई प्रौद्योगिकियों का प्रसार.... नई दुनिया की फसलें, बारूद और मुद्रण और इन प्रवृत्तियों पर आरंभिक आधुनिक दुनिया भर में संगठनात्मक प्रतिक्रियाएं।'[12]

जैसा कि शुरुआत में कहा गया है कि विषय कुछ जटिल है और इस मुद्दे पर अकादमिक लेखन ने इसे एक जरूरी बहस का विषय बना दिया है। इसलिए एक बहुत साफ-सुथरे और सामंजस्यपूर्ण निष्कर्ष की खोज करने के बजाय, इस विषय की जटिलताओं की चर्चा करना विवेकपूर्ण लगता है और उसके आधार पर यह समझने की कोशिश करते हैं कि क्या तत्कालीन सबूत प्रारंभिक आधुनिक के विचार का समर्थन करते हैं।

क्षेत्र और स्रोत

इसलिए अपने तर्कों की गहराई से पड़ताल से पहले इस क्षेत्र की पारिस्थितिक विशेषताओं के बारे में चर्चा जरूरी लगती है। पारिस्थितिक स्थितियों के संदर्भ में राजस्थान को एक सजातीय इकाई नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उत्तर-पश्चिम राजस्थान अरावली पर्वतमाला की ओट में आने की वजह से शुष्क है, जबकि दक्षिण-पूर्वी राजस्थान अर्ध-शुष्क है। बर्फीली बारामासी नदियों के अभाव में अधिकांश कृषि उत्पादन मानसून पर निर्भर था। मानसून में देरी या व्यवधान का बहुत बुरा असर कृषि आधारित अर्थव्यवस्था पर पड़ता रहा है। राजस्थान के शुष्क क्षेत्र में जनसंख्या घनत्व कम था और पशुपालन, सामाजिक-आर्थिक संरचना पर हावी था, और या यूं कह सकते हैं कि पशुपालन कृषि अर्थव्यवस्था का पूरक था। भारतीय उपमहाद्वीप के पश्चिमी तट पर स्थित बंदरगाहों और उत्तर भारत के उपजाऊ मैदानों के बीच स्थित होने की वजह से राजस्थान को व्यापार नेटवर्क में एक प्रमुख स्थान प्राप्त रहा है। सीमित बारिश और बारहमासी नदियों के अभाव के कारण यह क्षेत्र साल भर व्यापार के लिए सुगम बना रहता है। ऐसे पारिस्थितिक कारक राजस्थान की अर्थव्यवस्था के विश्व बाजार के साथ एकीकरण में सहायक बने।[13]

आमतौर पर 16वीं से 18वीं शताब्दियों के भारत संबंधित इतिहास लेखन में साक्ष्य की कमी एक बड़ी बंदिश मानी जाती रही है खासकर मानव-पर्यावरण और सामाजिक इतिहास लेखन के मध्य नजर। ऐसी स्थिति के तहत 16वीं से 18वीं शताब्दी संबंधित कई प्रकार के दस्तावेजों के समृद्ध भंडार की उपलब्धता इस काल को आरंम्भिक आधुनिक काल के रूप में पुनर्व्याख्यायित करने में काफी उपयोगी साबित हो

सकते हैं। और दस्तावेज़ों की उपलब्धता इस विषय के चयन में महत्वपूर्ण रही है। राजस्थान राज्य अभिलेखागार में इस काल-अवधि के लिए कई आधिकारिक दस्तावेज उपलब्ध हैं। ये स्रोत प्राकृतिक संकट की आधिकारिक प्रतिक्रिया को भी चित्रित करते हैं और साथ ही साथ ये हमें तत्कालीन सामाजिक-राजनैतिक प्रतिक्रियाओं और चिंताओं की झलक भी प्रदान करते हैं। इसी काल के लिए उपलब्ध साहित्यिक और एपिग्राफिक स्रोतों ने हमारी इस काल की समझ को और साफ करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। अभिलेखागार में उपलब्ध आधिकारिक दस्तावेज में अर्जदाश्त एक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। अर्जदाश्त आमेर राज्य के परगना अधिकारियों द्वारा शासक को लिखी गई याचिका है। इन अधिकारियों ने नियमित रूप से अधिकारियों को उनके नियंत्रण वाले क्षेत्रों की विभिन्न राजस्व और प्रशासनिक जानकारियां दीं। ये दस्तावेज़ संबंधित अधिकारियों द्वारा झेली गई या सामना की गई समस्याओं के बारे में लिखे गए थे और इसीलिए राजनीतिक तंत्र और आम आदमी की विभिन्न चिंताओं से हमको अवगत कराते हैं। इसके साथ ही वे हमें प्रतिक्रिया या उपाय से भी हमको अवगत कराते हैं, जिससे समस्या का समाधान हुआ था। अध्ययन में अन्य महत्वपूर्ण अभिलेखीय स्रोत, परगना स्तर पर प्राप्त आय और व्यय के कागज़ जो अड़स्ट्टा के नाम से जाने जाते हैं। अड़सठ किस्म की जानकारी को समाहित करने की वजह से अड़स्ट्टा के नाम से जाने जाते हैं और ये वर्तमान अध्ययन के लिए बहुत उपयोगी साबित हुए हैं।

जहाँ तक मारवाड़ की बात है, हमने सनद परवाना बही नामक एक बहुत ही जानकारीपूर्ण दस्तावेज इस्तेमाल किया है। सनद और परवाना शब्द उन कार्यों की व्याख्या करता है जो इन दस्तावेजों में दर्ज़ हैं। ये मुख्य रूप से परगना अधिकारियों को किसी मुकदमे के सिलसिले में जारी किए गए शाही निर्देश हैं। इन दस्तावेजों की विषय वस्तु में नियमित शिकायतें, राजस्व की अनुचित वसूली, राजस्व और अन्य अधिकारियों के खिलाफ शिकायतें, कुएं के पानी के बंटवारे पर आपसी विवाद, पारिवाारिक लड़ाई, आदि दर्ज़ हैं। भूराजस्व प्रणाली की बेहतर समझ के लिए बीकानेर की कागज बही विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। किसानों के सामने आने वाली समस्याओं और इलाके के प्रशासनिक तंत्र द्वारा समस्याओं के निवारण हेतु अपनाई गई नीति की जानकारी हासिल होती है। क्योंकि इस क्षेत्र में मानसून अक्सर विफल हो जाता था इसलिए राजा विभिन्न प्रकार की रियायत देता था और जरूरत पड़ने पर मदद की पेशकश भी करता था। विभिन्न रियायतों का विवरण भी कागद बही और सनद पराना बही में दर्ज किया गया है। यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि इन दस्तावेजों को इस क्षेत्र की क्षेत्रीय भाषा में लिखा जा रहा था, जो इस तथ्य की गवाही देते हैं कि रियासत की प्रशासनिक भाषा उनकी अपनी भाषा थी।[14]

दस्तावेजीकरण और आरम्भिक आधुनिक काल

आरम्भिक आधुनिक काल के राज्यों की तरह ही राजस्थान के शासकों द्वारा अपने क्षेत्र का विस्तृत प्रलेखन एक उद्देश्य के साथ किया जा रहा था और इस जानकारी का इस्तेमाल दिन-प्रतिदिन के प्रशासन में परिलक्षित होता था। मूलत: भूराजस्व प्रशासन में इसके स्पष्ट उपयोग के अलावा हम समाज और जनसामान्य की रोजमर्रा से जुड़ी बहुत जानकारी भी इन दस्तावेज़ों में पाते हैं। वर्षा जल संचय करने के लिए कई जल-निकायों का निर्माण और जिससे समाज द्वारा बड़े पैमाने पर कृषि उत्पादन को बनाए रखने पर जोर दिया जाता है, आदि की जानकारी भी इन दस्तावेजों में पाते हैं। यह गौरतलब है कि ज्यादातर राज्य अपने इलाके और भू-राजस्व मूल्यांकन के बारे में समुचित जानकारी रखते थे, जैसे कि किसानों द्वारा प्रयुक्त सिंचाई के माध्यम और उसके अनुसार भू-राजस्व दरों में अंतर आदि।[15] उदाहरण के लिए बारा या वरकियारी (पहली गुणवत्ता की भूमि) में खेती की जाने वाली फसल पर ऋ (एक-आधा) की दर से भू-राजस्व लिया जाता था, जबकि पिवाल या पियाल (सिंचित) कुआँ (धेनकली) और ताल के पानी से सिंचित भूमि पर कम भू-राजस्व लिया जाता था।[16] यहां तक कि जब गन्ने जैसी नकदी फसलों का उत्पादन नदी के पानी से प्राकृतिक रूप से सिंचित जमीन पर होता था, तब उस पर कुओं (3 रुपये प्रति बीघा) की तुलना में ज्यादा कर (प्रति बीघा) लगाया जाता था।[17] इसके अलावा, सिंचाई के साधनों के अनुसार कराधान की दर भिन्न होती थी। अलग-अलग किस्म के कुओं पर भू-राजस्व की दर भिन्न होती थी।[18] यह इस तथ्य की तरफ इंगित करता है कि राज्य अपने इलाके के विस्तृत प्रलेखन का उपयोग कर रहा था और अपने आर्थिक संसाधन बढ़ाने के लिए निरंतर प्रयासरत था। इस काल अवधि के दौरान सिंचाई के साधनों के अनुसार भू-राजस्व का निर्धारण शासक वर्गों द्वारा अपने इलाके की जानकारी और उसके व्यापक इस्तेमाल को दर्शाता है।

अपने इलाके की पारिस्थिक के विस्तृत प्रलेखन के साथ-साथ सामाजिक-राजनीतिक हालात के दस्तावेजीकरण ने राजनीतिक शक्तियों को अपने एजेंडे या उद्देश्यों को बढ़ावा देने के लिए पर्याप्त अवसर प्रदान किए। अर्ध-शुष्क जलवायु में सिंचाई के लिए पानी के उपयोग पर विवादों पर मध्यस्ता के माध्यम से राजनीतिक शक्तियां अपनी ताकत बढ़ाने और समाज में गहरी पैठ बनाने के लिए इस्तेमाल करती नज़र आती हैं। सिंचाई के साधनों के स्वामित्व के मुद्दे पर शासकों ने न केवल मध्यस्थता की, बल्कि पानी के बंटवारे की मात्रा पर भी निर्देश जारी किए।[19] कई बार, राज्य को सिंचाई उपकरणों के उपयोग के लिए दावेदारों के बीच भी मध्यस्थता करनी पड़ती थी।[20] यह ध्यान रखना दिलचस्प है कि प्रशासनिक अधिकारियों ने गांवों में नए कुओं की खुदाई करके खेती की जाने वाली भूमि में वृद्धि सुनिश्चित की।[21] सिंचाई सुविधाओं के

अधिकतम उपयोग के लिए राज्य की चिंता मारवाड़ राज्य के परगना सोजत से संबंधित इस महत्वपूर्ण दस्तावेज से और भी स्पष्ट हो जाती है। इसी तरह के प्रमाण आमेर रियासत से भी उपलब्ध हैं। परगना मलारना से फतेह चंद रामजी पौस वदी 5, 1716 विक्रमी सम्वत को लिखी गयी अर्जदाश्त के माध्यम से राजा सवाई जयसिंह को सूचित करता है कि आधिकारिक निर्देशानुसार सिंचाई के लिए कुओं से पानी का उपयोग किया जा रहा है।[22] इस प्रकार, यह सुरक्षित रूप से तर्क दिया जा सकता है कि राज्य ने खुद को अपने इलाके की पारिस्थितिक के विभिन्न पहलुओं से परिचित कराया और इसका उपयोग राजनीतिक-प्रशासनिक केंद्रीकरण के अपने उद्देश्यों को आगे बढ़ाने के लिए किया, जो कि आरम्भिक आधुनिक काल की एक महत्वपूर्ण पहचान है।

कृषि क्षेत्रों के विपरीत पशुपालन बाहुलय समुदाय अर्ध-खानाबदोश थे, इसलिए इन पर भू-राजस्व लगाना मुश्किल था। फिर भी चूंकि राज्य अपने प्राकृतिक और मानवीय परिदृश्य को बड़े पैमाने पर दस्तावेज़ कर रहा था, इसलिए यह पशुपालन बाहुल्य समुदाय पर भी कर लगाने में सक्षम था। पशुपालक समुदायों पर समुदाय में परिवारों की संख्या के आधार पर या रसोई की संख्या के आधार पर कर लगाया जाता था, इसलिए इस कर को धुआंभच्छ (रसोई के चिमनी से धुआं) के रूप में जाना जाता था। यह हर एक व्यक्ति पर लगने वाला कर (पेाल टैक्स) था और प्रत्येक घर से एक रुपये की दर से वसूला जाता था। यह रोकड़-रकम का एक प्रमुख घटक था और इस का कुल में 40 से 50 फीसदी तक का योगदान था। नकद में एकत्र गैर-कृषि करों को सामूहिक रूप से रोकड़-रकम कहा जाता है।[23]

इसी तरह रेगिस्तानी इलाके में कृषि उत्पादन की बंदिश को स्वीकारते हुए, मारवाड़ में शासकों को पशुपालन बाहुल्य समुदाय पर भी कर लगाने के लिए मजबूर होना पड़ा। राज्य ने कृषि पर कर न लगा पाने की स्थिति में घरों की संख्या के अनुसार अस्थायी बस्तियों पर भी कर लगाया इसे झूम्पी के नाम से जाना जाता था।[24] राज्यों की अर्थव्यवस्था के लिए पशुपालन के महत्व को स्वीकार करते हुए, शासकों ने घास के उपयोग को विनियमित करने के लिए हस्तक्षेप भी किया। काश्तकारों के लिए यह अनिवार्य था कि वे अपने द्वारा उत्पादित घास का एक चौथाई हिस्सा राज्य के साथ साझा करते।[25] इसके अलावा चराई के प्रशासनिक विनियमन के काफी सबूत हैं। अपने संसाधनों को बढ़ाने के लिए, राज्य ने सिंगोथी शुल्क लगाया अर्थात् मवेशियों की संख्या के अनुसार प्रति जानवर एक पैसे का कर। मारवाड़ में, चरागाहों का उपयोग करने वाले पशुपालकों के कर को घासमारी[26] और पानचराई[27] के नाम से जाना जाता था। चूंकि पश्चिमी क्षेत्र में पशु पालन एक प्रमुख व्यवसाय था, इसलिए कृषक को अपने खेत में उत्पादित घास का एक हिस्सा राज्य को देना पड़ता था।

तटबंधों का निर्माण और आरम्भिक आधुनिक काल

अपने इलाके के व्यापक प्रलेखन ने राजस्थान के राज्यों को अपनी शक्ति को बढ़ाने में मदद की। कृषि उत्पादन में पानी सबसे सीमित कारक था। प्राकृतिक वर्षा द्वारा पानी की आपूर्ति काफी कम और छिटपुट थी। दीर्घकालिक के साथ-साथ जलवायु और वर्षा में अल्पावधि बदलावों से फसलों को नुकसान होता था और चारे की कमी अक्सर हो जाती थी जिससे जीवन-यापन कठिन था। बारहमासी नदियों की अनुपस्थिति और वर्षा की अनियमित प्रकृति को देखते हुए, कृत्रिम तरीकों से सिंचाई एकमात्र व्यावहारिक विकल्प था।[28] सिंचाई सुविधाओं की उपलब्धता से कृषि उत्पादकता पर फर्क पड़ता था। इसलिए आरम्भिक आधुनिक काल के राज्यों की तरह ही अपने इलाके में शासकों ने बड़े जलाशय बनाने के लिए मौसमी जल-प्रवाहों के पानी को एकत्रित करने के लिए बड़े तटबंधों का निर्माण किया। कुछ प्रमुख जल निकायों में 1564 ईस्वी सम्वत में निर्मित उदयसागर[29] प्रमुख हैं। मेवाड़ में 1662 और 1675 ईस्वी सम्वत के बीच निर्मित राज समंद[30] और 18वीं शताब्दी की शुरुआत में आमेर के पास मानसागर[31] बनाया गया था। ईस्वी सम्वत 1560 में राणा उदय सिंह द्वारा एक तटबंध खड़ा किया गया था और उससे जो झील बनी वह लगभग 2.5 मील लंबी है ओर 1.25 मील चौडी है, इसमें 418 मिलियन क्यूबिक फीट पानी की क्षमता है। उदयसागर झील उदयपुर से 8 मील पूर्व में 1.5 मील चौड़ा 2.5 मीटर लंबा जलाशय है: इसका क्षेत्रफल लगभग 2 वर्ग मील है और इसका आगोर 185 वर्ग मील में फैला हुआ है।[32] गिरवा या उदयपुर घाटी के पूर्वी प्रवेश द्वार पर देबारी के दक्षिण में थोड़ी दूर दो पहाड़ियों के बीच एक संकीर्ण मुहाने पर विशाल पत्थर के खंडों के एक ऊंचे तटबंध का निर्माण किया गया था। तटबंध की औसत चौड़ाई 180 फीट है और इसे ईस्वी सम्वत 1559 से 1564 के बीच राणा उदय सिंह द्वारा बनवाया गया था।[33]

मेवाड़ की पूर्व रियासत के सिसोदिया राजपूत शासक महाराणा राज सिंह (A.D. 1662-80) को राज समंद के निर्माण का श्रेय दिया जाता है जैसा तटबंध पर लगी प्रशस्ति पर उत्कीर्ण है।[34] जल निकायों के निर्माण की परंपरा राजस्थान के अन्य हिस्सों में भी देखी जा सकती है। हमारे पास आमेर क्षेत्र में बांधों के निर्माण का भी प्रमाण है। वहाँ कई बांध मौजूद हैं, जिनकी बनावट लगभग समान है और 18वीं शताब्दी या उससे पहले की है। इन्हीं में से एक है मानसागर बांध। यह जयपुर शहर से लगभग 2 किलोमीटर उत्तर-पूर्व में सिथत है। इसमें से एक जल निकासी की भी व्यवस्था की गयी, जो पहाड़ियों में एक संकीर्ण मार्ग से गुजरते हुए उत्तर-पूर्व की तरफ नहर के रूप में बहती थी।[35] अर्थात् आरम्भिक आधुनिक काल के राज्यों की तरह ही अपने इलाके में शासकों ने बड़े जलाशयो का निर्माण किया।

न्यायिक प्रणाली और आरम्भिक आधुनिक काल

प्राकृतिक संसाधनों के व्यापक प्रलेखन ने प्राकृतिक संसाधनों के अवैध उपयोग पर जुर्माना लगाने में प्रशासनिक तंत्र की मदद की। उदाहरण के लिए हरे पेड़ों की अवैध कटाई या छंटाई करने पर राज्य के द्वारा दंड का प्रावधान था[36] और राज्य के पास इसकी न केवल सूचना पहुँच जाती थी बल्कि राज्य इस अवैध इस्तेमाल पर जुरमाना भी लगा लेता था। उसी तर्ज़ पर रंगरेज़ के द्वारा गांव के तालाब के पानी को प्रदूषित करने की खबर भी राज्य को मिल जाती थी ओर राज्य उसको दण्डित भी कर सकने की क्षमता रखता था।[37] रिकॉर्ड बताते हैं कि इस तरह के अवैध इस्तेमाल स्पष्ट रूप से आम थे।[38] हालांकि उपलबध रिकॉर्ड से यह स्पष्ट नहीं है कि कौन अधिकारी जुर्माना लगाने के अधिकार रखता था।

इसी तरह यह आश्चर्य की बात नहीं है कि पानी के उपयोग को लेकर अधिकांश विवाद सिंचाई के लिए किसानों द्वारा नहरो की अवैध कटाई[39] और पानी की अवैध निकासी से सम्बंधित हैं।[40] ऐसे रिकॉर्ड हैं जो बताते हैं कि पानी के उपयोग के अधिकार को लेकर व्यक्तियों के बीच विवादों में भी राज्य मध्यस्ता करता था और अपराधी पर नकद दंड लगाता था।[41]

यह भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि घास के मैदान सेना के लिए महत्वपूर्ण थे क्योंकि युद्ध में इस्तेमाल होने वाले मवेशियों और घोड़ों को चारे की जरूरत थी।[42] जुताई और परिवहन मुख्य रूप से मवेशियों की शक्ति पर आधारित था और चारा की आवश्यकता ने राज्य की नीतियों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।[43] राज्य घुड़सवार सेना, घोड़ों, ऊंटों और हाथियों के लिए घास के आरक्षित भंडार बनाए रखने के लिए घास की खरीद करता था। दस्तावेज़ स्पष्ट रूप से इंगित करते हैं कि चराई भूमि आरक्षित थी। घास के अनाधिकृत कटाव को इसलिए भी दंडित किया जाता था।[44] यहां तक कि पहाड़ियों और जंगलों पर उगी घास को अवैध काटने पर सजा भी दी जाती थी।[45]

न्याय देने के अपने विशेषाधिकार का प्रयोग करते हुए, आमेर के राजाओं ने राज्य पर अपनी पकड़ और मजबूत करने की कोशिशें जारी रखीं। राज्य द्वारा प्रयोग किया जाने वाला अधिकार न केवल राज्य के कृषि संसाधनों तक सीमित था, बल्कि वनस्पतियों और जीव जंतुओं और यहां तक कि घरेलू निजी मामलों तक में हस्तक्षेप करता नज़र आता है। यह दोहराना महत्वपूर्ण है कि न्याय देने के अपने अधिकार का प्रयोग करके राजाओं ने अपने सम्प्रभुता के अधिकार को दोहराया। आमेर रियासत के कुछ उदाहरण मेरे तर्क को मजबूत करेगें। दिलबाग सिंह[46] का तर्क है कि हासिल फरोही जैसे दस्तावेजों में दर्ज सूचना की पड़ताल करने से, हमें राज्य की एक अलग तस्वीर दिखती है-यहाँ पर राज्य अपनी पहुंच, जो कि न केवल समाज, गांव, उसके अलग- अलग सामाजिक

समूहों, परिवारों और यहाँ तक कि व्यक्ति विशेष तक साफ नज़र आती है, का इस्तेमाल करने में कतई हिचकता नहीं दिखता है। राज्य अपने प्रशासनिक तंत्र (न्यायिक शक्ति) के माध्यम से व्यक्ति विशेष पर न केवल निगाह रखता है बल्कि जरूरत पड़ने पर अपनी ताकत का उपयोग करने में संकोच भी नहीं करता है।' यहां राज्य सामाजिक संबंधों और घरेलू मामलों से संबंधित मामलों में मध्यस्थ और न्याय के अंतिम पड़ाव के रूप में उभरता है। राज्य की पहुंच का अंदाज़ा इस बात से भी लगाया जा सकता है कि राज्य पारिवारिक मतभेदों के निपटारे में भी सक्रिय था। यह ध्यान रखना दिलचस्प है कि व्यापक सामाजिक-वैचारिक संदर्भ में राज्य ने किस किस्म के मामलों में हस्तक्षेप किया, क्योंकि राज्य प्रचलित सामाजिक ढांचे का इस्तेमाल करके ही अपनी सत्ता लागू कर पा रहा था।

दिलबागसिंह ने कई तरह के मामलों का हवाला दिया है। जहां राज्य घरेलू-पारिवारिक वैवाहिक विवादों को सुलझाने का कार्य करता दृष्टिगोचर होता है। वह कहते हैं कि राज्य पारिवारिक व्यक्तिगत संबंधों में भी एक सामाजिक मर्यादा का निर्धारित करता दिखाई देता है। परिवार के भीतर युवा लोग अपने बुजुर्गों से कैसा व्यवहार करें से लेकर पुरुषों द्वारा महिलाओं पर शक्ति का प्रयोग आदि मसलों पर राज्य सामाजिक मर्यादा के पालन पर जोर देता दिखाई देता है। सामाजिक मर्यादा अथवा पारिवारिक जीवन को संचालित करने वाली आचार संहिता का उल्लंघन दंडनीय माना जाता था। यह बात कुशाल के उदाहरण से स्पष्ट है, जो कि कस्बा टोडा भीम का चौधरी था। परन्तु अपनी माँ का अपमान करने के लिए राज्य द्वारा दंडित किया गया था। कस्बा मालपुरा के बुल्ला भानगरही, जिन्होंने 1687 ईस्वी में पैतृक भूमि में अपने हिस्से के मुद्दे पर अपने दादा के साथ झगड़ा किया को राज्य द्वारा चेतावनी दी गई थी। कस्बा नारायणा के शेखा रहगर को अपने पिता के साथ विवाद करने के लिए राज्य द्वारा दंडित किया गया था। इसी तरह कस्बा मालपुरा के खानू मुसलमान पर अपने बड़े भाई के अधिकार को धता बताने का आरोप लगाया गया था, जिसके लिए उन्हें राज्य को जुर्माना भरना पड़ा था। परगना चाटसू के ग्राम मुरैना के देव जाट और परगना फागी के ग्राम चोरू के सोमा रहगर को उनकी बड़ी बहनों के साथ विवाद होने पर राज्य द्वारा चेतावनी दी गई थी। राज्य द्वारा युवा के प्रति असहयोगपूर्ण व्यवहार के लिए परिवार के बुजुर्गों को भी चेतावनी दी गई थी। यह कस्बा उदेही के खेम महाजन के उदाहरण से स्पष्ट होता है, जिन्हें अपनी भतीजी के साथ एक बहस के लिए दंडित किया गया था। राज्य ने अपराधी की जाति, उसके समुदाय या स्टेटस (जंजने) की परवाह किए बिना सभी मामलों में हस्तक्षेप किया और जरूरी दंडात्मक कार्यवाही की।[47]

दिलबाग सिंह आगे बताते हैं कि यौन शोषण के खिलाफ महिलाओं के पास

राज्य के संरक्षण में जाने की संभावना मौजूद थी। वे कहते हैं, हासिल फ़रोही खातों में व्यभिचार और बलात्कार के बीच रेखा खींचना मुश्किल हो जाता है क्योंकि यौन दुराचार के सभी रूपों को चामचोरी कहा जाता था, जिसका शाब्दिक अर्थ है, 'शरीर की चोरी'। कुछ मामलों में जोरावरी शब्द को चामचोरी के लिए इस्तेमल किया जाता था, जिसमें बलात्कार भी शामिल होता था। यौन नैतिकता के नज़रिये से राज्य ने चामचोरी को दण्डित करने में गहरी भूमिका निभाई। परिवार के भीतर चामचोरी की कोशिशों को तय करना पाना संभव नहीं था क्योंकि जितने मुकदमे सार्वजनिक किए गए हैं उसमें कहीं अधिक संख्या में मामले सार्वजनिक ही नहीं हुए होंगे। हालांकि हमारे साक्ष्य इंगित करते हैं कि चामचोरी आम थी जोकि अक्सर पारिवारिक रिश्तों, जाति, वर्ग और समुदाय के सम्बन्धों को भी नज़रअंदाज करती थी । कई बार यौन अपराध एक सामूहिक और व्यापक चरित्र भी अख्तियार कर लेता था और ऐसे मामले में दंड भी सामूहिक तौर पर ही लगाया जाता था। ईस्वी सन् 1749 में राज्य ने चामचोरी में लिप्तता के लिए परगना फागी के ग्राम रामपरासदी के सभी निवासियों पर 101 रुपये का सामूहिक जुर्माना लगाया। परगना लालसोट में ईस्वी सन् 1740 में अपराध के 129 मामलों में से सत्तानबे चामचोरी से संबंधित थे।[48]

इन दस्तावेजों से यह बात साफ समझ आती है कि इन राज्यों में नारी की स्वतंत्र वैयक्तिक पहचान, जहाँ तक न्यायिक कार्यवाही का संबंध है, साफ तौर पर स्थापित थी। सनद परवाना बही में शिकायतकर्ता का नाम हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचने में सहायता करता है। बहुत सारे सबूत हैं जहां शिकायतकर्ता एक महिला रही है। कैलाश रानी ने अपने लेख में कहा है कि अठारहवीं शताब्दी में सनद परामा बही में दर्ज़ महिला सम्बन्धी 102 उदाहरणों में से केवल 2 ही ऐसे मामले थे, जहां महिला ने अपने दम पर पुनर्विवाह की अनुमति के लिए राज्य से संपर्क किया था और राज्य ने अपनी सहमति दी थी।[49] यहाँ यह उल्लेखित किया जाना भी जरूरी है कि आमतौर पर राज्य जाति पंचायतों को वहां प्रचलित परंपराओं के अनुसार पारिवारिक मुद्दों को हल करने के लिए निर्देशित करता था, जिसे बाजबी कहा जाता था।[50]

राजस्थान की 16वीं-18वीं शताब्दी की राजनीति में व्यक्तियों द्वारा प्राप्त न्यायिक पहुंच के स्वरूप की जांच करने से हमें भारत में प्रारंभिक आधुनिक काल के लक्षण दिखते हैं और इस काल को प्रारंभिक आधुनिक काल कह सकने के सबूत भी मिलते हैं। गौरतलब है कि हम इस काल में किसी समुदाय को सामूहिक रूप से शिकायत दर्ज कराते नहीं पाते हैं। यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि लगभग सभी दस्तावेजों में शिकायतकर्ता एक व्यक्ति हैं। यह आश्चर्यजनक तो लगता है कि महिलाओं द्वारा व्यक्तिगत पहचान में राज्य के पास अपील करने की गुंजाईश थी। ऐसा लगता है कि

जहां तक न्याय पाने के अधिकार का सवाल था, महिलाओं को समान अधिकार प्राप्त था। मैं यह किसी भी रूप में नहीं कह रहा हूँ कि समाज लैंगिक समानता में विश्वास करता था। लैंगिक असमानता सामाजिक संरचना का एक अभिन्न लक्षण था।

व्यक्ति की स्वतंत्र पहचान का एक दूसरा उदाहरण इरफान हबीब द्वारा सुझाया गया। वह कहते हैं कि, राजस्व मांग, सैद्धांतिक रूप से प्रत्येक व्यक्तिगत किसान पर उसकी जमीन पर, उसके द्वारा उत्पादित की गई फसलों के अनुसार वसूला जाता था.... शायद इसकी मुख्य वजह यह थी कि, ''भारतीय किसान व्यक्तिगत स्तर पर मूलत: परिवार के श्रम से खेती करता था, हालांकि यह भी सही है कि राजस्व के भुगतान के लिए किसान को गांव के स्तर पर सामूहिक रूप से जिम्मेदार बनाया गया था।''[51]

अंत में –

इस काल में वैयक्तिक पहचान मुखर हो रही थी जो कि अपने आप में आधुनिकता का एक लक्षण मानी जाती है।[52] 16वीं से 18वीं शताब्दी में कानूनी और आर्थिक स्तर पर व्यक्तिवादी इकाई एक निश्चित स्वरूप दिखाई देता है, लेकिन ऐसा लगता नहीं है कि इसने राजनीतिक या सामाजिक पहचान को प्रभावित किया है। सामाजिक संगठन के बंधन को इन पारंपरिक पहचानों को जारी रखने के लिए जिम्मेदार ठहराया जा सकता है। इसके अलावा यह कहना गलत नहीं होगा कि एक स्वतंत्र नौकरशाही की अनुपस्थिति ने भी सामाजिक विभाजन और स्तरीकरण को बरकरार रखने में गहरी भूमिका निभाई थी। यह बात भी गौरतलब है जैसा कि मैं पहले कह चुका हूं कि आमतौर पर प्रशासन तंत्र में भूस्वामित्व वर्ग जो प्राय: कुलीन वर्गों के थे वे ही शामिल होते थे। पूँजीवादी विकास की संभावनओं की तलाश करते हुए इरफ़ान हबीब द्वारा उपलब्ध कराए गए आंकड़ों से भूस्वामित्व तत्वों और अभिजात वर्ग के दबदबे का अंदाज़ा लगाया जा सकता है। उन्होंने निम्नलिखित आंकड़ों को संकलित किया है जो बताता है कि भूमि राजस्व एक छोटे शासक वर्ग के सदस्यों के बीच बंट जाता था। इस वर्ग में ईस्वी 1647 के एक आधिकारिक अनुमान के अनुसार लगभग 8000 मनसबदारों थे जिनमें स्वयं सम्राट भी शामिल थे। भूराजस्व का 61.5 प्रतिशत हिस्सा 445 मनसबदारों द्वारा बटोर लिया जाता था और इनमें भी कुल राजस्व का 37.6 प्रतिशत हिस्सा मात्र 73 मनसबदारों द्वारा बटोर लिया जाता था.... ।[53]

उपरोक्त विवेचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस काल के दौरान राज्यशक्ति के केन्द्रीयकरण कि कोशिशें लगातार हो रही थी जिनकी बानगी हमको इलाके के प्राकृतिक और सामाजिक संसाधनों के दस्तावेज़ीकरण में नज़र आती हैं। राज्यों द्वारा अपने स्तर पर सिंचाई के माध्यमों का निर्माण भी अपनी शक्ति के केंद्रीयकरण के

लिए किया जा रहा था और यह कोशिश भी की जा रही थी कि भूस्वामित्व तत्वों और अभिजात वर्ग के इलाकों में उनके दबदबे को कम किया जा सके। इसी सन्दर्भ में यह कहना भी गलत नहीं होगा कि न्यायिक व्यवस्था के द्वारा राज्य भूस्वामित्व तत्वों और अभिजात वर्ग के दबदबे को नियंत्रित करने की चेष्टा लगातार कर रहा था जो कि प्रारंभिक आधुनिक काल के लक्षण है।। उम्मीद है कि आप सब मेरे इस प्रस्ताव से सहमत होंगे और भारतीय इतिहास के इस काल को प्रारंभिक आधुनिक काल कहना तर्कसंगत मानेंगे। आप सबका बहुत बुहत धन्यवाद।

References

1. *Meena Bhargava & Pratyay Nath have very aptly pointed out the aberrations also, i.e. Chinese Hisotry does not treat its middle centuries as Medieval. 'Introduction' of the proposed volume being edited by Meena Bhargava & Pratyay Nath to be most probably published by Cambridge University Press in the year 2020.*
2. *Reinhart Koselleck, Futures Past : on the Semantics of Historical Time, translated and with an introduction by Keith Tribe, Columbia University Press, New York, 2004 (1979), p. 17 (pp. 9-25).*
3. *Koselleck, Futures Past…. For a brief history of the emergence of the category of the medieval, see Timothy Reuter, 'Medieval: Another Tyrannous Construct?' The Medieval History Journal, vol. 1, no. 1, 1998, pp. 25-45.*
4. *John Dagenais and Margaret R Greer, 'Decolonizing the Middle Ages: Introduction', Journal of Medieval and Early Modern Studies, vol. 30, no. 3, 2000, pp. 431-448..*
5. *Carol Symes, 'When We Talk about Modernity', The American Historical Review, vol. 116, no. 3, 2011, p. 721. (pp.715-726)*
6. *Dagenais and Greer, 'Decolonizing the Middle Ages'.*
7. *Sukhvir Singh Gahlot and Ghanshyam Lal Devra, Indian Calendars (Ad.1444 to AD 1543), Rajasthan Sahitya Mandir, Jodhur, 1980; Alexander Cunningham, Book of Indian Eras with tables for Calculating Indian Dates, Oriental Publishers, Delhi, 1971 (First Indian Reprint)*
8. *Thomas R. Trautmann, 'Indian Time, European Time,' in Thomas R. Trautmann, The Clash of Chronologies: Ancient India in the Modern World, Yoda Press, New Delhi, 2009. Pp. 25-52.*
9. *It is interesting to see how Karl Marx reflects on the issue as cited by Trautmann. '(Marx 1853 cited in young 1990: 176 n.4): Indian society has no history at all, at least no known history. What we call its history is but the history of its successive intruders who founded their empire on the passive basis of that unresisting and unchanging society. …England has to fulfil a double mission in India: one destructive, the*

other regenerating- the annihilation of old Asiatic society, and the laying of the material foundations of Western society in Asia.' Trautmann, 'Indian Time, European Time,', P. 32

10. *Harbans Mukhia, "Medieval India': An Alien Conceptual Hegemony?', The Medieval History Journal, vol. 1, no. 1, 1998, pp. 91-105; Daud Ali, 'The Historiography of the Medieval in South Asia', Journal of the Royal Asiatic Society, vol. 22, no. 1, 2012, pp. 7-12; Daud Ali, 'The Idea of the Medieval in the Writing of South Asian History: Contexts, Methods and Politics', Social History, vol. 39, no. 3, 2014, pp. 382-407; Neeladri Bhattacharya, 'Predicaments of Secular Histories', Public Culture, vol. 20, no. 1, 2008, pp. 57-73*
11. *See John F. Richards, 'Early Modern India and World History', Journal of World History, vol. 8, no. 2, 1997, pp. 197-209. One can also refer, The Unending Frontier: An Environmental History of the Early Modern World, University of California Press, Berkeley, Los Angeles and London, 2003.*
12. *Dipesh Chakrabarty, 'The Muddle of Modernity', The American Historical Review, vol. 116, no. 3, 2011, pp. 663-675, see p. 668*
13. *Tavenier considers environmental constrains as an important factor for the purpose. He says, "There are two [routes] in particular between Agra and Ahmadabad... One may, however, avoid passing the territories of these two Princes by taking another route from Agra to Surat by way of Sirnoj and Burhanpur; but these are fertile lands intersected by several rivers, the greater number of which are without bridges and without boats, and it is impossible to ford them until two months after the rainy season. For this reason the merchants who have to be at Surat by the season for going to sea, generally make their way through the country of these two Rajas, because it can be traversed at all seasons, even during the rains, which consolidate the sand of which nearly the whole country is composed." Tavenier Jean Baptiste, Travels in India, Tr. V. Ball, Oriental Books Reprint Corporation, New Delhi, 1977, p. 31.*
14. *Mayank Kumar, Monsoon Ecologies: Irrigation, Agriculture and Settlement Patterns in Rajasthan during the Pre-Colonial Period, Manohar, Delhi, 2013.*
15. *B. L. Bhadani, Peasants, Artisans and Entrepreneurs: Economy of Marwar in the 17th Century, Rawat Publication, Jaipur, 1999, pp. 34-80. Dominance of kharif crops also reflects greater dependence on source of irrigation for the crops grown during non-monsoon/rabi season.*
16. *S. P. Gupta, The Agrarian System of Eastern Rajasthan (c. 1650-1750), Manohar Publications, Delhi, 1986, p. 148.*
17. *Madhvi Bajekal, 'Agricultural Production in Six Selected Qasbas of Eastern Rajasthan (c.1700-1780)', Unpublished Ph.D. Thesis, University of London, London, 1990, p. 118.*

18. *Bajekal, 'Agricultural Production in Six Selected Qasbas of Eastern Rajasthan'*
19. *Sanad Parwana Bahi, Sawan Sudi 2, 1765, vs., Jodhpur Records, Rajasthan State Archives, Bikaner. (Henceforth RSAB)*
20. *Sanad Parwana Bahi, Kartik Vadi 11, 1768, vs., Jodhpur Records, RSAB.*
21. *Sanad Parwana Bahi, Kartik Vadi 11, 1768, vs., Jodhpur Records, RSAB.*
22. *Arzdasht, Paus Vadi 5, 1716, vs., Historical Section, Jaipur Records, RSAB. (Henceforth: HS, JR, RSAB).*
23. *G.S.L. Devra, 'Nature and Incidence of Rokad Rakam (non-agricultural taxes) in the Land Revenue System of the Bikaner State (1650-1700 AD)', Proceeding of Indian History Congress, Calcutta, 1976, pp. 190-95.*
24. *Munhta Nainsi, Marwar ra Pargana ri Vigat, Vol. II. ed. Narain Singh Bhati. Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur, 1969, p. 88.*
25. *Kagad Bahi 1827, vs./AD 1770, Bikaner Records. Rajasthan State Archives, Bikaner.*
26. *Munhta Nainsi, Marwar ra Pargana ri Vigat, Vol. I. ed. Narain Singh Bhati. Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur, 1968.*
27. *Bhadani, Peasants, Artisans and Entrepreneurs; Nainsi, Marwar ra Pargana ri Vigat Vol. I.*
28. *Dilbah Singh, The State, Landlords and Peasants, Manohar, Delhi, 1990.*
29. *Nainsi, Munhot Nainsi ri Khyat, Vol. 1, p. 30.*
30. *Shyamal Das, Vir Vinod, Vol. 2, Motilal Banarsi Das, Delhi, 1886, pp. 578-634 and p. 2204.*
3I. *A. Khan, and Ravindra Kumar, 'The Mansagar Dam Of Amber', in Anirudha Ray and S. K. Bagchi, eds., Ancient and Medieval Technologies in India, Sundeep Prakashan, New Delhi, 1986, pp. 25-40.*
32. *K. D. Eriskine, Rajputana Gazetteers, Volume 2-A, The Mewar Residency, Scottish Mission Industries Co. Ltd., Ajmer, 1908, p. 110.*
33. *Eriskine, Rajputana Gazetteers, p. 9.*
34. *Neelima Vashishatha, 'A Note on the Sculptures of the Raj Samudra Lake in Rajasthan', in Ahsan Jan Qaisar and Som Prakash Verma, Eds, Art and Culture, Publications Scheme, Jaipur, 1993, p. 111.*
35. *Khan and Kumar, 'The Mansagar Dam of Amber', pp. 25-40.*
36. *Arhsatta, Village Kiratpura, Pargana Bahatri, 1774 vs./AD 1717, HS, JR, RSAB.*

37. *Arhsatta, Qasba Malpura, Pargana Malpura, 1791 vs./AD 1734, HS, JR, RSAB.*
38. *Mayank Kumar, 'Claims on Natural Resources: Exploring the Role of Political Power in Pre-Colonial Rajasthan, India', Conservation and Society, vol. 3, no. 1, June 2005, pp. 134-49.*
39. *Sanad Parwana Bahi, Jeth Sudi 9, 1825 vs./AD 1768, Jodhpur Records. RSAB.*
40. *Sanad Parwana Bahi, Jeth Sudi 9, 1825 vs./AD 1768, Jodhpur Records. RSAB.*
41. *Arhsatta, Village Raitoli, Pargana Dausa, 1825. Village Dhamorki, Pargana Chatsu, 1775 vs./AD 1718; Qasba Baswa, Pargana Bhartri, 1774 vs./AD 1717; Village Neemblo, Pargana Bhartri, 1774 vs./AD 1717, HS, JR, RSAB.*
42. *Pratyay Nath, Climate of Conquest: War, Environment and Empire in Mughal North India, Oxford University Press, Delhi, 2019.*
43. *Meena Bhargava has edited a volume which carries several research papers where intricate relations between flora, fauna, vegetation, pastoralism, military requirements, etc has been examined for medieval and early modern India. Meena Bhargava, ed., Frontiers of Environment: Issues in Medieval and Early Modern India, Orient Blackswan, Hyderabad, 2017.*
44. *Sumit Guha, 'Claims on the commons: Political power and natural resources in pre-colonial India' The Indian Economic and Social History Review, vol. 39, no.2, pp.181-96*
45. *Arhsatta, Pargana Bahatri, 1786 vs./AD 1729; Pargana Malrana, 1772 vs./AD 1715, HS, JR, RSAB.*
46. *Dilbagh Singh, 'Regulating the domestic: Notes on the Pre-colonial State and the Family,'Studies in History, vol 19, no.1, n.s. 2003, p. 85, pp. 69-86.*
47. *Singh, 'Regulating the domestic…, p. 82, pp. 69-86.*
48. *Singh, 'Regulating the domestic…, p. 78, pp. 69-86.*
49. *Kailash Rani, 'Claims and Counterclaims: Widow Remarriage in Eighteenth Century Marwar', in Suraj Bhan Bhardwaj, R P Bahuguna & Mayank Kumar, Eds., Revisiting the History of Rajasthan: Essays for Prof. Dilbagh Singh, Primus, New Delhi, 2017, p. 300, (294-307)*
50. *Nandita Prasad Sahai, Politics of Patronage and Protest: The State, Society, and Artisans in Early Modern Rajasthan, Oxford University Press, New Delhi, 2006.*
51. *Irfan Habib, 'Potentialities of Capitalistic development in the Economy of Mughal India', in idem, Essays in Indian History: Towards a Marxist perception, Tulika, New Delhi, 1995, p.185 (180-232)*

52. *There is long historiography on the issue of self-reflexivity as marker of Modern. One can see Dipesh Chakrabarty, 'The Muddle of Modernity', The American Historical Review, vol. 116, no. 3, 2011, pp. 663-675. At the same timww it will be interesting to take note of long historical tradion of self-reflexivity in Indian thought and history as argued by Huals Singh, Rise of Reason: Intellectual History of 19th Century Maharashtra, Routledge, New Delhi, London, New York, 2016 and Farhat Hasan, 'Forms of Civility and Publicness in Pre-British India' in Rajeev Bhargava & Helmut Reifeld (ed.) Civil Society, Public Sphere, and Citizenship: Dialogues and Perceptions. New Delhi: Sage Publications. 2005. pp. 84-105.*
53. *Habib, 'Potentialities of Capitalistic development…, pp.190-92*

प्रोफेसर आर.पी. व्यास स्मृति व्याख्यान

19वीं शताब्दी में मारवाड़ की चित्रांकन परम्परा में नवीन प्रयोग

प्रो. नीलिमा वशिष्ठ

राजस्थान इतिहास के अध्येता, प्रगतिशील इतिहासकार, स्त्रीशिक्षा के संरक्षक, सहृदय, सुविज्ञ, गुरु प्रोफेसर आर.पी. व्यास के स्मृति व्याख्यान का दायित्व प्रदान कर, राजस्थान इतिहास काँग्रेस ने मुझे गौरवान्वित किया है। इस अनुग्रह के लिए, मैं राजस्थान इतिहास काँग्रेस के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ। राजस्थान इतिहास काँग्रेस के संस्थापक सदस्य प्रोफेसर आर.पी. व्यास, राजस्थान के इतिहास में शोध और अध्ययन को प्रोत्साहित करने में अग्रणी रहे हैं इस योगदान के लिए आप इतिहासकारों द्वारा सदैव स्मरण किये जाते रहेंगे। राजस्थान में प्रजामंडल आन्दोलन, सामाजिक इतिहास तथा सामन्तवाद के क्षेत्र में आपका गहन अध्ययन, इतिहासकारों के लिए सदैव प्रेरणा का स्रोत बना रहेगा। 'मारवाड़ रत्न' प्रोफेसर व्यास की स्मृति में, मैंने अपने व्याख्यान का चयन मारवाड़ क्षेत्र से किया है। प्रोफेसर आर.पी. व्यास की स्मृति में, श्रद्धा सुमन और श्रद्धांजलि के रूप में, 'मारवाड़ लघु चित्रकला शैली' विषय पर व्याख्यान प्रस्तुत करते हुए मुझ अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है।

भारतीय चित्रकला के विकास में राजस्थान में विकसित लघुचित्र शैलियों का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। राजस्थान प्रदेश का निर्माण राजपूताना की छोटी-बड़ी रियासतों के विलय के बाद भारतीय संघराज्य के प्रदेश के रूप में हुआ। परन्तु मध्यकाल में भारतीय संस्कृति को संरक्षण तथा सुरक्षा प्रदान करने का श्रेय इन हिन्दू रियासतों को दिया जा सकता है। यद्यपि एक लम्बे समय तक मुग़ल तथा ब्रिटिश प्रभुसत्ता के अनुशासन में रहते हुए भी इन राज्यों के शासकों ने अपने राज्यों में हिन्दू धर्मशास्त्रों के अनुसार राजकार्य किया। हिन्दू संस्कृति और धर्म का संरक्षण करते हुए अपने राज्यों में कला एवं साहित्य के विकास के साथ आर्थिक व सामाजिक विकास पर ध्यान दिया। शासकों ने अपने राज्यों में सामाजिक कल्याण, कृषि सुधार, जल संरक्षण, नगर एवं दुर्ग-निर्माण, आदि कार्यों के साथ कला, साहित्य एवं शिल्प को संरक्षण प्रदान किया

 ISSN 2321-1288

तथा प्रत्येक क्षेत्र में नवीन प्रयोगों को प्रोत्साहन दिया। मुग़ल और ब्रिटिश प्रभुसत्ताओं के सम्पर्क में यद्यपि पराधीनता का स्पष्ट अनुभव था, परन्तु इस संपर्क से कला एवं साहित्य के क्षेत्र में मुग़ल तथा ब्रिटिश संस्कृति के प्रभावों को आत्म सात करने के अवसर भी प्राप्त हुए। मुग़ल सम्राटों के दरबार में सभी रियासतों के युवराज अपने राज्य के प्रतिनिधि के रूप में आवश्यक रूप से उपस्थित रहते थे। इस अवधि में मुग़ल दरबार के अनेक चित्रकारों के संपर्क में आने से मारवाड़ राज्य में अनेक मुग़ल चित्रकारों का आव्रजन हुआ। इसके साथ ही, मुग़ल चित्रशैली को आत्मसात करने के अवसर प्राप्त हुए तथा मुग़ल चित्रकारों व भारतीय कलाकारों के पारस्परिक अन्त:सबंधों के कारण राजस्थान की रियासतों में कला एवं साहित्य की वृद्धि हुई। यही स्थिति कांगड़ा, गुलेर, आदि पहाड़ी हिन्दू रियासतों की भी थी, अत: वहाँ भी ब्रिटिश प्रभुसत्ता की अवधि में इसी प्रकार के अन्त:संबंधों के उदाहरण प्राप्त होते हैं। अत: राजस्थान की कला एवं साहित्य के अध्ययनों से मुग़ल तथा ब्रिटिश प्रभावों की स्थिति भी स्पष्ट होती है।

मुग़ल प्रभुसत्ता से प्रभावित राजस्थान की हिन्दू रियासतों में चित्रकला, साहित्य, संगीत तथा स्थापत्य के क्षेत्र में विकास हुआ। राजस्थान में सामान्य जीवन से अभिजात्य वर्ग तक सभी क्षेत्रों में मुग़ल प्रभाव जीवन शैली, रहन-सहन, वेशभूषा, कला, साहित्य और संगीत तक स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। साहित्य तथा कला के क्षेत्र में संस्कृत, फारसी तथा स्थानीय भाषाओं में सामान्य व्यक्ति की रुचि में वृद्धि हुई तथा साहित्य सृजन को प्रोत्साहन मिला। मंचीय कलाओं, नृत्य, गायन, वादन तथा चित्रकला में नवीन प्रयोग हुए। राजपूत रियासतों के शासकों ने इन सभी गतिविधियों को प्रोत्साहन तथा संरक्षण प्रदान किया।[1]

भारतीय संस्कृति, धर्म, कला तथा साहित्य के संरक्षक के रूप में राजस्थान की रियासतों के शासकों ने मंदिरों का निर्माण, प्राचीन मंदिरों का जीर्णोद्धार, उत्सवों एवं धार्मिक परम्पराओं को संरक्षण तथा विद्वद्जनों एवं कलाकारों को प्रोत्साहन प्रदान किया। धार्मिक ग्रन्थों के लेखन एवं चित्रण को भी संरक्षण दिया। मंदिरों और मठों को दान तथा पुरोहितों को अध्यापन हेतु आर्थिक सहायता प्रदान की। इन गतिविधियों के संरक्षण में सामाजिक एवं धार्मिक सौहार्द को विशेष महत्व देते हुए मंदिरों, मस्जिदों, दरगाहों और चर्च को समान रूप से भूमि तथा आर्थिक सहायता प्रदान की। कलाकारों के चयन और संरक्षण में जातिगत आधार के स्थान पर कौशल को प्रथमिकता दी जाती थी। यही नहीं, सभी प्रकार की सैनिक और प्रशासनिक सेवाओं में मुस्लिम नागरिकों को भी समान अवसर प्रदान किये जाते थे। कलाकारों, कारीगरों, उद्यमियों में हिन्दू तथा मुस्लिम प्रजा को बिना भेदभाव के योग्यतानुसार अवसर प्रदान किये जाते थे।

I

मारवाड़ राज्य में चित्रकला

प्रस्तुत आलेख में 19वीं शताब्दी में मारवाड़ की लघुचित्र शैली में हुए नवीन प्रयोगों के विषय में अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। लघु चित्र शैली का विकास विभिन्न राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक, परिस्थितियों में परिवर्तन का परिणाम था। भित्ति चित्रण के स्थान पर कागज़ के सीमित क्षेत्र की चुनौती को स्वीकार करते हुए चित्रकारों ने लघु आकृतियों का प्रयोग प्रारम्भ किया था। इसका नामकरण भित्ति की विशाल पृष्ठभूमि के स्थान पर लघु पृष्ठ भूमि के चयन के कारण ही 'मिनिएचर' या लघु चित्र हुआ। इस शैली का प्रारम्भ पोथियों में कथा-चित्रण या दृष्टान्त चित्रण से हुआ था। भित्ति के विस्तृत धरातल की स्वतन्त्रता की क्षति के साथ समन्वय स्थापित करते हुए चित्रकार ने अजन्ता में अपनायी गयी चित्रशैली में क्रमशः परिवर्तन प्रारम्भ किये। लघु चित्र शैली का पूर्ण विकसित रूप 17वीं-18वीं शताब्दी ईस्वी के पोथी चित्रों में प्राप्त होता है। 19वीं शताब्दी में मारवाड़ के चित्रकारों ने लघुचित्रण शैली में एक नवीन परम्परा की स्थापना की।

(i) दृश्य कलाओं को संरक्षण

मारवाड़ राज्य के संस्थापक राव जोधा ने (1458-1488 ईस्वी) पश्चिमी राजस्थान में मारवाड़ राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से पहाड़ी पर दुर्ग तथा शहरपनाह से आवृत्त जोधपुर नगर की स्थापना 1459 ईस्वी में की, जो मारवाड़ राज्य की राजधानी बना। सुरक्षा की दृष्टि से जोधपुर राजधानी के रूप में मंडोर से अधिक सुदृढ़ था। शहर पनाह से सुरक्षित नगर के विकास तथा ऊँची पहाड़ी पर सुदृढ़ दुर्ग के निर्माण ने राजनीतिक रूप से भी मारवाड़ राज्य को स्थायित्व प्रदान किया, जिससे सांस्कृतिक तथा बौद्धिक विकास को प्रश्रय मिला। साथ ही कला एवं संस्कृति के क्षेत्रों में नये आयामों का सूत्रपात हुआ। मारवाड़ का जोधपुर राज्य नाम इसलिए प्रचलित हुआ क्योंकि ब्रिटिश सरकार रियासतों के नाम उनकी राजधानी के नाम पर ही रखा करती थी। इस प्रकार, 1459 ईस्वी से जोधपुर राज्य, मारवाड़ राज्य का पर्याय बन गया तथा कला एवं संस्कृति के केन्द्र के रूप में लोक में प्रचारित हुआ।

मारवाड़ राज्य में 19वीं शताब्दी का प्रथम अर्धांश कला एवं संस्कृति, सामाजिक एवं राजनीतिक सुव्यवस्था तथा विकास एवं नवीन परम्पराओं के लिए उल्लेखनीय है। इसके साथ ही, मारवाड़ राज्य संगीत एवं चित्रकला में शैली तथा विषय में नवीन प्रयोगों एवं परिवर्तनों के साथ मध्य युगीन विचारधारा में परिवर्तन तथा आधुनिक युग की प्रवृत्तियों के संरक्षण के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। 19वीं शताब्दी में आधुनिक प्रगतिशील समन्वयात्मक दृष्टिकोण राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में देखा जा सकता है;

मारवाड़ के शासक महाराजा मानसिंह (1803-1843) के गुरु आयस देवनाथ थे, परन्तु मानसिंह की नाथ संप्रदाय में श्रद्धा के साथ ही वैष्णव धर्म के प्रति भी लगाव था। वह स्वयं कवि, विद्वान लेखक और अनेक ग्रन्थों के निर्माता थे, वे मारवाड़ राज्य के पारिवारिक, शासकीय तथा क्षत्रिय स्वतन्त्रता के मूल्यों में विश्वास करते थे। अतः उन्होंने मारवाड़ राज्य के आन्तरिक शासन में ब्रिटिश सत्ता के हस्तक्षेप का निरन्तर विरोध किया।

महाराजा मानसिंह कर्मठ, विवेकशील, न्यायप्रिय व्यक्तित्व के धनी थे। कला और संस्कृति के प्रति लगाव के कारण ही ब्रिटिश सरकार एवं जागीरदारों से विवादों तथा संघर्षों के मध्य भी, उन्होंने साहित्यकारों, कवियों, लेखकों, संगीतज्ञों और अन्य कलाकारों को राज्य में संरक्षण प्रदान किया और नवीन प्रयोगों के लिए प्रोत्साहित किया। उनके राज्यकाल में राज्य तथा राजपरिवार के लिए सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन दो विभागों द्वारा सम्पन्न होता था-तालीम खाना एवं ढ़ोलिया रा कोठार।[2] महाराजा जसवन्तसिंह के समय (1638-1678 ई.) से स्थापित तालीम खाना में राज्य के कलाकारों को नृत्य की शिक्षा दी जाती थी।[3] महाराजा विजयसिंह के समय से स्थापित (1752-1793 ई.) ढोलिया रा कोठार[4] में चित्रकारों के कार्यों का संग्रह होता था तथा उन्हें नये ग्रन्थों के चित्रण के आदेश दिये जाते थे। इस विभाग में चित्रकार अपने चित्र जमा कराते थे तथा पारिश्रमिक प्राप्त करते थे। चित्रों पर उनके नाम भी अंकित रहते थे। इसके अतिरिक्त, 1805 में महाराजा मानसिंह ने मानसिंह पुस्तक प्रकाश[5] की स्थापना की, जिसमें पाण्डुलिपियों का संग्रह, धार्मिक ग्रन्थों का प्रतिलिपि-करण तथा मारवाड़ राज्य के राजकीय प्रपत्रों को सुरक्षित रूप में रखा जाता था। महाराजा मानसिंह भारतीय संस्कृति के संरक्षक के रुप में धार्मिक ग्रन्थों के चित्रण तथा सुलिपि में लेखन हेतु प्रयत्नशील रहे। अतः उन्होंने रामायण महाकाव्य तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों पर आधारित चित्रण कार्य के लिए चित्रकारों को संरक्षण दिया।

(ii) मूर्तिकला में रामकथा

रामायण महाकाव्य की लोकप्रियता मारवाड़ और राजस्थान के अन्य क्षेत्रों में जन साधारण को ज्ञात है। रामायण के अतिरिक्त रामकथा पर आधारित अन्य धार्मिक ग्रन्थों के संरक्षण के प्रति भी महाराजा की रुचि समान रूप से थी। मारवाड़ के समीपस्थ क्षेत्रों में रामायण की लोकप्रियता का प्रमाण नागौर जिले में स्थित गोठ-मांगलोद के शाक्त मंदिर के उत्कीर्णित शिलापट्टों में मिलते हैं। ये शिलापट्ट गर्भगृह की बाह्य भित्ति के अंग हैं तथा रामकथा का क्रमिक रूप में अंकन प्रस्तुत करते हैं। नागौर जिले में गोठ तथा मांगलोद[6] ग्रामों की सीमा पर स्थित 9वीं शताब्दी में निर्मित दधिमति माता के मंदिर में उत्कीर्णित राम कथा, वाल्मीकि रामायण की इस क्षेत्र में लोकप्रियता को सिद्ध करता है। इस मंदिर के गर्भगृह की बाह्य भित्ति पर 15 शिलाओं में मारीच वध से लंका विजय तक

की कथा उत्कीर्ण है। इसके अतिरिक्त, बाड़मेर जिले के 12वीं शताब्दी के किराडू (किराट कूप) के ध्वस्त प्राय मंदिर समूह में, मेवाड़ के उदयपुर जिले के आहड़ और नागदा ग्राम (10वीं शताब्दी ईस्वी)[7] के मंदिरों में रामायण की कथा पाषाणों पर ही उत्कीर्णित नहीं हुई अपितु कागज की पाण्डुलिपि में भी चित्रित है।[8]

मारवाड़ में रामकथा के प्रति जनमानस का आकर्षण, सूर्यवंशी राठौड़ राजाओं के संरक्षण में और अधिक मुखरित एवं प्रस्फुटित हुआ। इसके साथ ही, वाल्मीकि रामायण की पोथियों के सुलिपि में लेखन और चित्रण की, राजपरिवार और अन्य प्रतिष्ठित कुलों में इन पोथियों को सहेजने, उत्सवों पर पूजन, दर्शन, आदि की भी परम्परा थी।

मारवाड़ राज्य में 13वीं शताब्दी से 20वीं शताब्दी के मध्य (1212–1945 ईस्वी) अयोध्या के शासक राम के पुत्र कुश के वंशज राठौड़ राजाओं[9] ने अपनी वंश परम्परा को सुरक्षित रखने के लिए चित्रकारों को रामकथा के चित्रण के लिए प्रोत्साहित किया। राठौड़ राजपरिवार में इन चित्रित पोथियों को अपने प्रिय जनों तथा पुत्रियों को विवाह के अवसर पर उपहार तथा आशीर्वाद स्वरूप, देने की परम्परा थी। इसकी जानकारी ढोलिया रा कोठार के दस्तावेज़ों से भी प्राप्त होती है। महाराजा विजयसिंह ने 244 चित्रों युक्त रामायण ग्रन्थ अपनी सहवासिनी गुलाब राय को उपहार में दिया था।[10]

(iii) मारवाड़ की लघु चित्र शैली में रामायण

महाराजा मानसिंह ने अपनी शौर्य–प्रियता और उत्साह से राज्य के चित्रकारों को रामकथा के दृष्टान्त चित्रण में नयी परम्परा और प्रयोग के लिए भी प्रेरित किया। चित्रकारों ने भित्ति चित्रण के लिए प्रयुक्त विस्तृत सतह के आकार में कागज़ पर चित्रण कर राम कथा के विस्तार को चित्रों में संजोया है। यद्यपि ये चित्र बड़े आकार पर चित्रित हैं, परन्तु चित्रण की शैली लघु चित्रण की है। चित्रकारों के एक समूह ने बड़े आकार पर चित्र बनाने का प्रयोग अनेक कारणों से किया। प्रथम, उनकी रुचि कथाकार के समान कथाचित्रण में थी, न कि व्यक्ति या वास्तु चित्रण में, या दरबारी संस्कृति, नृत्य तथा संगीत में। दूसरे, कथा सुनाने या लिखने में एक लम्बे समय, स्थान या अंतराल की आवश्यकता होती है, जिससे कथा का संपूर्ण प्रभाव दर्शक या श्रोता आत्मसात कर सकते हैं।[11] इसके साथ ही, उन्हें यह भी आभास था कि पुराण, महाकाव्य, ऐतिहासिक घटना या साहित्यिक कथा में समय तथा स्थान का लम्बा अन्तराल भावों की निर्बाध अनुभूति और परिपक्वता के लिए आवश्यक होता है। जैसे, सम्पूर्ण नाटक और चित्र के एक दृश्य की तुलना में नाटक की भावानुभूति चित्र की अपेक्षा अधिक तीव्र और स्थायी होती है, क्योंकि नाटक में घटना के पूर्वापर संदर्भ दर्शक को ज्ञात रहते हैं। इसके विपरीत एक चित्र में पूर्वापर संदर्भों का अनुमान दर्शक को अपनी कल्पना के आधार पर करना होता

है। अत: कथाओं के चित्रण में घटनाओं की क्रमिकता तथा एक साथ दो घटनाओं की प्रस्तुति के लिए विस्तृत या लम्बी सतह की आवश्यकता है। चीनी चित्रकारों ने इस आवश्यकता की पूर्ति लम्बे (scroll) या कुण्डलित सतह पर चित्र बनाकर की है। इसी प्रकार मारवाड़ के लघु चित्रशैली के चित्रकारों ने 2½' x 4½' फीट के बड़े आकार के कागज़ पर चित्रण कर लघु चित्रशैली में कथा–चित्रण करने में सफलता प्राप्त की।

II

मारवाड़ की लघु चित्र शैली – एक नवीन प्रयोग

महाराजा मानसिंह के राज्याश्रय में प्रमुख चित्रकारों के नेतृत्व में चित्रकारों ने समूह में कार्य करते हुए कई कथात्मक काव्यों तथा कथाओं का चित्रण सफलतापूर्वक किया। उदाहरणार्थ, शिवपुराण[12] के 109 चित्र (आकार 4' x 1½'), शुकनास चरित्र के 302 चित्र (आकार 1'8" x 1'2"½, रामायण के 91 चित्र (आकार 4'4" x 2'1"½[13], नाथ चरित्र और नाथ पुराण[14] (1860 संवत्), सिद्धसिद्धान्तपद्धति[15] (1881 संवत्) के 25 चित्र (आकार 4' x 1½), शिवरहस्य[16] के (1884 संवत्) 101 चित्र (आकार 1.5' x 1.6') और सूरज प्रकाश (1887 संवत्) के 70 चित्र (आकार 1'.7" x 1')।[17] उपरोक्त सभी कथात्मक काव्यों के चित्रण के लिए विस्तृत पृष्ठभूमि की आवश्यकता थी। इसके साथ ही, चित्रकारों ने लघु चित्रों की पृष्ठभूमि वाले छोटे चित्र भी बनाये, क्योंकि दोनों विधाओं में चित्रण की शैली लघु चित्रों की प्रचलित शैली थी जिसमें मानवकृति तथा अन्य सभी आकार लघु प्रमाण में ही बनाये जाते थे। भित्ति पर भी चित्रण करते समय लघु आकार प्रकार की आकृतियाँ, रंग–संयोजन तथा चित्र–रचना की जाती थी। इस प्रकार, महाराजा मानसिंह के काल में लघु चित्र शैली का प्रयोग बड़े आकार की पृष्ठभूमि–कागज़ या भित्ति दोनों पर होता था। तात्पर्य यह कि लघु चित्र शैली चित्रकला की एक शैली बन गई। इसका चित्र के आकार से कोई सामंजस्य नहीं था। यह लघु तथा दीर्घ दोनों आकारों में भित्ति, कागज़ या अन्य सतहों पर प्रयुक्त होने लगी थी। इस चित्र शैली का प्रयोग केवल धार्मिक, पौराणिक या कथात्मक चित्रों तक सीमित नहीं था, श्रृंगारिक प्रेमकथाएँ, नीतिप्रद कथाएँ, ऐतिहासिक घटनाएँ तथा लोक प्रचलित कथाएँ, जैसे ढोला मरवण, पंचतन्त्र, सूरजप्रकाश, शिवपुराण, तथा राठौड़ों की इतिहासपरक घटनाएँ, साहसिक मनोरंजन, आदि भी इन चित्रों के विषय थे। चित्रांकन की सतह चाहे कागज, भित्ति, काष्ठ–फलक या चर्म हो पर चित्र शैली तथा रंग–संयोजन लघु–चित्रण शैली का ही था।

बड़े आकार के कागज़ों से बनी 'वसली' के स्थान पर राजमहलों की भित्तियाँ, छत, हवेलियों, छतरियों, कूपों, विश्रामगृहों, आदि सभी स्थानों पर भित्ति चित्र बनाये जाने लगे। इन चित्रों का प्रचलन सभी हिन्दू रियासतों, डूंगरपुर, शेखावाटी, मारवाड़ तथा

जयपुर, आदि में दृष्टिगोचर होता है। लघु चित्रण शैली में विस्तृत पृष्ठभूमि पर अंकन मारवाड़ राज्य के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में, मेवाड़ में नाथद्वारा में पिछवई तथा जयपुर में सामोद के भित्ति चित्रों; तथा मुग़ल साम्राज्य में हम्ज़ानामा, इसी शैली के चित्रों के उदाहरण हैं।

(i) हम्ज़ानामा के चित्र (1567-1582)

हम्ज़ानामा के चित्र मुग़ल सम्राट अकबर के संरक्षण में बड़े आकार की सतह पर लघु चित्रण शैली में बनाये गये 16वीं शताब्दी के चित्र हैं। इन्हें तम्बू में लटकाने के लिए बनवाया गया था (tent hangings)। ये चित्र मारवाड़ शैली के पूर्ववर्ती हैं। हम्ज़ानामा के उपरोक्त चित्रों तथा ईरान में चित्रित फलनामा नामक त्रुटित पोथी के एक चित्र[18] से यह स्पष्ट होता है कि बड़े आकार की सतह पर बने लघु चित्रों की शैली से ईरान के चित्रकार तथा भारत में मुग़ल शासन में कार्यरत चित्रकार परिचित थे। कथा की क्रमिकता, विस्तार तथा समय और स्थान के अन्तराल की अभिव्यक्ति के उद्देश्य से ही मुग़ल चित्रकारों ने भी इन्हें बड़े आकार में बनाया था। मुग़ल सम्राट अकबर के चित्रकारों द्वारा बनाये गये हम्ज़ानामा के चित्रों से महाराजा मानसिंह के अधीन कार्यरत चित्रकारों ने अवश्य ही प्रेरणा ली होगी। हम्ज़ानामा के चित्र भी 27'' x 20'' (2'3'' x 1'8'') मारवाड़ के चित्रों के समान बड़े आकार में निर्मित हैं।[19] यद्यपि चित्रों के विषय भिन्न हैं, परन्तु समस्या और चुनौती एक जैसी थी अर्थात् स्थान का विभाजन, परिप्रेक्ष्य तथा लम्बा कथानक। मुग़ल और मारवाड़ के चित्रकारों ने इन समस्याओं को अपने तरीके से हल किया है, यद्यपि दोनों की शैली में अन्तर स्पष्ट है। मारवाड़ के चित्रों का आकार हम्ज़ानामा से भी बड़ा है। इतने बड़े आकार के लिए भी वसली तैयार की गई थी। इसके साथ ही, मारवाड़ के चित्रों की अनुभूति अपने आप में अपूर्व है।

(ii) नाथद्वारा के पिछवई चित्र

नाथद्वारा में भी बड़े आकार के पिछवई चित्र बने हैं। इनका आकार भी 220 ग 117 से.मी. है। यद्यपि दोनों की आकार में समानता है, परन्तु दोनों के निर्माण के उद्देश्य भिन्न हैं। पिछवई के चित्र शिल्प के उदाहरण हैं तथा वल्लभ संप्रदाय के मंदिरों में गोवध निधारी श्रीकृष्ण की मूर्ति के पीछे पर्दे के उपयोग में आती है। पिछवई कपड़े पर बनाई जाती है, जिसके केन्द्र में श्रीनाथजी का चित्र होता है तथा केन्द्रीय चित्र के चारों ओर श्रीकृष्ण के जीवन चरित्र की घटनाएँ वर्गाकार या आयताकार में अंकित की जाती हैं। मंदिरों में प्रत्येक उत्सव के लिए एक भिन्न पिछवई तैयार की जाती है। उत्सव के अनुरूप ही कथाओं का चयन और चित्रण भी होता है। उत्सवों के अतिरिक्त पिछवई दैनिक पूजा के उपयोग में भी लाई जाती हैं। जैसे, रामनवमी के उत्सव की पिछवई में रामायण की घटनाऐं चित्रित की जाती थीं।[20] क्रमशः कपड़े पर बनाये गए सभी चित्रों को पिछवई

कहा जाने लगा है। इस विवरण से यह सिद्ध होता है कि मारवाड़ शैली के उपरोक्त चित्र कलाकृति हैं; जबकि पिछवई चित्र पूजा के उद्देश्य की पूर्ति करते हैं तथा एक से ही बनाये जाते हैं। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि महाराजा मानसिंह के काल के बने बड़े आकार के रामायण के चित्र, कला के क्षेत्र में एक नया प्रयोग थे।

III

विस्तृत पृष्ठभूमि : रामकथा चित्र

अस्तु, महाराजा मानसिंह का कार्यकाल कला के क्षेत्र में विशेषतः लघुचित्रों की शैली में एक नयी परम्परा के प्रारम्भ का द्योतक है। इन चित्रों में ऐतिहासिक और पौराणिक विषयों का चित्रण है। मारवाड़ शैली में इस परिवर्तन का लक्ष्य कला की सौन्दर्य वृद्धि था, न कि किसी भौतिक, आर्थिक या आलंकारिक उद्देश्य से प्रेरित था। इसके विपरीत हम्ज़ानामा तथा पिछवई चित्रों का उद्देश्य आलंकारिक और आर्थिक दृष्टि से प्रेरित था। यह भी विचारणीय है कि मारवाड़ शैली के इस प्रयोग में हिन्दू और मुस्लिम दोनों समुदायों के कलाकारों का समान योगदान था। दोनों ही समुदायों के चित्रकारों ने ऐतिहासिक तथा पौराणिक कथाओं पर 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में चित्र बनाये थे। इस प्रकार मारवाड़ शैली के चित्र एक मिश्रित-संस्कृति के परिचायक हैं जिसमें मुस्लिम चित्रकारों ने भी समान उत्साह के साथ हिन्दू चित्रकारों के साथ पौराणिक चित्रों के निर्माण में सहयोग दिया।

रामायण महाकाव्य पर आधारित चित्रों में मारवाड़ में इन दोनों समुदायों के चित्रकारों का प्रयास उल्लेखनीय है। इन चित्रों की कथात्मक विषय वस्तु, चित्र संयोजनात्मक मूल्य, शैलीगत विशेषताएँ तथा संपूर्ण चित्र का एकात्मक प्रभाव महत्त्वपूर्ण है। रामायण महाकाव्य की इस चित्र श्रृंखला में 91 चित्र 132 x 64 से.मी. आकार के महाराजा मानसिंह के संरक्षण में बनाये गये थे तथा उम्मेद भवन संग्रह में संरक्षित हैं। इस श्रृंखला में कुछ लम्बाई में छोटे हैं परन्तु चौड़ाई सबकी समान है।

इन चित्रों में हाथ से बनाये गये कागज़ से तैयार की गई वसली पर खनिज और वनस्पति के रंगों का प्रयोग किया गया है। श्री विश्वेश्वर नाथ रेउ,[21] पूर्व मारवाड़ राज्य के ऐतिहासिक विभाग के निदेशक द्वारा इन चित्रों का सर्वप्रथम उल्लेख प्राप्त होता है। उन्होंने एक छोटी पुस्तिका में चित्रों की कथा के अनुसार सूची प्रकाशित की थी। इसके अतिरिक्त प्रोफेसर गोपीनाथ शर्मा ने इन चित्रों का अध्ययन राजस्थान के सामाजिक जीवन के इतिहास के स्रोत रूप में किया है।[22] पाश्चात्य विद्वानों में रोज़ मैरी क्रिल ने भी मारवाड़ के इन चित्रों का अध्ययन किया है।[23]

इस चित्र श्रृंखला में रामायण महाकाव्य की मुख्य कथा का ही चित्रण है, क्षेपक तथा सम्बद्ध अनेक कथाओं को छोड़ दिया गया है। यह श्रृंखला रामायण महाकाव्य का मेवाड़ और जयपुर की चित्रित पोथियों के समान सम्पूर्ण कथा का दृष्टान्त चित्रण नहीं करती। इन चित्रों से यह ज्ञात होता है कि कवि-कल्पना, चित्रकार की कल्पना तथा वास्तविक और ऐतिहासिक सत्य सदैव एक से नहीं होते। यद्यपि कलाकार घटनाओं की पृष्ठभूमि, वातावरण, काव्य में वर्णित पाठ के अनुसार ही अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है, फिर भी यह संभावना रहती है कि समकालीन समाज की घटनाएँ तथा वातावरण का चित्र भी अनायास अभिव्यक्त हो जाता है। उदाहरणार्थ, अयोध्या का चित्रण करते समय चित्रकार की कल्पना में जोधपुर दुर्ग तथा शहरपनाह युक्त जोधपुर नगर का चित्र अयोध्या का स्थान ले लेता है। मारवाड़ शैली के इन चित्रों में चित्रकार ने समकालीन जोधपुर राज्य के वैभव, राजदरबार, सैन्य बल के प्रदर्शन, आदि का चित्रण किया है।

(i) राम कथा पर आधारित लघु चित्रण

19वीं शताब्दी में मारवाड़ राज्याश्रय में चित्रित इस चित्र श्रृंखला की यह विशेषता है कि यह जयपुर और मेवाड़ शैली के रामायण चित्रों के समान पोथी चित्रण या दृष्टान्त चित्रों की श्रेणी में नहीं आती। अपितु यह चित्र समान्यजन के हृदय में स्थापित रामकथा पर आधारित है। फिर भी रामकथा के ज्ञान के अभाव में दर्शक इसे न तो समझ पायेगा, न ही पूर्णत: रसानुभूति कर सकेगा।

यह भी विचारणीय है कि मारवाड़ राज्य की रामायण की यह चित्र श्रृंखला मध्ययुग तथा आधुनिक युग के संधिकाल पर चित्रित की गई थी। इसमें राजपूत राज्यों के वैभव तथा शक्ति का आडम्बरपूर्ण प्रदर्शन की अभिव्यक्ति है, जैसे राजकीय सवारी में सज्जित हाथी, घोड़े, सवारों की शान शौकत, सैन्य बल का प्रदर्शन, राजपूत अभिजात्य वर्ग के मनोरंजन जैसे आखेट, पुशओं का युद्ध आदि के द्वारा राठौड़ राज्य की समृद्धि का वर्णन है। रामायण के चित्रों में राम लक्ष्मण के आखेट पर जाने, मिथिला में राजा दशरथ का राजा जनक मिलने आना, राजा जनक द्वारा स्वागत आदि के माध्यम से मारवाड़ राज्य की समृद्धि, वैभव आदि का वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

(ii) दृश्य चित्रण

चित्रों का दूसरा प्रमुख विषय दृश्य चित्रण का है। बहुत बड़ी संख्या में वन प्रदेश के दृश्य इस चित्र श्रृंखला के लघुचित्रों में बने हैं जिनसे प्राकृतिक विशेषताओं पर भी प्रकाश पड़ता है। इन प्राकृतिक दृश्यों के अन्तर्गत पशुओं, पक्षियों, वृक्ष जलाशयों, फूलपत्तियों, लताओं से आच्छादित उद्यान, आदि का ज्ञान होता है। इन चित्रों द्वारा शान्त

रस की अभिव्यक्ति होती है, प्राकृतिक चित्रण का उद्देश्य शान्तरस की अभिव्यक्ति के साथ चित्र भूमि को विभाजित करना भी होता है, तथा विविधता द्वारा नीरसता को समाप्त करना भी होता है। स्थान, दूरी, गहनता, समय, आदि को अभिव्यक्त करने के लिए भी चित्रकार दृश्यचित्रण का उपयोग करते हैं। एक ही चित्र में, एक समय में विभिन्न स्थानों पर सम्पन्न घटनाओं का चित्रण, स्थान तथा समय के परिवर्तन को अभिव्यक्त करने के लिए भी किया जाता है। छोटी पहाड़ियाँ, पौधे, झाड़ियाँ, हरी दूब तथा छोटी नदियाँ, सरोवर, जलाशय, आदि का चित्रण चित्रभूमि को बाँटने के लिए भी किया जाता है।

इस चित्र श्रृंखला में चित्रित छोटे-छोटे उद्यान, सीढ़ियों युक्त जलाशय, झरने, फव्वारे, गुलाबी रंगों की पहाड़ियाँ, आदि मुग़ल चित्रों के अभिप्रायों की याद दिलाते हैं। एक समान रंगों से बने, घने वनों से आच्छादित, वन प्रदेशों की चित्रण शैली का प्रयोग चित्रकार ने पम्पा सरोवर, किष्किन्धा, पंचवटी, आदि के प्रकृति चित्रण में किया है। कुछ दृश्य-चित्र केवल दृश्य-मात्र का चित्रण करते हैं, जिनसे वातावरण का संकेत मिलता है। रामायण में कवि ने पुष्पक विमान से नीचे दिखाई देती पृथ्वी के दृश्य का वर्णन किया है। यह अत्यन्त स्वाभाविक रूप में नदियों, सरोवरों तथा बस्तियों का वर्णन है। इसके विपरीत, मरुस्थल के निवासी चित्रकार ने कल्पना से आकाश से पृथ्वी के दृश्य का चित्रण रेखीय परिप्रेक्ष्य के अनुसार कर दिया है। इसी प्रकार, थार मरुस्थल के पीले, रेतीले अल्प-वनस्पति और हरियाली युक्त, वर्षा तथा पृथ्वी के जलविहीन प्रदेश भी चित्रकार ने जलाशयों तथा वनस्पति से भरपूर चित्रित किये हैं। संभवत: जीवन की इस कठिनता ने चित्रकार को और अधिक कल्पनाशील बना दिया है। चित्रकार ने सभी चित्रों में सुन्दर, हरे-भरे पुष्पित, पल्लवित, वन-प्रान्तर को चित्रित किया है, न कि अपने परिवेश की प्रकृति को।

सामान्यत: चित्रकला की प्रचलित विधाओं में दृश्य-चित्रण को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। चित्रकला तथा मूर्तिकला में इसका उल्लेख इसलिए भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह वास्तविकता का चित्रण होता है। समस्त पाश्चात्य कला में परिप्रेक्ष्य के नियमों एवं स्थान, दूरी, छाया, प्रकाश आदि तत्त्वों के आधार पर ही दृश्य-चित्रण की विधा का विकास हुआ है। भारतीय कला में वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। यहाँ प्रकृति चित्रण वास्तविक से अधिक प्रतीकात्मक है। राजस्थानी चित्रकला के संदर्भ में पाण्डुलिपि चित्रण तथा जैन धर्म की पोथियों में प्राप्त दृश्य-चित्रण में लघु आकार में विशाल दृश्य का संयोजन किया गया है।

भारतीय चित्रकला में अजन्ता के चित्रों के अतिरिक्त सभी लघु चित्र शैलियों में दृश्य चित्रण प्रतीकात्मक रूप में ही प्राप्त होता है। इसका तात्पर्य यह है, कि लघु चित्र शैली में चित्र की सतह का आकार दृश्य-चित्र के अनुपात में कम होने से चित्रकारों ने

प्रकृति को प्रतीकात्मक रूप में चित्रित किया है। एक वृक्ष से सम्पूर्ण वन प्रदेश, पतली सी नीले या श्वेत रंग की वक्राकार रेखा में मछली, जलपक्षी, कमल के अंकन से नदी और सरोवर, तथा थोड़ा सा चौकोर बनाने से समुद्र का भी प्रतीक बन जाता है। 19वीं शताब्दी तक की भारतीय कला में दृश्य चित्रण प्रतीकात्मक रूप में ही विकसित हुआ है। मूर्तिकला में भी भावाभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में प्रकृति चित्रण का सहारा लिया जाता है। मूर्तिकला में प्रतीकात्मक दृश्यचित्रण के उदाहरण ईस्वी पूर्व के भारहुत और साँची के उत्कीर्णित शिला फलकों में प्राप्त होते हैं। अजन्ता के भित्तिचित्रों में भी दृश्यचित्रण के उदाहरण प्राप्त होते हैं। परन्तु भारतीय परम्परा में बाह्य दृश्य या प्रकृति के चित्रण में प्रकृति का प्राकृतिक या स्वाभाविक रूप अभिव्यक्त न होकर एक प्रतीकात्मक रूप की अभिव्यक्ति होती है, जो चित्रकार की कल्पना में रहता है।

विदेशी प्रभाव से उत्पन्न विरोधों के बाद भी भारतीय चित्रकला में दृश्य चित्रण प्रारम्भ से लेकर 19वीं शताब्दी तक अधिकांश में प्रतीकों पर ही आधारित है। राजस्थानी चित्रकला की विभिन्न शैलियों में यह प्रतीक कहीं समाविष्ट किये गये तथा कहीं उनका रूपान्तरण हुआ है। दृश्य चित्रण में भी कुछ अंगों का वास्तविक रूप ही प्रस्तुत होता है, जैसे हिरन, मोर, आदि। परन्तु जंगल के परिवेश को प्रतीकात्मक रूप देते हुए केवल एक वृक्ष, कुछ झाड़ियों का अंकन किया जाता है। इन चित्रों में केवल एक वृक्ष या एक दो पत्ते मात्र से ही जंगल आभासित होता है। जिन चित्रों में कथा का केन्द्र ही जंगल होता है या प्राकृतिक परिवेश अथवा उद्यान होता है जैसे, वसन्त ;तु के चित्र में, वहाँ भी एक पेड़, छितराई हुई पत्तियाँ, पक्षी और पशु का अंकन किया जाता है। इसके साथ ही एक वृक्ष और अल्प पत्तियों का अंकन कई बार भवन से बाहर की घटना का दृश्य है, यह दिखाने के लिए भी चित्रित करते हैं। यह परम्परा 19वीं शताब्दी तक के चित्रों में प्राप्त होती है। इस प्रकार के वृक्ष, एक या दो पत्तियाँ या फूल वाली एक टहनी राजस्थानी चित्रकला में ईरानी चित्रों के माध्यम से आई है। रागमाला के चित्रों में यह स्पष्ट है। असावरी रागिनी के चित्र में सर्पो का चित्रण तथा दो शाखाएँ और पत्तियाँ चित्रित की जाती हैं, प्राकृतिक परिवेश के चित्रण में एक अन्य अभिप्राय क्षितिज की रेखा भी है। इसे एक थोड़ी चौड़ी, सपाट, वक्राकार, रेखा द्वारा चित्र के शीर्ष में दाँये से बाँये अंकित करते हैं। भारतीय चित्रों में क्षितिज के अंकन का प्रयोग भवन के बाहर की पृष्ठभूमि का संकेत देने के लिए किया जाता है। सभी चित्रों में एक स्थूल श्वेत वर्णी वक्राकार रेखा चित्र के शीर्ष में बनायी जाती है जो आकाश तथा पृथ्वी को विभाजित करती है तथा चित्र की सतह पर पृष्ठभूमि तथा आकाश की विभाजक रेखा का कार्य करती है। चित्रों में क्षितिज को अंकित करने की परम्परा का पालन एक रूढ़ि की तरह है। यह सभी चित्रों में बनाई जाती है। भारतीय चित्रकला में प्राकृतिक दृश्यों में क्षितिज रेखा विशेष महत्व रखती है।

क्षितिज रेखा की परम्परा ईरानी प्रभाव के कारण 14–15वीं शताब्दी में प्रारम्भ हुई थी जो शीघ्र ही राजस्थानी चित्रकारों में लोकप्रिय हो गई, जैन तथा मुग़ल चित्रकारों ने भी इसे अपना लिया। परन्तु इसके विपरीत, मारवाड़ शैली के चित्रों में आकाश का चित्र विस्तार से प्राकृतिक रूप में अंकित किया गया है। इन चित्रों में आकाश, क्षितिज तथा भूमि पर उद्यान पुष्प तथा छोटे–छोटे ग्राम समूह, आदि का चित्रण करते हुए पृष्ठभूमि को वृक्ष, उद्यान, नदी, पुष्करिणी, आदि द्वारा इस प्रकार विभाजित किया जाता है कि नीरसता उत्पन्न नहीं होती।

(iii) बहुविध परिप्रेक्ष्य

बहुविध परिप्रेक्ष्य का तात्पर्य है एक ही चित्र में विविध परिप्रेक्ष्य के दृश्य एक साथ चित्रित करना। बहुविध परिप्रेक्ष्य चित्र–संयोजन की एक विधा है, जिसका प्रयोग मुग़ल चित्रकारों ने बड़ी कुशलता से किया है। यह विधा प्राचीन भारत में चित्रकारों को ज्ञात थी। अजन्ता के चित्रकारों ने एक ही चित्र में विभिन्न परिप्रेक्ष्यों का प्रयोग कुशलता से किया है। यद्यपि कुछ आधुनिक कला इतिहासकार इस पद्धति का श्रेय मुग़ल चित्रकारों को ही देते हैं, जिसमें हिन्दू तथा मुस्लिम दोनों जातियों के चित्रकार थे। इन चित्रकारों ने इस विधा को परम्परागत अनुभव से सीखा है, जो इन्हें अपने पूर्वज अजन्ता के चित्रकारों से मिला होगा। बहुविध परिप्रेक्ष्य का प्रयोग दृश्य को अधिकतम दृश्यता प्रदान करने के लिए होता था, जिससे घटनाओं का वर्णन तथा चित्रण अधिकतम हो सके और दर्शक चित्र को सहजता से आत्मसात कर सकें। इसके साथ ही, बहुविध परिप्रेक्ष्य की व्याख्या मुग़ल शैली के संयोजन से भली प्रकार समझ में आती है। मुग़ल चित्रकार चित्रात्मक स्थान को कई रंगों व आकारों में विभाजित कर देते थे तथा एक ही प्रकार की आकृतियों के बार–बार चित्रण से चित्रों में अन्विति तथा सुगठित संयोजन उत्पन्न करते थे। इस प्रकार गति, स्थान परिवर्तन तथा घटनाओं की आवृत्ति को समझाते थे। रामायण के चित्रों में भी इसी विधा का प्रयोग किया गया है। चित्रों में दर्शक की दृष्टि विचरण करती है। दर्शक एक स्थान से दूसरे स्थान परिवर्तन की अनुभूति करता है। इसका कारण चित्र की विस्तृत पृष्ठ भूमि है।

(iv) स्थापत्य

मारवाड़ शैली के चित्रों में स्थापत्य के अन्तर्गत मुख्यत: आवासीय, दुर्ग, महल, तथा सामान्य जीवन से संबद्ध स्थापत्य का चित्रण है। दुर्ग तथा नगर के स्थापत्य में विशाल भवन, शहरपनाह, सुव्यवस्थित नगरीय आवास का चित्रण जोधपुर नगर तथा दुर्ग की प्रतिकृति है। शहरपनाह से घिरा हुआ नगर, ऊँची पहाड़ी पर बना दुर्ग अधिकांश चित्रों में व्यक्त हुआ है। रामायण के चित्रों में अयोध्या, लंका तथा सुमेरु पर्वत पर

देवताओं का दुर्ग मानव, असुर तथा देव संस्कृतियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन तीनों दुर्गों में बाह्य रूप से स्थापत्य की समानता है, परन्तु विरोधी संस्कृतियों का स्पष्ट रूप भी अभिव्यक्त होता है। तीनों दुर्गों में कपिशीर्ष युक्त परकोटा, ऊँचाई पर स्थिति तथा ऊँचे विशाल द्वार हैं। देव तथा दानव दुर्ग स्वर्ण निर्मित हैं। अयोध्या का दुर्ग गुलाबी पाषाण से निर्मित, सफेद और गुलाबी रंग से चित्रित है। देवताओं का दुर्ग स्वर्णिम पीली कान्ति फैलाता है, लंका का दुर्ग, हलके हरे रंग तथा उड़े हुए धूमिल रंग से चित्रित है। अत: उजड़ा हुआ होने का आभास देता है। इसके विपरीत मानव निर्मित अयोध्या का दुर्ग गुलाबी पाषाण का बना है। यह मानवीय आत्म-सम्मान का प्रतीक है। लंका तथा अयोध्या के दुर्ग सरयू तथा समुद्र के तटों पर स्थित प्राचीर से घिरे हैं। अयोध्या का दुर्ग अधिकांश रूप से मेहरानगढ़ की प्रतिकृति लगता है। (दृष्टव्य, चित्र संख्या 1, 2)

(अ) युद्ध के दृश्य : दानव एवं पशु

राम-रावण युद्ध के दृश्यों में असुरों तथा पशुओं में असंख्य वानर, भालू, हाथी और घोड़ों के चित्र इस श्रृंखला के अधिकांश चित्रों की विषय-वस्तु है। युद्ध की कुछ विशेष घटनाओं का चित्रण उल्लेखनीय है, जैसे रावण द्वारा नागपाश का प्रयोग तथा राम द्वारा प्रत्युत्तर में गरुडास्त्र का प्रयोग, कुंभकर्ण को निद्रा से जगाने का राक्षसों का प्रयास आदि। कुंभकर्ण को निद्रा से जगाने का चित्र भी मनोरंजक है। राक्षस नगाड़े, बिगुल, तथा अन्य ध्वनि वाद्यों को बजा कर कुंभकर्ण की निद्रा तोड़ने का प्रयास कर रहे हैं। रावण के दो मंजिले भवन में कुंभकर्ण नीचे सोया हुआ चित्रित है।

लंका नगर के दृश्य-चित्रण में सूखा वनस्पति विहीन प्रदेश चित्रित किया है। चित्र अधिकांश में एक रंग से रेखा-चित्रण द्वारा अंकित है। यह प्रतीकात्मक चित्र इस विचार को व्यक्त करता है कि बुराई का आचरण करने वाला समृद्धिहीन ही रहता है। अत: वनस्पतियाँ भी सूख गई हैं, पतझड़ जैसा वातावरण है। लंका का चित्र देखने पर ऐसा लगता है कि चित्र अपूर्ण है, परन्तु लंका के सभी चित्रों को इसी प्रकार बनाया गया है। अत: यह अनुमान है कि लंका श्री विहीन है, वहाँ दुष्ट, दानव, पाशविक आचरण करने वाले रहते हैं। अत: चित्रकार ने इसे प्राकृतिक न्याय के दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत किया है।

युद्ध के चित्रों में दानव दो सींग युक्त शिरस्त्राण के साथ चित्रित हैं। एक अन्य चित्र में अयोध्या एवं मिथिला की सेनाओं का संयोजन है। इस चित्र से मध्यकाल का सैन्य संगठन, हाथी-घोड़ों की सज्जित वेशभूषा के उल्लेख मिलते हैं।

राजपूत राजाओं के मनोरंजन के साधनों में पशुओं की लड़ाई, आखेट, आदि का चित्रण किया गया है। युद्ध के दृश्यों के अतिरिक्त, पशुओं की लड़ाई के दृश्य नागरिक

जीवन की गतिविधियों के मुख्य अंग थे। अयोध्या नगर के एक दृश्य में सिंह और हाथी के युद्ध का दृश्य तथा वन में आखेट के लिए जाते हुए राजकुमारों का दृश्य राजपुत्रों के लोकप्रिय मनोरंजन को अभिव्यक्त करता है। इन दृश्यों में विविध रंगों के घोड़ों का अंकन मिलता है जिसे दर्शक संभवत: चित्र को आकर्षक बनाने के लिए समझ लेते हैं। वस्तुत: अलंकृत साज सज्जा युक्त हाथी और घोड़े मध्यकाल के राजाओं के राजसी वैभव के प्रतीक थे और वास्तविकता भी। विविध रंगों के घोड़े जालौर की सेना के अंग थे। (चित्र संख्या 3, 4)

मारवाड़ शैली के चित्रों में अश्वों का विविध रंगों में चित्रण उल्लेखनीय है। राजाओं की शोभायात्राओं के दृश्यों में विविध रंगों की जीन तथा काठी से सज्जित नीले, लाल, गहरे भूरे, काले, सफेद और हरे घोड़ों के चित्र मिलते हैं। इन विविध रंगों के घोड़ों का उल्लेख 15वीं शताब्दी के प्रबन्ध काव्य कान्हड़दे प्रबन्ध में भी मिलता है जो चित्र की वास्तविकता का प्रमाण है। कान्हड़दे प्रबन्ध में कवि मारवाड़ क्षेत्र के जालौर के सोनिगरा चौहान राजा की सेना के वर्णन में घोड़ों के रंगों के आधार पर रखे गये नामों का उल्लेख करता है। चौहान सेना में कलुआ, हरियाला, नीलडा कीहड़ा, सुरंगा, गंगा जल जम्बुआ कुलथा और उजला नाम के घोड़ों का उल्लेख है।[24] मारवाड़ में राड़घरा और धार में अश्व प्रजनन केन्द्र है जो अच्छी प्रजाति के अश्वों का संरक्षण करते हैं।[25]

एक अन्य चित्र में अयोध्या से दशरथ अपनी सेना सहित मिथिला आते हैं, तब जनक भी सेना के साथ स्वागत करते हैं। इस दृश्य में मध्यकाल के सैन्य संगठन का दर्शन होता है। इस चित्र से सैन्य वेशभूषा, हाथी घोड़ों तथा पदाति सेना का नियोजन, आदि महत्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त होती है। सेना के अंगों में आगे की रक्षा पंक्ति में हाथियों की पंक्ति, उसके पीछे घोड़ों की पंक्ति के बाद पदाति सेना खड़ी होती है। इसी प्रकार चंदावल में पीछे भी घोड़े तथा हाथियों की पंक्तियाँ होती हैं।

IV

उपसंहार

उपरोक्त लघु चित्र शैली के चित्रों के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि भारत में चित्र निर्माण दो विधाओं में सर्वाधिक लोकप्रिय था- भित्ति चित्र तथा लघु चित्र। यद्यपि यह दोनों परम्परायें समान रूप से साथ-साथ विकसित हो रहीं थीं, परन्तु लघु चित्रों के प्रारम्भिक उदाहरण नश्वर माध्यमों में निर्मित होने के कारण स्थायित्व नहीं प्राप्त कर सके। अत: अधिकांश में भित्ति चित्रों के ही प्राचीन उदाहरण मिलते हैं। लघुचित्रों के विषय, उद्देश्य तथा प्रचलित शैलियों के विषय में साहित्य से प्राप्त उल्लेखों से ही पूर्वानुमान लगाये जा सकते हैं।[26] दोनों परम्पराओं में सभी क्षणिक माध्यम

– धूलि चित्र, माँडने, लकड़ी, वस्त्र, कागज़, चमड़ा, आदि पर सभी शैलियों में चित्र बनते थे जिनके उदाहरण प्राचीन भारत में साहित्यिक स्रोतों में मिलते हैं। शिल्प के साहित्यिक ग्रन्थ चित्र के गुणों का उल्लेख करते हैं तथा चित्रकर्म के दो उद्देश्य निर्धारित करते हैं – आत्म विनोदार्थ तथा कर्माश्रय।[27] अर्थात् चित्रकला सदैव व्यवसायिक ही नहीं थी, अपने स्वयं के सुख के लिए भी थी। अतः स्वान्तःसुखाय चित्रण अवकाश के समय में लघु चित्र शैली में ही किया जाता था। यही नहीं, वात्स्यायन कामसूत्र में नागरक का उल्लेख करता है, जिसके कक्ष में ड्राइंग बोर्ड रंग–समुद्गक, ब्रश तथा वीणा रहती थी। इस उल्लेख से यह अनुमान किया जा सकता है कि अभिजात्य वर्ग तथा नगर में रहने वाले अपना अवकाश का समय कलाओं के अभ्यास में व्यतीत करते थे।[28]

इसके साथ ही बौद्धसाहित्य में चित्रों को देखने की विधि का भी उल्लेख मिलता है। चित्र को देखने की दृष्टि, चित्रकार तथा दर्शक दोनों के लिए ही अपेक्षित है। लंकावतारसूत्र[29] में 'मनोद्वारविज्ञानम्' तथा 'चक्षुद्वार– विज्ञानम्' का उल्लेख है। चित्र संयोजन तथा दर्शन के लिए मनोद्वारविज्ञानम् की सहृदय चित्रकार को और संवेदनशील दर्शक दोनों को ही आवश्यकता है। अतः चित्रकला अवकाश के क्षणों में सुरुचिपूर्ण कार्य भी था जो लघुचित्रों के रूप में प्रचलित था।

दूसरा निष्कर्ष यह कि, भारतीय चित्रकला के संयोजन के सिद्धान्त दोनों परम्पराओं में समान थे। चित्र का विषय मानव मात्र की विविध गतिविधियों तथा मानिसक अवस्थाओं में तथा प्रकृति की अन्य सभी जड़ चेतन वस्तुएँ, चित्र की सतह, विविध रंगों का उपयोग, पृष्ठभूमि, मध्यभूमि और अग्रभूमि का रंगों तथा आकृतियों से संयोजन चित्रभूमि की सतह का विभाजन, विरोधी तथा समन्वित रंगों का प्रयोग, और परिप्रेक्ष्य के अनुसार चित्रकर्म। इसके लिए भी सर्वोपरि है दृष्टि तथा अन्तर्दृष्टि, जिसे चक्षुद्वार विज्ञान तथा मनोद्वार विज्ञान की सहायता से स्पष्ट किया है। इसमें भी महत्वपूर्ण है मनोद्वार विज्ञान, अर्थात् संवेदनशीलता प्रत्येक कला का आवश्यक तत्व है।

संदर्भ

1. *गोपीनाथ शर्मा (1968), सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान (1500-1800 ईस्वी) लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, पृ. 348–369.*
2. *डी.बी. क्षीरसागर (1992), जोधपुर रियासत के दरबारी संगीतकारों का इतिहास, महाराजा मानसिंह पुस्तकप्रकाश, जोधपुर, पृ. 297–311.*
3. *हुकूमत बही में महाराजा जसवन्त सिंह के राज्यकाल से तालीम खाने का प्रारम्भ हुआ यह उल्लेख मिलता है। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि तालीम खाने की स्थापना कब हुई? कुछ विद्वानों ने इसका उल्लेख गुणीजन खाने के अन्तर्गत एक विभाग के रूप में किया है। परन्तु 'गुणीजन खाना' जोधपुर में नहीं था। यह विभाग जयपुर राज्य में था*

तथा सांस्कृतिक गतिविधियों की देखरेख तथा आयोजन करवाता था। दृष्टव्य, डी.बी. क्षीरसागर, पूर्वोक्त, पृ.301; आर.पी. दाधीच, (1972) महाराजा मानसिंह द्धजोधपुरऋ : व्यक्तित्व और कृतित्व, जोधपुर, पृ. 16; वी.एन. रेउ, मारवाड़ का इतिहास, भाग–1, महाराजा मानसिंह पुस्तकप्रकाश, जोधपुर, पुनर्मुद्रित, 1999, पृ. 29–30; भाग–2, पृ. 401–2, 405, 439; मधु प्रसाद अग्रवाल (1993), मारवाड़ की चित्रकला, राधा पब्लिकेशन्स, नयी दिल्ली, पृ. 120.

4. *एम.डी. मेहता (1978), 'राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान', रिदम ऑफ हिस्ट्री, अंक 5, पृ.114–116; वी.एन. रेउ, मारवाड़ का इतिहास, भाग–1, पृ. 371–395; ढोलिया रा कोठार प्रारम्भ में धार्मिक ग्रन्थों का व्यक्तिगत संग्रह था। महाराजा मानसिंह के समय में 1831 ईस्वी से इस संग्रह में अनेक नये ग्रन्थों के संरक्षण से अभिवृद्धि हुई। चित्रित पोथियों तथा पाण्डुलिपियों के पंजीकरण की तिथि तथा कलाकारों के नाम भी जोड़े गये।*
5. *सत्यनारायण शर्मा (2007), 'महाराजा मानसिंह पुस्तकप्रकाश का ग्रन्थागार, एक आलोचनात्मक अध्ययन', रसीले राज, भाग प्प, अंक 2, पृ. 62–69.*
6. *नीलिमा वशिष्ठ (2002), 'स्कल्पचरल डिपिक्शन ऑफ दि रामायण थीम्स इन दि टेम्पल ऑफ दधिमतिमाता इन राजस्थान', आर्ट एण्ड कल्चर, संपादित, ए. जान कैसर तथा एस.पी. वर्मा, भाग 2, अभिनव प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ. 119–126, चित्र 106–119.*
7. *नीलिमा वशिष्ठ (1995), 'रिप्रज़ेन्टेशन ऑफ रामायण इन विज़ुअल एण्ड परफॉर्मिंग आर्ट्स ऑफ राजस्थान', पंजाब यूनिवर्सिटी रिसर्च बुलेटिन (आर्ट्स), अक्टूबर–अप्रेल, पृ. 53–71.*
8. *आर्ष रामायण, महाराणा जगत सिंह (1628–1653 ईस्वी) के राज्यकाल में साहिबदीन तथा मनोहर चित्रकारों द्वारा चित्रित, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर।*
9. *जेम्स टॉड, एनल्स एण्ड एण्टीक्विटीज़ ऑफ राजस्थान, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पुनर्मुद्रित, 1970, भाग 1, पृ.105.*
10. *सत्य नारायण शर्मा, पूर्वोक्त, भाग प्प, अंक 2, पृ.62; दृष्टव्य, जी.एन. शर्मा (1965), ए बिबलियोग्राफी ऑफ मेडीवल राजस्थान : सोशल एण्ड कल्चरल, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, पृ.54.*
11. *जी.एन. शर्मा (1965), पूर्वोक्त, पृ.55–56, सं. 25, 27, 28, 29 और 30 : इन चित्र संग्रहों का आकार बड़ा है, इनमें 132 ग 64 से.मी. आकार सबसे बड़ा है।*
12. *शिवपुराण की कथा पर आधारित 109 चित्र 123 ग 16 से.मी. आकार के हैं। यह कई चित्रकारों ने मिलकर बनाया था। केवल चित्रों के पीछे चित्रकारों के नाम लिखे हैं। जो इस प्रकार हैं। दाना का पुत्र माधा, भाना का पुत्र दुर्गा, अमरा का पुत्र दाना, नारायण का पुत्र मोती राम, जाले अखावत, बाना तथा अन्य, महेशदास, शिवदत्त बगसी राम का पुत्र, बाना अखावत और सती दास। दृष्टव्य, रोज़मैरी क्रिल, (तिथि रहित) मारवाड़ पेन्टिंग – ए हिस्ट्री ऑफ जोधपुर स्टाइल, इन्डिया बुक हाउस, लन्दन, पृ.156.*
13. *रामायण चित्रों की एक श्रृंखला, आकार 132 ग 64 से.मी. 91 चित्रों की है। इसमें किसी कलाकार का नाम नहीं है, परन्तु कार्यालय में जमा कराने का वर्ष विक्रम संवत् 1860 /*

ईस्वी 1803 है। दृष्टव्य, जी.एन. शर्मा (1965), पूर्वोक्त, पृ.55.

14. नाथ चरित्र तथा नाथपुराण में नाथ संप्रदाय के गुरुओं के जीवन चरित वर्णित हैं। कुल 99 चित्र हैं। इनमें से 28 चित्र नाथ पुराण के हैं, और 71 चित्र नाथ चरित्र के हैं। यह भी बुलाकी दास तथा अन्य चित्रकारों के संयुक्त प्रयास से बना है जैसा कि पाण्डुलिपि के पृष्ठ भाग पर अंकित है, 'चितारा बुलाकी बगेरा रा किया', दाखिल, ढोलिया रा कोठार। इनमें से एक चित्र के पीछे एक मुसलमान चित्रकार का नाम 'चितारा मुसलमान तियार किया' मात्र अंकित है। दृष्टव्य, रोज़मैरी क्रिल, पूर्वोक्त, पृ.148-9.

15. सिद्धसिद्धान्त पद्धति, वि.सं. 1881/1824 ईस्वी, इस ग्रन्थ में 25 चित्र हैं, आकार 123 ग 46 से.मी. तथा इसमें नाथ संप्रदाय के अनुसार नाथ दर्शन का विवरण है, सृष्टि का प्रारम्भ, रचना और योगिक क्रियाएँ आदि। इसके अन्त में भी कलाकार का नाम 'मुसलमान चितारो' दिया है। चितारा मुसलमान तयी कीना जुमला पाना '25', दृष्टव्य, रोज़मैरी क्रिल, पूर्वोक्त, पृ.148.

16. शिवरहस्य ग्रन्थ में 101 चित्र हैं जिनका आकार 121 ग 45.5 से.मी., संवत् 1884/1827 ईस्वी सभी चित्र स्कन्द पुराण, हिमवत खण्ड, तृतीय अध्याय, दृष्टव्य, रोज़मैरी क्रिल, पूर्वोक्त, पृ.154, तथा चित्र 129.

17. जी.एन. शर्मा (1965), पूर्वोक्त, पृ.55; सूरजप्रकाश के सभी दृष्टान्त चित्रों की तिथि विक्रम संवत् 1887/1830 ईस्वी है तथा अमरदास भाटी द्वारा बनाये गये हैं जो नारायण दास का पुत्र है। इन लघु चित्रों का आकार अपेक्षाकृत छोटा है 48.5 ग 31 से.मी., इनकी संख्या 70 है; सूरजप्रकाश एक ऐतिहासिक काव्य है जो सूर्यवंशी राठौड़ शासकों की वंशावली में सूर्यवंशी राम से महाराजा अभयसिंह तक का वर्णन करता है। दृष्टव्य, प्रतापसिंह राठौड़ (1989), राजस्थानी वीराख्यान, ऊषा पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, पृ. 243-44.

18. जे.पी. लॉस्टी (1982), दि आर्ट ऑफ बुक इन इण्डिया, लन्दन, पृ. 86.

19. डगलस बैरेट एण्ड बेसिल ग्रे (1978), इन्डियन पेन्टिंग, मैकमिलन, लन्दन, पृ.78.

20. के. तलवार एण्ड कल्याण कृष्ण (1979), इन्डियन पिगमेन्ट पेन्टिंग ऑन क्लॉथ, भाग 3, कैलिको म्यूज़ियम, अहमदाबाद, पृ.16-17.

21. वी.एन. रेउ, मारवाड़ का इतिहास, भाग 1, पृ. 29; वी.एन. रेउ, जर्नल ऑफ इण्डियन म्यूजियम्स, भाग 6, 1948, पृ. 41; इसके अतिरिक्त रेउ ने इन चित्रों का विवरण हिन्दी में प्रकाशित किया है। ईस्वी 1936, सरदार म्यूज़ियम, जोधपुर।

22. जी.एन. शर्मा, पूर्वोक्त, पृ.55; दृष्टव्य, जी.एन. शर्मा (1968), सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, पृ. 76, 360-61.

23. रोज़मैरी क्रिल (1999), मारवाड़ पेन्टिंग, मुम्बई, चित्र संख्या 38, 83.

24. वी.एस. भटनागर (1991), कान्हडदे प्रबन्ध, आदित्य प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ. 50-51, 169.

25. वी.के. वशिष्ठ (2013), 'इन्डियन एण्ड यूरोपियन परसेप्शन ऑफ हॉर्सेज़ ऑफ राजस्थान', भारतीय इतिहास एवम् संस्कृति में युगयुगीन अश्व, संपा. महेन्द्रसिंह नगर, महाराजा

मानसिंह पुस्तक प्रकाश, शोध केन्द्र, पृ. 23.

26. कुमारस्वामी (1929), 'नागर पेन्टिंग' रूपम, अंक 37 तथा 40, पृ. 24-29 तथा 127-129.

27. वात्स्यायन, कामसूत्र, 400 ईस्वी पूर्व, अधिकरण 1, अध्याय 3, 16, पृ.20.

28. पूर्ववत्, अधिकरण ६, 4, 10, पृ.40. 'गृहीतविद्यः गार्हस्थमधिगम्य नागरकवृत्तवर्तेता ... नागदन्तावसक्ता वीणा चित्रफलकम् वर्तिकासमुद्गको यः कश्चित् पुस्तकः कुरण्टकमालाश्च

29. बौद्ध ग्रन्थ लंकावतारसूत्र, के अनुसार चित्र में 'स्थान' वास्तविक आकाश का रूप है। जो पंचतत्वों में एक है। 'आकाश धातु' न कि सामान्य आकाश। यह आकाश असीमित है, इसको नापा नहीं जा सकता, दृष्टव्य, लंकावतारसूत्र, अनुवादः डी.टी. सुजूकी, 2, 12, 153; मिलिन्दपन्हो, टप्प, 3, 29, चित्रित आकाश तथा स्थान मन से अनुभव किया जा सकता है न कि चर्म चक्षुओं से 'मनोद्वारविज्ञानम् न तु चक्खुविन्नानम् (प्राकृत संस्कृत गद्य) कथावत्थु, पृ.193.

Mahatma Gandhi's Harijan tour of Ajmer-Merwara, 4-6 July, 1934 and Public Response in Rajputana States

Prof. V.K. Vashishtha

The scholars have paid scant attention to the social dimensions and impact of Mahatma Gandhi's Harijan tour of the British enclave of Ajmer-Merwara between 4 and 6 July, 1934. After the Poona Pact (September 1932), he assumed responsibility for the removal of untouchability by striking social equality at all levels of caste hierarchy in the Hindu society as he said that "Harijan service will be after my heart and will be more precious than the breath of life for me, more precious than the daily bread."[1] It was this sentimental attachment with the removal of untouchability that prompted him in 1932 to collaborate with the President of Hindu Mahasabha Pandit Madan Mohan Malviya, to organize an All India Harijan Sevak Sangh (the Society for the service of Harijans) in Delhi. In 1933, he launched a new weekly journal Harijan in English, Gujarati and Hindi followed by other editions in Bengali and Tamil to publicize the problem of untouchability among caste Hindus. On the advice of Thakkar Bapa, Secretary of All India Harijan Sevak Sangh, he undertook a Harijan tour of British India and some adjoining Princely States along with his followers from November 1933 to August 1934 for meeting Harijan Sevaks and also for mobilizing caste Hindus for the eradication of untouchability as it was 'inhuman violence', and 'a blot on Hinduism and contrary to its spirit'. He argued that the untouchability could not be removed by violence, or even by legislation or mere governmental intervention. It had to be grubbed out from the mindset of caste Hindus by convincing them by long, patient and non-violent means. Above all, he considered untouchability as a religious problem, and stressed on the temple entry of the Harijans for the removal of social discrimination among Hindus and also for opening avenues for their social and economic advancement. As a panacea, for the elimination of the untouchability, he urged the caste Hindus to grant social equality to

untouchables and to provide them such facilities, as temple worship and education along with clean dwellings, clean water, clean food and pure occupations.

The present paper proposes to study objectives and achievements of the Harijan tour of Mahatma Gandhi in Ajmer-Merwara and the response of caste Hindus to the Harijan campaign. Besides, it will also examine the impact of the Harijan tour on the development of Harijan Movement in the neigbouring Rajputana States. It is based on the wide range of sources, such as, Collected Works of Mahatma Gandhi, Haribhau Upadhyaya papers, the Harijan and the Harijan Sevak periodicals, Reports of the Rajputana Harijan Sevak Sangh, besides, the Secret Official Reports of the Chief Commissioner of Ajmer-Merwara preserved in India Office Library, London, the reminiscences of the office bearers of the Rajputna Harijan Sevak Sangh Ram Narayan Chaudhary and Sobhalal Gupt and the relevant secondary sources.

I

Growth of Ajmer-Merwara as the Gandhian Centre for Social and Political Movement in Ajmer-Merwara and Rajputana States

The British had occupied Ajmer-Merwara in 1818. Its centrical position among nineteen Princely States and two Chiefships in Rajputana[2] converted it into a channel for the permeation of the political and social ideas growing in the British Provinces among them. The propagation of Swami Dayanand Saraswati and Arya Samaj for the establishment of the Vedic society in Ajmer-Merwara and other parts of India and his political goals of Swaraj, Swadeshi and Swabhasha, had infused the ideas of nationalism and democracy among the people. The advent of the Indian press and the modern system of education in Ajmer-Merwara and, above all, the growing clout of the Indian National Congress as a national organization across the country created political and social awakening in Ajmer-Merwara towards the later part of the 19th century. This was evident by the participation of the delegates from Ajmer-Merwara in the annual sessions of the Indian National Congress from 1888, and thereafter also from Rajputana states. The formation of the Ajmer Provincial Congress in 1915 and the echoes of the Home Rule Movement in Ajmer-Merwara

anchored the people in the nexus of Indian Freedom Movement. Moreover, the two hectic visits of Mahatma Gandhi (in October 1921 and March 1922) during the Non-Cooperation and the Khilafat Movements (1920-22) and also two trips of Kasturba Gandhi to participate in the inaugural functions of the Ajmer Political Conference (7 October, 1922) in Ajmer, and the Marwar State's People's Conference (23 November, 1932) at Pushkar near Ajmer steered the people of Ajmer-Merwara and Rajputana to join the Gandhian non-violent struggle, to wear Khadi and to eradicate untouchability. Finally, Haribhau Upadhyaya, a follower of Mahatma Gandhi transformed Ajmer-Merwara into a Gandhian stronghold by founding the Gandhi Ashram at Hatundi near Ajmer (1926) as the headquarters of Gandhi Seva Sangh for the removal of untouchability. His position as a veteran Gandhian was further strengthened at Ajmer by his assuming charge of the All India Charkha Sangh for the spread of Khadi, and also those of the Sasta Sahitya Mandal as well as the Tyag Bhumi, a periodical in Hindi (1927) for the dissemination of Gandhian ideas and literature across the country. He launched the Civil Disobedience Movement in Ajmer-Merwara (1930-34) and gave it a broader social base by aligning political activists from Rajputana States in it. In October 1932, the Gandhians also overshadowed the social scenario of Ajmer-Merwara with the establishment of the Rajputana Harijan Sevak Sangh, at Nareli (near Ajmer), a branch of the All India Harijan Sevak Sangh, Delhi. Rai Bahadur Harbilas Sarda assumed its charge as President and Ram Narayan Chaudhary as its Secretary for the extirpation of untouchability in Ajmer-Merwara and the neighbouring Rajputana States.

II

Selection of Ajmer-Merwara for Harijan tour

After the Poona Pact (September 1932), the British Government released Mahatma Gandhi for campaigning against the eradication of untouchability in India in August 1933. On the invitation of Ram Narayan Chaudhary, the Secretary, Rajputana Harijan Sevak Sangh, he incorporated Ajmer-Merwara in the itinerary of his All India Harijan tour in view of the pathetic conditions of the Harijans there as revealed from a Note submitted to him in the Yarvada Jail, Poona by Ram Narayan Chaudhary entitled, "Condition of Harijans in Rajasthan" in March 1933.[3] The Note succinctly

described the sufferings of the Harijans at the hands of the caste Hindus in Ajmer-Merwara and the adjoining Rajputana States. They were considered untouchables in the Hindu society as they were engaged in the unclean sanitary jobs and in carrying and skinning dead animals. Hence, the Caste Hindus viewed their touch polluted and any physical contact sinful. They faced shortage of water as they were not allowed to draw it from the savarna wells. Thus, they were forced to collect water from the cattle pond of the wells. Besides, they were not permitted to enter the temples, and restaurants or to place Kalash on their temples or keeping a cycle. Similarly, a Harijan bridegroom was forbidden from riding a horse. Further, the Harijan children were deprived of education as they were not admitted in the public schools.

In the daily life, the Harijans were prohibited from the consumption of wheat and sugar, and also fried food. They lived in unhealthy conditions in small mud and grass shacks having no ventilation. The State government employees exploited them by forcing to do odd jobs in begar (forced labour) without paying any remuneration. R.N. Chaudhary further stated in his Note that it was distressing to see the sweepers of the Ajmer Municipality removing excreta and filth from the garbage dumping station at Malasur in Ajmer.[4] Mahatma Gandhi discussed with Ram Narayan Chaudhary on several aspects of the deplorable condition of the Harijans, and directed him to list his visit to Malasur in the Ajmer tour programme and also to provide him peremptorily details about the water problems of the Harijans.[5] After receiving the information about the dearth of wells in the Western Rajputana States (covering Jodhpur, Bikaner and Jaisalmer States), Mahatma Gandhi advised Ram Narayan to prepare a road map for sinking wells in these States for the Mehtars after interviewing them, and also to collect funds from the wealthy people for this purpose.[6]

III

Gandhi's campaign against untouchability

in Ajmer-Merwara, 4-6 July, 1934

After the completion of his Harijan tour of Bhavnagar State, Mahatma Gandhi boarded the Delhi Mail with Smt. Kasturba Gandhi, A.V. Thakkar, Secretary, All India Harijan Sevak Sangh, and other followers and detrained on the night of 4 July, 1934 at Saradhana Station about ten miles from

Ajmer. He was received by twenty members of the Reception Committee, Dewan Bahadur Munshi Harbilas Sarda, M.L.A. and President of the Rajptuana Harijan Sevak Sangh, Nareli; Ram Narayan Chaudhary, Secretary, Rajputana Harijan Sevak Sangh; Krishna Gopal Garg, President, Ajmer District Congress Committee and several others. He was lodged in Rai Sahib Munshi Bishambar Nath's Bungalow on the Kutchery Road opposite the Bisset Institute in Ajmer.[7]

A. Gandhi's Meetings in Ajmer, 5 July, 1934

On next day, 5 July, 1934, Mahatma Gandhi had a full schedule for meetings in Ajmer, the headquarters of the Chief Commissioner of Ajmer-Merwara. He separately addressed meetings of women, Harijan Sevaks (servants) and public. He also held deliberations with Khadi workers of the Charkha Sangh, Harijan leaders and the Ajmer Congress workers.

(i) Women's meeting: On the morning of 5 July, 1934, Mahatma Gandhi addressed the meeting of about three thousand women at Anasagar in Ajmer.[8] He elaborated on the Harijan Movement for fifteen minutes and advised them to make no social discrimination with the Harijans and treat them as their equals.[9]

"I do not wish to make any elaborate argument before you. Everyone would agree that we are subject to the law of love. As Tulsidas put it, mercy is the root of religion ('daya dharma ka mula hai'). Untouchability must be abolished if only because it is opposed to the law of love and to the spirit of mercy. How could they swear by love and at the same time consign a large class of their fellowmen to insanitary surroundings, prevent them from drawing water at wells, compel them to drink water spoilt by cattle and assault them if they tried to assert their common right over public wells? So also, if quite a number of dirty savarna children could attend the public schools with impunity, was it right to exclude Harijans even when they were clean? To consider others as lower than ourselves was a species of pride, which Tulsidas called the root of sin ('pap mula abhiman') and pride goes before destruction."

On an appeal in the meeting for the Harijan Fund about Rs.100/- and a few ornaments worth about Rs.60/- were collected.[10] In the estimation of the Chief Commissioner of Ajmer-Merwara, the absence of Muslim women in the meeting was "conspicuous" but it could be ascribed to their

observing purdah and also to their not subscribing to untouchability.[11]

(ii) Interview with Harijan Sevaks: On 5 July, 1934, Mahatma Gandhi also addressed the Harijan Sevaks. He explained to them the conditions of their nature of service and stressed on them to serve the Harijans in all sincerity."[12]

"This service has its own reward, and it has no selfish or political motive behind it whatever. Their sole aim was the purification of religion. There was no room in the movement for those who approached the question from a political standpoint, and they must leave it at the earliest opportunity, as their continuance in it was fraught with great injury to the cause. They could never hope to convert savarna Hindus, if they cherished any political aims. They alone should participate in the movement who accepted the principles of truth and non-violence and who believed in temples as an integral feature of Hinduism."

(iii) Deliberations with Harijan leaders: The Harijan leaders from the Rajputana States in the meeting with Mahatma Gandhi complained about their oppression under the system of begar, their hardship due to the scarcity of water and imposition of restrictions on their civil liberties by the savarnas. Certainly this information endorsed the dismal situation of the Harijans also narrated by Ram Narayan Chaudhary in the feudal set up of Rajput States.[13] Ram Narayan Chaudhary in the Rajputana Harijan Sevak Sangh Report of 1933-34 indicated that the Harijan Sevaks struggled to remove such complaints of Harijans to provide them relief.

(iv) Interview to the Rajasthan Charkha Sangh Workers: In their meeting with Mahatma Gandhi, the workers of the Rajasthan Charkha Sangh, Amarsar (in Jaipur State) reported to him about the progress of the Khadi work along with their service to the Harijans. In 1926, they had established a Harijan school in their Khadi Centre, the popularity of which could be judged by the fact that the Savarnas admitted their children in it. This mingling of the Harijan and the Savarna students mitigated social discrimination between them and also created social harmony among them. Subsequently, the Khadi workers founded a Harijan Mandal, and under its auspices they started three schools for both Harijan and Savarna Hindu students. They also persuaded the Harijans to abjure liquor and consumption of meat and carrion. Above all, they supplied to the Harijans medicines

and organized a Harijan Caste Panchayat for regulating their social life.[14]

(v) Public meeting and the Sanatanist protest at Ajmer: On the evening of 5 July, 1934, the Rajputana Harijan Sevak Sangh organized a public meeting at Anasagar in Ajmer, under the Chair of Mahatma Gandhi. It was attended by about twenty thousand men and women. Ghisulal Advocate, a member of the Reception Committee presented a memorandum on behalf of the Rajputana Harijan Sevak Sangh to Mahatma Gandhi narrating the woes of the Harijans in Rajputana States. He attributed two reasons for their sufferings due to social discrimination in the Hindu Society. One, the feudal Rajputana States as the stronghold of conservatism saw every social development for the Harijans with suspicion. Second, the Harijans lacked confidence to raise their voice against social discrimination due to their abject poverty, illiteracy and suffering from diseases. Even in this unfavourable social environment the Harijan Sevaks carried out their Harijan work with success by surpassing opposition of the people to it by following no political agenda. Hence, some small States of Rajputana extended their support to the Rajputana Harijan Sevak Sangh while others had adopted a neutral policy towards it. Of course, the Rajputana Harijan Sevak Sangh faced difficulties in some states in its Harijan campaign but it hoped to overcome them as they existed owing to "the nature of the individual rather than the part of State's policy."[15] Moreover, there was no concerted Sanatanist opposition in Rajputana States like the British Provinces.[16] However, Mahatma Gandhi did not address the audience in the public meeting at Ajmer as he was enraged owing to their assaulting Pandit Lalnath, a Sanatanist from Benaras before his arrival at the Pandal.[17] Of course, Lalnath had infuriated the audience by staging protest along with his followers against the Harijan campaign in the pandal but Ram Narayan Chaudhary, the Secretary, Rajputana Harijan Sevak Sangh showed his slackness in restraining the audience in assaulting him. The Mahatma was against any violence in the Harijan campaign as it was liable to make it unpopular.

(vi) Neutralization of Political Opponents: In his zeal to strengthen the Harijan Movement and for "removing differences amongst the Congress leaders,"[18] Mahatma Gandhi met two Congress leaders, Gauri Shanker Bhargava and Arjunlal Sethi, at their residences in Ajmer on 5 July, 1934. They had become passive towards Congress after the establishment of

the Gandhian hegemony under the leadership of Haribhau Upadhyaya in the political life of Ajmer-Merwara. Despite the opposition of some followers, Mahatma Gandhi resolved to meet them as he scoffed at the canards against them as these were unfounded. (i) On the invitation of his old host and admirer Gauri Shankar Bhargava, Mahatma Gandhi met him at his residence. His deliberations with him resolved his doubts and rekindled in him a desire to lead an active political life. Ram Narayan Chaudhary states in his diary that the judicious attitude of Mahatma Gandhi created goodwill and left an abiding impact on the Bhargava family.[19] (ii) Similarly, Mahatma Gandhi along with his followers met Arjunlal Sethi at his house at the Madar Gate in Ajmer.[20] Arjunlal Sethi was an old revolutionary and an adversary of Gandhi in the Congress party politics. He was overwhelmed with joy to receive Gandhi at his house. Along with his wife, he welcomed him by performing his arti, and also sought his blessings for himself and for his children by touching his feet. Besides, he presented a purse for the Harijan Fund as a token of his support for the Harijan Movement.[21] Ram Nayaran Chaudhary and the Chief Commissioner of Ajmer-Merwara were unanimous in their opinion that Arjunlal Sethi was so much bubbled over with Gandhi's visit that he re-entered "the political arena."[22]

(vii) Deliberations with Ajmer Congress Workers: Along with the several meetings of the Harijan campaign, Mahatma Gandhi deliberated with the Ajmer Congress Workers to resolve their growing differences and problems at his residence in camera in Ajmer on 5 July, 1934. The Chief Commissioner, Ajmer reported to his government - the contents of Mahatma Gandhi's deliberations with "political workers" in this meeting.[23]

"Socialism, the policy of the Congress with regard to the States, unity and the representation of Rajputana in the All India Congress Committee. Gandhi, it is understood, impressed upon his hearers that socialism should not be accompanied by violence, and that the States should not be interfered with as this would lead to a conflict between the Congress and the States. Gandhi discussed privately with Hari Bhau Upadhi (Upadhyaya) the present political condition of Ajmer-Merwara with regard to Assembly Elections, the future programme of the Congress organization in the rural areas and enrolment of members, and advised him to send a number of delegates to attend the next All India Congress Committee's Session at Bombay."

Thus, Mahatma Gandhi also devoted his time and energy for political work of the Congress during the Harijan campaign. However, he restrained himself from holding public meeting with the Congress workers or making any pronouncement against the British government.

(viii) Visit to Ajmer Municipality Malasur Station and the Harijan colony: In his eagerness to have knowledge of the living conditions of the Harijans in Ajmer, Mahatma Gandhi visited their quarters at Bongia and Malasur.[24] He was shocked to see the sweepers working in unhygienic conditions in cleaning the excreta and filth at the Ajmer Municipality Station at Malasur. He narrated their pathetic working conditions in an article in the Harijan Sevak entitled, "Hell in Ajmer" (Ajmer ka Narak).[25] Surprisingly, they could not get relief from this hell during the British rule in Ajmer-Merwara. It was only due to the concerted efforts of Smt. Rajkumari Amrit Kaur that a bathing place was developed for the sweepers in place of the Ajmer Municipality Malasur Station which was inaugurated by Morarji Desai in 1954.[26]

A. Harijan tour of Beawar, 6 July1934

On the morning of 6 July 1934, Mahatma Gandhi started by car from Ajmer for Beawar, the headquarters of Merwara district. On his arrival there he confronted a Sanatanist Pandit Chandra Shekhar and his supporters waiving black flags as a mark of opposition to the Harijan Movement. However, Gandhi intelligently steamed out the hostility of Pandit Chandra Shekhar by backing out from indulging in a religious debate with him on untouchability, and also by wittingly suggesting him to declare publicly that "Gandhi was outwitted without religious debate."[27] Consequently, the opposition petered out. Interestingly, Pandit Chandra Shekhar, the protestor marched against the Harijan campaign, later on, rose to the position of Sankaracharya of Jagannathpuri.[28]

On the other hand, Mahatma Gandhi received favourable response to the Harijan Movement from all the sections of the Hindu society in the public meeting at the Mission Ground in Beawar. Delegations of the Harijans and other groups presented to him memorandums reassuring their support to the Harijan Movement. For instance, a contingent of Jain Sadhus handed over a memorandum to him stating that Jainism did not subscribe to untouchability while their community had always volunteered for serving

the Harijans.[29] So also, the students of the Jain Gurukul, Beawar in their memorandum referred to a Jain treatise, Uttaradhyayana Sutra which recorded that in Jainism the Varna system is followed by occupation of a person and not on the basis of his birth, "one who is a Brahmin, Kshatriya, Vaishya and Shudra by occupation."[30]

"Kammna bamhano hoi, Kammana hoi Khattio
Kammana basiyo hoi, Kammana havai suddhao"
(कम्मणा बम्हणो हुई, कम्मणा हुई खातिओ
कम्मणा बसियो हुई, कम्मणा हव सुद्दो)

Coupled with this, two Jain monks, Chunnilal and Laxmi Rishi came forward to support the Harijan movement by collecting donations in the public meeting to salvage the Harijan Fund in violation of the Jain tenets.[31] At the top of this, they discarded their holy scrubs and aligned themselves with the Harijan Movement as full time constructive workers. Mahatma Gandhi in his public address spoke "on the Harijans, the removal of untouchability and Shuddhi and expressed thanks for the purse" for the Harijan Fund.[32] Thereafter, he visited the Harijan quarters and also a Harijan temple at Beawar.[33]

Mahatma Gandhi collected total sum of Rs.4942/- for the Harijan Fund in the meetings and other sources during his tour of Ajmer.[34] Similarly, he received Rs.1,172/- for the Harijan Fund in Beawar.[35] Besides, the collection for Harijan Fund, he also craved for the support of the Caste Hindus for the Harijan campaign, as he said, "Mere money will not avail, I must have your hearts."[36]

The grand Harijan tour of Mahatma Gandhi forged a salutary impact in the construction of a favourable public opinion for the Harijan Movement in Ajmer-Merwara and the neighbouring Rajputana States. Moreover, it legitimized the constructive programme of the Rajputana Harijan Sevak Sangh. Still further, it rejuvenated the Harijan Sevaks and gave them a fresh impetus to devote their time and energies for the Harijan Movement. More importantly, it softened the opposition of Sanatanists, orthodox Hindus and conservative Rajput rulers towards the Harijan campaign. This social transformation, even in a fringe group of caste Hindus, certainly, facilitated the installation of the branches of Rajputana Harijan Sevak Sangh

across Rajputana States.[37] The proliferation of the area of operation of the Rajputana Harijan Sevak Sangh provided more opportunities to Harijan Sevaks to intensify public awareness programme about the welfare of Harijans. This was revealed in their efforts to educate caste Hindus in favour of the complete removal of untouchability in all forms and to carry the Constructive Programme of the All India Harijan Sevak Sangh "for the social, hygienic, educational and economic uplift of the Harijans in a spirit of service and self-purification."[38] The Constructive Programme for the Harijans included the education for boys, girls and adults; vocational training, such as, spinning, weaving, tanning, shoe-making, etc., and preaching for clean living and abstinence from beef, carrion and liquor. It also envisaged to mobilize Municipalities and Local Bodies to provide clean quarters for Harijans, water for washing and bathing, and also facilities for using public wells, taps and water resources. Further, the Constructive Programme aimed at the entry of Harijans in the temples as a mark of abolition of untouchability and also collection of donations for Harijan work from all sections of the society including Sanatanists and non-Hindus.[39] The success of Gandhi's Harijan tour raised his position as the Messiah of the Harijans in the feudal Hindu society of Rajputana. This triumph belied the hope of the British government that the opposition of Sanatnists to his Harijan campaign would lead to his unpopularity all over India and give a set back to his political career.[40]

IV

Sanatanist protest and violence in Ajmer

In the spate of public support to the Harijan Movement in Ajmer-Merwara the protest of the Sanatanist Pandit Lalnath in Ajmer public meeting led to a scuffle between him and the audience on 5 July, 1934. Pandit Lalnath and several other Sanatanists were stalking Mahatma Gandhi, throughout his Harijan tour to counteract the Harijan campaign. In Poona, a bomb was thrown on Gandhi's cavalcade, but he was saved as he was not seating in the motor on which the bomb was hurled. Even at Ajmer there were rumours that two persons were hired for hurling stones at him but he did not give credence to such rumours as he had met Pandit Lalnath several times in the public meetings during the Harijan tour and in his estimation he could not stoop to any mean course. This proved true. On the afternoon of 5 July, 1934, Pandit Lalnath came to meet Gandhi and

expressed his desire to speak in the public meeting a Ajmer similar to his speaking in the public meetings on untouchability at Cuttuck and other venues. Gandhi at once agreed to his proposal and advised him to come to the public meeting after his reaching there. Unfortunately, he reached the venue of the meeting with a party of thirty Sanatanists at Anasagar just before the arrival of Mahatma Gandhi and staged a black flag demonstration as a mark of his protest against the Harijan Movement.[41] The audience could not brook this flagrant opposition of the Sanatanists to the Harijan Movement. The black flags of the Sanatanists were snatched away and someone from the audience assaulted Lalnath on the head.[42] Thus, Lalnath failed to mobilize the Hindu society against the Harijan Movement in Ajmer.

On Gandhi's arrival in the public meeting, Pandit Lalnath appeared before him with a bleeding head wound. The volatile behaviour of the audience pained Gandhi as violence had no place in his Harijan campaign. He called Lalnath to sit on the dais, bandaged his wound to console him, and also chided the audience for their cruel behavior with Lalnath as it was detrimental for the Harijan Movement.[43]

"That the Pandit was perfectly entitled to attend the meeting with the black-flaggers and record his protest against the movement. Whoever had assaulted him had exhibited gross incivility. Black flags could do them no harm, but the assault on the Pandit had certainly damaged the cause they had all at heart. The Pandit's assailant had committed great sin in the eyes of God as well as man. Sanatanists and reformers had occasionally come to blow before, but the Ajmer assault was unpardonable, as he had made himself responsible for the Pandit's safety. Untouchability could never be abolished by violent methods, which would only recoil on their heads. He would consider what penance he should undergo as reparation for the untoward incidents ….. Reformers might not assault others, but should suffer assaults without retaliation, as thus only could hearts be moved and untouchability abolished."

Thereafter, Mahatma Gandhi invited Lalnath to address the audience, when the latter spoke against the Harijan Movement for a couple of minutes, the audience interrupted him by shouting, "Shame, Shame." Gandhi again restrained the audience as to him its refusal to hear Lalnath exhibited "gross discourtesy" and "incivility." He explained to the audience that:[44]

"If he (Gandhi) could say with impunity that untouchability was a sin, the Pandit had an equal right to assert that the movement was directed against untouchability was irreligious in his opinion. If they cried 'shame' when Pandit expressed his honest opinion the same was not his but theirs."

With the same strain, Mahatma Gandhi made it clear to the audience that the "Harijan service was a religious movement in which there was no room for intolerance or physical violence, whereas if they restrained themselves untouchability would die with him."[45]

Mahatma Gandhi's retort to audience had a salutary effect, as it heard Lalnath patiently.[46] But he had invariably diluted such opposition of the Sanatanists during the Harijan tour by inviting them in the public meetings to the dias to explain their point of view for subsiding their opposition. He could not forgive the erring gathering as he suspected the hand of a Harijan Sevak in assaulting Pandit Lalnath in the public meeting.[47] Hence, on the presentation of a purse of Rs.2000/- for the Harijan Fund by the Rajputana Harijan Sevak Sangh, he remarked that "the gift had lost its value on account of the attack on Lalnath."[48] The violence against Lalnath rankled in his mind throughout the Harijan tour in Sindh and Benaras. However, as a mark of penance and personal purification, he entered upon a-seven-day fast after returning from the Harijan tour to Wardha in Central India from 7 August to 14 August, 1934.[49] In his zeal to devote whole time for the welfare of Harijans, he resigned from the Indian National Congress on 17 September, 1934.[50] In 1936, he finally settled in the Sevagram Ashram, eight miles from Wardha to work in a Harijan dominated village of Sevagram (earlier known as Seogaon) to fulfill his life mission of serving the Harijans.[51] However, he expected the Congress to "help the Harijan Movement since the Congress is also pledged to removal of the curse."[52] Thus, he pursued the ideals to serving the Harijans only as a part of the Constructive Programme and kept the Harijan Movement outside the political agenda of the Congress.

Rreferences

1. *Mukut Behari Verma, (Compl.), History of the Harijan Sevak Sangh, 1932-1968, Harijan Sevak Sangh, Delhi, 1971, p.85.*
2. *During the period of the British paramountcy, there existed nineteen States. Of these sixteen were Rajput States viz., Udaipur (Mewar), Jodhpur (Marwar), Jaipur (Dhundar), Bundi, Kota, Jhalawar, Bikaner, Jaisalmer, Alwar, Kishangarh, Dungarpur, Banswara, Partapgarh, Karauli, Sirohi and Shahpura; two Jat Sates of Bharatpur and Dholpur, and a Muslim State - Tonk. Besides, there were two Chiefships - Kushalgarh and Lawa.*
3. *Ram Narayan Chaudhary, Adunik Rajasthan ka Utthan, Rajasthan Prakashan Mandal, Ajmer, 1967, p.138.*
4. *Ibid., pp.137-138.*
5. *Ram Narayan Chaudhary, Bapu : Maine kya Dekha Kya Samajha (abbreviated as Dairy), Narayan Prakashan Mandir, Ahmedabad, 1958, No.172, p.97.*
6. *Harijan Sevak, 14 April, 1933.*
7. *Letter of C. Lakimer, Chief Commissioner, Ajmer-Merwara to Wingate, Political Secretary to Government of India, 10 July, 1934, in Baren Ray (ed.), Gandhi's Campaign Against Untouchability, 1933-34, An Account from the Raj's Secret Official Reports, Gandhi Peace Foundation, New Delhi, 1996, p.204.*
8. *Ibid., p.205.*
9. *Ibid.*
10. *Ray, op.cit., p.205.*
11. *Ibid.*
12. *Harijan, 20 July, 1934, CWMG, Vol.58, p.144.*
13. *Sobhalal Gupt, Gandhiji aur Rajasthan, (ed.), Rajasthan Rajya Gandhi Smarak Nidhi, Bhilwara, 1969, p.4.*
14. *Ibid.*
15. *Ibid., p.7.*
16. *Ibid.*
17. *Ibid.*
18. *Ray, op.cit., p.206.*
19. *Ram Narayan Chaudhary, Dairy, p.91.*
20. *The view that Mahatma Gandhi met Arjunlal Sethi in Dargah premises in Ajmer, is not tenable.*
21. *Sobhalal Gupt, op.cit. p.9.*
22. *Ray, op.cit., See also, Ram Narayan Chaudhary, op.cit., p.92.*
23. *Ray, op.cit., p.205.*
24. *Ibid., p.206.*
25. *Ram Narayan Chaudhary, Diary, p.97.*
26. *Ibid.*
27. *Sobhalal Gupt, op.cit., p.10.*
28. *Ibid.*
29. *Ibid., pp.10-11.*
30. *Ibid., p.10.*
31. *Ray, op.cit., p.207.*

32. *Sobhalal Gupt, op.cit., p.11.*
33. *Ray, op.cit., p.206.*
34. *Sobhalal Gupt, op.cit., p.11.*
35. *Ray, op.cit., p.207.*
36. *Yogesh Chadha, Rediscovering Gandhi, Century Books, London 1997, p.322. Quoted from Suryakant Nath, "Gandhi's Padyatra in Orissa in 1934: Claims over a Contested Social Space", IHC., 74th Session, Cuttack, 2013, p.565.*
37. *Report of Rajputana Sevak Sangh, Ajmer, F.no.8, Haribhahu Upadhyaya Papers, NMML. See also, Ram Narayan Chaudhaary, op.cit., p.134-37.*
38. *Verma, op.cit., p.64.*
39. *Ibid., pp.64-65..*
40. *Ram Narayan Chaudhary, op.cit., p.132.*
41. *Collected Works of Mahatma Gandhi (CWMG), Publication Division, Government of India, New Delhi, 1966, Vol.58, p.144.*
42. *Ray, op.cit., p.205.*
43. *Harijan, 20 July, 1934, CWMG, Vol.58, p.145.*
44. *Ibid.*
45. *Ibid.*
46. *Sobhalal Gupt, op.cit., p.9.*
47. *Harijan Sevak, 31 August, 1934; Sobhalal Gupt, op.cit., p.16.*
48. *Ray, op.cit., p.206.*
49. *Harijan, 17 August, 1934; CWMG, Vol.58, pp.237-38.*
50. *CWMG, Vol.58, pp.238n.*
51. *Harijan, 5 December, 1936; Harijan, 25 July, 1937.*
52. *Harijan, 17 August, 1934; CWMG, Vol.58, p.298.*

Jagirdari System in the South-Eastern Rajasthan during the Eighteenth Century

Prof. Narayan Singh Rao

The states of Rajputana, in the context of 18th century, restricted their role by performing the twin duties of defending the state frontiers and collecting the revenue.[1] The duties were often compromised into one and while on the one hand the state acted as the centrifugal figure for both, it actually diversified its responsibility into a number of channels fed directly at the cost of the state and indirectly at the cost of Karsha (peasants). We find in the document that the Rajput states, like the Mughal Empire was strong at the center but weak in its provinces, so these states opted to pay its servants both, civil and military, through revenue assignments, generally termed as tankawah jagirs (revenue assignments against their salaries). This was a legacy of the past determined by the clan or bhai-bant system[2] and it was made more relevant under the Mughal pattern of administration. As early as 1711 V.S. during the time of Rao Mukund Singh (1706-1714 V.S.) we find that the greater part of the land was assigned against Jagirs.[3]

The holder of the patta of such assignments were almost invariably required to serve the ruler with a number of footmen, horses and beasts of burden. Such revenue assignments were known as Jagirs,[4] and the assignees were known as Jagirdars (holders of jagirs).[5] In Harawati the bulk of the state territory consisted of mauza (villages) were assigned in Tankawah jagirs. Since jagiri villages were usually assigned against Tankawah (salary) it was necessary to determine in each case an area that would yield in revenue an amount equivalent to the sanctioned pay and cost of the beast of burden. A standing assessment (Rekh) was, therefore, prepared for each unit of territory, the mauza and, more especially, the Pargana or Hawala. To serve best it ought to have been prepared as closely as possible to the upat (expected yield).[6] But in actual practice it was not so. The Hada rulers did not assign the Jagirs on the basis of the jama figures which had remained more or less stable since the times of Akbar

while the hasil figures had invariably increased. As such while assigning Jagirs, the ruler made his own assessment which was considerably higher than the jama figures of the Mughal court. This was obviously shaped by two basic considerations. First, since the military contingents were to be furnished by the jagirdars, the tendency was to set the rekh demand at the highest level which in turn would provide bigger contingents. Secondly, it should be born in mind that the karsha was to be left only with the surplus produce for his existence.

The entire territory and villages (mauzas) in the state were classified into three distinct categories - Asli, Majara and Ujad[7]. As the fertility along with the occupancy rights and customary practices, differed from one parts of the state to the other so the number of mauzas of the three kind varied. It is certain that the percentage of the latter two kinds was quite microscopic and came to 7.4% only.[8] It is also evident from the following table[9] as studied mauza-wise.

S.N.	Name of the Hawala/Tappa	Year V.S.	Total villages	Asli-Villages	Majara Villages	Ujad	% of total majra villages
1	Kujod	1823	47	42	4	-	8.5
2	Bakhani (Tappa)	1798	38	37	1	-	2.63
3	Mangrol	1777	86	74	12	-	13.95
	Mangrol	1810	86	77	9	-	10.48
4	Barod	1803	140	124	10	6	7.14
5	Urmal	1823	89	74	11	4	12.35

The above table shows that the number of mauza villages was not as meagre but such villages were generally spread all over the state. The highest percentage is seen in the Hawala of Barod for no reason other than that it was not very fertile and then situated in a vulnerable position. A sub-classification of these mauzas shows that they were mainly divided into two categories namely - Khalsa and Jagir villages. The Khalsa land is to be conceived as a group of villages held directly by the state administration. It is apparent that it comprised of the most fertile, and conveniently administered land. The percentage of Khalsa land was meagre in general but it was comparatively heavier in and around the state capital provided that the land was fertile.[10] In all the Parganas there were certain mauzas

assigned to Khalsa as a measure to curb the refractory tendencies of the jagirdars and zamindars.[11]

The extent of the Khalsa land varied from time to time and from mauza to mauza. There are references when the khalsa land was either transferred, increased or assigned to jagirdars as is evident from the following table.[12]

S.N.	Name of Hawala	The V.S.	Total No. of Villages	Khalsa Villages	Percentage of Khalsa to total villages
1.	Mangrol	1777	86	6	6.99
	Mangrol	1823	83	9	10.85
2.	Kunjod	1799	49	5	10.20
	Kunjod	1823	49	4	8.16
3.	Barod	1799	103	39	37.85
	Barod	1823	103	29	28.15
4.	Basthuni	1799	56	6	10.7
	Basthuni	1823	56	8	14.26

The table shows that there ware no rigid rules in transferring the mauza from khalsa to jagir or vice-versa. It depended on the exigencies of the times and the nature of the mauzas. Again out of Khalsa villages the majority, were administered by the State directly but some villages were also assigned on muqata, to leading and influential citizens either temporarily or permanently.[13] The muqatadars collected the revenue on behalf of the state and after deducting collection charges deposited the rest in the state treasury.[14] Mauzas were sometimes assigned to Sahukars too who were creditors to the state.[15] The Mauzas remained with the muqatadars till the loan was repaid. The areas earmarked for jagirs in the state fluctuated from year to year. The extent of areas assigned in Jagirs was quite high in comparison to khalsa land. It is also evident that the area under the jagir villages located on bordering areas was very high in comparison to the jagirs near the capital. In case of Ghati ka Hawala in 1771 V.S. it came to nearly 87.7%. in Madhkargarh Hawala it came to nearly 83%. The extent of the area under jagir and the fluctuations in the number of villages assigned can be seen from table No. 3.[16] The Hada Jagirdars were in majority and this was a natural sequel to the clan system which formed the basis not

only of the administration but the formation of state itself. Persons of various Hada clans held jagirs usually in areas where they were settled and were the dominant clan. In order to put a break on their dominance in a particular area, the ruler occasionally assigned jagirs to some other such clan in the specified area. Such moves were naturally to curb the monopoly of recalcitrant clan. In the later period of our study when Jhala Zalim Singh became a strong force to be reckon with the number of jhala jagiri holders started swelling. The extent of jagirs held by different clans and castes can be traced in table No. 5.[17]

Generally for every Rekh of Rs. 1000, the Jagirdars had to provide two horsemen,[18] though Turki horses were preferred but in most of the documents the breed of the horse is not traceable and it is supposed that the breeds were treated at par.[19] The one rider attached to it was that against a good breed the Desi and Junglee type of horses were not acceptable. It was also not necessary that the same ratios may be kept for all the clans and in all the Hawalas. Sukh Singh held a jagir worth Rekh Rs. 1200 but he had to provide three horsemen.[20] Similarly the Bhais and Hadas who happened to be the favourite sons of the soil enjoyed a preferential treatment in terms of Chakri. Bhais and Hadas in pargana Barsana had a Rekh of Rs. 126658 and 47886, but they served with 121 and 49 horses respectively. Similarly, Rajawats had a Rekh of Rs. 3300 but served the state with 5 horses only. This shows that Rekh and Chakri varied with the clan and the ruler was the final arbitrator for fixing up the rates.[21] Palas were included among Tabindars and were provided separately at the rates of Rs. 40 to 50 p.a.[22]

In some of the pattas we find that instead of Rekh the patta has been allotted in terms of Chak Bighas[23] specifying the Kahat, Bido or other type of land. It appears that such pattas were assigned against land which was barren and the hakat land was supposed for the maintenance of the holder. In case the upat did not come upto expectations the Chakari was either converted into naqudi or the number of Japta-ghora beast of burden was reduced. Prem Mal Hada possessed 300 bighas in Tappa Sarhola against seven Japta ghoras. As upat did not come upto expectations, his patta[24] was converted into 'naqudi' of four jabta ghoras. In case of Nawal Singh Hada when upat was falling short the Chakari was reduced from three jabta ghora to two only.[25]

The Jagiri was assigned through a sanad which contained the terms and conditions alongwith obligations on the part of the assignee. The conditions related to keeping the land cultivable and not to leave it fallow if it could reap both the harvests. The revenue was to be realized at the rates sanctioned by the state from time to time. It was laid down that the assignee would serve with his contingents as specified in the sanad wherever and whenever required, keep peace and tranquility in the jagir and encourage the karsha to bring more land under cultivation.[26] The assignee if ever given the right to collect taxes other than the land revenue, the same was indicated in the patta itself and obviously such additional rights were regarded as a favour from the ruler. Hada Chet Ram was given the right to collect zagat from his jagir and it was mentioned in the patta.[27] Sometimes the ruler favoured the holder by assigning him an elephant or a Palki (Palanquin) for which provision was made in the patta and the holder kept a fewer number of horsemen than the specified number.[28] Sometimes the Rekh of an holder was reduced or he was given an additional jagir against it, varying from clan to clan. In the hawala of Basthuni, Hada Thakur Sayam Singh was granted an exception of Rs. 1000 in the Rekh while Jhala Ram Singh was favoured by an exemption of Rs. 1500 in the Rekh.[29] Sometimes the ruler condoned a few horsemen to be kept by a patta-holder as a mark of honour also. Bhai Amrit Singh was assigned a jagir for keeping 23 horsemen but three horsemen were condoned against the Deel.[30] The holder of the jagir could not allot land in sasan and puniyarth from the assignment which was supposed to be the prerogative or the ruler alone. He was also to make good for the absence or other kind of irregularities in terms of fines and deductions.[31]

It was not necessary that the jagir may be allotted at one place only or the number of Deels tallied with the number of villages. Bhai Hukam Singh Hada carried a patta of Rekh Rs. 2800 p.a. out of which Rs. 2300 was against the mauza of Aton while Rs. 500 were against mauza of Salihako.[32] Similarly the Jagiri of Bharat Singh Hada of Rekh Rs. 1600 was located in two mauzas namely Ramgarh and Rijaji.[33] Jagirs assigned against Chakri or otherwise even came to be known as Bas or Patta even when only some bighas were given in jagir, equally applicable to Hadas and other clans.

The Hadas, before the rise of the Jhalas, were the favourites of the

state in the assignments of Jagirs. In the Pargana of Barsana and Dalelpur Hadas had the Jagirs of 153 villages against 69 Deels which on an average comes to more than two villages per Deel.[34] In the parganas of Nandgaon and Barsana there were 232 villages against 138 Deels while Panwars possessed one village against two Deels. Kachawa, Rathores and Sisodias who ranked next to the Hada possessed a little more than one village per Deel.[35] In 1787 V.S. in the Pargana of Kota and Mau the Hadas possessed 64 villages against 59 Deels. This shows that in these two parganas Hadas did not enjoy that favourable position which they had in the parganas of Barsana and Dalelpur. The position of Jhalas in the former pargana was sound enough as they had seven villages against three Deels.

Broadly speaking Jagirdars were classed into two groups. Desh-Ka-Jagirdar and Hazur-Ka-Jagirdar.[36] Both the groups rendered chakri to the state in lieu of jagirs assigned to them with their contingents as specified in the patta itself.[37] Though the latter group was comprised mostly of the Hadas and the close relatives of the ruler generally termed as Bhais, but there was not rigidity in it, for the jagirdars of other clans and even Badgujars and Muslims formed part of this group. In terms of chakri they were favourite of the state and provided a lesser number of jabta-ghora to the state.[38]

The table shows that out of a total 353 villages in the parganas of Nandgaon and Barsana as many as 232 villages were allotted to Hadas or Bhais which came to 65.27%. The rest of the Hazur-Ka-Jagirdars from different clans carried 121 villages forming only 34.27%. In terms of chakari also the Hadas and Bhais provided 2.96 horses per villages while the rest of the clans provided 3.89 horses per villages. The Hada had a Rekh of Rs. 337331 forming 64.60% of the total while the rest of the jagirdars possessed only 35.40% of the Rekh. Taking pargana Nandgaon as a separate entity in 1799 V.S., we find that Hazur-Ka-Jagirdars possessed 236½ villages and provided 977 horses which comes to 2.9 horses per village while Desk-Ka-Jagirdars had 348¾ villages and provided 1986 horses giving 5.6 horses per village.[39]

But this position could not be maintained in the entire state. Had it been so it would have been difficult to defend the state. As such the number of Desk-Ka-Jagirdars and the villages assigned to them in jagirs were comparatively higher than Huzur-Ka-Jagirdars thus forming the core

of army. In Hawala Kujod in 1777 V.S. the former possessed 36.73% of the total villages while the other had 16.32% villages only.[40] The position in 1823 V.S. was that the Desh-Ka-Jagirdars had 77.55% of the total villages while Huzur-Ka-Jagirdars possessed none.[41] Similarly in Pargana Barsana Desh-Ka-Jagirdars had 346½ villages and Huzur-Ka-Jagirdars had 57 villages out of a total of 993 villages in 1798 V.S.

This trend is seen in most of the Parganas. The ruler granted jagirs considering the strategic position of the pargana, it's viability to enemy's attack and the dominance of a particular clan in a particular area. It is on this score that we find Desh-Ka-Jagirdars to be numerically superior to Huzur-Ka-Jagirdars. This is evident from the following table of pargana Mau.[42]

Asami	Gaon	Deel	Jabta ghora	Banduq	Shutur	Rekh (Rs.)	Naqudi (Rs.)
Huzur-Ka- Jagirdar	344½	218	1228	82	8	536543	11109
Desh-Ka-Jagirdar	696	311	1987	1121	9	643519	1140
	1040½	529	3215	1203	17	1180062	12249

The table also points out that on this part of the state was subject to possible Maratha incursions so Desk-Ka-Jagirdars were assigned more jagirs. In the later half of the 18th century when the danger of Maratha incursions became more lively the ruler adopted the policy of assigning jagirs to Marathas on this side so that they may act as a counter-check upon Maratha hords. It is because of this that in 1839 V.S. as many as 71 villages were assigned to 39 Maratha Jagirdars against an yearly revenue of Rs. 1,28,000 p.a.[43]

The records show that Huzur-Ka-Jagirdars had a qualitative as well as quantitative edge over the Desh-Ka-Jagirdars. The former not only enjoyed substantial jagirs but even the Tabindars were paid more handsomely than the other clans of jagirdars. A Kachwa Tabindar under Huzur-Ka-Jagirdars was paid Rs. 250 p.a. while his counterpart got Rs. 200 p.a. only. The same yard stick applied to other clan too.[44] As a further evidence of it we find in the records that Huzur-Ka-Jagirdars formed a more comprehensive and well knit-unit than the Desh-Ka-Jagirdars. Though conversion from one limit to other was a rarity yet we find that Rawat Umed Ram was granted this privilege. While serving as Desh-Ka-

Jagirdar with chakri of 12 japta ghora he was enlisted in the category of Huzur-Ka-Jagirdars against a chakri of 7 japta ghora.[45] This only suggests that the ratio was 12:7. It is to be borne in mind that the breed of the horse being was the same (Turki Tazi) in both the cases.

Thus we may conclude that the system of revenue assignment of jagirs in Kota state was not based on scientific basis. It was clan oriented i.e. the higher the clan or class in social hierarchy the better the jagir and lesser the chakri obligations. It could not have been otherwise in the 18th century for the entire set-up was based on the prevailing Bhai-Bant system and the Harauti states could be no exception to it. At the same time, the assignment of jagirs not only demoralized the forces of the state but also sapped it's vitality. It is because of this that Rajput forces were carried away by the hands of Marathas who forced them in the bear-embrace of the East India Company as their last resort. The process of the decay of Rajput armies was accelerated by the tumultuous attitude of the jagirdars as a result of the defective assignment of jagirs and the political instability.

References

1. *The concept of welfare state in India is a product of 19th century and that too in a very restricted sense. The Rise of Capitalism, p. 331, Oxford, 1985.*
2. *(a) Sharma, Dashratha, Early Chauhan Dynasties, pp. 202-13, Delhi, 1959.*
   (b) The practice of making cash payment to troops was prevalent during the Gupta and past-Gupta periods. But even during that period the army-men were sometimes rewarded with exemptions from land revenue and sometimes with assignments of land besides salaries being paid in cash. Chakravarti, P.C., The Art of War in Ancient India, p. 89, Delhi, 1972.
   (c) For a study of such grants in ancient India see Sharma, R.S., 'The Origins of Feudalism in India (C. 400-650)', Journal of Social History of the Orient, I, Part-3, October, 1956.
3. *RSA-KR, Bhandar No. 1, Taquim Samvat 1711 V.S. Pargana Kota and Gargron.*
   Percentage of Jagiri villages in three parganas of Kota is as follows -

Name of the Hawala	*Total Villages*	*Jagir Villages*	*Percentage of Jagir Village*
Kota	*195*	*121*	*62.05*
Soit	*32*	*23*	*71.7*
Gagron	*39*	*22*	*56.5*

4. *Jagiri is really a compound of two Persian words spelt as Jai-gir. It means holding or occupying a place. In India it means a tract of land granted by the ruler to a Mansabdars (Pattayats in our case) and (persons) of that kind, that they might take its revenue (Rekh) from cultivation, whatever it be. The term Jagir came to be used in India only in the 15th century.*
   Irfan Habib, The Agrarian System of Mughal India, p. 257, Bombay, 1963
5. *Since a Patta was granted to them specifying the terms and conditions, they were also called pattadar or pattayat in Bikaner and Jodhpur states.*
   (a) RSA-BR., Patta Bahi No. 6 and 7, 1742 and 1753 V.S.respectively.
   (b) RA-JR., Basta No. 97.
6. *The Hasil of the Mughal Period.*
7. *(a) RSA-KR., Bhandar No. 1, Basta No. 45/1, 1787 V.S., Baje Talke.*
   (b) RSA-KR., Bhandar No. 6, Basta No. 3/2, 1803 V.S. Tozi Taksim. Asli Signified a village which had it's population intact and was in existence at the time of the birth of the principality of Kota. 'Mazra' signified a 'mauza' whose 'asami or Riaya who, regardless of his having enjoyed or not enjoyed occupancy rights did not have the right either to sell or mortgage the land tilled by him. Ujad was a mauza which was depopulated on account of natural calamities or the hard demands made upon it by the revenue collectors.
8. *Out of a total number of 1124 villages in the twenty parganas of Kota state the number of Mazera villages comes to 83 only. It means that the latter carried a percentage of 7.4 only. In Barsana out of a total number of 883 villages, the number of Mazera villages was 107 which comes to 10.7%.*
   (a) RSA-KR., Bhandar No. 6, Basta No. 1/1, 1776-1797 V.S. Taqsem Nandgaon Talke Pargana Bis ro 1799 V.S.
   Ibid, Bhandar No. 1, Basta No. 51/1, 1798 V.S. Baje Talke, See Appendix No. 1, Urmal was under Talke Hazuri.
   (b) Kota was named Nandgaon by Maharao Bhim Singh, 1764-1777 V.S.
   Sharma, M.L., Kota Rajya Ka Itihas, Vol. I, p. 323, Kota, 1996, V.S.
9. *(a) RSA-KR., Bhandar No. 6, Basta No. 3/2, Do-Varkhi Parchajat Taksem Pargana Kujod., 1823 V.S. Table No. 2*
   (b) RSA-KR., Bhandar No. 1, Basta No. 51/1, Do-Varkhi Taksem Tafa Bakhani Ka Gaon Ki 1798 V.S.
   (c) Ibid, Basta No. 35/4, 1777 V.S.
   (d) RSA-KR., Bhandar No. 6, Basta No. 3/2, 1800-1810. Tozi Taksem Hawala Mangrole.

(e) Ibid, 1813 V.S.

(f) Ibid, Basta No. 6, 1833-34 V.S. In some of the documents the number of Ujad villages has not been mentioned. This does not carry the meaning that such type of villages did not exist but we are unable to specify the reason for not mentioning.

10. *Out of a total number of 1124 villages in the twenty parganas of Nandgaon, the number of Khalsa villages was 251.25. It comes to 22.3 percent of the total villages.*
RSA-KR., Bhandar No. 6, Basta No. 1/1, Taqsem Nandgaon Talke Pargana Bis ro 1799 V.S.
In Pargana Barasan out of 993 villages the number of Khalsa villages were 398.5 which come to 39 percent.
Ibid, Bhandar No. 1, Basta No. 5/1, 1798 V.S., The position during the Mughal times was not much better. In 1627 the Khalsa was only 1/20 of the Jama. It comes 1/7 in 1647 and 1/5 in 1657 of the jama.
11. *RSA-KR., Bhandar No. 1, Basta No. 30/1, Do-Varkhi Parchajat, 1772 V.S.*
12. *(a) Ibid, Basta No. 35/4, Do-Varkhi, Taqsem Pargana Mangrol Ka Hawala Ka.*
Ibid, Bhandar No. 6, Basta No. 3/2, 1800-24, Do-Varkhi Taqsem Pargana Mangrol.
(b) Ibid, Basta No. 1/1, Taqsem Nandgaon Pargana re gaon Bis Ko., 1776-99.
RSA-KR., Bhandar No. 6, Basta No. 3/2, 1800-24 V.S.
13. *RSA-KR., Bhandar No. 6, Basta No. 3/2, Tozi Taqsim 1800-1810. In 1803 V.S. Out of the total number of 140 villages as many as 15 villages were given against Muqata while 11 were directly administered by the state. In 1836 V.S. there were 2168 villages in 41 Hawalas, out of which 369.5 were against Khalsa/Muqata. The percentage comes to 16.9.*
RSA-KR., Bhandar No. 6, Basta No. 8/1, 1836 V.S.
14. *RSA-KR., Bhandar No. 3, Basta No. 67, Talik Bahi, 1839-40 V.S.*
15. *Ibid, Basta No. 67, Talik Bahi, 1839-40 V.S.*
16. *(a) Ibid, Basta No. 1/1, 1711-1771 V.S. Taqsem Jagiri.*
(b) RSA-KR, Bhandar No. 1, Basta No. 35/4, 1777 V.S.
(c) RSA-KR., Bhandar No. 6, Basta No. 3/2, 1803 V.S.
(d) Ibid, Basta No. 7/2, 1834 V.S.
17. *(a) Ibid, Basta No. 3/2, Taqsem Papers 1800-1824. In 1771 in the Hawala of Ghati were 52 villages in all out of which 6 were Khalsa. In the year 1803 and 1823 the number of villages rose to 55 out of which 8 villages were khalsa.*
(b) Ibid, Basta No. 1/1, Taqsem 1771 V.S. In 1771 the Hawala of Madhkargarh there were 29 villages out of which 3.5 were Khalsa villages.
RSA-KR., Bhandar No. 3/2, 1800-1824 Taqsem in 1803, two villages were Udik, two were Khalsa and one was Desh-Ka-Chakar.
RSA-KR., Ibid.
In 1823 out of 29 villages 6 were Khalsa and 2 were udik.
(c) RSA-KR., Bhandar No. 6, Basta No. 35/4 for 1777 V.S. and Basta No. 3/2 for 1800 V.S. out of 86 villages in 1777 V.S. in Hawala Mangrol 11 were Khalsa, 6 were against Dharti Ka Chakar and two were Udik villages.
18. *Ibid, Basta No. 7/1, Taqsem tafa Barood, 1834 V.S. At Jodhpur it was one horsemen per thousand of Rekh.*
Sharma, G.D., Rajput Polity, p. 119. At Jaipur it was two for every thousand of Rekh.
Sharma, G.C., Administrative System of the Rajputs, p. 67.
Dr. Sharma holds that at Bundi it was four for every thousand of Rekh which is untenable for in the records provided at Rajasthan State Archives., Bikaner it has been in-variably mentioned too.
Ibid, Basta No. 8/1, 1836 V.S.
19. *Ibid*
20. *RSA-KR., Bhandar No. 1, Basta No. 27/1, 1767 V.S.*
21. *Ibid, Basta No. 51/1, 1798 V.S.*
22. *Ibid, Bhandar No. 6, Basta No. 3/2, 1800-1824 V.S.*
23. *Ibid, Basta No. 35/4, 1777 V.S.*
24. *Ibid, Basta No. 1/1, 1771 V.S.*
25. *Ibid*
26. *RSA-KR., Bhandar No. 6, Basta No. 1/1, Taquisem Pargana ghati ki, 1771 V.S.*
27. *Ibid, Bhandar No. 3, Basta No. 67, 1839 V.S. Talik Bahi.*
28. *Generally six horsemen were reduced against one elephant and three in case of furnishing a Palki. RSA-KR., Bhandar No. 1, Basta No. 1777 V.S.*
29. *RSA-KR., Bhandar No. 6, Basta No. 7/1, 1834 V.S. Pargana, Basthuni Ka Hawala Ka Gaon.*
30. *RSA-KR., Bhandar No. 1, Basta No. 30/1, 1772 V.S.*
31. *Ibid, Basta No. 51/1, Do-Varkhi Parchajat, 1798 V.S.*
32. *RSA-KR., Bhandar No. 6, Basta No. 3/2, Taquisem Pargana, Mangrol Ki, 1800-1824 V.S.*
33. *Ibid*
34. *RSA-KR., Bhandar No. 1, Basta No. 51/1, Do-Varkhi Parchajat, 1798 V.S.*
35. *Ibid, Basta No. 35/4, 1777 V.S. Baje Talke. Kachwaha, Rathod and Sisodias possessed 56, 6 and 6 villages against 46, 6 and 5 Deels.*

36. (a) RSA-KR., Bhandar No. 1, Basta No. 45/1, 1787 V.S.
(b) Ibid, Basta No. 35/1777 V.S., Dr. G.C. Sharma classifies jagirdaries into two categories Desh-ke-Jagirdar and Darbar-ke-Jagirdars which is not tenable.
Sharma, G.C., Administrative System of the Rajputs, p. 45, Delhi, 1979.
37. RSA-KR., Bhandar No. 1, Basta No. 30/1, Do-Varkhi Parchajat, 1772 V.S. Dr. G.C. Sharma maintain the Darbar-Ke-Jagirdars were those who were closely related to the Maharao such as his brothers, cousins, uncles near or distant relatives.
Sharma, G.S., op.cit., p. 45.
It is correct to say that this type of jagirdars were the relatives of Maharao but there were people of other clans too, not related to the Maharao. Secondly it appears that Dr. G.C. Sharma holds that these jagirdars were relieved from rendering Chakari to the state which is untenable for Huzur-ke-Jagirdars who were definitely assigned Jagirs against chakri.
38. RSA-KR., Bhandar No. 1, Basta No. 35/4, 1777 V.S. Huzur-ke-Jagirdars of Pargana Nandgaon and Barsana Table No. 5.
39. Ibid, Bhandar No. 6, Basta No. 1/1, 1776-79 V.S. Taquisem Pargana Nandgaon, 1779 V.S.
40. RSA-KR., Bhandar No. 1, Basta No. 35/4, Do-Varkhi Parchajat, 1777 V.S.
41. RSA-KR., Bhandar No. 6, Basta No. 3/2, 1800-1801, Taquisem Pargana, Kunjod.
42. RSA-KR., Bhandar No. 1, Basta No. 45/1, 1787 V.S.
43. RSA-KR., Bhandar No. 7, Basta No. 8, 1839 V.S.
44. Ibid, Basta No. 3, 1773 V.S.
45. RSA-KR., Bhandar No. 6, Basta No. 1/1, 1711-1771 V.S., Rukka From Maharao Bhim Singh to Hawalgir, Patel and Patwari of Pargana Sagod, Phalgun Sudi 9, 1770 V.S.

Table No. 1

Bhandar No. 6, Basta No. 1/1, 1776-99, Pargana Bis. ro. 1799 V.S.

S.N.	Name of the Pargana	Total no. of villages	Asli villages	Majara villages	% of Asli to total villages	% of Mazara village to total villages
1.	Nandgaon	208	193	15	92.7	7.22
2.	Abo	17	16	1	94.11	5.29
3.	Sagod	71	70	1	98.60	1.40
4.	Barood	103	102	1	99.03	0.97
5.	Baran	118	102	16	86.44	13.56
6.	Mangrol	86	78	8	90.60	9.30
7.	Kunjod	49	43	6	87.75	12.24
8.	Madhkargarh	29	27	2	93.11	6.89
9.	Ghati	52	50	2	96.15	3.84
10.	Ghatoli	23	21	2	91.30	8.69
11.	Chacheti	14	10	-	71.42	-
12.	Itawa	13	13	-	100.00	-
13.	Jatpura	61	61	-	100.00	-
14.	Bhalkhedi	11	11	-	100.00	-
15.	Gaghron	43	31	12	72.10	27.90
16.	Siswali	12	11	1	91.66	8.33
17.	Palayatha	90	88	2	97.77	2.22
18.	Chachurni	36	29	7	80.55	19.44
19.	Suket	88	81	7	92.05	7.95
20.	Urmal	- -	-	-	-	
	Total	1124	1041	83	92.61	7.38

Table No. 2

S.N.	Pargana	Total no. of villages	Total no. of Khalsa villages	% of Khalsa villages to total
1.	Nandgaon	208	58	27.88
2.	Abo	17	4	23.52
3.	Sagod	71	8	11.26
4.	Barood	103	39	37.86
5.	Baran	118	22.25	18.64
6.	Mangrol	86	6	6.97
7.	Kunjod	49	5	10.20
8.	Madhkargarh	29	2	6.89
9.	Ghati	52	5	9.61
10.	Ghatoli	23	1	4.34
11.	Chacheti	14	2	14.2
12.	Itawa	13	-	-
13.	Jatpura	61	-	-
14.	Bhalkhedi	11	-	-
15.	Gaghron	43	12	27.90
16.	Siswali	12	-	-
17.	Palayatha	90	8	8.88
18.	Chachurni	36	29	80.55
19.	Suket	88	50	56.81
20.	Urmal	- -	-	
	1124	251.25	22.37	

Table No. 3

Madhkargarh Ka Hawala

Year V.S.	*Total No. of villages*		*Udik*	*Khalsa/ Mukata*
	Jagiri	*Talkedar etc.*		
1771	*29 1*	*3.5*	*24.5*	*-*
1803	*29 2*	*2 24*	*1*	
1823	*29 2*	*6 21*	*-*	
Ghati Ka Hawala				
1771	*52 -*	*7 45*	*-*	
1823	*55 -*	*8 47*	*-*	
1834	*55 6*	*11*	*38*	*-*
Mangrole Ka Hawala				
1777	*86 3*	*11*	*60*	*12*
1803	*86 4*	*9 60*	*3*	
1823	*83 8*	*9 66*	*-*	
1834	*84 9*	*16*	*59*	*-*

Table No. 4

Jagirs Held By Different Clans/Caste

Clan/Caste	*Year*		
1771 V.S.	*Year*		
1803 V.S.	*Year*		
1823 V.S.			
Ghati Ka Hawala			
Hada	*20*	*12*	*15*
Bhai	*- 6*	*5*	
Jhala	*-*	*2 2*	
Kachwa	*3*	*6 -*	
Tanwar	*4*	*2 5*	
Gujar Meena		*5 14*	*1*
Solanki	*5*	*- 12*	
Ganim	*1*	*- 1*	
Vjad	*- 5*	*-*	
Sisodia	*1*	*- -*	
Talkedar		*- -*	*-*
Chouhan		*1 -*	*1*
Gour	*2 -*	*-*	
Dahiya	*1*	*- -*	
Bhil	*3 -*	*-*	
Madhkargarh (Hawala)			
Hada	*14*	*14*	*10*
Jhala	*-*	*- 1*	

Solanki	*1*	*3 1*		
Tunwar	*1/2*	*- -*		
Dahiya	*2*	*- -*		
Saktawat	*1 -*	*-*		
Basla Ke Gaon	*7 -*	*-*		
Hada Ke Kachawa	*-*	*-*	*1*	
Gujar	*- 2 3*			
Rathor	*- 2 3*			
Purbia	*- - 1*			
Khubania	*- 3*	*3*		
Ramkishan Ki Iar Ke		*-*	*1*	*-*
Mangrol Hawala				
Bhai	*37 44*	*38*		
Hada	*5*	*3 4*		
Kachawa	*5 -*	*2*		
Tunwar	*1*	*1 1*		
Rathor	*1*	*3 4*		
Gour	*3 4*	*5*		
Khabania	*- 1*	*3*		
Musalman	*- -*	*2*		
Talkedar	*- 1*	*1*		
Jhala	*-*	*1 2*		
Sisodia	*-*	*3 4*		
Dahiya	*-*	*1 -*		
Dhai-bhai	*- 1*	*-*		
Solanki	*2*	*- -*		

Table No. 5

Huzur-Ke-Jagirdars of Parganas Nandgaon and Balsana in 1777 V.S.

Asami	*Deel*	*Gaon*	*Jabata*	*Ghora*	*Rekh (Rs.)*	*Nagudi*	
Hada	*138*	*232*	*688*		*328031*	*9300*	
Kachawa		*46*	*56*		*338*	*94900*	*100*
Rathod	*6*	*6 44*	*23300*		*-*		
Sisodia	*5*	*6 21*	*12301*		*-*		
Solanki	*23*	*24*	*86*		*28350*	*200*	
Gour	*6 6*	*19*	*6600*		*-*		
Dahiya	*9*	*10*	*27*		*9100*	*-*	
Tunwar	*7*	*7 12*	*10366*		*-*		
Panwar	*2*	*1 2*	*1700*		*1100*		
Budgujar		*1 1*	*2*		*-*	*-*	
Musalman		*3 4*	*20*		*6800*	*-*	
Total	*246*	*353*	*1159*		*511448*	*10700*	

Prof. Pema Ram Prize

Understanding Military Labour : The Role of Non-Combatants in the Marwar Army in Eighteenth Century

Dr. Deepak Solanki

Historians working on Indian history have largely ignored the role of non-combatants in various armies. The non-combatants did not directly participate in the war but played a very crucial role in the wars. It was the brigade of non-combatants who fixed the tents of their higher officials during encampments. The non-combatants were the ones who acted as spies and informers. They were very crucial for the military department. Without their work it was very much impossible to know about the doings and plan of the enemies. For the pasturage and care of the various beasts of burden during sieges and encampments, the non-combatants played an important role.

The state of Jodhpur in the eighteenth century became autonomous and free from the control of the Mughals. Many wars took place in 18th century among the Rajput states and with other power holders. This made war a continuous business for the Jodhpur state. However not many historians have focused on this crucial aspect of the state i.e. war. In this paper an attempt is made to not only focus on this lacuna but also study such a wing of the army (non-combatants) that is not given importance in different scholars work. This particular paper does not follow the battle and siege paradigm. The aim of this paper however is to deconstruct the notion of Rajput centric chivalrous histories and give space to others who were equally important and participated in war.

The non-combatants were part of the infantry wing of the army. This establishment consisted of unskilled archers, swordsmen, and non-combatants like door keepers, watchmen, informers (kasids), Mochis,

Chopdars (servant), Masalchi, Nagarchi, Sika (Water carrier), Charavadar, etc. R.K Saxena in his book divides infantry into three wings: Combatants, Semi-Combatants, and Non-combatants.[1] Combatants like Musketeers, swordsmen, Dhalait etc. Semi-Combatants like mace-bearers, messengers, and non-combatants like camp followers, miners and digger etc.

Kaushik Roy argues that common soldiers before the colonial period have left us almost without any written material.[2] This makes an attempt to construct 'history from below' for the pre-British era problematic. In his work 'Military Manpower, Armies and Warfare', Roy discusses the role of the non-combatants in military operations. He talks about banjaras, beldars etc. who provided 'logistical support' to the armies in the last millennia and thus rendered essential services. But he talks mostly about the British period and uses colonial records. In this paper I use vernacular sources (bahis or revenue records) of the Jodhpur state of the eighteenth century to write about the non-combatants and argue that history of common soldiers can be well written for the pre-British period also.

Arthasastra and Sukrnitisara noted the importance of non-combatants for military operations. Some of the non-combatants like the poor peasants had to do forced labour (begari) but we find in the bahis of Marwar (Jodhpur) that all the non-combatants were paid either by cash or kind (petiya). Bhimsen in his work says that 'the preponderance of the non-combatants over the actual combatants was a serious weakness.'[3] The necessary presence of spies, news writers, clerks, account keepers, suppliers of provision and comforts, and transport agents besides moving bazaars, owners of hired carts and camels, as well as money lenders accompanying their debtors, at least brought the army to a stand still. Speaking of the army of Mahabat Khan at Pamer (1671-72) in the Deccan, Bhimsen says 'there were about 400 dancing girls and prostitutes of Kabul and Lahore in the army of the said Khan'.

The infantry in the 18th century was certainly becoming more important with artillery being widespread and used by most in the subcontinent. In the following paragraphs we will see that the 'mostly useless' establishment of the military organization representing the non-combatants was involved in the war to a great extent. Even the foreign occupying armies (those of Ghurids, Ghaznavids and the British) had to

depend on the 'indigenous manpower' for supply, transport and manufacture of weapons.

The Maurya army moved with drummers, bards and musicians. The drummers were stationed in the battlefield between army units. From Megasthenes's account we know that the Maurya Empire exempted the artisans associated with manufacturing weapons from taxes. We have evidence that the 'Pala army' of Bengal in the 10th century maintained ten to fifteen thousand dhobis (washermen) who were engaged in washing the soldiers clothes.[4] The Rajput contingents maintained Charans (bards) whose duty was to encourage the soldiers in the battlefield by playing martial music and reciting Rajput heroic ballads. Charans participated in the war and were horse traders too. Nagarchi formed an important part of the Marwar army. In all the bahis we find mention of Nagarchi along with the army. They were paid with rations (petiya) and cash. The petiya (ration) mostly consisted of clarified butter and flour. In the chehra bahi we find the amount that was given to a Nagarchi in the Marwar army. He was given Rs. 3 and 13 aanas along with ghee and flour for a period of two months and 16 days. Deductions were made for 6 days due to egyaras.

With the help of the various bahis we get a lot of information about the way daily activities of the camps went on. Here in the 1831/1774 campaign of the Marwar forces that went against Bikaner, Sarwans (camel riders) were paid both in cash and kind. They were given flour and moth bean (moth)[5] for themselves and the camels. The use of oil (tel) for the camels is found many times in the bahis. This activity was done by the sarwans and a large amount of oil was bought by the state.[6] These non-combatants were given salaries on monthly basis. Choubdar Vadhu (mace bearer) was paid Rs.24 and 8 aanas for the service of seven months on the basis of Rs.3 and 8 aanas monthly.[7] Choubdars remained in the attendance of the ruler and carried royal messages to the nobles locally and vice versa. In the camps whenever any meeting or call to get ready for war was made, the Choubdars gave it to various nobles. In the following table[8] names of various non-combatants and their pay is given:

Name and Job	Amount	Time of work
Masalchi Nai Radha Kishan	28-12	7 Months and 6 days
Siko Mali Sukho	22-12	7 Months and 3 days

Nagarchi Sawant	17-4	7 Months and 3 days
Sarwan Sukna	23-4	7 Months and 9 days
Nishanbardar Aheri Fatho	30-4	7 Months and 3 days
Charvadar Jat Tiku	23	7 Months

The maintenance of horses was taken care of by the charvadars. They were the one who got the horse its daily diet. They took care of the pasture of the horses. The buying of grass was done under the heading of Baagar.[9] Five Sagdis (cart drivers) namely Sipai Dhosu, Mehram do, Iberam, Abu and Rado Jat bought grass for feeding the animals at the camp. They were each given 'chabini' (a reward) of Rs. 1 and 4 paisa.[10] Repairs in the camp were done and recorded in the bahi. In the month of Kati (Oct-Nov) the saddle of Jiva Ram's bargir was repaired by a carpenter and he was given 4 paisa for it. In the month of Magh (Jan-Feb) Sawai Bhati's Lagaam (bridle) was repaired and for the work 1aana and 1 paisa were given. Luhar (Blacksmith) was given 3 Paisa for repairing the Lagaam (bridle) of a horse trooper. Girvan (hooks for camels) were made for 6 camels and labour of 1 aana and 3 Paisa was given. In the month of Baisakh (April-May) cobbler was given 1aana and 3 paisa for repairing a dol (saddle of a camel). Again the cobbler was given 1 paisa for repairing a 'divdi' (water carrier made of goats skin). We get evidence of a nal-bandh who was given Rs. 2 for his labour. It seems that he was given 4 aana on one horse.[11] This shows non-combatants like cobblers, blacksmith and carpenters did play a role in the battles by providing necessary services.

Another important non-combatant was the carrier of messages called qasid, harkara, pattamar etc. All the correspondence activity from the army camps was taken care of by the qasids. In 'Military Dispatches of a 17th century Indian General', J.N Sarkar shows how the supplies of provision and maintaining it had been one of the greatest problem facing the Mughal army under Jai Singh.[12] In Jodhpur state Dak Chaukis were set up to fasten the circulation of information between the Durbar and other regions. Camels and horses were kept at these chaukis for faster news circulation. At all these chaukis pair of qasids were kept. In the campaign against Bikaner in 1831/1774, qasid had come from Jodhpur to Bikaner and were given ration (Petiya) and cash. The first pair of Mehri Ando and Jat Dalo was given Rs 11 as cash and 14 aanas were calculated

as spent on their ration of flour and Ghee.[13] In 1850/1793 one pair of qasids were sent from Kaparda to Bhavi (both in Jodhpur state) that is a mere distance of 16 km (present day route) and were given 6 aanas. They were given rewards if they completed some important work, when brought good news, or when covered the distance within the specified period. Here Gordhan came from Bilara to Jodhpur and was given reward of 6 aanas against Rs. 1. In another bahi we get information about the qasids employed by the state of Marwar. Under Harkara Vyas Rupram we find five people work namely Jat Amro, Jat Budhro, Mali Bhagwan, Jat Pemo and Bihari Murlidhar. They are all together given Rs. 11. This shows that the profession of the Harakars or Kasids was not by done by any one group of people.[14]

Logistics involved moving supplies, munitions and armies etc. The main instruments of locomotion in the army were horses, elephants, camels and bullocks. The mode of logistics changed with topography. Camels couldn't get on mountainous tracks, elephants couldn't survive very harsh desert terrain, where rivers were present boats became important. Hence within South Asia there were different ways of logistical operations. In the semi-arid region of Marwar camels played a very important role along with the Ox. According to Jos Gommans[15] two animals that really sustained Mughal mobility in the field were the dromedary and the ox. He rightly says that 'the dromedary (Arabian camel) within the southern Arid zone of the Middle East, Iran and Northwest India, may be considered by far the most efficient beast of burden. Carts were an important means of transportation in Marwar. The armies in Marwar also took these carts (called 'Gadi' in the bahi) on rent during campaigns. These were taken for transporting various items. But instead of the name of the material that was being transported, the bahi gives us the information about the department under by which it was used. Even the names of the persons from whom these Gadi (carts) were rented are given. For each cart 11 aanas were given as rent.[16] We find evidence of buying of camels and horses in between the campaign. During the Bikaner campaign Raika Jairam was sent from Nohar ra Dera (camp) to Daulatpura to buy a camel. He was given Rs.1 for this task and belonged to rozinadar group of infantry (Pala).[17] Camels were taken on rent many times for transportation and as beasts of burden. In a bahi we are informed about renting of 20 camels

from Thakursi Pemo of Lovano.

Abul Fazl says, 'Raibaris were a class of Hindus who are acquainted with the habits of the camel and who teach the country bred camel to pass over great distances in short time'. He also says that they acted as messengers as well as put in charge of camel herds.[18] We see a large number of Raikas being employed by the Jodhpur state for taking care of their camel herds. Many of them served as soldiers too. These Raikas were part of the campaigns that were sent to different places. They were paid rations that consisted of clarified butter and flour. Farash[19] (servant) was another non-combatant who always accompanied the army. We find that they were kept on monthly payment basis. Two of them Farash Sadu Khan (age 25) and Panwar Khan (age 24) were part of the Marwar army. They were paid approximately Rs. 3 p.m. Farrashkhana was a separate department in the Jodhpur state. We find another example of Pakhali Sika (water carriers) who were also employed on monthly basis and were paid in cash and kind. Here Sika Mali Udo is appointed on monthly basis in the year 1849/1792 on Rs. 3 pm. These water carriers must have become very important in the battles that were fought in the arid and hot region of Rajasthan. On the campaign that was sent against Bikaner in 1831/1774 sweepers (Jhadukash) were also employed and worked for seven months. Here Jhadukash Gumano was given Rs. 2 every month.

Arms and ammunition played an important role in the battles in the 18th century. In the state of Marwar artillery was growing in the eighteenth century and they had at their disposal various firearms and cannons. Here rather than talking about which firearms or cannons were used by the Marwar state, an analysis of who were involved in the artillery department and did the work of procuring the raw materials for making gunpowder and different kinds of artillery pieces is given. The debate about the introduction of gunpowder in South Asia has a long history. However following Iqtidar Alam Khan it can be said that true guns were introduced into North India in the second half of the fifteenth century. However in Marwar and other princely states of Rajasthan due to their dependence on the Mughals for artillery power, development of their own Topkhanas was a slow and gradual process. The manning of Topkhana revolved around the craftsmanship of Muslims. The following table[20] will show the composition of the Golandaz's (gunners) in the Marwar army and their

payment on monthly basis:

Name	Amount in Rs.	Halra (Present)	Badhti (increase)
Shaikh Nur Muhmad	2-2	2	2 aanas
Pathan Sher Khan	1-1	1	1 aana
Shaikh Imam	1-1	1	1 aana
Mughal Manula	1-1	1	1 aana
Purbiya Jorawar	1-1	1	1 aana
Rajput Mohan Singh	1-1	1	1 aana
Vyas Dayaram	1-1	1	1 aana

The manufacture of cannons, preparation of gunpowder, casting of cannon-balls were all done under the department of topkhana and barudkhana. At Jodhpur the names of various tops were Namdar, Tufan, Ramban etc. Sippas were also cast which resembled present-day morter.[21] The Marwar rulers for moving heavy pieces of artillery kept a large number of bullocks. Many examples can be found in the bahis regarding this. Six pair of bullocks were rented from a Jat of Chirdanira village for the topkhana and he was paid Rs. 1 by the gunner Ahmad.[22] These must have been used for carrying artillery pieces from one place to another. This practice shows that during the time of emergency carts and beasts of burden were provided by people to the state. This must have been a good source of income for some.

In the year 1840/1783 Jodhpur possessed 128 maunds 30 seers of lead. We find instances of buying of iron, daru, tejab, sabun, etc by the state.[23] There is evidence of transportation of nal (an artillery piece) to the state and the expenses that occurred on its transportation. In the same bahi we find an instance of the repair of an artillery piece. Lohars namely Jani, Ali and Gaji were given Rs.1 for their labour. In another bahi related to barudkhana we find that charcoal has been brought for making gunpowder.[24] Aheris (hunters) alongside Rajputs fought in the battles because of their skills in archery, were employed here to bring the charcoal. In the month of Jan-Feb charcoal was brought by Aheri Jaro, Aheri Naharo, Aheri Neto etc. A large number of Aheris were involved in procuring charcoal and other raw material needed for making gunpowder (barud).[25] Example of females working in the barudkhana is found in the bahis. This

proves that different communities did multiple jobs.

The beldars (diggers or miners) suffered from injuries on the battlefield many times. The morcha (embattlements) was built by the beldars on the battle site. We find different instances of such works by the beldars during Marwar campaigns. They raised the camp and erected a wall kind of fortification around the camp with the help of thorn-trees that are common and abundant in the surroundings. The Marwar army was on a campaign against Bikaner and camps were erected at Nohar and Madhosidhana. The beldars were given Rs. 1 and 14 aanas in the month of Dec-Jan.

This paper argues that the subaltern group of non-combatants who formed an essential part of any army needs to find a place in the present historiography. The popular notion of Rajputs as the sole warriors fighting in the armies of Marwar and that of Rajasthan does not stand true to the scrutiny of the evidence that we constantly find in the bahis. The writing of marginalized cultures and alternate histories will help fill the gaps in present historical writing. It is important to make history more inclusive.

References

1. *R.K Saxena, The Army of the Rajputs (A Study of 18th Century Rajputana), Saroj Prakashan, Udaipur, 1989, p.216*
2. *Kaushik Roy, Military Manpower, Armies, and Warfare in South Asia, Pickering and Chatto Limited, 2013, p.4*
3. *Jagdish Narayan Sarkar, The Art of War in Medieval India, Delhi, 1994, p. 319*
4. *Kaushik Roy, Military Manpower, Armies, and Warfare in South Asia, Pickering and Chatto Limited, 2013, p.145*
5. *This particular bean is a drought resistant legume, commonly grown in arid and semi-arid regions.*
6. *Jodhpur Daftar Hazuri Bahi, No.1, VS1831/AD1774, Fauj Bikaner ri Taraf Meli*
7. *Ibid*
8. *Ibid*
9. *The meaning of Baagar is fodder like grass.*
10. *Daftar Hazuri Bahi, No.57, Chehra Bahi Mulazman, 1850/1793*
11. *Ibid*
12. *J.N Sarkar, Military Dispatches of a 17th century Indian General: Translation of Haft Anjuman of Munshi Udairaj alias Taliyar Khan, 1969, p.28*

13. *Jodhpur Daftar Hazuri Bahi, No. 1, Fauj Bikaner ri Taraf meli, 1831/ 1774*
14. *Daftar Hazuri Bahi, No.57, Chehra Bahi Mulazman, 1850/1793*
15. *Jos Gommans, Mughal Warfare: Indian Frontiers and High Roads to Empire 1500-1700, New York, 2002, p.*
16. *Jodhpur Daftar Hazuri Bahi, No.1, 1831/1774*
17. *Ibid*
18. *Jos Gommans, Mughal Warfare: Indian Frontiers and High Roads to Empire 1500-1700, New York, 2002, p.127*
19. *One who sets up the camp and the tents.*
20. *Daftar Hazuri Bahi, No. 57, 1850/1793*
21. *R.K Saxena, The Army of the Rajputs, p.198*
22. *Daftar Hazuri Bahi, No. 57, 1850/1793*
23. *Ibid*
24. *Gunpowder, a mixture composed of potassium nitrate (saltpeter), charcoal, and sulphur*
25. *Daftar Hazuri Bahi, No. 38, Bahi Khata Barudkhana, 1836/1779*

Trade Between the Jaipur State and the Marathas During the late Eighteenth Century

Dr. Kalpana Malik

The two most dominant themes in the major historical writings on eighteenth century are the disintegration of the Mughal Empire and the rise of the Maratha power. It was under the leadership of Shivaji that the Marathas gained prominence. He organized them into a force to reckon with. Due to Shivaji's able leadership, the Marathas successfully challenged the mighty Mughal Empire. With the persistent decline in the Mughal power, a number of successor states came into being. From among these, the Marathas emerged as the most powerful and spread their power far and wide. Under the Peshwas, by the late 1730's, the Maratha power had spread beyond the Narmada. With their power firmly established in Khandesh, Malwa and Bundelkhand, they made central India as their base. However, the Maratha self-perception and a set of social attributes ascribed to them by others are in sharp contrast. As the Marathas began to resist and later challenge Mughal empire, they were characterized as predatory elements by the historians of the empire. Since the Marathas were in the forefront to resist the expansion of the East India Company in Central and Northern India, they began to be portrayed as 'robbers' etc. by early colonial administrators. Thus, the value judgements of Mughal historians and colonial administrators continue as axioms in historiography. There is need to look at the Maratha-Rajput relations during the eighteenth century in the light of the Rajasthani sources. The Maratha-Rajput relations have often been depicted as hostile. Was this hostility all pervasive or their relations were cordial at the social, cultural and political levels. Else conflict and cordiality co-existed. In the present paper an attempt has been made to look at the positive aspects of their relations, particularly in the context of trade and commerce. The paper focusses on the trade relations that developed between the Marathas and the Rajput state of Jaipur. The chief sources of information for the present work are the Gwalior and Indore Kharitas[1] and Dastur Komwar Dikhni.[2]

With the gradual decline of the Mughal Empire, Mughal authority and control slowly receded from the Rajput states leaving the latter to fend for themselves as best as they could. Their subsequent weakness opened the way for the entry of the Marathas. The geographical location of Rajasthan boosted trading activities as it is situated on the path of the major land and sea routes. These routes assumed greater importance in the eighteenth century for the Marathas. They facilitated their movement in Rajasthan and other parts of North India. The route generally followed by them was from the eastern side of Kota from where they moved on to Bundi and various territories of Jaipur like Tonk, Shahpura etc. Traders from Gwalior and Indore who settled in Rajasthan engaged in the profession of money-lending and trade actively.[3] Interaction between Malwa and Rajasthan began with the appointment of Sawai Jai Singh of Amber/ Jaipur as the Mughal subedar of Malwa thrice.

Before Sawai Jai Singh's second governorship, which lasted for barely ten months from November 1729 to September 19, 1730, he was repeatedly urged by the Mughal Emperor to go to the aid of Raja Girdhar Bahadur, the then Governor of Malwa to check the Maratha depredations but he did not pay any heed to this. Sarkar ascribes this indifference to Sawai Jai Singh's disgust with court politics and Raghubir Sinh attributes it to the Raja's collusion with the Marathas. Sawai Jai Singh hoped that he could keep the Marathas out of the province by paying them their dues regularly and in this way he would perpetuate his hold on the province. But he could become the governor of Malwa only if the Marathas made the position of every other governor untenable there.[4] Satish Chandra, however, does not accept either of the two arguments. According to him Sawai Jai Singh's policy was clearly aimed at keeping the Marathas out of Malwa. Malcolm opines that during his governorship, Sawai Jai Singh either conceived opposition hopeless or entertained a secret friendship and understanding with the Marathas.[5] Sawai Jai Singh's third governorship was particularly favourable to the Marathas. He convincingly argued that the Maratha occupation of Malwa was inevitable despite Mughal efforts to stop them. The anti-Maratha faction at the Mughal court blamed Sawai Jai Singh for ruining the empire by his secret support to the Marathas.[6] This tradition of friendship between Sawai Jai Singh (Bade Maharaj) and the Marathas was evoked in the letters to the subsequent rulers of Jaipur

from the Peshwa, Shinde and Holkar. Infact Baji Rao addressed Sawai Jai Singh as 'Kaka.' In 1737, Peshwa Baji Rao wrote to his brother: "Sawaiji has also sent us friendly letters requesting us to leave his territory undisturbed…we do not disturb his territory as we expect to get supplies of grain and fodder from Sawaiji on our way."[7] Though the Marathas had become increasingly aggressive in Rajasthan right after the acquisition of Malwa, their presence there came to be felt only after the death of Sawai Jai Singh. Peshwa Baji Rao's northward expansionist policy paved the way for their involvement in Rajasthan and adjacent areas. However, the geographical location of Rajasthan boosted trading activities also, as it is situated on the major land and sea routes. These routes assumed greater importance in the eighteenth century for the Marathas. They facilitated their movement in Rajasthan and other parts of North India. The route generally followed by them was from the eastern side of Kota from where they moved on to Bundi and various territories of Jaipur like, Shahpura etc. Traders from Gwalior and Indore who settled in Rajasthan engaged in the profession of money-lending and trade actively.[8] We find a tremendous increase in the movement of the Marathas officials of varying stature as well as people belonging to diverse social groups ranging from traders, bankers, physicians, pilgrims from the Deccan and Malwa to Jaipur. There was a steady stream of visits of political dignitaries from the house of Peshwa, Holkar, Shinde as well as their representatives.

Malwa and Jaipur came closer during Sawai Jai Singh's subedari of Malwa. He was interested in developing his capital city of Jaipur as a major trading and commercial center in Rajasthan. Therefore, Sawai Jai Singh encouraged trade and commercial relations between Ujjain and Jaipur. Invitations were extended to traders and bankers from Ujjain to settle in Jaipur or establish their shops and branches there. Shops, mansions and other belongings of the traders of Malwa in Jaipur are referred to in the kharitas of Mahadaji Shinde and Malhar Rao Holkar. It seems that migration from Ujjain to Jaipur during the time of Sawai Jai Singh was much wider as reflected in a kharita from Malhar Rao Hokar. It deals with the following information, "Pandit Harbaji Krishna brahmin is there in Jaipur and performing vyarcharya (priesthood) since the time of Sawai Jai Singh along with many other brahmins and are facing trouble, the state should take care of them and see to it that they are not suffering."[9] In

1764, Malhar Rao Holkar wrote to Sawai Madho Singh to provide protection to seth Kewal Ram, whose father was brought to Jaipur by Sawai Jai Singh.[10] Mahadaji Shinde himself took personal interest in promoting trade and commerce between Ujjain and Jaipur. Shinde encouraged larger participation of the traders in the annual fair organized at Pushkar. Accordingly, he requested Sawai Pratap Singh to encourage and grant necessary permission to the traders residing in Jaipur territory to attend the Pushkar fair of 1791 as per the past practice.[11] The importance of Pushkar lay in the fact that it is situated near Ajmer which was at that time under Maratha possession. Therefore, Shinde sought the co-operation of the Jaipur state in the conduct of trade not only between Rajasthan and Shinde territory but also worked to safeguard the interests of the traders and bankers of Indore who operated in Jaipur.

Traders from Gwalior and Indore who settled in Rajasthan engaged in the profession of money-lending and trade actively.[12] The Ujjain traders Jivandas and Govardhandas were running a business establishment in Jaipur which was looked after by their agent Uttamchand. People of Jaipur were taking credit from his establishment. Acting upon the request of the Ujjain trader, Shinde requested Sawai Pratap Singh to settle his account with the clients in Jaipur.[13] However, the migration was not just one sided. Maheshwari banias from Rajasthan came to Pune and settled in Kapadganj (a peth in Pune) as cloth merchants and grocers. They were followed by the Marwaris from Jodhpur and Sirohi.[14]

With the expansion of Maratha power in North India, there was an increasing movement of the Maratha armies and representatives of the Maratha sardars to various places in Rajasthan and Delhi-Agra region. The sources make it evident that many of the Marathas travelling from the Deccan to Delhi-Agra region passed through the Jaipur territory. In fact some of them even halted at the Jaipur city. On such occasions, these Maratha officials often visited the Jaipur court where robes of honour and suitable presents were given by the Raja. When Babu Rao Pandit brought a farman of the Mughal Emperor to confirm the appointment of Sawai Madho Singh as the naib subedar (deputy governor) of suba Agra, reached Jaipur he was offered hospitality at Jaipur. He was given rupees hundred and five maunds of sweets as hospitality.[15] Jaipur became a convenient halting point for the Marathas officials from Deccan. They kept visiting

Jaipur to execute various official tasks. It was in this connection that Shinde deputed Nawab Naqi Ali Khan in 1769 to go to the North to disburse the salary in his force encamping somewhere in Delhi-Agra region. He passed through Jaipur and received local hospitality.[16]

Horses from Central Asia were considered to be superior to those born or bred in India. As a result since ancient times there had been a lively trade in horses, both by sea and land, between India and the countries of West and Central Asia. In fact, horses were the most important commodity imported overland into India. There was a steady demand for Arabi, Iraqi and Central Asian horses in India for the needs of the army, the cavalry being the principle instrument of warfare. They were also valued for purposes of show and status.[17] Jaipur had emerged as one of the major centers of horse trade in North India. Thus, Rajasthan became the hunting ground for the purchase of high breed horses and camels needed by the Marathas. Shinde sent Raja Himmat Bahadur to Jaipur for the purchase of horses, camels and other items for his army.Shinde requested Sawai Pratap Singh to facilitate the purchase of best quality horses by his broker Maujdeen, who was stationed at Jaipur. The broker was assigned the task of bringing these horses to Shinde and the Jaipur Raja was asked not to impose rahdari on them.[18] When Shinde deputed Pandit Purshottam to visit Jaipur for the purchase of horses, he was cheated by the horse dealers of Jaipur and was supplied horses of inferior breed. At this, Shinde requested Sawai Pratap Singh to ensure that his representative was given good quality horses.[19] Further Shinde also sought the Jaipur ruler's favour in procuring four imported horses of Turkish breed that had been brought to Jaipur for sale. These horses were required by the Peshwa for his personal use. Full payment was also assured for the above purchase.[20] Maratha dependence on Jaipur for procuring horses is evident from Shinde's letter of 1791 addressed to Sawai Pratap Singh in which request was made for the supply of imported horses to meet the requirement of the Peshwa.[21]

Maratha representatives frequently visited Jaipur to acquire camels, cows and oxen besides horses. The Jaipur Raja was requested often to extend his help and facilitate the traders visiting Sambhar Lake as salt was manufactured extensively at Sambhar Lake and it was in great demand. Marble was another important item of trade. It was obtained from Makrana

near Sambhar Lake. Jaipur is also a great textile center, therefore, textile goods were other items which were procured by the Marathas. Sometimes requests were made to the Jaipur Raja to send certain specific items which were either not locally available in the Deccan or were of superior quality. Therefore, when Hokar requisitioned for 10 sers of raw silk, five diamonds and two gold rings from Jaipur, the Raja sent them as gifts.[22] Similarly, in 1771, Tukoji asked the ruler to send saffron, medicinal herbs and spices for the use of Holkar household. The Raja promptly met the request.[23] Tukoji Holkar continuously sent his representatives to Jaipur to meet the specific requirements of Holkar household for services and goods. Jaipur has always been famous for its dying and calico printing industry. In 1768, Holkar sent 26 bales of cloth to Jaipur for a particular type of dying. The services of two dyers, Chiman and Madari were requisitiones to undertake the work. They received rupees 269 as service charges.[24]

The Marathas sought the co-operation of the Jaipur Rajas to protect the interests of their traders and merchants. Mahadaji Shinde sought the co-operation of the Raja of Jaipur for the smooth conduct of goods from Jaipur territory to Ujjain and beyond Malwa up to the Deccan. Commercial transactions between the sahukars from Ujjain and Jaipur were brisk. Shinde made all efforts to protect the interests of the bankers and traders from Ujjain who were operating in Jaipur and had opened shops there. The trade solely conducted to meet the requirements of Shinde's household and his army was sought to be treated as preferred. It was to be given protection by the Jaipur rulers who were requested to help the traders and representatives sent to Jaipur to procure items needed by Shinde and Peshwa. The Jaipur rulers were asked to exempt these items from rahdari and other local taxes.

From the correspondence it becomes clear that apart from conducting their professional dealings in Rajasthan, the traders and bankers from the Maratha territory were also involved in religious activities. This is evident from Daulat Rao Shinde's letter to Sawai Pratap Singh in which the Raja was informed about the visits of seth Parasram Modi, an Indore based banker to Maroth, which is a well known trade center on Jaipur-Marwar border. The purpose of the seth's visits to Maroth was to construct a temple there. Therefore, Sawai Pratap Singh was requested to make arrangements for his safe journey both ways in Jaipur territory. Besides

this, request was also made for suitable accommodation for the seth's relatives and agents who were to stay at Maroth to supervise the construction work. The Jaipur Raja was asked to facilitate the tax free passage of whatever goods they had purchased from the trading fair at Maroth.[25] Mahadaji Shinde sought Prithvi Singh's co-operation for the safe passage of Malhar Naik, a textile trader from Ujjain who was carrying textile goods to Jaipur.[26]

At times disputes needed to be resolved through political intervention. The Peshwa wrote to Sawai Pratap Singh and requested him to politically intervene and resolve a dispute that arose between Shambhu Dixit, a trader from Poona who was conducting business in Jaipur and Balwant Rao sahukar, a Poona based banker. The former had obtained a loan from the latter on the mortgage of his mansion (haveli). The borrower was unable to pay back in time and the matter was reported to the Jaipur officials. Balwant Rao's agent Motiram was sent to Jaipur for the recovery of the loan from Shambhu Dixit. The Peshwa complained against the arrest of Motiram and requested for his immediate release from the prison. Sawai Prithvi Singh was requested to use his good office and to sort out this matter.[27] Mahadaji Shinde sought Sawai Prithvi Singh's intervention in the recovery of Rs. 1,600 that were borrowed by the son of Gulabrai from modi Premraj of Ujjain. The borrower belonged to Gumani Chaudhary ganj (a wholesale market in Ujjain) and had gone to Jaipur. Sawai Prithvi Singh was requested to help Sukhram, the agent of Modi Premraj who was being sent to recover the amount and ensure that the amount was given to the agent.[28] Political arbitration was invariably sought to resolve monetary dispute between Takhtmal, a banker from Gwalior and his accountant Uttamchand whose family was residing in Jaipur. The banker refused to give any money to the family of his accountant who petitioned to Shinde. At this Shinde requested to Sawai Pratap Singh to persuade the banker to pay reasonable amount to the petitioner's family.[29] Shinde also sought Sawai Pratap Singh's co-operation to extend help to the traders who were eager to visit Sambhar to buy salt.[30] Besides protecting the interests of the traders, requests were also made for the purchase of horses, camels, exemption from taxation, safe passage of men and goods as well as arbitration and mediation in the settlement of accounts. In yet another letter Shinde requested Sawai Pratap Singh to arrange a safe passage

for Shivdas Nayak who was sent to Marwar to buy camels and cows for Shinde. Exemption from taxation on the purchase was very often sought from the Jaipur ruler.[31] Sawai Pratap Singh was informed by Shinde about the visit of sahukar Ballabhdas along with his staff to Jaipur. The request concerned the safe escort of the seth upto Kota. The seth was having monetary transactions in Jaipur and some residents of Jaipur owed money to him. The Jaipur ruler was requested to help the seth to recover his loans.[32] Co-operation was also sought in apprehending the criminals. In this connection Mahadaji Shinde sought Sawai Pratap Singh's co-operation in capturing Lal Mohammad who used a forged letter affixed with English agent Mr Anderson's seal to cheat seth Kasmiri Lal of Ujjain. Lal Mohammad successfully obtained rupees 10,000 from the seth by producing the forged letter. The cheater was to be handed over to Shinde by the authorities.[33]

We can conclude by saying that political conflict between the Marathas and the Rajputs ranged between piecemeal intrusion of Marathas into Rajasthan and two sides, there was a continuous flow of people from diverse social groups on both the sides. Both, the Marathas and the Rajputs did not allow political antagonism to affect their economic ties. The Marathas needed the co-operation of the Jaipur Raja in their pan-regional concerns. There was a mutual exchange of diplomatic information and gifts between the two sides. Efforts were made to make the atmosphere more viable for economic activities which was beneficial to both. At the end it may be concluded that the Maratha-Rajput relations is a field of study which despite being impregnated with difficulties needs to be understood on the basis of contemporary documentation and need modern prejudices.

Reference

1. *Rajasthan State Archives, Bikaner, Amber/Jaipur records, Gwalior-Jaipur Kharita; Gwalior-Indore Kharita.*
2. *Rajasthan State Archives, Bikaner, Amber/Jaipur Records, Dastur Komwar Dikhni, Vol. IX.*
3. *B.L. Gupta, Trade and Commerce in Rajasthan during the Eighteenth Century, Jaipur Publishing House, Jaipur, 1987, p. 135.*
4. *Raghubir Sinh, Malwa in Transition Or A Century of Anarchy The First Phase 1698-1765, D.B. Taraporewala Sons & Co., Bombay, 1936, p. 194.*
5. *Satish Chandra, "Raja Sawai Jai Singh's Contribution to Imperial Politics", Proceedings of Indian History Congress, 11th Session, Delhi, 1948, p. 183.*
6. *Raghubir Sinh, Malwa in Transition, p. 234.*
7. *William Irvine, Later Mughal, ed. Jadunath Sarkar, Vol. I, Oriental Books Reprint Corporation, Book Publishers, New Delhi, 1971, p. 248.*
8. *B.L. Gupta, Trade and Commerce in Rajasthan during the Eighteenth Century, p. 135.*
9. *Indore kharita No. 21, Bhadon Sudi 1, V.S. 1808/1751.*
10. *Indore kharita No. 85, Posh Vadi 10, V.S. 1821/1764.*
11. *Gwalior kharita No. 164, Asoj Sudi 11, V.S. 1848/1791.*
12. *B. L. Gupta, Trade and Commerce in Rajasthan, p. 135.*
13. *Gwalior kharita No. 120, Falgun Vadi 14, V.S. 1840/1783.*
14. *A. R. Kulkarni, Medieval Maratha Country, Books & Books, New Delhi, 1996, pp. 232, 233.*
15. *Dastur Komwar Dikhni, Vol. IX, Maghshri Budi 12, V.S. 1808/1764.*
16. *Dastur Komwar Dikhni, Vol. IX, Sawan Sudi 2 & Chait Budi 8, V.S. 1826/1769.*
17. *Satish Chandra, Medieval India From Sultanate to the Mughals (Delhi Sultanate 1206-1526), Har Anand Publications, New Delhi, 1999, p. 157.*
18. *Gwalior Kharita, No. 86, Magh Sudi 14, V.S. 1829/1772.*
19. *Gwalior Kharita No. 141, Vaisakh Sudi 9, V.S. 1843/1786.*
20. *Gwalior Kharita No. 150, Chaitra Sudi 6, V.S. 1848/1791.*
21. *Gwalior Kharita No. 172, Posh Sudi 13, V.S. 1848/1791.*
22. *Dastur Komwar Dikhni, Vol. IX, Bhadwa Sudi 2 & Chait Sudi 11, V.S. 1825/1768.*
23. *Dastur Komwar Dikhni, Vol. IX, Asoj Sudi 5, V.S. 1828/1771.*
24. *Dastur Komwar Dikhni Vol. IX, Bhadwa Sudi 2, V.S. 1825/1768.*
25. *Gwalior Kharita No. 189, Posh Sudi 12, V.S. 1851/1794.*
26. *Gwalior Kharita No. 73, Asarh Sudi 10, V.S. 1828/1771.*
27. *Gwalior Kharita No. 67, Kartik Sudi 4, V.S. 1827/1770.*
28. *Gwalior Kharita No. 78, Kartik Vadi 10, V.S. 1828/1771.*
29. *Gwalior Kharita No. 124, Asarh Sudi 1, V.S. 1841/1784.*
30. *Gwalior Kharita No. 157, Asarh Sudi 5, V.S. 1848/1791.*
31. *Gwalior Kharita No. 113, Bhadon Sudi 6, V.S. 1840/1783.*
32. *Gwalior Kharita No. 117, Chaitra Vadi 3, V.S. 1840/1783.*
33. *Gwalior Kharita No. 109, Asarh Sudi 3, V.S. 1840/1783.*

Rao Ganpat Singh Chitalwana Prize

Agricultural production and taxation in the document Arhsatta of Chatsu.

Dr. Mahvish Musharraf

Scholars have already highlighted the crucial significance of Arhsattas in order to gauge economic trends of a particular region. These Arhsattas have been mentioned in the farman of Rasik Das, it therefore carries relevance for Mughal Empire at large. Unfortunately, the other regions of the Mughal Empire lack such profusion of rich documents. Although earlier works on arhsattas have forged a groundwork to study the economy of the region, many details of a particular pargana still demand scholarly attention.

In present paper, an attempt has been made to study and understand the pattern and magnitude of agricultural production, taxation, revenue collection and variety of crops with their rates, in the villages of pargana chatsu. This is based on mainly study and analysis of Arhsatta of pargana Chatsu belonging to 1730. In this document, details have been given in respect of types of villages (khalisa, Jagirs and inam), methods of collection and amount collected under different heads such as siwai-jamabandi and muwafiq jamabandi.[1]

Information contained in the Arhsatta of pargana of Chatsu in the year 1730 are as follows.

1. Pattern and magnitude of land revenue collection.
2. Details regarding the agricultural production and types of crops.
3. Collection of revenue harvest-wise i.e. kharif and rabi from each villages.
4. Area assessed according to the method of zabti and jinsi.
5. Rate of revenue realization per bigha in zabti method and per man in jinsi method as well.

 ISSN 2321-1288

6. Types of villages such as jagir, khalisa, inam, and punyaudik etc.
7. Total realization of revenue with categorization with different heads, method in kind or cash.

Present paper has focused mainly on the collection of hasbul mufassil in pargana chatsu for the whole year of 1730. Hasbul-mufasal was the part of total revenue realization (hal-hasil).[2] It was collected harvest-wise in rabi and kharif. Hasbul-mufasal was further divided into two main heads siwai-jamabandi and muwafiq jamabandi. In this work, an attempt has been made to gather the information in respect of total revenue collection of pargana chatsu in the year 1730. For this many villages in pargana chatsu, have been taken for study and analysis of revenue collection with their rates and pattern.

Collection has been made under the head of muwafiq jamabandi, through the two main revenue sources mal-o-jihat and sair-i-jihat. Muwafiq-jamabandi, was further sub-didvided into two main taxes mal-o-jihat and sair-i-jihat. Mal-o-jihat is agricultural tax, which was levied on the agricultural items. Sair-i-jihat is non-agricultural tax which included more than seventy five types of taxes[3]. Mal-o-jihat was further divided into two categories naqd (cash) and jinsi (kind), naqd included the areas under zabt as well as the area given in ijara.[4] Document shows collection from both method zabti and jinsi, and also from both harvest kharif and rabi as well. In this document, there are 49 villages from where revenue mal-o-jihat and sair-i-jihat have been collected.

Arhsatta Chatsu shows details about the mal-o-jihat and sair-i-jihat collection from 49 villages of pargana chatsu. These villages also included the villages under the Jagirs and tan as well. Maximum amount was collected from the villages such as Ludihara Rs. 1250, Shri Kishanpura Rs. 1287.75, Shri Sawalyo Rs. 1782, Sunari Rs. 1368, Sunaaro Rs. 2245, Sehdasapura Rs. 1410.50, and Haranarayanpura Rs. 1645.25. Details shows highest collection from the village Sunaaro, it can be explained by higher production there, fertility of soil, largest area under the cultivation etc. mal-o-jihat was collected from both harvest rabi and kharif, and under both method zabti and jinsi. Total collected amount from this mal-o-jihat taxation under head muwafiq-jamabandi and as hasbul-mufasal, was Rs.32025.50. in jagir areas taxation applied after deduction of area under jagir, it shows collection from the khalsa area only.

Kharif

The most important kharif crops were Vaan (cotton), Chola, Madawo, Barti, Makka (maize), Kodu (pumpkin), Cheerho, Sabzi (vegetables), and Vaad (sugarcane) in Zabti. Cotton and pumpkin occupied significant place among all crops. Sugarcane had highest tax rate. Prominent jinsi crops were Urad, Til (seasame), Juwari, saali, Alsi, Moth, Bajro (millet), Mung, Guwar, Gardo. Bajro and Juwar were important among all.

Rabi

Prominent zabti crops were chomli, sabzi (vegetables), tobacco, Aafu, and cheerho. Jinsi crops were Chana, Gehu (wheat), sarso (mustard), bejhari, Gochani, Gojaro. Bejhari, Gojari and Gochani were mixed peculiar crops of Rajasthan. Gehu and Chana occupied important place followed by Bejhari. There were also crops cultivated in both, kharif and rabi, for instance cheerho and sabzi.

Zabti

zabti system signified assessment of land revenue in cash rates fixed on each crop per bigha. Under this system of revenue assessment, area was used to be measured before cultivation and revenue was assessed according to measured area. Total measured area (kul-raqba) also consisted of cultivable land as 'layaq-i-zara it' and uncultivable land include land under habitation, Nabud, (wasteland), Raha (track strips), magro (rocky), nala, wells, bagoti (gardens), rivers etc.[5] Approximately 65% land was supposed to be fit for cultivation. The unit of measurement was bigha and biswa. Bigha consisted of 75 hath (kachi dori) and 95 hath (pakki dori) as well.[6] Document shows highest collection from zabti in comparison to jinsi.

Table 1 mal-o-jihat, collection and production in zabti7, pargana chatsu of V.S 1787/A.D 17308

Crops	Total area (in bigha)	Rate (In Rs./As.)	Total amount (In Rs.)
Vaan	2174	1/2/-	2289
Madwo	469	1/6/-	608
Makka	424	1/3/-	473
Kodu	925	1/-/-	782
Barti	89	-/12/-	65

Chola	405	-/9/-	174
Vaad	83	3/-/-	239
Sabzi	38	1/8/-	75
Raalo	03	-/12/-	10
Cheedho	30	-/12/-	22
Tobacco	12	3/-/-	36
Chomli	57	2/6/-	136
Aafu	04	3/-/-	14
Seerh	09	-/12/-	7

Above information about the mal-o-jihat, production, collection, revenue, taxation and rates relates to each crops under the zabti method. Through close examination of this table, one can easily distinguish that there are variation in the production and taxation as well. Highest rates applied on the low produced crops such as vaad, has highest tax rate with less production in comparison to other crops, one more example is tobacco, amounting to Rs. 3 per bigha applied on both crops. Document shows maximum and consistent production of vaan, kodu, madawo, chola, and makka, which is highest among all with low tax charges comparison to vaad and tobacco. For instance, see chart below.

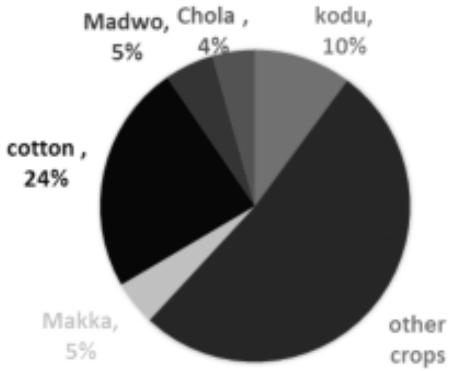

Figure 1 percentage of area under crop production in zabti.

Jinsi

Batai or Jinsi method realized revenue in kind or sharing or division of grains.[9] In batai method, the harvested grain was weighted and after

that, state share was taken in kind or cash as well. This procedure of revenue assessment needed weighing of grains and after weighing the grains; fixed share of state was extracted from the peasants. The state's share was taken in kind (in grains) or in cash (in amount) as well. Arhsatta document make it clear that the wholesale share of jinsi of state was sold in the villages on the spot to mahajans, and the rest was stored in ambar or ambary.[10] Documents shows taxation under the jinsi or batai method from both harvest kharif and rabi as well. In the case of the method, the rates batai varied from crop to crop and village to village, sometimes-different rates were applied to the same crop in the same mauza as well. Unfortunately, document has not mentioned full details in the respect of tax rate applied in the jinsi method.

Table 2 tax rates of crops in jinsi from different villages under both harvest[11]

(Amount in fraction of rupees Aanas/Paisas)

Villages	Moth	Bajro	Guwar	Chana	Urad	Gehu
Sajeeva	8.1	9.1	10	9.2	09	9.1
Surtirampur	9.50	9.1	13.3	9.3	09	-
Sehdasyapur	9.3	09	13.3	9.1	9.3	6.1
Hingodya	9.3	09	13.3	9.1	9.1	8.2
Saapila	9.25	8.2.	8.1	9.2	09	8.3
Azamnagar	9.3	09	13.3	9.2	9.1	9.2
Ajmeripur	9.50	8.2	-	9.2	09	8.3.
Jaisinghpur	9.25	8.2	13.3	9.1	9.1	8.2
Ijjatpur	9.50	8.2.	-	9.1	09	8.2
Brindawan	9.3	8.3	13.3	9.3	09	8.2

A close scrutiny of the data represented in the table, indicates that there were variation in the tax rate from vaillage to village and crop to crop as well. Two main crops Gehu (wheat) and Bajra (millets) showed the constant variation. However, there were also some crops with same rate in all villages such as, Til -/4/2, sarso -/4/9, Bejarhi -/8/7, Gojaro -/8/6, Jove-/8/7 etc. some crops have slight variation in the rate for instance Gochani -/8/3-/8/4.50, Juwar -/8/3.75-/8/1.25, Mung /4/9-/8/3, etc. All amount was mentioned in aanas and paisas in the document and for the

sake of convenience smallest fractions in paisas had to be ignored in the table.

Sair-i-jihat

It can be described as additional charges in order to meet the expenses incurred in the collection of taxes (mal).[12] there are more than 75 taxes under this head, which included agricultural, non-agricultural and administrative taxes. Document shows sair-i-jihat collection here from different charges under siwai-jamabandi and hasbul-mufasal.[13] For instance, collection of Bhent,[14] from the newly inhabited villages of Kishan Rampur as nazrana, or offering, total collected amount was Rs. 612/As.8, Rs. 449 from kharif and Rs. 163.50 from rabi. Another collection was lata zabti, it might be taken on the method lata which was sometime applied during the measurement. Total collected amount was Rs. 423.50. An amount of Rs. 292.50 was collected from the charges of mapa,[15] from villages under both harvest. Kagaz was also a charge; it perhaps taken as the expenditure of papers used for the records or office work, total collection Rs. 464.75, taken from each villages as Rs. 3 or 4 each village.[16] Other collection included following taxes

- Rahdari-mapa, Rs. 10846.25 was collected from the ijara of twelve months, from bhadawa sudi 3, 1730 to bhadawa sudi 2, 1730. It was toll tax on banjaras[17]
- Malbo, it was the payment to sub-ordinate police and revenue officers or allowance to village guard[18] total amount Rs. 255.75.
- Chaillie 411, it was tax on goat, charges as 6 to 9 takas per head[19]
- chaak, 1479. Chak were the shoemaker so it was perhaps taken from cobblers.
- Tapadaari, 1688.75, it was the official tax, paid to official of tappa.[20]
- " Afkur- Rs.298.75, it was also collected under ijara, from mauza Girdharipur.
- Fadke -as Rs. 1255.75.
- Bhaado- Rs. 17.
- Akhodi from kharif harvest as Rs.146.50.
- Peshkash Rs.2301, it was kind of tribute in cash and kind to Mughal emperors by noble and rajas, Amber ruler were also got it from their

sub-assignese in both forms occasional as well as regular.[21]

- Agarkhaari from rabi harvest was 548.50.
- Paani tax was taken from rabi harvest 2050, tax on irrigation at the rate of Rs. 3 on per hundred rupee.[22]
- Farohi 4140.75, intended to cover loss of crops[23]
- mela and bazaar, collection was 203 taka and 25 dam.
- Hasil baital maal Rs. 3.
- chungi kayaali,[24] it was given on ijara to Motiram Mahajan resident of village Datwas, collection was 31 rupees. Chhailera was also a charge total collected amount was Rs. 411.

Total collected amount from miscellaneous taxes under sair-i-jihat, head siwai-jamabandi was RS. 27646.25. Maximum collection from the taxes such as mapa rahdari, Peshkash, farohi, tapadar. Attempt has been made to show that, amount collected from sair-i-jihat occupied dominant place in the whole income of state.

Conclusion

One may thus conclude arhsatta pargana chatsu contains comprehensive information pertaining to taxation, agricultural production, and amount collected from different revenue sources in the year 1730, pargana chatsu, sarkar Ranthambhore, suba Ajmer. Revenue was collected mainly under two heads muwafiq-jamabandi and siwai-jamabandi. Mal-o-jihat, was the agricultural taxes which was collected under muwafiq-jamabandi. sair-i-jihat was the non-agricultural taxes extracted under the head siwai-jamabandi. Document shows collection under the hasbul-mufasal, part of whole some revenue income of state, it was collected from kharif and rabi harvest. There were considerable variations and fluctuations in the rate of jinsi crops like mung, urad, moth, bejhari etc. In the production, cotton occupied significant place followed by the other crops such as chola, kodu, and bejhari. Sugarcane and tobacco had less production but high taxation. Some are peculiar crops of Rajasthan such as chola, bejhari, Madawo and Gochani. Gochani and bejhari were mixed crops. Cash crops like sugarcane, sesame and mustard did not occupy any significant place with less production. It also shows, handsome amount has been collected from miscellaneous type of taxes under sair-i-jihat.

Taxes with higher amount were mapa-rahdari, paani, peshkash, farohi and tapadari.

References

1. *Arhsatta of pargana Chatsu, V.S. 1787/ A.D 1730, Rajasthan State Archives, Bikaner.*
2. *S.P Gupta, Agrarian System of Eastern Rajasthan, p.144, Manohar Publication, Delhi 1986.*
3. *Such taxes included jhupri, pichotri, patwari, shahna uthai, tulai, ekotri, nirotri etc.*
4. *Satish Chandra, Medieval India: Society, Jagirdari Crises and the Villages, p.5, Macmillian Limited Publication, Delhi, 1982.*
5. *S.P. Gupta, Agrarian System of Eastern Rajasthan, op cit p.41.*
6. *Ibid.*
7. *For convenience, sake fractions have been ignored in this table.*
8. *Arhsatta of pargana Chatsu, V.S. 1787/ A.D 1730, op cit p. 601-704.*
9. *S.P Gupta, The method of revenue realization in Eastern Rajasthan During 17th and 18th Century' proceeding of Indian History congress, vol third, Muzzafarpur, 1972, P no. 9-10.*
10. *Satish Chandra, Medieval India: Society, Jagirdari Crises and the Villages, op cit p.6,*
11. *Arhsatta of pargana Chatsu, V.S. 1787/ A.D 1730, op cit p. 601-648.*
12. *S.P. Gupta, 'The System Of Rural Taxation in Eastern Rajathan (1650-1750)', proceeding of Indian History Congress Session Muzaffarpur, 1972, p. 283.*
13. *Arhsatta of pargana Chatsu, V.S. 1787/ A.D 1730, p. 601-648.Pp.707-900*
14. *Bhent was the amount given or taken by the villagers and state on the different type of occasions, such as newly inhabited village.*
15. *It was the transit duty on goods taken from the merchants.*
16. *Arhsatta of pargana Chatsu, V.S. 1787/ A.D 1730, op cit p. 755-776.*
17. *S.P. Gupta, Agrarian System of Eastern Rajasthan, op cit p.157.*
18. *H.H. Wilson, A Glossary of judicial and Revenue Terms of British India, 2nd ed., Delhi 1968, p.509.*
19. *S.P. Gupta, Agrarian System of Eastern Rajasthan, op cit p.158,*
20. *The holder of the administrative unit (tappa) was known as tappadar.*
21. *Sumbul Halim Khan, "Peshkash, in the Jagirs of the Amber rulers, c. 1690-1750" PIHC, 1992, p.294.*
22. *See also, S.P Gupta, Agrarian System of Eastern Rajasthan, op cit p.156.*
23. *S.P. Gupta, Agrarian System of Eastern Rajasthan, op cit p.158.*
24. *It was the weighing tax paid to weighing man.*

Indegenious versus Modernisation of Education in Rajputana by Christian Missionaries

Dr. Sobha Singh

This research article is an effort to study modern educational development in Rajasthan in historical perspective from 1818 to independence. Mainly there are three types of sources to know about indigenous education in Rajasthan. The first one is periodical reports submitted by government officers from 1855 to 1867. The second source is the Gazetteers published from time to time and third is the series of medico-topographical accounts by medical surgeons. But these Gazetteers and accounts are mostly repetitions of annual reports only, no new information was added. Any foreign traveller who visited in 19th century in this province didn't give any information about indigenous education in Rajasthan.

Educational institutions established and run by the people of the country on old traditional methods are termed as indigenous school. In this category following schools are included:[1]

1. Which were maintained by private parties for the education of their own children and other boys were also allowed after paying tution fees to the teacher.
2. Which were kept by the teacher on his own account, or may be as a sacred obligation, either maintaining himself from his own private means or subsisting on alms and charity.

This is not like today's school but it could be any place of instruction having a knot of boys sitting in a verandah around an aged Brahmin, who taught them to cast up figures and read shastras.[2] Objectives of the indigenous education were to achieve best in life following the path guided by religious texts build character and develop self-confidence. Knowledge is called the third eye of man in Hindu religious texts. Indigenous schools provides two types of education -

1. Primary education : a. Hindu Chatshala & Posals, b. Muslim - Maktabs

2. Higher education : a. Hindu - Pathsala, b. Muslim - Madrasas

Drawback of Indigenous schools:-

1. Total absence of printed books and very rare use of manuscripts.
2. There equipments were very simple - like writing boards called 'Takhti' in Persian and 'Patti' in Hindi. "Batti" resembles to modern drawing chalk, inkstand known as Bholka, 'Buddhika' and 'Kulika' in Hindi schools and 'Dawat' in Persian.
3. There were no classes, no regular periods of work, no particular time of admission. A pupil could join school at any time and left the school any time when he acquired all the desired knowledge.[3]
4. The senior students had to teach juniors.

The word modern in the field of education includes Indian philosophy and thought as well as western knowledge of sciences and English education system which was different from the old and traditional system termed as 'indigenous' education. Initially the British East India Company did not interfere directly in the field of education, but the impact of governance directly or indirectly could be seen on the country. In 1835, English became widely used in educational institutions with the effect of Macaulay's recommendations.

Due to the establishment of the University of Kolkata, Madras and Mumbai on the basis of London University, many scholars called the new education system as English education system. But it does not seem appropriate to say English education because before the British other Europeans also made educational efforts. Due to the efforts made by the western countries, it does not seem correct to say it as western education because prominence is also given to native language, its philosophy and literature.[4] In changed scientific age education is accepted as the integral part of country's development. Efforts were made to provide regular continuity to education by fixing time schedule, school irregularities and examination system. Thus it would be appropriate to call it modern education which was developed on the basis of logic with systematic pattern. During this period mainly three agencies established school of modern education. At the first place came the British political agents who

established modern schools with the generosity of rulers at their capitals. The second agency was Christian Missions, which showed the path to the Government to take over the responsibility of educating the common people in the province. The third agency comprised private educational efforts - which includes Aryasamaj Educational Society Ajmer, Jains and Muslims of Jaipur, Thikanas of Khetri, Jobner and Chomu etc. The credit for introducing modern education in Rajasthan goes to the British government and later to the Christian missionaries.

The earliest systematic missionary educational activities began in Rajputana as an after-effect of the Mutiny of 1857. But scriptural knowledge as a basis of education began when British took possession of Ajmer in 1818. Lord Hastings, Governor General of India, during his country wide tour was shocked to see that there was no systematic education in Rajputana & even the prime minister of this state could hardly write and scarcily read.[5] He appointed Jabez Carey as Superintendent of education in Ajmer in Nov., 1818.

He started the first Lancasterian school at Ajmer in May 1819 & second at Pushkar[6]. Two more schools, one at Bhinai (April 1822) and the other at Kekri (May 1822) were also started by him. In 1827 three schools were closed except one at Ajmer and even this school was closed in 1831. With the closure of this school the first and the earliest missionary educational activities came to an end without achieving any substantial result. After the assumption of power by the crown in 1857 the United Presbyterian Mission was first to enter the field of educational activity followed by the Roman Catholics, the Methodists, the Church Missionary Society the Anglican Church & the society for the propagation of the Gospel Mission.

I United Presbyterian Mission

After the mutiny of 1857 the United Presbyterian Church of Scotland selected Ajmer - Merwara region after thorough inquiry as the most destitute, hopeful and virgin field, for evengelical work.[7] The presbyterian preferred vernacular as the medium of instruction while Roman Catholic stressed on english medium. They opened schools at Beawar, Nasirabad, Ajmer, Todgarh, Jaipur, Sambhar, Phulera, Bandikui, Deoli, Udapur, Alwar, Jodhpur etc. To preach education they opened following type of schools in Rajputana.

1. Anglo - Vernacular Schools : In these schools Bible was taught besides the usual secular subjects in Hindi, Urdu and English.

2. Vernacular Schools : To teach the new converts the three R's the missionaries established vernacular schools. The missionary school system aimed at the extension of its network to all the adjoining villages within a radius of eight or ten miles. It was a part of the mission plan to visit those schools regularly in rotation, to examine their condition, to teach the Bible lesson, & to take the opportunity of preaching the basic tenets of Christianity. Our break of frequent famines, unavailability of suitable teachers, introduction of fees and the controversy about the simultaneous existence of the Mission and Government schools in the same village are the reasons for retardation of vernacular schools.

3. Girls' Schools : The missionaries have been pioneers in introducing co-education in vernacular primary school. They opened separate schools for girls. Even they also opened school for the sweeper girls & for Mohammadan girls also.

   Ajmer was the most important centre for Mission's Zenana work-a kind of tuition undertaken by the women missionaries to spread the fundamentals of Christianity.

4. Normal Schools : To these types of schools were opened to provide qualified teachers for village schools. At some places these schools were started for women with boarding facilities.

   The supply of normal trained women teachers in Rajasthan was very small because of two reasons:-

   1. The number of eligible girls for the training course was very limited.

   2. Educated girls preferred more lucrative jobs than the elementary teaching profession.

   That is why all the Christian girls joined these types of schools till 1940.

II The Roman Catholic Mission

The first boy's school was opened by Roman Catholic Mission at Ajmer in 1893, whose reference has been in the report of the Prefect Apostolic of Rajputana for the year 1896.

1. St. Mary's Convent, Ajmer - This school was opened with 60 children with a hostel for European girls of Ajmer in 1896.
2. St. Anselm's High School, Ajmer- This school came into existence in 1905 with 54 boys. In 1961 it was converted into a Higher Secondary School.
3. Sophia Girl's College, Ajmer - St. Mary convent school was basically for the European and Anglo-Indian girls but the admission of Indian girls was very rare.
4. St. Angela School for Girls, Jaipur - St. Angela School had transferred from Ajmer to Jaipur in 1926. The first non-Christian was Miss Danyavati who admitted in the school in 1928. In 1931 it was reorganised as a middle schools in 1959 as a High School.
5. St. Mary's Boy's School, Jaipur - This school was started in July 1941 with only three boys.
6. St. Xavier's School, Jaipur - The St. Mary Boys School was latter converted into St. Xaviers School in 1945.

III The Methodist Episcopal Mission

In 1874 Canadian Methodist Episcopal Mission was founded in Rajasthan[8]. In 1894 they opened a girl's school in Ajmer and a boy's primary school which was raised to middle standard in 1907. They also started - normal school to train women teacher. Because of financial and other reasons some of methodist school transferred to methodists in Rajasthan.

In addition to this Church Missionary Society established the station in 1880 at Kherwara amongst the Bhils. Another mission was that of the Church of England was founded in Ajmer in 1883. The first and the foremost object of the missionaries was to convert people to Christianity. It was not primarily their business to educate the people of Rajasthan but was evangelization which means the conversion of people from worldliness to Christlike godliness. The missionaries soon realised that schools were both the cause and effect of proselytization and that educational and missionary work had to be undertaken side by side and it is out of this realisation that the missionary schools of modern Indian were born.

It is necessary to understand why the missionaries undertook educational activities as an integral part of their work in India. The first and foremost object of the missionaries was to convert people to Christianity

and one could not expect them to start educational institutions or to work as teachers. In fact, there was a time in early missionary history when the Home Authorities of missions refused to support educational institutions and opened that the priests had no business to found schools. But the practical experience of the early missionaries soon convinced them that they had to start schools as an important means of proselytization. In commencing their operations, missionaries have generally seen the propriety and importance of establishing schools. One reason for them is to educate the minds of the people so that they may be more capable of understanding and appreciating the facts and evidence, the doctrines and duties of the scriptures. Another reason for them is to increase the influence of the missionaries with the people by communicating some advantage which they can appreciate, and by showing that advantage which they can appreciate, and by showing that Christianity rests on an intelligent perception of its doctrines, and contains the reason for the performance of all its duties. And another reason for such an education is in its procuring means and opening ways of access to the people, and opportunities of preaching to them. One great difficulty which missionaries often experience, is in obtaining access to the people, in circumstances where Christianity can be made the subject of communication or conversation. In such circumstances schools become very important, as a means of communication with different classes of people, with children and parents with men and women.

A band of sincere and devoted missionaries ignoring the hazards of life, opened school of various types in the remote parts of the province. Bad weather condition, recurring outbreaks of epidemics and famines, paucity of funds, unavailability of qualified teachers, lack of adequate means of communication with their headquarters superstitions beliefs of the people and their suspicion that the missionaries were the agencies of conversion, withdrawal of wards by their parents were some difficulties which they faced but with their persistent efforts they did their work.

Distinctive features of missionary education:-

1. Missionaries were the pioneers to penetrate into the villages for education.
2. Promotion of women's education. They set up women's industrial home which provided stimulus to the indigent and the destitute

women.

3. Systematic training of teachers in normal schools for the growth of modern education.
4. They made efforts to educate the sweepers and orphans, neglected and down-trodden.
5. They also opened vocational schools in this state. The industrial school provided training in useful & practical trades as weaving, carpentry, black-smith, tailoring, masonry and shoe-making. The main pivot of missionary education was Ajmer and extended till eastern Rajasthan but northern and western parts remained neglected.
6. Missionaries were the first to start a Litho press for printing school text-books in English and Vernacular languages.

References

1. *Reid, H.S.: Report on the state of popular education in the N.W.P. for 1859-60, para 141*
2. *Rajputana administrative report: Eastern Rajputana States Report 1885-86, p. 145 para 32.*
3. *Nurullah and Naik : History of Education in India, p. 40*
4. *Mathur, Kamlesh: Mewar main shiksha ka vikas, publication scheme, Jaipur, 1989, p.30*
5. *Private Journal of the Marquiss of Hastings : Allahabad edition (1907), p. 376*
6. *Verma G.C. : Modern education, publication scheme, Jaipur, 1984, p. 40*
7. *United Presbyterian Mission : First Report (1862), pp. 5-6*
8. *Richter Julius : History of Indian Mission in India, 1908, p. 213*

The Growth of Modern Education during the Reign of Maharaja Ram Singh II

Mayuri Singhal

Jaipur was educationally one of the most progressive states of Rajasthan where the modern education began during the reign of Maharaja Ram Singh II (1835-1880). In the reality it was the liberal attitude of Maharaja Ram Singh II and under the observation of captain Ludlow (the political agent of Jaipur) Jaipur became the nerve centre of contemporary learning. This fact is proved by the establishment of the Maharaja's college (1844), Sanskrit school (1865), the Noble's School (1862) and the Girls' School (1867) etc. In this paper, I will try to make an attempt to analyse the beginning of the modern education in Rajputana and missionary educational enterprise particularly in reference to Jaipur. The education of the marginalized sections of society and the development of the medical education in Jaipur during Maharaja's reign is also my area of concern.

Ram Singh, son of Raja Jai Singh III , who was born on second Bhadva Sudi, 14th Vikram Samvat, 1890 (28th September 1833), ascended the throne of Jaipur on Mah Sudi, 8th Vikram Samvat, 1891 (6th February 1835 AD) at the age of one year and four months.[1] At that time the British statesman and politicians were trying to consolidate their empire by providing an alternative way to the Rajput ruler in the form of Regency Council. In the case of Jaipur Sutherland, A.G.G. was compelled to think of establishing a government that would not only be effective and respected by all parties in the state, but would also be a stable character during the minority of the ruler.[2] On his proposal a Council of Regency was formed consisting of five Thakurs with the political agent as its president, Bhopal Singh Rajawat of Jhullye, Lachman Singh Nathawat of Chomu, Rawal Shiv Singh Nathawat of Samod, Sumer Singh Khangarot of Punchewar, Sur Singh Churbhujot of Bagru[3].

At that time, when the Maharaja was only three years old the Government of India decided to provide "a suitable education for the young

Raja of Jaipur.[4] Three years later the court of directors wrote to the Governor General "for giving to the young Raja an education fitting him for the high station he will hereafter fill and for introducing him generally to knowledge of public business under the guidance of the political agent.[5]

By keeping this in mind, British government decided to provide Maharaja with general training of administration, but till the eleventh year of age of Maharaja, nothing conclusive regarding his training was done .It was only linked with study of Sanskrit on traditional lines and martial exercises both on horseback and foot. As a result political agent captain Ludlow selected Shiv Deen, a Brahmin Graduate from Agra College, Agra as his teacher. As time passes Maharaja started taking interest in world history, natural history, botany and philosophy. In addition to his regular studies, the Maharaja was also kept informed on all matters connected with state affairs.[6] As a result he became a capable ruler who could govern his state according to British pattern. Actually it was the initial upbringing of Maharaja which broadened the mind of the young Maharaja to introduce different types of reforms whether it was social, political or administrative.

Jaipur has been a great a centre of educational learning in the field of primary education since its inception. Maharaja Jai Singh can be credited for that but during the course of time this centre of learning became ineffective. The report of Major Ludlow mentions that "In 1847, there were fifty two paraganas in the Jaipur state and in twenty of them one hundred and eighteen village schools have been revived and brought into operation by the local officers."[7] These numbers of school points to the decent condition of the primary education in Jaipur.

Maharaja Ram Singh made an attempt to restructure the primary education on the British outlines with the help of Pandit Shiv Deen (Maharaja Ram Singh's teacher) assisted by Munshi Kishan Swaroop and Munshi Makkhan Lal. In 1844 the foundation of Maharaja School was laid and in 1847 there were 250 students who were divided into four classes that are Sanskrit, Persian and Urdu and English. Land grants were made in the form of villages for the maintenance of the school. The yearly expenditure for the school was Rs, 2,772.[8] Munshi Kishan Swaroop was appointed as the Head Master on Rs. 60 per month and Munshi Kanhaiya Lal was the English teacher in 1854. "In the 1860 Munshi Kishan Swaroop, informed Thakur Lachhman Singh, the Musahib-i- Raj (Prime Minister)

Jaipur, that in accordance with Mahakma Khas order dated 1st October 1860, issued at the suggestion of Lt. Col. Brooke, the political agent, an education fee of annas one to annas four per boy per month according to the status of the parents was levied and a sum of Rs-30/- a month was realized"[9]

Later on other new state schools were opened in the state but the number of students was not encouraging. The reason behind this was the difficulty in getting enthusiastic teachers on fixed salaries. In the case of 110 private schools (1863), high tuition fees were collected in Jaipur state. One significant thing that can be noted here regarding the education in the districts is that it was exclusively popular among the Brahman and Baniya boys because they need it for their day to day transaction.

Until this time, education had been carried out in the region through a variety of traditional local Pathshalas, Chatshalas, Maktabs, Sals, Upasaras and so forth. According to a comprehensive report of 1864, compiled by Lawrence, the AGG, from reports sent by various British political agents at different states of Rajputana, Jaipur's political Agent Col. J.C. Brooke noted that in Jaipur city itself there were 110 indigenous schools with 2,598 pupils on roll. In his report, Brooke wrote that traditional privately run schools existed in almost every village. In fact, the post of a special official to superintend schools within the kingdom, which had been created by Sawai Jai Singh II in the eighteenth century, had continued in existence till about 1813"[10] In 1864, 500 indigenous schools existed parallel to modern schools in whole Rajputana. Some British officers suggested for continuing the indigenous education but British government ordered these types of indigenous school should be closed down and western education should be introduced.

In the field of Secondary education in Jaipur, the efforts of political agent, Major Ludlow was quite considerable. In the temple of Shri Madan Mohan ji, (in front of the Hawa Mahal) a school was established in 1844. But its opening was objected by the local shopkeepers on the plea that Muslim boys would enter in the temple. Nevertheless the school continued to work with 370 students. Local people named it as 'Madarsa' and but actually British documents refer to the school as college, right from its beginning. In the starting, Pt. Shiv Deen and then Munshi Kishan Swaroop was the head. But after the death of Pandit Shiv Deen in 1864 Babu Kanti

Chandra became the headmaster. And during the period of the headmastership of Babu Kanti Chandra Mukerjee the school made good progress. Four boys passed the matriculation examination of the Calcutta University in 1865 and three years later (1868) a class was opened at the school for training young men in the science of Engineering, levelling surveying etc.[11] In 1873 it got affiliation from the Calcutta University and since then it became centre of higher education and was rightly designated as Maharaja College.

Maharaja's College under Sawai Ram Singh's patronage and Shiv Deen's supervision became the premier institution in Rajputana for the recruitment and training of a modern professional and administrative class. A decade after the Mutiny , the college had about 500 students on its rolls; five of its students had passed the matriculation examination for the University Of Calcutta ; and the agent reported with obvious satisfaction, yearly the proportion of the college's students who were studying in English and "thinking in English" was increasing.[12] Sawai Ram Singh enjoyed the reputation of a princely patron of education. Maharaja with the expectation that state sponsored education should be more widely disseminated founded a Rajput school in 1861. It was intended exclusively for the sons of Thakurs, to make these sometimes reluctant book learners fit to serve in the future as members of the royal council. It began with just thirty -three students, striving to overcome the local prejudice that 'a Rajput who can read cannot ride.[13] Girl's education was not popular in the Rajputana till 1866. According to the auxiliary committee of the Indian statutory commission three main hindrances in the growth of education of girls and women were conservatism, purdah system and early marriages. In all the three obstacles which are mentioned above the early marriage was the most severe one. So it became difficult to find any evidence of the girl's school in all over Rajasthan before 1860. The first mention of the establishment of a girl's school in Jaipur was made by B. Kanti Chandra Mukerji, then head master of the Maharaja's college , who in his kaifiyat dated 7th may 1866, informed the Mahakma Aliya (that is state council which later on came to be known as the Mahakma Khas) that according to His Highness's order (Maharaja Ram Singh was then the ruler) , the girl's school was established at Jaipur and that a sum of Rs.90-2 was spent on Durri, Chairs, table etc.[14]

A report by Major Beynon (Political Agent at Jaipur) in 1867

mentions that it was due to encouragement of the Maharaja that the idea of female education came to Rajputana. Twenty five students got registered in the school and they were regular in classes. The education level was basically rudimentary and limited which consisted of reading and writing Hindi and embroidery work. There was a need of efficient teachers so almost one year after the opening of female school a teacher was invited. In 1867 one Mrs. Ockalton was brought from Calcutta to organize the girls' schools. This became quite popular, so other branches were also opened in 1875.[15]

The crucial problem in the development of girl's school was marriage. Normally girls left the school within one year after joining the school and dropout rate was high. If we compare the ratio of female education (25) to the whole population (1, 50,000) of Jaipur (1867) it was quite insignificant. But still was encouraging because it at least marked the beginning. In December 1868, an exam was conducted by the Maharaja for the girls of the school with the help of political agent; the result of examination was highly satisfactory. Even some girls were appointed as teachers and one girl was appointed to teach the women prisoners in Jaipur jail. In 1875, this original female school was divided into three schools- 1) the Central school for Girls 2) the Female Normal School 3) the Female Industrial School. By 1879, the number of girl's schools maintained by the state in the Jaipur rose to ten. Over time, girl's education along modern patterns was gradually established in the state. Ram Singh's ideas on education did not stop at schooling. In 1869 he founded a 'social science conference' to encourage public debate on matters of social reform. Two years later he established a public library, stocked with books in English as well as Indian languages, and this was soon followed by a printing press, making it possible for the first time to publish books in the city.[16]

There was no provision of medical education in the state before the reign of Ram Singh. Ayurvedic School of medicine was popular then. But the requirements of British army led to establishment of colleges and hospital on the British lines and patterns. On the request of Major Thoresby and Major Ludlow (both the political agents at Jaipur), to Governor General in Rajputana, a sum of Rs 800 for constructing a hospital building at Jaipur was granted. In 1845 it led to establishment of a hospital and

dispensary at Jaipur. This action bore a positive impact as the Britishers wanted to extend it further in the form of medical school. In this regard Government of India sought the Medical Board's expert opinion about the feasibility and suitability of establishing a medical school at Jaipur with the help of a few sub-assistant surgeons from the college at Calcutta.

But the medical board rejected their proposal on the basis of prejudice and misconceptions that Hindus had regarding the dissection of human body. Later on the sincere efforts of Dr. Burr and Major Brooke provided Jaipur a medical school (called college in all contemporary official records). Maharaja Ram Singh formally initiated this on 7th September 1861 and on this occasion all the Principal, Thakurs and officials of the state as well as the English gentlemen were present. Thus, 7th September 1861 was marked as red letter day in the medical history of Rajputana. The other branch of medical science, Homoeopathy was also started during the reign of Maharaja Ram Singh. In 1860 Maharaja invited two homoeopathic practitioners, Dr.Saltjear and Dr. Rajendra Lal Datta for his treatment. This event created awareness among the people of Jaipur regarding the homoeopathic dispensaries.

On the recommendation of Sir Charles Trevelyan, the Maharaja started the "School of Arts" (1867) in which subjects and skills like carpentry, pottery, coach- building, drawing and book-binding were taught.[17] In 1869 geometrical, mechanical and architectural drawing and mapping like subjects were also introduced by Dr. De Fabeck. Rather than designate it as school it seem better to call it commercial institution which was established with the aim of developing technical and industrial skill among the people of Jaipur. In the conclusion it can be said that Maharaja Ram Singh II's upbringing was actually the product of British mind. His intellectual development on the lines of British ideology helped Rajputana and particularly the state of Jaipur in more favourable way. One significant point regarding the development of education was that it was more popular among the Brahmin. Later on Muslim boys and girls joined the school but the most dominant class of Rajputs did not join the school. Later on when the Maharaja opened the schools especially for Rajputs then we see the presence in these schools, the same happened in the case of Rajput girls. Thus during the reign of Maharaja Ram Singh, Jaipur became one of the significant centre of modern and progressive learning.

References

1. *Dastoor Komwar, Kacchawaha, Vol. 2, Rajasthan State Archives, Bikaner, p.777 (It is mentioned that Ram Singh II celebrated his 7th Birthday in Samwat 1897 (1840A.D.) which clearly proves that he was born in Samvat 1890 (1833 A.D.)*
2. *Sutherland to Maddock, dated 12th March 1839, Political Consultation of the foreign department ,26 June 1839, file no.29, National Archives of India , New Delhi.*
3. *Ross to Sutherland, dated 8th March 1839, Political Consultation of the foreign department ,26 June 1839, file No.29, National Archives of India, New Delhi.*
4. *Trevelyan to Bushby, letter No. 13 dated 20th April, 1836, Political Consultation of the Foreign Department, 5th Dec. 1836, File No 1, National Archives of India, New Delhi.*
5. *Court of Directors to Governor General, Pol. Letter No. 19 dated 23rd Oct.1839, Political Consultation of the foreign department, National archives of India, New Delhi.*
6. *Ludlow to Sutherland: no. 92 dated 9th October, 1847, Political Consultations of the foreign department, 20th Nov 1847, file no 65, National Archives of India, New Delhi.*
7. *Ibid.*
8. *Mahakma Khas, Jaipur, file no. G-4/03 of 1848.*
9. *Mahakma Khas, Jaipur, file no.G-4/06 of 1860.*
10. *Hooja, R. A History of Rajasthan, Rupa &Co, New Delhi, 2006, p.871*
11. *Rajputana Agency Records - Jeypore Agency Report (1872-73), p.101, Para 54, National Archives of India, New Delhi.*
12. *Stern, Robert w. The cat and the lion: Jaipur state in the British raj. Brill publisher, Netherland, 1988,p.124*
13. *Tillotson, Giles, Jaipur Nama, Penguin India,2006,p.122*
14. *Verma, G.C, Modern Education: its growth & development in Rajasthan(1818 to 1983),Publication Scheme ,Indore,1984 ,p.243*
15. *Roy, A.K, History of Jaipur, Manohar Singh Publication, New Delhi, 1978. p.123*
16. *Tillotson, Giles, Jaipur Nama, Penguin India,2006,p.123*
17. *Singh C. Jaipur Rajya Ka Itihas, Rajasthani Granthagar, Jodhpur, 2008,p.138*

The Attires of Maharajas during the Festivals in 18th Century Marwar, with special reference to Hakikat Bahis and Miniature paintings of Marwar

Rajshree Shekhawat

Hakikat Bahis have been an important source in knowing the history of Marwar. As the word 'Hakikat 'which means 'truth' or 'real' itself explains that the Bahis are a source of real day to day events which occurred during that period. All the daily activities of the ruler and the celebrations of different fairs and festivals have been mentioned in these Bahis. We can find Hakikat Bahis of the period V.S 1821 till V.S. 1996 (1764-1939).

The present paper deals with different varieties of clothes adorned by the Maharajas of Marwar during the festivals. The yearly festivals celebrated in Marwar such as Choti Teej, Badi Teej, Rakhi, Holi, Diwali and Gangaur were the main festivals apart from them the other festivals celebrated were of Akhateej, Basant Panchami, and Shivratri etc., As most of these festivals were celebrated by the ladies but the Maharajas also had an important role to play in the occasions, they were also actively present during the festivals. The Maharajas use to dress according to the occasion few examples of which can also be seen in the miniature paintings of Marwar. My focus will be on the Hakikat Bahis of Marwar during the period 1764-1800 A.D. All these festivals were an important part of society in Marwar which I will try and accommodate in my paper.

The Hakikat Bahis of Marwar have been an important source for knowing about the customs and traditions followed by the Rathore during that period. These Bahis have beautiful and detailed description about various festivals celebrated in this time. Occasions of Choti Teej, Rakhi, Nag Panchami, Navratri, Dashehra, Diwali, Basant Panchami, Shiv Ratri, Holi, Gangaur and Akhateej were the main festivals of that period. Darbars were held by the Maharaja in the fort of Marwar during some main festivals

 ISSN 2321-1288

such as Holi Darbar, Diwali Darbar, Rakhi, Gangor and Akhateej Darbar. During these Occasions the Maharaja used to appear in the Darbar in a particular dress code with jewellery adorned, the description of which can be find in the Hakikat Bahis of Marwar. All the festivals are mentioned in the Hakikat Bahis with the month and date on which they were celebrated.

The Rathore rulers of Marwar state always patronised different art forms during their rule, the result of which is the great number of paintings of different occasions and the people celebrating them inside the fort can today be seen beautifully preserved in the Mehrangarh museum in Jodhpur. These paintings are a great source of acknowledging the rule of the Rathore in this area in many ways. The festivals celebrated by the people inside the fort and the rulers taking part in those activities are beautifully described through these paintings. Other day to day activities of the rulers such as hunting, attending a musical night inside the fort were painted with such creativity that after so many decades we can visualize the whole scenario of the activities inside the fort in the medieval period.

Festivals are a part of every society. The life of people is incomplete without celebrating different occasions. Marwar which is known as the Rathore dynasty state from last so many centuries have also been celebrating different festivals. The Rathore rulers have always actively took part and given their due respect and presence in every festival which was ever celebrated here. 18th century ruled by the Rathore dynasty was the period of celebrations and occasions, many festivals were celebrated by the royal family which have passed from generation to generation and till date celebrated in Marwar.

Festivals celebrated in Marwar

Celebrating festivals and other occasions was an important part of the life of people in Marwar during the 18th century. The whole year had a number of festivals which were celebrated in the area which were a way to connect public to the royalty. All the people who lived in the fort used to celebrate every occasion together. The few important festivals celebrated in Marwar during the 18th century will be mentioned below.

1. Choti Teej : During the month of July and august is the rainy season; called the month of Sawan in Rajasthan is when the Teej is celebrated every year. On this day a huge possession is organised by the

royalty in Marwar.[1]

2. Rakhi Festival : According to the Hindu calendar Rakhi festival is celebrated in Sawan month. During the rule of Vijay Singh the Rakhi festival was celebrated in front of the Daulat Khana inside the fort where the maharaja entered and the custom of tying Rakhi (a sacred thread tied on the hands of brother by his sister) was held.[2]

The festival of Rakhi celebrated in year V.S. 1854 (1797 AD) which was the period of Bhim Singh describes about the Darbar which was held in the Daulat Khana area inside the fort, where the Maharaja entered wearing a green turban (Paagh) with an orange overall dress called Baga along with a veil tied on the waist. The jewellery worn with the dress included a Sirpech (a piece of jewel adorned on the turban by men) of diamonds which had three pieces, a neckpiece of yellow sapphire and diamonds, a pendant set called the Dugdugi which had emeralds, pearls and a big diamond in the centre. He was also wearing 4 rings the description of which is also given in the Hakikat Bahi of the period. Two bracelets were worn on his wrists of diamonds. He was holding an engraved dagger, a shield and a sward which had diamonds on it.[3]

3. Dashehra : This festival is celebrated in Asoj month according to the Hindu calendar which coincides with mid-September to mid-October. From the first day of this month till the ninth day which is called the nine days of Navratri, the people inside the fort used to worship goddess Chamunda and on the 10th day the celebration of Dashehra was done.

On the day of Dashehra a Darbar was held by the Maharaja, on this occasion he used to wear new clothes and jewellery. The description of the Maharaja's attires on such occasions can be found in the Hakikat Bahis as follows:

The Darbar of Dashehra was held in the front of Daulat Khana inside the fort where the Maharaja entered the Darbar, wearing a turban (Paagh) which was decorated with golden lace on its borders; an overall long dress (Baga) of red colour had prints on it which were made by melting gold. The gown was tied on the waist with an orange veil.[4]

Jewellery worn by Maharaja

The jewellery adorned by Maharaja Bhim Singh during the Darbar of Dashehra found in the Hakikat Bahi is as follows:

A Sirpech adorned on the turban made of diamonds which had three motifs in it, a string of beads which had a locket called the Dugdugi in the centre.

A neckpiece which had 40 beads, 2 emeralds, 2 rubies and I the centre it had a locket of diamonds. Another set called Kanthi (a stiff necklace) was worn by him, which had 36 beads, 2 emeralds and at the centre it had a locket which had 13 diamonds studded in it. Another thing worn by him was a Kanth Sariya, which had diamond Madaliyas (a cylindrical piece of jewellery, generally attached to a beaded set) attached to it, at the centre a Madaliya of yellow sapphire was there.[5]

4. Diwali : The festival of Diwali in year V.S. 1854 (1797), on this day Bhim Singh entered the Darbar wearing a turban which was in two shades of red and sky blue which had motifs on it. His dress which was called Baga was in the shade of red and blue and a pink coloured veil was used to tie on the waist. He adorned the dress with various jewellery pieces such as Sirpech to adorn his turban was made of diamonds which had a crest. A neck piece of red beads along with a four layer pearl necklace adorning his neck and 5 rings in his fingers out of which one was thumb ring called Angusatdan, one had 4 diamond on it, another had 3 diamonds and the fifth one had 4 motifs which was a little bigger in size.[6]

5. Gangaur : According to the Hindu calendar this festival is celebrated in Chaitra Sudh which is the month of March-April. 21st March-20th April is said p be the month of Chaitra which is the first month of the Indian calendar. This festival is generally celebrated by the women but during the medieval period in Marwar, this occasion was celebrated with full enthusiasm by all the members of the royal family including the Maharaja. All the girls and women of the palace used to celebrate this festival inside the fort and the Patars and Bhagtans (dancers) used to perform Ghoomar (a dance form of Rajasthan) and the beautifully dressed women called the Gavars were given Neg and Seekh (presents and money) by the ruler. The description of this famous festival of Marwar can be found in the Hakikat Bahi of Bhim Singh's period.[7]

"When Vijay Singh's grandson Bhim Singh (1793-1803) ascended the throne, the making of large scale paintings decreased dramatically. Paintings of the magnitude of Krishna frolics with Gopis were no longer

the norms, and the focus of subject matter returned primarily to portraiture and the aggrandizement of the ruler. A turbulent decade of fighting with his family and other nobles regarding his right to rule left little money or inclination for Bhim Singh to promote or support a vigorous or innovative painting atelier."[8]

I found two miniature paintings of Bhim Singh celebrating the festival of holi with the people inside the fort. Through these paintings we can clearly see the attires worn by the Maharaja during the holi festival in the 18th century. The Hakikat Bahi of Bhim Singh's period also gives us information about his dressing during various festivals and I have come across the description of holi festival in the Hakikat Bahi of his period.

Festival of Holi: Holi was celebrated in Marwar with all customs and tradition. This festival is celebrated in the Fagun month according to the Hindu calendar which is the month of February-march.[9] In year V.S. 1854 (1797 A.D.) the description of Rakhi festival in the Hakikat Bahis is as follows:

The Darbar of Holi was organized in the Daulat Khana where the maharaja entered wearing a red turban which had golden prints on it; the turban was decorated with a Turra (a feather like ornament) of gold. He was wearing a dress which had prints of gold on it decorated with golden lace on borders. He adorned his turban with a diamond Sirpech, a new bangle bought from Jaipur, and a diamond neckpiece (Kanthi) along with a beaded ornament which adorned his neck. We can also see in the paintings given below that the Maharaja also wore rings on his fingers which included 2 diamond rings, one emerald ring and a ruby ring, mention of a thumb ring is also found in the Bahis.[10]

The Hakikat Bahis of Bhim Singh's period in Marwar have talked a lot about the clothes and jewellery worn by the ruler at every occasion. During the period of other rulers in the latter half of the 18th century in Marwar such as the period of Ram Singh and Vijay Singh does not have enough mention about the dressing style of the rulers during festivals. We can find in the Hakikat Bahis of Vijay Singh's period that the writers focussed more on the details about the offerings made by the maharajas during the festivals. The offerings were made in the temples of the gods and goddesses they worshiped. After Vijay Singh came the rule of Bhim Singh in his

period of rule the focus shifted more towards the dressing style and variety of cloths and jewellery worn by the rulers. The type of clothes, their pattern, style and colours have been mentioned along with the names of the items worn on different body parts such as turban for head, veil for waist etc. and the description about the jewellery pieces adorned on hands, head, neck, fingers have been beautifully noted in the Bahis. The colours and style of beads used in jewellery even and the number of beads or pearls in a neckpiece have been focussed upon. The Hakikat Bahis are an important source to acquire knowledge about every occasion which was celebrated during that period, not only the fairs and festivals but also about the marriages of the maharajas, their anniversary celebration and many other occasions can be found in detail in them.

References

1. *Sharma, Vasumati; Rathore Rajvansh Ke Riti Riwaj, Page 135,Maharaja Man Singh Pustak Prakash Research Centre, Mehrangarh, Jodhpur, 2000*
2. *Hakikat Bahi no. 2 (V.S. 1831-1834), Image No.138*
3. *Hakikat Bahi no. 7 (V.S. 1854-1855), Image No.26*
4. *Hakikat Bahi no 7 (V.S. 1854-55), Image No.80*
5. *Ibid, Image No.80*
6. *ibid, Image No. 98*
7. *Ibid, Image No.232*
8. *Jasol, Karni; Peacock in the Desert, The Royal Art of Jodhpur, India, Page 148, The Museum of Fine Arts, Houston, 2018*
9. *Hakikat Bahi no. 1 (V.S. 1821-1830), Image No.49*
10. *Hakikat Bahi no. 7 (V.S. 1854-1855), Image No.211*

Makers of Eighteenth Century Jaipur Fabric

Swati Kulshrestha

Textile production in medieval India was the most productive sector in agriculture. It can be gleaned by the study of kharif crops from Arhsattas of parganas like Malarna[1], Chatsu[2] of Jaipur. Although cotton production can be traced from ancient India, in 12th century, textile industry developed from simple spinning, weaving, bleaching and dyeing to expansion of occupations which involved embellishments of various kinds.[3]

The craft became specialised in character because certain professions were hereditary in nature, possessing the caste identity. Such artisans flourished in the Mughal Empire, evidence to which is available in the accounts of Abul Fazl[4], Pelseart[5] and Bernier[6].

The survival and operation of independent skilful artisan was not as good as those of patronised artisans. There was absence of privately owned manufactories by skilful artisans. One can recognise that there were (1) artisans who were hired on different terms and (2) those who became a part of karkhana setup.

Karkhanas were the workshops which manufactured various commodities for the consumption of royal household. Karkhanazat documents were maintained to record the expenditure occurring with graphic details of weights, rates and bayle of raw material. On the basis of the study of Ain-i-Akbari, we understand that the Jaipur Karkhanas were highly influenced by Mughal counterpart. Fortunately our documents on karkhanas furnish more intricate details as compared with Abul Fazl work. Different karkhanas were maintained by the kachhwahas to manufacture exquisite luxury products. The expenditure incurred on various karkhanas was meticulously recorded. The information is statistical in nature; we thus have rich archival material preserved in Rajasthan State Archives Bikaner, which provides comprehensive details on state patronage of different art and craft. There were thirty-six Karkhanas in Jaipur during the reign of Sawai Jai Singh which made available opportunities for different artisans and craftsmen.[7]

The castes of the textile workers mentioned Peasants, Artisans and Entrepreneurs for western Rajasthan are Julaha (weaver), Darji (tailor), Pinjara(cotton carder), Chhinpa (calico printer), BalaiBangar (spinner), JatiyaBangar (spinner), Bandhara (tyer and dyer), Kartiya (spinner), Rangrej (dyer).[8]

There were five stages of making cloth from cotton: Cultivation and Harvest, preparatory processes, spinning, weaving, finishing, and making fabrics. It was first separated from each other by a process called scutching. Scutching separates impurities from materials. The step followed by separation of fibre from seeds is spinning. Spinning evolved from twisting the fibres by hand, to using a drop spindle, for using spinning wheel. Spinning was almost exclusively done by women by hand spindle or by wheel. The paintings of Mughal painters and its fusion with Indian school, figured out a woman with spinning wheel with no handles dated 1606.[9]

After this process of spinning the next step was weaving. Wherein two distinct set of yarns are interlaced at right angles to form a cloth. The longitudinal threads are termed as warp while the lateral is weft. At the time of my physical survey, I have interacted with Shankarlal. He is a contemporary artisan working in Rajasthan Co-operative Limited. While weaving the carpet he told me that, at present spinners and weavers used to live at Subash Chowk.[10]

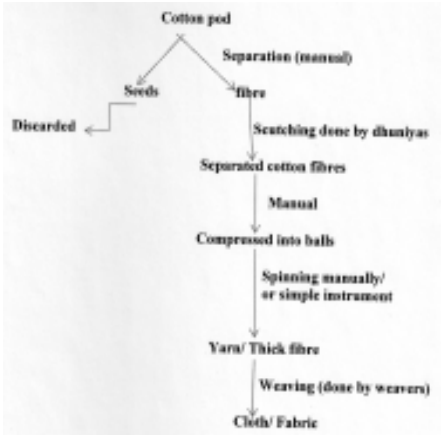

Flow chart of generalised representation of spinning and weaving technique during medieval time period.

My work focuses on textile workers and the most skilled craft acquired by Jaipur artisans, who are dyers (Rangrez, Neelgars), printers (Chhipas), embroiders (Zardoz), tailors (Darzi), darner (Rafugar). Different karkhanzat documents have recorded the work, name and the mode of wages of the artisans used document named as Rangkhana[11], Chapakhana[12], Vastragrah[13], Ratangrah[14] karkhanazat papers and Arzdashat (petitions of subordinate officials to Amber Raja). The most important document which seems essential for the study of artisan is Dastur komwar, which gives detailed information about every professional group and caste (qaum) in the state of Jaipur in the eighteenth century.

Rangrez were important and most popular section of the artisanal society in textile industry of Jaipur also. These artisans used to work with dyes. Compositely all the dyers were called as Rangrez. Bakhat Ram also emphasises the importance of Rangrez through his description in the given couplets

रंगरेज रंगत कहूं पट सुरंग
लहरिया जुवांधत करि उमंग[15]

"Rangrez are dyeing the fabric in its own colour

Tying the dyed lahariya with hopes"

Roznama Rangkhana also record Nura Rangrez has dyed Dupatta Rangeen and also he has been given the wage for masala (dyeing ingredients)[16].

Dyers who were specialised in the art of dyeing the cloth with indigo only, were known as Neelgars.[17] Albakhas Neelgar is recorded in Dastur Komwar for receiving the prize of Rs 2/ for his able work.[18]

Jaipur Arzdasht provides us information of the acceptance of the order given for the dyeing of textile in before date, and sends it for presentation and the news of it recorded accordingly prepared material given by Purohit Harnaam to Raja Bishan Singh.[19]

Chhipas : The artisans who used to print cloth were named as chhipas. Ramu Chhipa he was given 75 than for printing costume for wedding[20]. Arhsatta Nakadi Rangkhana informs us that chhint ki rangai ki chir was rated as Rs. 285.3anna by Ramuchhaju chhipa.[21]

Zardoz : The person who used to do embroidery from gold wire.

We have frequent evidence for zardoz in our documents.Couplets from Budhhi Vilas highlight its importance

जरदोज कहूं सीवत वितान,
सिरपवान के वहू वस्त्र थान।[22]

"Somewhere zardoz is doing embroidery on costumes

There were varieties of fabrics in bayle for Siropao (dress of honour)"

Dastur Komwar gives the name of Hidayatullah zardoz who was given the prize (inam) of Rs 100/ by Himmat Ram[23], same document also records the name of Nizami zardoz, who got the prize of Rs 1.13 annas.[24]

Dastur Komwar document describe the caste of Darzi (tailors) with details. Jiwa darzi tailored the dress of Thakur Laxminarayanji on his birthday and was rewarded with white chira cloth worth Rs 7.8 anna.[25] Another document Jamakharach SilehKhana recorded the market wages of darzi (Ajuro darzi Bajar ka) 12 anna.[26]

Rafugar : Dastur Komwar gives the references about various other artisans who were involved in varied works in textile industry namely Rafugar (darner).One finds instance of darning of special dress in Dastur Komwar by Rafugar. Mention is made to khairu khan Sekha ka Rafugar.[27]

Role of Merchants : There is information from the Arzdasht that the businessman (vyopari) who came from the state of Amber to sell their cloths, should be safeguarded from any kind of inconvenience caused to them, because the people used to buy the textiles with the understanding that they were provided safe conduct by the royals to them.[28] Other information reveals that the cloth for Jai Singh Sawai used to be taken to Delhi by the vyoparis. The merchants were stranded for several days, due to some violent situation which occurred in the state, the trade could not function smoothly, therefore orders were given by Maharaja to Pancholi Bihari Das, to take the cloth from Delhi and send it to Shahipura with utmost care.[29] Document Ratangrah records the information about the cloth merchant Bajaj Ramrup dealt with the Zari Ghaghra made of fabric Awra tas with than 1 and size 4 gaz.[30] The Jaipur Arzdasht informs us about the method to transport lemon juice; it informs us that cart loads of Rooi (cotton) poured with juice of lemon which weighed 55 ser and tol

28. It was sent for imperial consumption mentioned as hazuri.[31] Another Arzdasht elucidates the amount of Neel used. 30 man (weight), of neel at the rate of Rs 25/per man was purchased by the neelgar vyopari of Sanganer and through the sale of neelRs 750 / were sent to Maharaja.[32]

Karkhanas were connected with the market through raw material supply and other works. In 1788 Chhapakhana documented the name of tehvildar Gulab Chand who arranged the hired workforce for printing workshop and he also provided the raw material to the artisans for printing. The different motifs printed in these cloths were according to the demand of aristocracy. The document records the name of artisans with their fathers.[33] Rangkhana also indicates that the raw materials for dyeing the cloth were brought by Nathu rangrez.[34] Nathu and other artisans were colouring the textile chhatri narma ki 1.25 taka was incurred on 2 than and 2 ser 1 posa ingredient brought from market in Rangkhana.[35] The word rangrez chakar (servant) and Karigar Chakar are also recorded in our document Rangkhana.[36] The mode of payment to these artisans in the royal karkhanas of Jaipur was closely undertook by Sumbul Halim khan, she clarify that the Jaipur state distributed reimbursement of salaries and cost of raw materials in the form of Hawalgi/ Dadani for an entire year.[37]

The study of patronage to artisans by the Jaipur state can be best studied by the karkhanajat papers preserved in Rajasthan State Archive, Bikaner. The best articles were produced in the Jaipur state karkhanas for presentation of Mughal emperors. The people like tehvildar, Darogha were operated to select the skilled artisans to Jaipur karkhanas. Names of several Mahajans and Bajaj were recorded who used to do the sale and purchase of textile and other material used in the manufacturing of the cloth. Sometimes money was handed over to the craftsman to purchase the raw material of the karkhana. Jaipur state employed several numbers of artisans after the foundation of the city, which improved the skills of artisans and afforded the opportunity to learn more about their profession. Karkhanas artisans were not limited for their skilled abilities because the talent were passed away by patronised artisan to normal craftsmen so these workshops also enriched the society with various abilities.[38] The sources also show that the markets were constructed by the state to maintain uniformity.

References

1. *Arhsatta Jamabandi Pargana Malarna,V.S. 1787/ A.D. 1730*
2. *Arhsatta Pargana Chatsu V.S. 1765/A.D.1708, V.S. 1767 / A.D.1710, V.S.1806 / A.D.1749. R.S.A.B.*
3. *Eugenia Vanina, Urban Crafts and Craftsmen in medieval India (Thirteenth-Eighteenth centuries), (New Delhi, Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd., 2004) see table 1 p 41.*
4. *Ain, Vol I, p 93*
5. *Pelsaert, Jahangir's India, The Remonstratie of Francois Pelsaert, Eds. W.H. Moreland and P. Geyl, (Cambridge, W. Heffer & Sons Ltd, 1925), p 60*
6. *Francoise Bernier, Travels in the Mogul Empire A.D. 1656 - 1668, tr. Vincent A. Smith (Bombay, Oxford University Press, 1916) p 259.*
7. *Bakhat Ram Shah, Buddhi Vilas, Eds., Padma Dhar Pathak, Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur, 1964, p. 14*
8. *B.L. Bhadani, Peasants, Artisans and Entrepreneurs, op.cit, p 361, see table 1.*
9. *E. Kuhnel and H. Goetz, Indian Book Painting from Jahangir's Album in the State Library in Berlin, (London, Kegan Paul, Trubner & Co, Ltd., 1926), Plate-l*
10. *Based on physical survey and interview of artisans taken, while my visit to Jaipur in search of material collection to the libraries and museums.*
11. *Jamakharach Rangkhana, Bundle No.1 (henceforth B. N.) V.S. 1755/ 1698 A.D. to V.S. 1793/1736A.D. Rajasthan State Archives Bikaner, (henceforth R.S.A.Bikaner).*
12. *Jamakharach Chhapakhana, B.N. 2, V.S. 1784/1727A.D. to V.S. 1786/ 1729A.D., R.S.A.Bikaner.*
13. *Jamakharach, Vastragrah, B.N. 2, V.S. 1799/1742A.D., R.S.A.Bikaner.*
14. *Jamakharach Ratangrah, B.N. 2, V.S.1798/1741 A.D. to V.S. 1799/ 1742 A.D., R.S.A., Bikaner.*
15. *Bakhatram, Budhi Vilas, Eds Padam Dhar Pathak, op.cit, p 18, see also Nand Kishore Parikh, Rajdarbar aur Raniwas, Rajasthan patrika, Jaipur 1984, p 205. R.S.A.B.*
16. *Roznama Rangkhana, Fagun Sudi 14, V.S. 1852/ AD 1795 f 2,3*
17. *Maulvi Zafarur Rahman, Farhang Istilahat-i-Peshwaran, 8 Vols (Delhi, Anjuman-i- Tarraqi-i-Urdu, 1944), Vol. II, p 49*
18. *Dastur Komwar, book no 23 (miscellaneous), book no 23, V.S. 1888/ AD 1831, p- 6*
19. *Jaipur Arzdasht, Rajasthani V.S. 1750 to 1761/ A.D. 1693 to 1704, Rajasthan State Archive, Bikaner, p. 36,order was given to dye Chira than 40, Rangeen Laharia va Bafta Than 2, send it for presentation and accordingly prepared material Chira than 18, Laharia etc had been*

send for presentation.

20. *Dastur Komwar, book no 23 (miscellaneous), opcit., V.S. 1821/AD 1764, p 659*
21. *Arhsatta Roznama Rangkhana, Bhadvasudi 3, V.S. 1831/AD 1774, f 8.*
22. *Budhi Vilas, op.cit p 18, see also Nand Kishore Parikh, Rajdarbar AurRniwas, Rajasthan Patrika, op.cit, p 205.R.S.A.B.*
23. *Dastur Komwar, (miscellaneous), book no 23, V.S. 1819/ AD 1762, page 736, R.S.A.B.*
24. *Ibid, page, 449.*
25. *Dastur Komwar, book no 23, op.cit, p 410, V.S.1824/ AD 1767, Miti AsojVadi 6, Bhadwa Budi Amawas V.S. 1823/A.D. 1766*
26. *Jamakharach Silehkhana, Bundle no 1, Miti Chaitra Sudi 10 V.S. 1771 Miti Bhadwa Sudi 2 V.S. 1772, f 784, R.S.A.B.*
27. *Dastur Komwar, book no 23 (miscellaneous), V.S. 1888/ AD 1831, p 292*
28. *Jaipur Arzdasht, Rajasthani, VS. 1687 to 1743, pp 153, 154.*
29. *Jaipur Arzdasht, Rajasthani, VS. 1762 to 1775, p 62.*
30. *Jamakharach Ratangrah, op.cit , f. 3093.*
31. *Jaipur Arzdasht, Rajasthan, V.S.1743 to 1749/ A.D.1649 to 1693, R.S.A.B, p 99;An information send by Ajit Das Manram to Maharaja Bishan Shingh on Magh Vadi 1 V.S. 1749/ 13 June A.D 1693.*
32. *Jaipur Arzdasht, Rajasthan, V.S. 1687 to 1743/ A.D. 1629 to 1649, R.S.A.B., p 7; Mohan Send an information to Mirza Raja Jai Singh on Shrawan Sudi 3, V.S. 1698 /30 July A.D 1641*
33. *Jamakharach Chhapakhana, op.cit., p 103*
34. *Jamakharach Rangkhana, op.cit.,, p. 279*
35. *Ibid, p. 324*
36. *Ibid, pp. 323- 324*
37. *Sumbul Halim Khan, Art and Craft Workshops under the Mughals - A Study of Jaipur karkhanas, Primus books, Delhi, 2015, p 106*
38. *Ibid.*

Revisiting Luigi Pio Tessitori

Prof. Shankar Goyal

Among the scholars, who dedicated their life to the scientific investigation and the rehabilitation of the old bardic literature of Rajasthan, Luigi Pio Tessitori, the Italian linguist, ranks at the top.[1] With sound grounding in Sanskrit and neo-Indian languages, he wrote his doctoral thesis on Valmiki's Ramayana and Tulsidasa's Ramacharita Manasa, which was judged by Grierson, the greatest among the Orientalists, as an example of method and research for all scholars of Prakrit tongues. His love for Rajasthan was so intense that he came to the land of his dreams on the invitation of the Asiatic Society of Bengal, and undertook the task of translating, commenting and publishing the medieval chronicles and the bardic poems of Rajasthan which until then no one among even the most famed Indologists-native as well as foreign-had been willing to take up. He lived in Rajasthan between 1914 and 1919, just only for five years, and in this short span of time he brought to light hundreds of manuscripts relating to Jodhpur, Bikaner and other parts of Rajasthan covering the period roughly from the twelfth to the eighteenth century. The manuscripts collected by him are extremely valuable for the reconstruction of the urban, agrarian and administrative history of Marwar. Tessitori adopted a more critical attitude towards their study. While Tod, Forbes and H.P. Sastri treated manuscripts as mines of information, Tessitori examined the form, age, authorship, attendability, etc. of the works. He showed more historical sense. The texts of some manuscripts and the catalogues prepared by him were published in five volumes by the Asiatic Society of Bengal in the Bibliotheca Indica series between 1915 and 1919. Actively associated with the Archaeological Survey of India, Tessitori explored nearly 100 sites, many situated in the dry bed of the Ghagghar, and noted their antiquarian remains. In addition, he collected nearly 950 inscriptions. His work involved an enormous amount of organizational activity in obtaining money and locating competent personnel for research in Rajasthan.[2]

In April 1914, Tessitori reached Jodhpur and began the work with

great enthusiasm. He made use of the rich collection of the Jodhpur Durbar and collected a number of manuscripts with the assistance of the bards or charanas who preserved the family trees and exploits of its eminent members. Soon after, for reasons which are not clear, the Durbar lost interest in this kind of work, and suddenly widhdrew its cooperation. The following year, on the request of the Maharaja of Bikaner, Tessitori reached Bikaner where he received adequate support not only from the Durbar but also from the Government of India. He conducted the historical and bardic survey which ushered in a new era in the cultural arena of the state. With the indefatigable labours of Tessitori, who believed in the dictum - 'art is not a pleasure trip but a battle, a mill that grinds'- the survey in Jodhpur-Bikaner during the years 1914-1919 proved a great success. Primarily, a linguist and a specialist in lexicographic and grammatic studies, his interest in the dialects of Rajasthan and the literature produced in it was obvious. On the basis of comparative study, based on philological and historical grounds, he abandoned the nomenclature 'Old Gujarati' and substituted for it the new name 'Old Western Rajasthani', being more appropriate, and a linguistic reality. He published a series of essays wherein he brought forth fresh arguments in support of his theory and demonstrated it with a wealth of linguistic material based on Rajasthani lexicon and morphology.[3] He was deeply inspired by the beauty and strength of the old Rajasthani language, both Dingala and Pingala and its various dialects. Consequently, he critically edited with texts and notes a few gems of the Rajasthani literature, viz., Vachanika Rathora Ratana Singhji ri Mahesadasota ri composed by Khiriya Jaga,[4] Veli Krishna Rukamani ri of Rathora Prithi Raja ki Kahi,[5] and Chanda Rao Jetsingh ro of Vithu Suja.[6] The short poem by Prithi Raja is one of the most perfect productions of the Dingala literature, a marvel of poetic ingenuity in which, like the Taj of Agra, elaborateness of detail is combined with simplicty of conception, and exquisiteness of feeling is glorified in immaculateness of form.

Tessitori had an over-ambitious but well-planned scheme for the bardic and historical survey of the six principal states of Rajputana-Jodhpur, Bikaner, Udaipur, Bundi (including Kota), Jaipur and Jaisalmer. He defined the aim of his work "to explore as completely as possible in search for manuscripts, inscriptions and other antiquities, compile a descriptive catalogue of the most important bardic and historical manuscripts

discovered and publish some of the most interesting bardic poems." He also agreed to prepare for the archaeological department lists of the monuments in Rajputana, and to search for Sanskrit manuscripts, Rajput paintings and other antiquities. As mentioned, he took up the work in Jodhpur and Bikaner areas during 1915-19 and published the Progress Reports of his work in the Journal of the Asiatic Society of Bengal.[7] He also brought out the Descriptive Catalogue of Bardic and Historical Manuscripts from Jodhpur[8] and Bikaner states.[9] Undoubtedly, Rajputana found in him the most significant champion for the cause of Rajasthani language and he will definitely continue to have a honour for the great work done by him in the exposition of the literary heritage of Rajasthan.

In the scheme of his survey, antiquity played an important part and Tessitori did not slacken his pace, from town to town, from village to village, in collecting the estampages of the epigraphs, inscribed memorial pillars (goverdhans and kirtistambhas), sculptures, terracottas, coins, portable antiquities and also in discovering archaeological sites. He speaks in glowing terms of the rapid speed with which his camel carried him from village to village. As he says, "By the rapidity of my camel marches I have established a record which no archaeological explorer will ever be able to beat."[10] Possibly, the similarities between the rural life of India and that of Italy enabled him to adjust to situations in India. But, in any case, he performed the arduous task of working in the countryside of Rajasthan at a time when neither electricity nor any other modern amenity existed. In this task he received support from John Marshall. All in all, he explored as many as eighty-five places, including Rangmahal,[11] and many ancient mounds or theris located along the dry bed of the Ghagghar. His finds included coins, beads, figurines, pot-sherds and so on.[12] He was of the view that the Buddhist relics found in this area belonged to the period of the Gandhara school.[13] It was Tessitori who noticed for the first time, the protohistoric potentiality of northern Rajasthan from Bikaner-Ganganagar regions[14] which subsequently made possible to discover the third metropolitan town of the Indus Valley Civilization at Kalibangan. He salvaged the Gupta terracottas from the mounds of Rangmahal, Badopal, Pir Sultan and Munda which now adorn the Government Museum at Bikaner. He also discovered many religious shrines, and his comments on some discoveries show how prevailing believes determined the nature of

architecture. The two colossal marble images of Sarasvati, the Indian goddess of learning, discoverd by him from Pallu (Ganganagar) have rightly been called 'the greatest masterpieces of the medieval Indian art'. They are now on display in the National Museum, New Delhi, and the Government Museum, Bikaner, respectively. To Tessitori also goes the credit of bringing to light the inscribed funeral lithic monument tablets scattered in the form of goverdhan pillars, kirtistambhas, devalis and sati tablets from the numerous unknown sites in Bikaner-Jodhpur regions. He deciphered and published the text of the epigraphs incised on these memorials and evaluated the historical value of their contents, which appeared in the Journal of the Asiatic Society of Bengal.[15] He discoverd a forged copper plate inscription of a brahmin dated Samvat 1445.[16] This reminds us of similar land grants forged by greedy brahmins in other parts of the country. In course of five years Tessitori not only collected hundreds of manuscripts in Rajasthani but also 941 inscriptions.[17] Some of the earliest inscriptions collected and deciphered by him belong to the Chauhans of the twelfth century. These inscriptions not only indicate feudal elements in polity but also shed light on trade and handicrafts. Apparently, so many problems, such as those related to feudalism, chivalry, place of woman in the feudal and patriarchal set-up, and the nature of kin-ordered institutions can be studied on the basis of manuscripts and inscriptions collected, classified, edited and studied by Luigi Tessitori. But to the best of our knowledge these sources have not so far been utilized for this purpose on any scale.

While Tessitori was about to reap the fruit of his research and fulfil the goal of his ambitions, his life was cut short and he passed away at the young age of 32 years only on 22 November 1919 at Bikaner, the land which he had fancied as a boy and to which he had devoted his entire youth. But his rich collection became the nucleus of the archaeological gallery of the Government Museum at Bikaner.

References

1. *Luigi Pio Tessitori was born in Odiene in Italy in 1887. He died in 1919 in Bikaner, India. On him, also see Parampara, Vol. 28-29, 1969; Dr. Satya Prakash Felicitation Volume, ed. V.S. Srivastava, New Delhi, 1981, pp. 31-33; G.S.L. Devra, Rajasthan Itihas ke Abhigyan Rupa, Jaipur, 2010, Chs. 1, 9.*

2. *All this information is available in L.P. Tessitori's Progress Reports on the Bardic and Historical Survey of Rajputana published in the Journal of the Asiatic Society of Bengal, New Series (hereafter JASB, NS), 1914-20.*
3. *The notable articles published by him include, 'On the Origin of the Dative and Genitive Post-Positions in Gujarati and Marwari' (Journal of the Royal Asiatic Society, July 1913, pp. 553-67), 'Notes on the Grammar of the Old Western Rajasthani with Special Reference to Apabhramsa and to Gujarati and Marwari' (Indian Antiquary, Vol. XLIII-XLIV, 1914-16, pp. 1-106), 'Old Gujarati and Old Western Rajasthani' (Proceedings of the Fifth Gujarati Sahitya Parishad, May 1915, pp. 1-7), etc.*
4. *Bibliotheca Indica , 1917, pp. 1-139.*
5. *Ibid., 1919, pp. 1-143. This king, Prithi Raja, however, should not be confused with the famous king who fought Muhammad Ghori.*
6. *Ibid., 1920, pp. 1-113.*
7. *JASB, NS, Vol. X, 1914, pp. 313-419; Vol. XII, 1916, pp. 57-116; Vol. XIII, 1917, pp. 195-252 and Vol. XV, 1919, pp. 5-79.*
8. *Bibliotheca Indica, 1917, pp. 1-69 for prose chronicles.*
9. *Ibid., 1918, pp. 1-94 for prose chronicles and pp. 1-87 for bardic poetry.*
10. *JASB, NS, Vol. XV (1919), p. 7.*
11. *JASB, NS, Vol. XV (1919), p. 9; NS, Vol. XVI (1920), pp. 254-55.*
12. *JASB, NS, Vol. XVI (1920), p. 255.*
13. *JASB, NS, Vol. XV (1919), p. 10.*
14. *AR, ASI, 1917-18, Part I, 1920, pp. 21, 37 and 1918-19, Part I, 1921, p. 22.*
15. *JASB, NS, Vol. XII, 1916 (for Jodhpur) and Vol. XIII, 1917 (for Bikaner).*
16. *JASB, NS, Vol. XV (1919), p. 12.*
17. *This can be said on the basis of JASB, NS, Vol. XII (1916), p. 60; NS, Vol. XIII (1917), pp. 199-202; NS, Vol. XV (1919), p. 12; NS, Vol. XVI (1920), p. 255.*

Season Songs - The Barahmasa as an Expression of Female Eros and Desire

Dr. Jagriti Upadhyaya

The Barahmasa is a composite of season songs of the twelve months, baraha meaning twelve and masa meaning months; being representative of the seasons associated with these months they therefore resonate with everyday life as affected by the changes in the seasons. One aspect of the barahmasa, treated separately is the 'chaumasa- the four months of the rainy season or the monsoons in India, which rejuvenates nature and the parched earth after a long searing summer and is symbolic of the effect of the rains on lovers, separated, and pining for a physical union. T. N Madan in his foreword to Charlotte Vaudeville's book Barahmasa in Indian Literature- Songs of the Twelve Months in Indo- Aryan Literatures, aptly highlights," These songs are a well-known and well-beloved component of folk culture all over north India, from Bengal in the east, to Gujarat in the west. They are simple rustic songs describing the cycle and moods of the seasons, but doing so in terms of deep personal feelings, whether these be associated with food and drinks, the agricultural cycle, the observance of religious festivals, or the experience of the agonized longing of the wife for union with her lover-husband." (Vaudeville, v).

The genre ofBarahmasa (song of twelve months) is a tradition of poetry writing that intersects the socio-cultural fabric and religious traditions of North India, ancient and modern. Charlotte Vaudeville highlights the fact that all the collections of folk-songs written in the different vernaculars of North India include a comparatively large number of season songs and nearly all of them belong to the genre of the 'Viraha-Barahamasa', viraha meaning the pain of separationendured by a young wife pining for the long -awaited return of her husband away from her. Nature and its symbols are widely used as tropes and are an inherent part of the woman's sorrow. Vaudeville underscores," Such songs are essentially women's songs and must have been composed by village women. In their songs, the four

months of the rainy season are given more importance than the other months of the year: the season of love and intimacy par excellence being also the most painful trial for the loving wife separated from her mate."(Vaudeville, x)

The songs are about desire and the impossibility of capturing that desire, of holding desire, of fulfilling and so ending it. The young woman desires the 'good minute' - the tantalizing trope of fulfilment and tries to capture its elusive nature through symbols in nature. These songs explore the trope of romantic love- 'the loss of identity in merging with the other, while discerning their meanings in language that typifies the flux of life, the passage of time and the temporality of sexual love. Arnold Bennett quoting Sigmund Freud's statement 'what does a woman want'? furthers Freud's argument that, 'there is something in the very nature of sexual life which denies us full satisfaction' and posits the post- Freudian theory of desire in the terms of the famous French psychoanalyst, Jacques Lacan. States Bennett, "His particular concern is with what he terms the 'paradoxical, deviant, erratic, even scandalous character' of desire.'(Bennett, 181). Although both Freud and Lacan referred to the male homosexual desire, the same can be applied to the expression of the female Eros because the female as the 'inferior other' is always expected to be a passive recipient of the male desire and a blatant and candid vocalization of her sexual desire, albeit in couched or euphemistic language, is still tantamount to a social taboo. Throughout the history of Western culture the female body and its desires have been controlled and regulated by cultural norms and 'sexual passivity and a charmingly liable and capricious emotionality' as put forth by Susan Bordo characterized the idealized nineteenth -century lady.(Leitch et al, 2100). As Susan Bordo in 'Unbearable Weight : Feminism, Western Culture, and the Body avers," Our conscious politics, social commitments, striving for change may be undermined and betrayed by the life of our bodies- not the craving, instinctual body imagined by Plato, Augustine, and Freud, but what Foucault calls the ' docile body', regulated by the norms of cultural life."(Leitch et al, 2097).

Helene Cixous, a name to contend with in feminist psychoanalysis in her essay 'The Laugh of the Medusa' underscores how female sexuality has been kept in the 'dark' and argues," I have been amazed more than once by a description a woman gave me of a world all her own which she

had been secretly haunting since early childhood. A world of searching, the elaboration of a knowledge, on the basis of a systematic experimentation with the bodily functions, a passionate and precise interrogation of her erotogeneity."(Gilbert.S et al, 415).

Simone de Beauvoir in her path-breaking book 'The Second Sex' differentiates between the pleasures that a man derives from physical intimacy to that from a woman. She expostulates, "Man's 'anatomical destiny' is profoundly different from woman's. Their moral and social situations are no less different. Patriarchal civilisation condemned women to chastity: the right of man to relieve his sexual desires is more or less openly recognized, whereas woman is confined within marriage: for her the act of the flesh, if not sanctified by the code, by a sacrament, is a fault, a fall, a defeat, a weakness." (Beauvoir, 397).

Eve Kosofsky Sedgwick, a name to contend with in feminist studies, traces how narratives in Western societies structure desire. Bennett states," Developing the idea first proposed by the French structuralist anthropologist Claude Levi- Strauss, that in many societies women tend to be tokens of exchange, Sedgewick argues that women are effaced in this triangular structure, (referring here to the male homosocial desire as rivals, colleagues, friends, or associates) as mere objects of barter. At some level then patriarchal society excludes women even from relations of desire."(Bennett, 185). Quite contrary to these notions Susie Tharu and K. Lalita in 'Women Writing in India' have traced the narratives of Indian women who have with candour and an unprecedented sexual freedom given vent to their carnal desires, a classic example being 'Radhika'sSantwanam'(the sexual appeasement of Radha)by the eighteenth century Telegu poetess Muddupalani.So the barahamasa songs become a dialectical mode of expression of female erotica.

Pramila.K. Srivastava in her article 'Separation and Longing in ViraháBarahmasa' in The Delhi University Journal of the Humanities and the Social Sciences (3: 43-56.) contends,"It is true thatBarahmasa literature has always been a noteworthy resident in Indo-Aryan literatures. ViraháBarahmasa, (poems/song of twelve months of longing) which, revolves around the theme of painful separation of the beloved from her lover is at the centre of the evergrowing repertoire of Barahmasa literature. With the critical positioning of 'feminine longing' at the center, the poetic

form has been primarily written by male poets capturing the agonies and pangs of separation of women. On the same register, `Religious` Barahmasas, popular from the medieval Indian times, have symbolised the acute pangs of the human soul for divine spiritual love, and have been extensively used by the Indian Sufis and Sants. The persistent motif is the separation and the longing of the human soul for God." (Srivastava, 43.)

While classical Sanskrit texts abound in 'sad-rituvarnana'- descriptions of the six seasons inherent to India, there are hardly any accounts of Barahmasas in Sanskrit. The great majority of barahmasas are simple village songs celebrating the ever-changing cycles of the seasons and their effects on men, and are a part of the vast floating repertoireof folk- songs in myriads of vernaculars. Some barahmasas were also used as a means of religious propaganda and as a lyrical expression of the devotee longing for the love and benediction of his deity. While most of the village songs are conjectured to be modern in language and form an important group of older barahmasashave been traced by Vaudeville in three languages- Old Marvari- Gujarati, also known as Maru-gurjara, which Tessitori calls 'Old Western Rajasthani and the Jain writers 'Old Gujarati, old Bangali and Classical Avadhi, the latter being a literary dialect spoken in the province of Oudh (Ayodhya). D.Zbavitel,made a pioneering attempt in separating out the Bengali baromasisin his work 'The development of the baromasi in the Bengali Literature.'

With the critical positioning of 'feminine longing' and sexual desire at the center, the poetic form of the ViraháBarahmasas has been paradoxically written by male poets capturing the agonies and pangs of separation of women from their paramours or spouses. Following the same trajectory `ReligiousBarahmasas', popular with the 'bhakti poetry' of the medieval Indian times, have symbolised the acute pangs of the human soul for divine spiritual love, and have been extensively used as tropes of the union of the soul with the Almighty by the Indian Sufis and Sants. The persistent motif in these religious songs is the separation and the longing of the human soul for God.

Tracing its etymology of the barahmasaPremKumari Srivastava explains thus,"The female voice, her pining for and loyalty to her absent lover and the calendrical cycle are the core elements of a matrix that poets

from a wide variety of cultural backgrounds took up and modulated according to their specific taste and inclination. Inbarahmasa, the woman called Virahini (literally a woman bitten by the pangs of separation: Viraha) pines for her absent lover or husband and describes her pitiful state, month after month, against the backdrop of seasonal changes and associated ritual events. Sensitivity to nature and its changing moods go back to the very beginnings of Indian Literature, theRigveda. Even the TaittiriyaSamhita has names for the twelve months beginning with the two months of the spring season: Madhu, Madhava, Shukra, Shuchi, Nabha, Nabhasya, Isha, Urja, Saha, Sahasya, Tapa, and Tapasya that are now all but forgotten, even lost.(Srivastava, 44)

Francesca Orsini uses the term 'abandoned' for the pining woman, but in the Indian context it has to be understood a little differently and a lot more contextually. She argues," It is true that often, Indian men, in search of livelihood or otherwise or as soldiers in battle, would travel to distant lands leaving behind the women and family. As an example, even todaymany nomadic tribes travel with their cattleand sheep in search of suitable grazing grounds returning home after months away from their womenfolk and families". (Orsini, 121-142).

Today, 'barahmasas' are perceived as both, a kind of folk song as well as a religious song of separation of the spirit and the soul (as in the religion of Saints), but a significant literary tradition attests to the attractiveness of this template for poets in all the literary languages of North India for centuries.

Barahmasas are found at the beginning of literary writing in several neo-Indo Aryan languages and the genre is characterised by remarkable ubiquity and flexibility.Orsini calls it an 'Intermediary genre' that falls in between the high literary tradition of Hindi, riti poetry in BrajBhasha, and the high literary tradition of Urdu, centred mainly on the ghazal. As such, barahmasasrepresent a kind of 'open' or 'dialogic' genre. Whatever their specific motivations, there was enough awareness of its multiple literary and folk usage. Viraha-Barahmasa in Hindi are mostly separation songs. J.S. Hawley in his essay 'Yoga and Viyoga' draws attention to the terms used for women pining for love-virahini and viyogini. He mentions viraha as 'yearning' and '[scorched with] separation'- meaning thereby the

experience of separation and the pining associated with it and viyog as the fact of separation itself. Written for several purposes, majorly underscoring the ShringarRas or the pleasure of the erotic, the barahmasasexpress the pathos and pangs of the beloved. They commence variously from different months mainly the monsoon months from Ashad, from Savan and the like. Most importantly, though they strike a poignant note of sorrow at the beginning, most of them end on a note of happiness upon the return of the husband/beloved and the desired union of husband and wife.

B. N. Goswamy in 'Seasons of Longing' is of the following opinion,"At the centre in all narratives of Barahmasa, are the following three characteristics: the woman's voice; the pain of separation from the beloved (viraha); and the catalogue of nature symbolism and images pertaining to the seasons. Most of the barahmasaswere in the feminine voice of a woman pining for her absent beloved. It is true to say, however, that the 'feminine voice' was not a stable signified. It could be pathetic, when the voice returned relentlessly to the heroine's mental and bodily suffering; could be sensuous, when the lament drew attention to the woman's 'wasted youth' or when it became an excuse to evoke the pleasures that the seasonal festivals offered to the women whose husbands were not away; and finally, it could evoke a homely world of seasonal tasks, consultations about omens with religious specialists and the nice things to be had and enjoyed at different times of the year. The theme of the 'six seasons' (sadritu) or four months (Caumasa) was a great favourite and indeed a set-piece for many aspiring poets. Interestingly, poetry about the seasons is also found in Sanskrit medical texts." (Goswamy,)

The description of the seasons' (rituvarnana) was rich in metaphoric connections and expressed time as a cycle, constantly on the fulcrum between memory and expectation'. That 'six seasons' and 'twelve months' were perceived as separate set pieces expressing different moods is well brought out by the sixteenth-century Sufi poet Malik Muhammad Jayasi in his 'Padmavat'.

As Srivastava explains,'As a necessary excursus, it would be pertinent to bring forth Orsini's argument that Barahmasas were perhaps the first substantial genre in the boom in commercial publishing in north India. The context almost always is that of the impending departure of the

lover for some distant land, and the beloved, the heroine (nayika), pleads with him not to leave that month, for are not the lovely sights and sounds of the month things they should share, in togetherness? But, assuming for a moment, that the lover does agree, and does not leave, much the same happens the next month, for nature reveals more, or different, beauties, and the beloved takes the same plea again." (Srivastava, 48)

Commenting upon the ubiquitous status of these season songs Goswamy quotes, "The popularity in print of this kind of barahmasas shows that a genre which had known until then a multiple and layered history in women's songs, courtly poetic exercises, experiments by Perso-Urdu literati and urban popular poets, acquired a new function of entertainment for the Hindi-Urdu reading public, to which it offered an attractive image of a woman who was flatteringly dependent on men for her fulfillment. Whether it was the birahini (the separated wife) drawing attention to her youthful body or the beautiful suhagins (the Married woman) who enjoy sexual pleasures in harmony with the seasons, the message was a simple one: a happy woman is not just a married woman (for thebirahini is also married after all) but, also a wanted one! After months of complaints and lamentations addressed to the husband who deserted her and sent no news of himself nor asked any other, the heroine is usually overjoyed to welcome him again at the end of the poem, her position as asuhagin and her sensual appearance immediately reinstated - with no admonitory lesson for the male audience."(Goswamy,).

In the Nalha : Bisaldev 'Ras' in the 'RajimatiBarahmasa' the young wife, feels she is bereft of her moorings in the absence of her husband and the love-lorn wife complains to her sakhi or bosom friend about her pangs of separation that she is almost blind because of the incessant copious tears she has shed waiting for her beloved, she has lost her appetite and spends many a sleepless nights tossing and turning. Her body has become skeletal, and her emaciated body is buffeted and shaken by the gale of her youth. The Rasmanifests thus:

'He went away, the knight-errant, in the month of Kartik,
he left his palace, beautiful as a Kailas,
he left his splendid terrace,
and I, standing on the road, have lost my eyes weeping,

Hunger and thirst have left me:
Tell me my friend, how could I get sleep again? (Vaudeville, 56).

Vaudeville states that generally the viraha- barahmasa should begin with the departure of the husband in the month of Karttika, the dry season after a spell of rains, favourable for tradesmen and warriors to go on their expeditions. This she states is true of Rajimati'sbarahmasa included in the Bisaldev-ras.

In a similar vein the other months of Paush, देषिसषीहिवलागउछइपोस।' don't blame me, the dying wife; my body has turned a skeleton, धणमरतीय कोमतदीयउदोस।दुषिदाधीपंजरहुई। (60).

Phalgun and Baisakh bring forth the young wife's anguish and sexual torment expressed in phrases like- 'my soul trembles, hunger and sleep have left me;while the hot month of Jeth brings forth the following complain-' withered is my face and my lips are parched dry, the young wife 's feet cannot touch the ground;In such a brazier, the young wife is burning (with sexual longings).(58)

The month of Magh becomes a metaphor for an unabashed expression of her sexual desire and her unfulfilled physical longings.

माहमासइसीय पड़इठंठार।
दाधाछइबनषंड कीधाहोछार।
आपदहंतीजगदह्यउ।
म्हाकीचोलीय माहिथीदाधउ छइगात्र।
धणीय बिहूणी धणताकिजह।
तंतउउवइगउरेआविज्योकरहपलाणि।। (61)

In the month of Magh, so biting is the frost
that all the trees in the forest are burnt to cinders-
I too am burning, and the whole world with me!
Under my bodice, my body is afire:
see the distress of your wife away from her husband
And hasten to come back spurring your camel!" (57)
"In the month of Magh, so intense is the cold
That all the trees in the forest are burnt

I too am on fire (of desire) and the world along with me,

My body underneath my bodice is burning

O husband! Look to your wife separated from you

O hurry up and hasten to her spurring your camel' (My translation)

The month of Shravan, Ashadh, and Bhadrapadwhen the monsoon rains are showering their benedictions on the parched earth, the Ras compares the dark clouds as crazy in love and galloping like 'Mast' elephants to meet and embrace the earth, ('mast' representing the sexual frenzy of the elephants during their mating season), the cry of the birds like thePapiha calling Piu! Piu! To its mate (Piu being a synonym for husband) and the celebration of the 'KajaliTeej' by the married women bring home the anguish of separation to the 'birahini' chiding her absent husband as 'a fool' who does not spur home.

The bhakti poets in India in the medieval ages composed in the regional and vernacular languages and addressed their lyrics and songs in the languages the peoples spoke. Susie Tharu and K. Lalita in the Introduction of their edited book- Women Writing in India Volume I enumerate, "The women poets of the bhakti movement did not have to seek the institutionalized spaces religion provided to express themselves, and women's poetry movedfrom the court and the temple to the open spaces of the field, the workplace and the common woman's hearth.' (Tharu et al, 2009). When Mirabai sings the Barahamasa it is her passionate devotion to her Lord Krishna that is expressed in 'Mirabai :Padavali where she implores Krishna to grant her 'darshan' (make himself visible to her). पियामोहिंदरसणदीजै, हो।

बेरबेरमैंटेरहुंअहेक्रिपाकीजै, हो।। Referring to the rains, she uses the tropes of rain clouds and birds andcompares herself to a thirsty bird in anguish, जेठमहीनेजलविणांपंछीदुख होई, हो।

मोरआसाढ़ाँ कुरलहे, घनचात्रग सोइ particularly to the peacock and the' Chatak', and the dark rain clouds to her dark Lord Krishna; in Kartik, the month of specific 'puja' or worship, she begs him to be there as the 'God' to whom she offers her 'puja'; during the cold months of 'Paush' and 'Magh' she asks for his protectionex सरठंणबहोतीपडै, मोहिवेगिसम्हालो, हो।

पोसमहींपाला घणा, अबहितुमन्हालो, हो। (55)

and in the month of 'Chaitra' i.e. the season of Spring, desire sprouts in her bosom and she exhorts Krishna to grant her his vision of Himself; चैतचित्तमेंऊपजी, दरसणतुमदीजैहो।

in the month of 'Baisakh', when the flowering trees and shrubs are all lush with flowers and the 'koel' bird calls in her melodious voice, Mira complains of her loneliness and desires Krishna to appear before her. बैसाख वणराइफूलवै, कोइलकुरलीजै, हो।

कागउडावतदिनगया, बूझूँ पिंडतजौसी, हो।

मीराँ विरहिणिव्याकुली, दरसण कब होसी, हो।।(55)

Susie Tharu and K. Lalita in their work contend, "Though she (Mirabai) is a rebel, once she chooses the divine Krishna for a lover, her spiritual idiom becomes that of a chaste and dutiful wife who observes in minute detail her household tasks."(Tharu et al, 61).

Charlotte Vaudeville differentiates between the virahabarahmasa with the 'chaumasa' referring to the rainy months of Ashasdhand Shravan in the Hindu calendar and stresses the fact that' there is no example of a caumasa which is not a viraha-caumasa'(28). States Vaudeville, "This is an essentially lyrical type in the pathetic or elegiac mode, in which the description of the rainy season is always combined with the virahini's laments."(Vaudeville, 28).

W.G Archer finding the similarity of themes in both primitive type of women's folk -songs and those of the high - caste women stresses this constant association of rain with viraha: "The theme of the cycle is sexual frustration, a theme which almost all folk-poetry in India connects with the rains."(Archer, 232).In thecaumasa the comparison of the husband to the beneficent rain clouds is a recurring liet-motif, who would shower his bliss (here his seed) onto the beloved, thereby making her fertile and ensuring the crop for future.

The Barahmasa found inmathanavis in Avadhi are noteworthy for their greater degree of development and also their flamboyant style and mystical exaltation.Malik Muhammad Jayasi's'Padmavat' also finds the virahabarahmasa as part of his famous corpus. Its female protagonist is Nagamati and her anguished separation, hervirahalike those of other women is described as a devouring fire, kindled in the heart of the virahini, coursing

through her body with a deafening roar, which spreads to the whole universe and threatens to reduce it to cinders,(stanza 355)

"Virah, as Hanuman, rises with a roar-

बिरहगाजिहनिवंतहोइजागा ।लंकाडाहकरैतनलागा ।

चारिहुँ पवनझँकोरैआगी ।लंकाडाहिपलंकालागी । (79)

He sets my whole body on fire like another Lanka!"(Vaudeville,39).

The 'Padmavat' enumerates the sad complaints of Nagamati, the neglected wife of Ratansen. 'Nagamati addresses her absent husband:

"Ashadh has come, clouds rumble in the sky,

Virah gathers his troops and beats the war- drum:

चढ़ा असाढ़ गँगन घनगाजा ।साजाबिरहदुंददलबाजा ।

धूमस्याम धौरे घन धाए ।सेत धुजाबगुपाँति देखाए । (Vaudeville, 75)

Then the wife complains that the 'Ardra' constellation has appeared in the sky- the earth receives the seed in its furrows but 'to me, a wife separated from her husband, who will do the same honour? अद्रालागबीजभुइँ लेई । मोहि पिय बिनुकोआदरदेई ।

Dark clouds ready to drench the earth rumble in all directions; She is chafing in the powers of 'Madan' (Cupid- the God of love) ओनै घटाआईचहुँ फेरी ।कंतउबारु मदनहौं घेरी । (Vaudeville,75)

and complains,

"Blessed indeed are the women whose husbands are home,

They have honour and pride-

But woeful me, my beloved is away,

And I have forgotton all joy."(My translation)

The pathetic lament continues as the seasons advance:

भरभादौंदूभरअतिभारी ।कैसेंभरौंरैनिअँधियारी ।

मँदिलसून पिय अनतैबसा ।सेजनागभै धै धैडसा ।

रहौंअकेलिगहें एक पाटी ।नैनपसारिमरौंहिय फाटी ।

चमकिबीज घनगरजितरासा ।बिरहकालहोइजीउगरासा ।

बरिसैमघाझँकोरिझँकोरी ।मोरदुइनैनचुवहिंजसिओरी ।

चकईनिसिबिछुरैंदिनमिला ।हौंनिसिबासरबिरहकोकिला ।

रैनिअकेलिसाथनहिं सखी ।कैसेंजिऔंविछोहीपँखी ।

बिरहसैचानभँवैतनचाड़ा ।जीयत खाइमुएँ नहिंछाँड़ा । (Vaudeville,75.76)

"The laden month of Bhadrapadahangs heavy on me

How do I fill in or bear these dark nights?

My house is desolate and empty, my husband is elsewhere,

My bed, like a serpent, strikes me again and again,

I remain here all alone, like one segregated

My eyes, wide- open,(looking out for my beloved), my heart bursting,

Lightning flashes, the thunder roars and torments me,

Virah, Death-like, has taken charge of my very soul!

The clouds pour down torrentially, while my two eyes pour tears like the rain falling down the roof." (My translation).

In the month of Magh,Nagamati sings forth pitifully that frost has covered everything; virah, in the bitter cold is as frightening as Death itself; wrapped in layers of clothing her body shivers uncontrollably; she exhorts her husband to come and envelop her in his warm embrace like the Sun and protect her from the cold. She highlights the pleasures that blooms in this month and implores him to come to her yearning young body, blossoming like a flower, alight on her and drink of her nectar as the bumble-bee does- ',fgeklmitSjlewywArw¡ lksHk¡ojeksjtkscuQwywA'

And continues:

नैनचुवहिंजसमाँहुटनीरू ।तेहिजलआगिलागसरचीरू ।

टूटहिबुंदपरहिजसओला ।बिरहपवनहोईमारैंझोला ।

केहिकसिंगारकोपहिरपटोरा ।गियँ नहिंहाररहीहोईडोरा ।

तुम्हबिनु कंता धनिहरुइतनतिनुबरभाडोल ।

तेहिपरबिरहजराईकैचरैउड़ावाझोल । (77).

"My eyes rain tears just like the 'Mamhuta' clouds, (It refers to the light clouds that bring squalls and hail storms in parts of Northern India)

Yet this rain sets my clothes burning like darts of fire,

My tears roll down hard as hail stones, Viraha like a strong gale buffets me,

How can I bear to adorn myself, No necklace stays on my neck, I am as thin as a thread;

O! My beloved! without you, your young wife has wasted away,

Her body flutters like a blade of grass that viraha has scorched and wants to blow it away."(My translation).

Another type of folk song that can be compared to the barahmasa is the 'Phagu' or 'Basant' commonly known as the season of Spring. It is connected to the celebration of the Hindu festival of Holi, where people play with each other with colours. Vaudeville underscores the sole theme of 'Phagu' as that of erotic love- of 'viyoga' and 'samyoga'- separation and union of lovers. Tracing the difference between the two, Vaudeville argues that while both the viraha- barahmasa andphagu are linked to village traditions and both are associated with the description of nature and associated amorous feelings, the phagu is not purely a lyrical genre since the 'play-acting' element- the amorous sport of Krishna and Radha, his paramour and the 'gopis'(the milkmaids) of Vrandavana. Vaudeville comments," The description of spring, with its accompanying gaiety, carnival and joie-de- vivre, forms a changing framework, a succession of backgrounds for the two main characters, whose beauty and adornments are describes at length."(Vaudeville, 22). The virahathenis simply a phase, a necessary prelude, in the development of the dramatic action which culminates in the joyous union of the lovers.

Note: All texts of the Barahmasas in the vernacularsincluding Mirabai : Padavali- Barahmasa, Nalha :Bisaldev - Ras- RajimatiBarahmasaand Muhammad Jayasi : NagamatiBaharmasa referred to here, have been sourced from Charlotte Vaudeville'sBarahmasa in Indian Literature- Songs of the Twelve Months in Indo- Aryan Literatures.

References:

1. *Archer, W.G - Seasonal Songs of the Patna District, Man in India, Vol, XXII, 1942. Print.*
2. *Beauvoir, Simone de- The Second Sex, translated by Constance Borde and Sheila Malovany- Chevallier, Vintage Books, London, 2011. Print.*
3. *Bennett, Arnold and Nicholas Royle- An Introduction to Literature, Criticism and Theory,Pearson Education, New Delhi, 2013, Print.*

4. *Goswamy,B.N.-"Seasons of Longing" Sunday, December 7, 2003 Spectrum, The Tribune. Accessed on 11 01 2011 http:// www.tribuneindia.com/2003/20031207/spectrum/art.htm. 4*
5. *Hawley, J.S- Yoga and Viyoga: Simple Religion in Hinduism- 'The Harvard Theological Review, Vol. 74, No. 1 (Jan., 1981) p. 1-20*
6. *Leitch, Vincent B et al.- (Ed.)The Norton Anthology of Theory and Criticism, W. W Norton and Company, New York, 2018. Print.*
7. *Orsini,Francesca- (Ed.) Before the Divide: Hindi and Urdu Literary Culture. Orient Blackswan, New Delhi 2010. Print.*
8. *Srivastava, P.K.-Separation and Longing in Viraha Barahmasa-The Delhi University Journal of the Humanities and the Social Sciences Vol. 3, 2016.p 43-56.*
9. *Tharu, Susie and K. Lalita- Women Writing in India Volume I, 600 BC to the Early Twentieth Century, Oxford University Press, New Delhi, 2009. Print.*
10. *Vaudeville, Charlotte- Barahmasa in Indian Literature- Songs of the Twelve Months in Indo- Aryan Literatures, Motilal Banarasidass, Delhi, 1986. Print.*

Issue of Legitimacy in the Amber State : A study of the Roznamcha Paturkhana

Kavita Kumari

Patur was a prime and broad category of dancing girls in Rajasthan. In the Rajasthani aristocratic household, there were group of dancers and singers, who were generally called paturs/bhagtans/kanchanis.[1] Paturs appointed for the palace or royal household were called rajlok paturs, who enjoyed the higher position among the paturs and were closest to the durbar. When any patur, received king's favour, they were upgraded in the hierarchy within the janani dyodhi. Thus, rajlok paturs were often upgraded to khawas (who held lowest rank among the 'co-wives')[2], pardayat (those were taken within the veil by the king)[3] and paswan ('close to' or 'intimate' with the ruler)[4]. Once they upgraded to these categories, it appears that the epithet 'patur' ceased to be added along with their name. They appear to have no longer associated as 'patur' in the records and these categories then emerge independent and distract from paturs in general. Dastur Komvar clearly differentiates between the rajlok patur and khawas, pardayat and paswan. Till now, Jaipur records do not throw ample light on the hierarchy of 'co-wives'. Our sources highlight khawas as lower within the hierarchy of 'co-wives'. But who is higher within the hierarchy either paradayat or paswan is not very clear.

Sources do not present a hierarchical upgradation of 'co-wives' within the janani dyodhi. Although, it is clear that paturs of Jaipur state enjoyed their status as khawas or pardayat or paswan. Priyanka Khanna in her study presents the hierarchical status of 'co-wives' of royal household of Marwar as khawas (lower in the rank of 'co-wives'), pardayat (who was taken within the veil and next to the khawas) and paswan (who held higher rank among the 'co-wives').[5] Ramya Sreenivasan has also exercised on co-wives of Rajput household. She ranked them within the hierarchy of 'co-wives' as khawas, paswan and pardayat. She stated that pardayats were permitted to wear the veil like their superiors; the Rajput queens.[6] Hence, she placed them higher within the hierarchy of 'co-wives'.

 ISSN 2321-1288

The present paper discusses the position of children born out of the conjugal union of the Raja and khawas. It throws an interesting light on the issue of legitimacy of their children. In the present paper a comparison of the birth ceremonies of Roop Ras khawas' son with that of the sons of queens is done to construct similarities and points of differences between them. However, though more data is required to find out the hierarchy, sources do indicate that all the three could be placed in the category of 'co-wives' and exclusive for belonged to the Raja's janani dyodhi. Equally important is the issue, what was the position of their children born out of the Union.

Interestingly, we get important information pertaining to birth ceremony of a child born to Roop Ras khawas during the reign of Sawai Pratap Singh (1778-1803 CE). While Karkhanajat record of Roznamcha Paturkhana pertaining to 'paturs' in the Rajasthan State Archives, Bikaner, records the birth ceremony of Roop Ras khawas' son; from Dastur Komvar record, we can glean information on the royal birth ceremonies and the inam (awards)/royal grants sanctioned for birth ceremonies of the sons of queens i.e. Maharani Chaudavat Ji; the queen of Sawai Madho Singh, Maharani Jadam Ji; the queen of Sawai Pratap Singh, Maharani Bada Bhatiyani Ji and Maharani Panchavan Bhatiyani Ji; both were queens of Sawai Jagat Singh.

We do not get much details of early career of Roop Ras as a patur. However, Paturkhana record of 1754 clearly records her as a patur.[7] This suggests that Roop Ras entered as patur during the reign of Sawai Madho Singh (1751-1768). Later, she received king's favour and upgraded in the hierarchy as khawas of Sawai Pratap Singh.[8] Dastur Komvar is silent on Roop Ras. Roznamcha records birth of Sawai Pratap Singh's son from Roop Ras. The Roznamcha record is unique in the sense that it, for the first time, provides us the first hand information on the nature of natal and post-natal ceremonies conducted after the birth of the son born from a khawas/rajlok patur. The record suggests amazing similarity in the ceremonies conducted after the birth of the Raja's son born out of the legally wedded wife (queen) of the Raja and the sons of the Raja born out of the union with khawas. The record is unique in the sense that while there are stray references of birth ceremonies of royal princes; the document provides organized details of pre-natal and natal ceremonies.

Post-Natal Ceremonies

As soon as the time of delivery arrived, a daai (mid-wife) was allotted.9 When Roop Ras khawas gave birth to a son, daai (wife of Raju) was given inam as in the form of cash and kind.

Table 1

Inam given to daai during natal and post natal ceremonies performed on Roop Ras

Ritual performed	On the day of birth	Chhati	Dasutan	Jalva pujan
Cash	Rs. 14	annas 2	annas 8	annas 4
Kind (Jinsi)	Cereals and ghee	-	1 sawaga	-

Sources: Roznama Paturkhana. VS 1839/CE 1782. Basta No. 10. Miti Fagun Sudi 3, Tuesday. f. no. 2b, 12b, 17b, 21b.

Immediately after the birth of the child another important person attached was the dhai. It is important to note that immediately after the birth of a child dhais were appointed to feed the child born.[10] In most cases these dhais so appointed were from the Gujjar tribe as it was considered that the milk of Gujjar women would provide strength to the child.[11] Interestingly, a Gujjar woman, Viragi Gujjari, wife of Bhopa Gujjar was appointed as dhai to feed the child of Roop Ras khawas.12 For her services she was granted inam in the form of cash and kind.

Table 2

Inam given to dhai/wet nurse (details of cash and kind)

Ritual performed	Cash	Kind (jinsi): details of price of goods		
		Sawaga	Utensils	Food
Third day of birth	Rs. 1, annas 5	Rs. 2, annas 11	Rs. 3, annas 11	Rs. 2
Dasutan	-	1 sawaga: - (?)	-	-

Soruces: Roznama Paturkhana. VS 1839/CE 1782. Basta No. 10. Miti Fagun Sudi 3, Tuesday. f. no.7b and 16b.

After the birth of a child of a queen Janam puja[13], Chhati[14], Dasutan15 and Jalva Pujan[16] ceremonies were performed in the royal household.[17]

Record of Dastur Komvar contains a brief description of ceremonies of children of queens. Maharani Chodavatji, the queen of Maharaja Sawai Madho Singh, gave birth to a son in 1764. On his birth, ritual of chhathi

(sixth day of the birth), dasutan (tenth day of the birth) and jalwa pujan were celebrated.[18] On the birth of the daughter of Maharani Shree Jadamji, queen of Maharaja Sawai Pratap Singh, same rituals were celebrated.[19] Rituals celebrated on the birth of the son of Maharani Shree Panchvan Bhatiyani Ji and Maharani Shree Badi Bhatiyani Ji, the queens of Maharaja Sawai Jagat Singh contains also the worship of gods and of the memorial site of Maharaja Sawai Ishwar Singh.[20]

Amazing similarities are visible in the birth ceremony rituals performed on Roop Ras khawas'. Immediately after the birth of Roop Ras' son, janam puja was organized on first day, in which all the ritual worships were performed. Jaipur ruler Sawai Pratap Singh's ancestors' memorial sites (chhatri) of 'Chhatri Maharaja Shree Sawai Pratap Singh ki', 'Chhatri Maharaja Shree Sawai Ishwari Singh ki', Chhatri Maharaj Shree Madho Singh ki', Chhatri Maharaja Shree Prithvi Singh ki' were also worshipped.[21] Coconut, batasa, sweets, dhoop etc. material was sent for worship.[22] Nayans (female barbers), vaarni (woman, who wriggle money etc.), dholani (female drummer), damamini also participated on the occasion of worship of 'Khetrapal' (protector of area; devta) and they went for it by singing and playing.[23]

Drums (nagaare) were worshipped.[24] On every occasion of janani dyodhi, nakkarkhana had an important role. Beginning of every festival and occasion used to start to the worship of drums.[25] Animal sacrifice was also a ritualistic custom on the occasion of child birth and marriages in the royal household.[26] So, cock was wriggle onto child and had given to the 'halal khor' (butcher).[27] 'aaval gaadna' or 'auli gaadna' was also a ritual in royal household which was done by daai.[28] That ritual was also done after the birth of Roop Ras khawas's son.[29] The new born baby was given the 'janam ghhutti'. Ritual of 'kalash bandhai' was also performed on the day of birth.[30]

Like the chhati of queens' sons, celebration of chhati of Roop Ras khawas' son, was started with the worship of god and goddesses. Celebration had started with the worship of god 'Ganesh Ji' and 'dihadi pooja' (daily routine worship). 'Ratijaga' was also organized on this occasion.31 Worship of 'Vehmata' was also done.[32] It was believed that 'Vehmata' would come at midnight to write down the destiny of new born

child.[33] Khichdi was cooked for nayan (female barber), varni (woman, who wriggle money, etc.), 'dholani, damamini, nagarchi' (female drummers) etc. who stayed during the ratijaga.[34] For the worship, a 'rot' (made with wheat, ghee and jaggery; a kind of thick chapati) was offered to god 'Hanuman Ji'.[35] Patur, khawas and manas (servant) also attended the event of 'ratijaga' and ritual of 'mehandi (heena) lagana' was also performed.[36]

On the tenth day of birth of a royal child, occasion of the 'dasotan' was celebrated.[37] That ritual was also started with the worship of 'dihadi pooja' (daily routine worship) and of lord 'Ganesh Ji'. Worship of 'Sun' was also done.[38] Ghughri lapsi was distributed into Paturkhana.[39] Interestingly lapsi (made from ghee, wheat and jaggery) was also distributed in the janani dyodhi on the birth of queen's son.[40]

Ritual of 'jalwa pujan' was also held, in which well of janani dyodhi was worshipped.[41] For that ritual Roop Ras khawas was given 'savaga' which include a yellow sari.[42] Yellow sari or cloth is called 'peeliya' persists a ritualistic value on the occasion of jalwa pujan even in the present period. Also on this occasion, ghughri lapsi distributed in Paturkhana.[43] Even for the post pregnancy recovery, ladoos of saunth (dry ginger), ajvayan (thyme seeds) gur (jaggery), dry fruits etc., were made for Roop Ras and the money sanctioned from the royal treasury.[44]

All these ceremonies and sanction of the expenditure for her post-delivery ritualistic ceremonies were accorded as per the order of the king (muvafik hukum hajuri). Like the inam granted to servants and helpers at the time of the birth of queens' sons, inam was also distributed among the servants and helpers, at the time of the rituals performed during the natal and post-natal ceremonies of Roop Ras khawas.

Table 3

Inam distributed among the servants and helpers

Rituals performed		Janam Puja	Third day of birth	Chhati	Dasutan	Jalva pujan
Daai	Cash	Rs. 14	-	annas 2	annas 8	annas 4
	Kind	Cereals and ghee	-	-	1 sawaga	-
Dhai	Cash	-	Rs. 1, annas 5	-	-	-
	Kind	-	1 sawaga, utensils and food	-	1 sawaga	-
Jotsi		Rs. 2, annas 8	-	-	Rs. 2	Rs. 1 and one coconut
Gopi barber		-	-	-	Wheat, ghee and jiggery	
Wife of Gopi barber		-	-	-	Sawaga	
Bai Imrat Kanvari		-	-	Rs. 1	Rs. 1	-
Nagarchi (drummer)		Jinsi of Rs.1, annas 1 and paise 4	-	anna 1	-	-
Kahar of paturkhana		annas 8	-	-	-	anna 1
Upadhyay (priest)		-	Rs. 1	-	-	-
Nayan, varani, damamini, etc.		annas 8 for chhatri worship and Rs. 17, annas 14 of rauk mahila kharch	Rs.13, annas 6	Rs. 30, Annas 10		Rs. 8, annas 8

Sources: Roznama Paturkhana. VS 1839/CE 1782. Basta No. 10. Miti Fagun Sudi 3, Tuesday. f. no. 1 - 23.

According to Dastur Komvar, grant sanctioned to the servants and helpers on the natal and post-natal ritualistic ceremonies of a queen, was called 'lavajma ka japa kharch'.[45] Apart from this, Roop Ras khawas and her son were also sanctioned their personal allowances.

Table 4

Grants sanctioned to Roop Ras and her son Chimna Ji during the natal and post-natal ceremonies

Rituals performed	Roop Ras Khawas		Chimna Ji		
	Cash	Kind	Cost	Kind	Cost

Janam puja	-	-	-	-	-
Chhati	-	4 thans (bales) of sawaga	Rs. 15, annas 4, paise 2	1 posakh (dress)	Rs. 5, annas 9
Dasutan	-	14 thans (bales) of sawaga Brass vessels	Rs. 150, annas 8 Rs. 52, annas 14, paise 2	1posakh (dress) Gold ornament: 2 pairs	Rs. 11, annas 3 -
Jalva pujan	-	1 sawaga, 1 pair of papos (shoes) 1 pair of chura of lac/prosthesis	Rs. 41, annas 2	-	-

Soruces: Roznama Paturkhana. VS 1839/CE 1782. Basta No. 10. Miti Fagun Sudi 3, Tuesday. f. no. 11 -15

Roop Ras khawas was also given Rs. 15 for the distribution as 'neg' among the servants and helpers of Paturkhana.[46]

The above details highlights on two points: (a) we do not get such details of the post-natal ceremonies performed on the queens. It let us know what types of post-natal ceremonies performed in the royal household. (b) it shows that as far the post-natal ceremonies were concerned there was no differentiation between the process of natal and post-natal ceremonies performed upon the khawas and the queen. The royal prerogative to pay obeisance to the ancestors was even accorded to the khawas patur on being the 'mother' of Raja's son. Worship of 'drums' and 'animal sacrifice' were equally 'exclusive' to the Rajput household, which was extended to khawas.

The above details of the natal and post-natal ceremonies of Roop Ras khawas throws light on a number of issues: (a) Once a 'patur' inducted as khawas, pardayat and paswan, these women enjoyed 'almost' equal status as 'queens', though they were not legally wedded, they were inducted into the royal household through a 'ceremony'.[47] (b) However, there was a dichotmy that a Rajput Raja could marry only to the ruling Rajput clans and thikanas of Rajputana and could take a woman from a certain

household.[48] As per tradition, Kacchwaha ruler could wed from the Udaipur, Jodhpur, Kota, Jaisalmer, Sirohi states and Chauhan, Tanwar or Jhala houses.[49] Due to the tradition of polygamy, kings used to have many Kunwars. Therefore it was necessary to choose the successor Rajkumar. So, when king choose his Patarani then her eldest son would be crown prince automatically. Sometimes in the lifetime of a king, a son used to declare the crown prince due to the many reasons. It would be voluntarily or at the behest of a queen or for other reason.[50] Or in the absence of the son of the king, heir would be the brother of the king or any family member belonged to the clan. So, the rule of succession was based on hereditary.[51] This was mainly to avoid the contest of succession. The above records suggests that barring the succession claims, for all practical purposes the children born out of the khawas, pardayat and paswan enjoyed equal respect. The sons of both, the queen and khawas, when grown up, eparate Havelis and grants and lands were often given for their maintenance.[52]

No doubt the status of the 'queen' and the children born to them was the highest. This could be attested to by the sheer difference of amount of grant and jewellery, clothes, etc. granted to the queen and the child after the birth and inam distributed among the household and workers. On the birth of the son Maharani Shree Chaudavat Ji, the queen of Sawai Madho Singh, same ceremonies were performed as of Roop Ras khawas, but their expenditures were different.

After the birth of Roop Ras' son, a grant of Rs. 684, annas 4 and 1 pair of ornament was sanctioned for the expenditure of natal and post-natal ceremonies of Roop Ras khawas.[53] While, when Maharani Chaudavat Ji's son was born Rs. 4600 were spend on the ceremonies.[54] And amount almost seven times more than the money spent at the time of Roop Ras's son.

Table 5

Royal grants sanctioned to Maharani Chaudavat Ji and her son during natal and post natal ceremonies

Ritual performed	Maharani Chaudavat Ji Quantity of cloth	Maharaj Kunwar Ji Quantity of cloth	Ornament
For the day	1 than (bale)	-	-

of birth			
For the day of Chhati	4 thans (bales), 9 gaz, ½ inch	1 than (bale), 17 gaz, 21 inches	2 pairs (2kara/ bangles, khangwali/hansli)
For the day of Dasutan	4 thans (bales), gaz	1 than (bale) 17 gaz, 21 inches	2 pairs
For the day of Jalva Pujan	4 thans (bales), 9 gaz, 18½ inches, 2 girah	17 gaz, 21 inches	-

Sources: Dastur Komvar (Rajlok Maharani Ji). VS 1821/CE 1764. Basta No. 24. Miti Paush Vadi 2. P. 456-463

Table 6

Royal grants (details of cash) sanctioned to Maharani Shree Jadam Ji during her natal and post natal ceremonies

Rituals performed	On the day of birth	Chhati	Dasutan	Jalva pujan
Grants	Rs.794, annas 4, paise 2	Rs. 241, annas 10 paise 2	Rs. 387, annas 3,	Rs. 165, annas 8

Sources: Dastur Komvar (Rajlok Maharani Ji). VS 1838/CE 1781. Basta No. 24. Miti Fagun Sudi 3. p. 517 -519.

Table 7

Inam distributed to the servants during the post-natal ceremonies of Maharani Shree Chaudavat Ji

Ritual performed	Dhai (wet nurse)	Nayan
Janam puja	1 sawaga	-
Chhati	1 sawaga	-
Dasutan	1 sawaga	-
Jalva pujan	1 sawaga	1 sawaga

Sources: Dastur Komvar (Rajlok Maharani Ji). VS 1821/CE 1764. Basta No. 24. Miti Paush Vadi 2. p. 463-460.

Table 8

Inam distributed to the servants during the post-natal ceremonies of Maharani Shree Jadam Ji

Rituals performed	Dhai and Daai	
	Sawaga	Cost
Chhati	2 sawagas	Rs. 18, annas 10
Dasutan	2 sawagas	Rs. 18, annas 10
Jalva pujan	2 sawagas	Rs. 18, annas 12

Sources: Dastur Komvar (Rajlok Maharani Ji). VS 1838/CE 1781. Basta No. 24. Miti Fagun Sudi 3. p.517 - 519.

Table 9

Inam distributed for greetings (badhai ka inam) on the birth of Kunwar of Maharani Shree Paanchva Bhatiyani Ji

Servants	Cost of 'siropav'	Rauk rupiya
Gopi barber	1 siropav: Rs. 15, annas 3, paise 2	Rs. 50
Bai	1 siropav: Rs. 15, annas 3, paise 2	Rs. 50
Dholya (drummer) etc.	4 siropav: Rs. 15, annas 3, paise 2	-

Sources: Dastur Komvar (Rajlok Maharani Ji). VS 1869/CE 1812. Basta No. 24. Miti Jeth Vadi 11. p. 560.

Marzia Balzani and Varsha Joshi in their work stated that, the children of concubines (co-wives) were of mixed caste but belonged to the royal blood. From the time of rulership of Maharaja Takhat Singh of Jodhpur, if they proved themselves able to take on the responsibilities as a high official, then they were adorned with the title of 'Rao Raja'.[55]

Our sources suggest that the epithet as 'Maharaji Kunwar Ji' and 'Chimna Ji' were used for the sons of queen.[56] The son of Roop Ras khawas was also addressed as 'Chimna Ji', during these natal and post-natal ceremonial period.[57] Although, later when they grew up, they were addressed as 'Lalji'.[58] But they never obtained the title and surname of Maharaja. Though, jagirs were allotted to them for their maintenance.[59] We have yet to find when they were attained to position of repute or high office. They used to live in 'Havelis' in cities.[60] They were married to the women of the same status, i.e. the son of a paswan could only marry a daughter of a paswan and vice-versa, but in a royal manner.[61] But not in the 'castes' rotated to the Raja. Their right to worship the royal ancestors 'Chhatri Maharaja Shree Sawai Jai Singh ki', 'Chhatri Maharaja Shree Sawai

Ishwari Singh ki', Chhatri Maharaj Shree Madho Singh ki', Chhatri Maharaja Shree Prithvi Singh ki' also confirm the recognition of children as equal.

Thus, it appears that, though, the khawas' position was distinctly lower in the hierarchy, so was the expenditure on various natal and post-natal ceremonies was exactly in tune with the hierarchical rank within the janani dyodhi. In the janani dyodhi, this system of hierarchy was followed among the ladies of royal household. Each lady of the household was granted expenditure and amenities exactly in tune with their hierarchy. Patarani was granted the jagir of around 1 lakh and 25 thousand. Other queens were granted the jagir of Rs. 25 thousand for each queen and of Rs. 7 thousand for paswan. pardayat and lalji, each was granted jagir of Rs. 5000.[62]

Nonetheless, our documents clearly points out that rajlok paturs occupied a place of honor in the royal household. In any function of janani dyodhi they used to sit according to their hierarchy among the ladies of royal household, which shows, though they were lower in status but, were very much part of royal household and also indicate often the special honor granted to them.[63]

To conclude, our data clearly attribute the higher status to khawas, pardayat and paswan. No doubt they were lower in the hierarchy than queens, but they enjoyed full respect as member of the royal household. They were inducted through a 'ceremony', a symbol of granting 'legitimacy to the relationship. Even the very fact that when son was born to Roop Ras she was honored by allowing her the right to worship the memorial canopy of ancestors of Maharaja Sawai Pratap Singh, which, otherwise was an exclusive privilege of the members of the royal household. It proves that the children of khawas were considered equal and very much part of the Rajput household. However, still more data is wanting to elaborate further on the rights and privileges born out of khawas and other paturs; 'co-wives'.

References

1. *Arora Shashi. 1979. Rajasthan mein Naari ki Sthiti (1600-1800 isvi). Jaipur: Rawat Publication, p.63.*
2. *Khanna Priyanka. 2017. The Female Companion In A World Of Men: Friendship And Concubinage In Late Eighteenth-Century Marwar. Studies In History, 33, No. 1. p.98-116.*

3. *Ibid.*
4. *Ibid.*
5. *Khanna, Priyanka. 2017. The Female Companion In A World Of Men: Friendship And Concubinage In Late Eighteenth-Century Marwar. Studies In History, 33, No. 1. p.98-116.*
6. *Sreenivasan, Ramya. "Drudges, Dancing Girls, Concubines" in Chatterjee Indrani and Eaton, Richard M. (ed.) Slavery and South Asian History. 2006. Indiana: Indiana University Press. p.143&144.*
7. *Jamakharch Paturkhana. VS 1811/CE 1754. Basta No. 10. Miti Kati Sudi 6. 'Matsya Desh ka Itihas' also record Roop Ras as a khawas patur of Sawai Pratap Singh. (Rajdurbar Aur Ranivas:Nandkishore Parikh, p. 98.)*
8. *Roznama, Paturkhana. VS 1839/CE 1782. Basta No. 10. Miti Fagun Sudi 3, Tuesday. f. 2b.*
9. *Ibid.*
10. *Dastur Komvar (Rajlok Maharani Ji). VS 1821/CE 1764. Basta No. 24. Miti Paush Vadi 1. P 518.*
11. *Sahni, Bindu. 2013. "Tradition of Wet Nursing Among the Gujjars of Himachal Pradesh" Himalayan Journal of Contemporary Research, Vol.2, No. 1. p. 10.*
12. *Roznama, Paturkhana. VS 1839/CE 1782. Basta No. 10. Miti Fagun Sudi 3, Tuesday. f. 7b.*
13. *On the day of birth of child/Janam Puja (in the form of worship of god and ancestors of royal household) - on the birth of the child, many rituals and worship were performed on the same day. Jyotsi (astrologers) were prepared the 'Janam Patri' (horoscope). So they were prized with alms or dakshina. God and goddess of royal household were worshiped and platter of worship material (puja ke thaal) were sent to the various temples. Nagaare (drums) were worshiped. Daai (who help women in maternity) was prized with inam. Many alms and charity were performed on the day of birth of child. (Sharma, Vasumati. 2000. Rathore Rajvansh Ke Riti-Riwaz (1600-1800 isvi). Jodhpur: Maharaja Mansingh Pustak Prakash. p.66-67).*
14. *Chhati (performed on the sixth of the birth) - Puja performed on the sixth day of the birth of new born baby is called chhati pujan. God and goddesses were worshiped with 'Kalash Sthapana'. Goddess Vehmata was also worshiped on that day and ratijaga was performed on that day. During the night of chhati dholanis (drummer), giternis (singer), davaris used to perform singing and dancing. (Shekhawat, Kiran. 2013. Janani Dyodhi. Jodhpur: Maharaja Mansingh Pustak Prakash. p.114).*
15. *Dasutan (performed on the tenth of the birth) - Ritual performed on the*

tenth day after the birth of the son is called dasutan. In Hindi it is known as 'Nishkraman Sanskar'. Courtyard was purified. 'Jaccha' (mother of new born baby) was beautified by wearing new clothes and ornaments. God and goddesses were worshiped and inam and alms were distributed among the servants and helpers. Lapsi was prepared and distributed among the royal household and servants of the janani dyodhi. (Ibid. p.114-115).

16. *Jalva pujan (worship of the source of water) - This ritual was performed at least on 21st day, after the birth of the child. On this ritual the place of water/source of water used to perform. On this day, the 'Jachha' come out from the maternity house and performed jalva pujan. Within this ritual, all the old pots of water were replaced with new ones. (Sharma, Vasumati. 2000. Rathore Rajvansh Ke Riti-Riwaz (1600-1800 isvi). Jodhpur: Maharaja Mansingh Pustak Prakash. p.71. and Shekhawat, KIran. 2013. Janani Dyodhi. Jodhpur: Maharaja Mansingh Pustak Prakash. p. 115-116.)*
17. *Dastur Komvar (Rajlok Maharani Ji). VS 1821/CE 1764. Basta No. 24. P. 438 - 617.*
18. *Ibid. Miti Paush Vadi 1. pp. 456 to 464.*
19. *Ibid. Miti Fagun Sudi 3. pp. 517 to 519.*
20. *Dastur Komvar (Rajlok Maharani Ji). VS 1869/CE 1812. Basta No. 24. Miti Bhadva Sudi 5, Tuesday. p.560. VS 1872/CE 1815. Basta No. 24. Miti Jeth Vadi 12, Thursday. p.553.*
21. *Ibid. f.3a.*
22. *Ibid. f.3a and 3b.*
23. *Ibid. f.4a.*
24. *Ibid. f. 4b.*
25. *Shekhawat, Kiran. 2013. Janani Dyodhi. Jodhpur: Maharaja Mansingh Pustak Prakash, p.30*
26. *Sharam, Vasumati. 2000. Rathore Rajvansh Ke Riti-Riwaz (1600-1800 isvi). Jodhpur: Maharaja Mansingh Pustak Prakash. p.59.*
27. *Roznama, Paturkhana. VS 1839/CE 1782. Basta No. 10 Miti Fagun Sudi 3, Tuesday. f.4b.*
28. *Sharma, Vasumati. 2000. Rathore Rajvansh Ke Riti-Riwaz (1600-1800 isvi). Jodhpur: Maharaja Mansingh Pustak Prakash. p.66.*
29. *Roznama, Paturkhana. VS 1839/CE 1782. Basta No. 10. Miti Fagun Sudi 3, Tuesday.. f.4b.*
30. *Ibid. f. 6a.*
31. *Ibid. Miti Fagun Sudi 3, Tuesday. f.9a.*
32. *Ibid. f.9b.*
33. *Shekhawat, Kiran. 2013. Janani Dyodhi. Jodhpur: Maharaja Mansingh Pustak Prakash, p.114.*

34. *Roznama, Paturkhana. VS 1839/CE 1782. Basta No. 10. Miti Fagun Sudi 3, Tuesday. f.10b.*
35. *Ibid. f.10b.*
36. *Ibid. f. 11b.*
37. *Sharma, Vasumati. 2000. Rathore Rajvansh Ke Riti-Riwaz (1600-1800 isvi). Jodhpur: Maharaja Mansingh Pustak Prakash. p.70.*
38. *Roznama, Paturkhana. VS 1839/CE 1782. Basta No. 10. Miti Fagun Sudi 3, Tuesday. f.13 b.*
39. *Ibid. f.17a.*
40. *Shekhawat, Kiran. 2013. Janani Dyodhi. Jodhpur: Maharaja Mansingh Pustak Prakash, p.115.*
41. *Roznama, Paturkhana. VS 1839/CE 1782. Basta No.10. Miti Fagun Sudi 3, Tuesday. f.19b and 20a.*
42. *Ibid. f.21a.*
43. *Ibid. f. 21b.*
44. *Ibid. f. 22b and 23a.*
45. *Dastur Komvar (Rajlok Maharani Ji). VS 1821/CE 1764. Basta No. 24. Miti Paush Sudi 10. p.461.*
46. *Ibid. f.6a and 6b.*
47. *Joshi, Varsha. 1995. Polygamy and Purdah: Women and Society among Rajputs. Jaipur: Rawat Publication. p.120.*
48. *Sharma, Vasumati. 2000. Rathore Rajvansh Ke Riti-Riwaz (1600-1800 isvi). Jodhpur: Maharaja Mansingh Pustak Prakash. p.29.*
49. *Joshi, Varsha. 1995. Polygamy and Purdah: Women and Society among Rajputs. Jaipur: Rawat Publication, p.116-117.*
50. *Sharma, Vasumati. Rathore Rajvansh Ke Riti-Riwaz (1600-1800 isvi). Jodhpur: Maharaja Mansingh Pustak Prakash. P.117.*
51. *Ibid. p. 11.*
52. *Joshi, Varsha. 1995. Polygamy and Purdah: Women and Society among Rajputs. Jaipur: Rawat Publication. p.65 and 121. Sharma, Vasumati. 2000. Rathore Rajvansh Ke Riti-Riwaz (1600-1800 isvi). Jodhpur: Maharaja Mansingh Pustak Prakash. p.36.*
53. *Roznama, Paturkhana. VS 1839/CE 1782. Basta No. 10. Miti Fagun Sudi 3, Tuesday. f.2a.*
54. *Dastur Komvar (Rajlok Maharani Ji). VS 1821/CE 1764. Basta No. 24. Miti Paush Sudi 10. p.461.*
55. *Balzani Marzia and Joshi Varsha. "The Death of a Coucubine's Daughter: Palace Manuscripts as a Source for the Study of the Rajput Elite." South Asia Research, Vol. 14, 2, 1994: 136-162.*
56. *Dastur Komvar (Rajlok Maharani Ji). VS 1821/CE 1764. Basta No. 24. Miti Paush Vadi 2. p. 456 and Miti Paush Sudi 10. p. 461.*
57. *Roznama, Paturkhana. VS 1839/CE 1782. Basta No. 10. Miti Fagun*

Sudi 3, Tuesday. f. 14b.

58. *Joshi, Varsha. 1995. Polygamy and Purdah: Women and Society among Rajputs. Jaipur: Rawat Publication. p.121.*
59. *Ibid.*
60. *Sharma, Vasumati. Rathore Rajvansh Ke Riti-Riwaz (1600-1800 isvi). Jodhpur: Maharaja Mansingh Pustak Prakash. p.36.*
61. *Daughter of a paswan of Maharaja Sawai Madho Singh II of Jaipur was married to the son of paswan Gulab Rai of Maharaja Vijay Singh of Jodhpur. (Joshi, Varsha. 1995. Polygamy and Purdah: Women and Society among Rajputs. Jaipur: Rawat Publication. p.121.)*
62. *Parik, Nandkishore. 1984. Rajdarbar Aur Ranivas, Jaipur: Rotari Printers, p.107.*
63. *Joshi, Varsha. 1995. Polygamy and Purdah: Women and Society among Rajputs. Jaipur: Rawat Publication. p.121.*

Nayala : The Clinton City

Dr. Ritika Kumari Meena

Nayala, a renowned thikana of the erstwhile Dhoondhar state lies 12 miles east of Jaipur city. This thikana has an interesting aristocratic past which began with Thakur Fateh Singh ji as hinted in the local saying "Maal laagyo Darbaar ko, naam Fateh Singh hoye". He belonged to the Peelava branch of Champawat sub-clan of Rathore Rajputs who was granted this Jagir in 1860.[1] The state of Dhoondhar thrived under the umbrella of Kachhwaha clan of Rajputs claiming descent from Kusha, the second son of Lord Rama. As per the Bardic account, Dhola Rai, son of Sodha Dev, the prince of Narwar and the thirty-third in descent from Nal founded the Kachhwaha state of Dhoondhar in 1022-23 A. D. after expelling the Minas, the aboriginal rulers of this region.[2] Accordingly, the history of Nayala village can also be traced back to the local chieftains of Devarwal sub-clan of Mina Tribe. As per the local folklore the village has been named 'Nayala' after the "Bhomia Nayal Devarwal". A temple dedicated to him still stands in Kyara, (Jhol village) near Manota panchayat Jamvaramgarh, Jaipur.

During medieval period, northern region of India followed the feudal system which carried out the administrative and political obligations. The administrative system of Rajpoot states was also feudalistic in nature based on blood relations and kinship. In such aristocratic culture, the Rajput Chief rules over a state as the head, this was divided into number of Jagirs which belonged to the Thakurs. Generally, the Thakurs were the family members of the chief who carried brotherly relationship amongst and commonly termed as Bhaiji, Kakaji or 'Chut-bhai'.[3] Their relationship with chief was not so much of a lord and the vassals instead of they claimed social equality in all matters- domestic and political. As Colonel Tod mentioned "The poorest Rajpoot of Rajputana of their days retain all the pride of ancestry, often his sole inheritance, he scorns to hold the plough, or to use his lance but on horseback".[4] Jagirs or land at a distance granted to these kinsmen where they could rule independently. Although, the

Thakurs were obliged to pay tribute and homage, and also to perform certain services to their chiefs, nevertheless the 'fiefs' in their possessions were their rightful shares which they claimed as their hereditary right.

Amber state was mainly divided into 12 thikanas by Prithiviraj, Chief of Kachhwaha in 16th century among his brothers and sons. Apart from the thikanas granted to the Kachhwaha lineage some Jagirs were given to non-Kachhwahas as well like Nayla, Kanota, Geejgarh, Karansar, Guhala in 19th century.

Nayala thikana was originally granted to Thakur Fateh Singh Chamapavat who was appointed Bakhshi of Qileyjat by his Highness Maharaja Ram Singh ji in 1860. The Maharaja Sahib also conferred the honour of Tazim on him and appointed him as Prime Minister, the post he held till the accession of his late Highness Maharaja Madho Singh ji II.[5] Council Resolution No.11 dated 23rd January, 1937 sanctioned Matmi of Thakur Roop Singh ji of Nayala in favour of his real son Pratap Singh ji.[6] Nayala jagir had granted vasuli of 19499 III-II; Champawat tajimi of 27 - Lavajama ki raas - Hathi ki - 5, Palki ki - 3, Deel ki - 7, Banduk ki - 6, Khasa - 4, Laggi - 1, Nakkaro - 1, 11 - Naukari main raas - and raasi of kul do maha (two months) - 38 by state of Sawai Jaipur.[7]

His son, Thakur Roop Singh ji was Sigha member of the Council of State till 1931. He has two sons, Pratap Singh ji and Dileep Singh ji. He died in 1934 and was succeeded by his son Thakur Pratap Singh ji who was a Judge of the Appellate Court.[8] After his demise, Revenue Commissioner West's Robkar dated 27th February 1943, the whole of estate was favoured in name of his son Thakur Daulat Singh ji. Daulat Singh ji was survived by his son Thakur Ram Singh ji, and Ram Singh ji's eldest son Dushyant Singh ji is the present Thakur of Nayala Thikana.[9]

Thakur Daulat Singh ji inherited the following grants; Jagir villages namely Nayala, Sri Jaichandpura, Harchandapura, Manoharpura, Devapura, Kishnapura I, Kishanpura II, Manota, Senoli, Hathipura, Raipura alias Jhabar, Birnalpura, Dobli, Laalwas, Jaisinghpura on Tanwasuli of Re. 17,889/12/6. 200 Bighas of garden land by 20 Gatha chain in village Gila-ka-Nangal, 29 Bighas 13 biswas by 20 Gatha chain in Barodia, 8 biswas of land by iron chain out of plot no. 1104 in Fateh teeba, and 47 bighas 9 biswas and 12 Biswansis of Garden land by 20 gatha chain in village Bhawani-shankerpura.[10]

Thakur Fateh Singh ji founded a small uniform walled town named Nayala in his granted jagir. He founded his new town in a proper systematic pattern which was based upon the town-planning of Sawai Jaipur. For its planning and establishment, it is generally popular as Mini Jaipur in localities. It is surrounded by high walls known as Parkota, intersected by four huge gates named Surajpole in east, Chandpole in west, Gangapole in North-East and the last one lies in North-West called Murda-maveshi Darwaja. In midst of the Parkota, there is a chowk leading four path towards four directions of town known as Choupar, the running fountains in its centre enhance its beauty. The main road of the town followed by the shops on its both sides from Surajpole to Chandpole such as shops of daily needs like grains or other food items, utensils, clothes, jewellery, etc. which depicts a scene of markets of walled city Jaipur. However, the Mohallas of Nayala were also based on caste and occupation viz. North-West column of the town was allotted to Brahmans and just opposite to it South-West column was acquired by Rajputs and so on.

The main residence of Thakur himself was laid in North next to Choupar which is known as Thakur Fateh Singh ji ki haveli or City Palace. It was constructed by him in decades of 1875 A.D. In May, 1983 this building was sold to PCSC, later it was turned into government hospital.

Apart from this, there are several temples of which some were constructed by Thakur Fateh Singh ji viz Gopinath ji Ka Mandir, Panchayti (Bansiwara) Ka Mandir, Gopal ji Ka Mandir, Chauth Mata Ka Mandir, Sheetla Mata Ka Mandir, Nharsingh ji Ka Mandir and Khaniya Ka Mandir. While some of them belong to period before that of thikana such as Mitha Kuvna Mahadev Mandir, Kedh Kotha wala Mahadev Mandir, Barkhandi Balaji, Hanuman Mandir Kedh Kotha Wala, Bohrake Bamani Vala Mandir, Bhomia ji Ka Mandir and Sati Mata (Bedoyla) Ka Mandir.

Outside the parkota of Nayala, there are some attractive heritage buildings such as Nayala Fort, Hawa Bungalow, Chand Bari, Gangaur Bagh, Sheetala Bagh and Boharon Ka Bagh and Bawari (step-well). Except the last two, all were constructed by Takhur Fateh Singh ji.

Nayalagarh Fort was built by Thakur Fateh Singh ji in the decades of 1860 A. D. on the top of a small mountain parallel to the wall of the town towards its North. This fort is also known as Nahargarh Fort, given

its similar location to that of Sawai Jaipur's Nahargarh, which is placed at north of the walled city. This fort however was sold to Oberai groups of hotels in May, 1983 by Thakur Ram Singh ji, which presently serves as The Oberoi Rajvilas Jaipur.

Hawa-Bungalow, situated in Killa Ki Nagal on the top of a small dungri (hill) was used as a hunting lodge or Shikargah during estate time. Thakur and his royal guests were pleased with hunting here and loved to spend their leisure having fun with their guns. They shoot Rabbits, Chinkaras, etc. in nearby forests and later relaxed and dine here in the ambience of light music and lights during nights.

Ganguar Bagh, a crude example of Chahar Bagh style of Mughals built by Thakur Fateh Singh ji at the outskirts of Nayala in South-East direction. As per Hindu Vastu texts like Mandan, South-East is the best site to lay a garden in a city or town, and accordingly Jaipur has gardens at Ghat Ki Guni in south-east direction like Sisodia Rani ka bagh, Vidyadhar ka Bagh, etc. The Gangaur Bagh houses three small constructions of which the main building lies opposite to the Main entrance of the Bagh.

The heritage of Nayala has attracted people from right from estate time to present, wherein a photograph dating 1906 depicts British resident posing at main entrance of Nayala fort along with Thakur of Nayala and their respective families. The first lady of United States Jacqueline Lee Kennedy during the presidency of John F. Kennedy visited Nayala in March, 1963. More recently, Bill Clinton visited Nayla as 42nd president of USA twice in 2001 and 2002. Then onwards Nayala is also addressed as the "Clinton city".

Nayala - The Clinton city has its own heritage legacy which is now faded away in the world of modern concrete of huge buildings. The encroachment on its roadside destroys its beauty and heritage buildings. In future it would difficult for anyone to trace the originality of the Clinton city. Why don't people care about their heritage and history?

Reference

1. *Jain, K. A., & Jain, J., Jaipur Album. The Rajasthan directories Publishing House, Jaipur, 1935, p. 44*
2. *Tod, Col. James, Annals and Antiquities of Rajasthan, Vol. II, Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd., New Delhi, 2001, pp. 282-83*
3. *Sharma, G.N., Social Life in Mediaeval Rajasthan, Books Treasures, Jodhpur, 2011, p. 100*
4. *Tod, Col. James, Annals and Antiquities of Rajasthan, Vol. I, Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd., New Delhi, 2001, p. 113*
5. *Jain, K. A., & Jain, J., Jaipur Album, The Rajasthan directories Publishing House, Jaipur, 1935, p. 44*
6. *Jain, K. A., & Jain, J., Jaipur Album, The Rajasthan directories Publishing House, Jaipur, 1935, p. 44*
7. *Mahar, Devisingh, Jaipur v Alwar Rajay ke Jagirdar, Aayuvaan Singh Samriti Sansthan, Jaipur, 2012, p. 28*
8. *Order No. 508 SC Dated: May 1, 1944, Govt. Order Volume No. 5 from April-May, 1944, Rajasthan State Archives, Jaipur Secretariat, Jaipur*
9. *Order No. 508 SC Dated: May 1, 1944, Govt. Order Volume No. 5 from April-May, 1944, Rajasthan State Archives, Jaipur Secretariat, Jaipur*
10. *Ibid*

Caste and Religion : Case study of a local deity- Dalibai

Dr. Rajshree Dhali

Rajasthan during the medieval period witnessed the emergence of several regional and local deities, male as well as female. Various social groups, chiefly the erstwhile untouchable communities integrated cults of mythical as well as historical men and women who sacrificed their life for the welfare of common populace. Dalibai was one such local goddess who was primarily worshipped by the erstwhile untouchable communities, chiefly by the Meghwal community in Rajasthan as their Kuldevi (family goddess) and also as their local deity.[1]Till recently Meghwals were addressed by and were synonymous with various names like Balai, Bhambi, Chamar and Dhed, who were/are considered untouchables and were occupied in menial works such as leather tanning, dragging the dead animals, weaving and agricultural labor.[2]

Dalibai, is believed to be the co-disciple of the popular folk deity Ramdev, who is considered a Pan- Hindu Deity in the contemporary times.[3] In the main temple complex of Ramdev at Runecha/ Ramdevra in the Jaisalmer district, as well as in few other temples of Ramdev, small shrines of Dalibai are located. Study of literary sources related to Ramdev[4] and Dalibai[5] prior to the 18th century indicate that both of them had been deified by the lower caste communities and the subordinated section by 17th century. It is believed that Dalibai was a disciple and worked along with Ramdev for the welfare of poor and the sick people.[6]

There are plenty of accounts and narratives since the nineteenth century that hold Ramdev to be a Tanvar Rajput and a Vishnu- incarnation.[7] He had given up Rajput life style and preferred to associate himself with the lower caste and worked amongst them for their welfare.[8] As a result he was despised by the Rajputs and other upper caste. The deity had acquired a non-Brahmanical identity which is clearly established from the belief system, the rituals performed and social practices followed by the

members of the Meghwal caste.[9] So both, Ramdev and Dalibai were despised by the Rajputs and other upper castes members and Ramdev's family had to pay for it time and again as his sister was tortured by her in-laws.

There is hardly any source on Dalibai except few brief narratives; my construction of the imagery of her life has been attempted from the narratives of Ramdev, as she was very close associate of his and accompanied him everywhere.The paper explores the manner in which the Rajputs and other upper caste communities accepted and appropriated Ramdev but pushed Dalibai to the margins. However, there has been an attempt by some which gets reflected in cinema to bring Dalibai into the re-incarnation narrative of Ramdev.

I will examine two blockbuster Rajasthani feature films made with the Central Board of Film Certification in 1963 and 1994 respectively on Ramdev in order to understand the marginalization of the cult of Dalibai as well as the effort to portray her similar to the image of Mira. First film was a black and white film called "Ramdev" in Rajasthani language produced by Ramraj Nahta in 1963, a very crucial era for the struggles of the Dalits in Rajasthan especially amongst the community of Chamars and the Meghwals. The post independence period, particularly the fifties saw mushrooming of numerous lower caste organizations and their intervention in the electoral politics.[10] The second film called "Baba Ramdev" a Marudhar production in 1994 was also a blockbuster and the whole 1990's is known for a new epoch in the Dalit movement and identity politics.

The paper proposes to study narratives of Dalibai as depicted in the cinemas. The paper examines whether both Ramdev and Dalibai enjoy similar kind of adoration, if not, what could be the reasons for the selective reverence. Was Dalibai appropriated in the same manner as Ramdev, since both has a shared legacy and cult.

As far as Dalibai's birth is concerned the oral narratives suggest that she was born in a Meghwal family and Ramdev found her in a cradle tied to a branch of a tree. In the oral narratives recorded in 'Meghwal Iteha'[11] by a social reformer of the Meghwal community in the twentieth century Swami Gokul Das, her birth is mentioned. According to this account, one Bhoj Meghwal had two sons - Sayer and Adsi. Adsi had a

son named Munja and a daughter, Dali. Upon Adsi early demise, Sayer became their surrogate parent and he happened to be an associate of Ramdev according to oral stories. Since her childhood, Dali (or Dalibai) was initiated into the path of devotion and social reform by, Ramdev, who became her mentor. She would accompany him in their itinerant singing of bhajans (devotional songs) and preaching to the masses.

Both the films were on Ramdev and his crusade for the emancipation of the lower caste and his opposition to discrimination was clearly brought up. At the same time the version of his being the re-incarnation of Lord Krishna was well established by substituting Ramdev for Lord Krishna or the vice-versa. In both the films, Dali Bai's birth is kept obscure, she is found by the young Ramdev in a cradle tied to a tree branch and is brought home by him. Interestingly, still, she gets the identity of an untouchable girl whose parentage was unknown. In the film,a powerful Yogi of the village, KumbeshwarMaharaj, a devotee of goddess Chandi never spares any opportunity to deride Dali Bai, comes at Ramdev's place at once when the infant Dalibai is brought home. The yogi rebukes the infant, calling her "Paap ki Potli" (child of sin), result of the misdeed of her parents and urges the family to throw the lower caste child. Ramdev argues with the yogi, telling him that she is the child of god as we are. And reiterates that those who are not owned by any, Ramdev adopts them. The film portrays a very adorable attitude of Ramdev towards the child whom he adopts. Ramdev and his family, is shown to be nonbeliever in any discrimination.

Second major aspect portrayed in the film about Dali Bai is her assistance to Ramdev to help the weak tirelessly and cure the disease stricken villagers.[12] Interestingly, Dalibai is not bestowed with the miraculous powers to cure someone with her touch but her job is limited to tireless selfless service. Ramdev is shown curing the lepers and other sick people just by his touch and Dalibai on the other is portrayed as helping and nursing the sick. Time and again Dalibai gets admonished very severely for belonging to the untouchable community by the upper caste especially the Yogi Maharaj of the village.

The remarkable episode leading to her death overturns the quotidian perceptions of the nature of their relationship and elevates Dalibai over Ramdev. In an oral literature recorded by Swami Gokul Das.[13] One day,

when Dalibai was out overseeing the grazing of Ramdev's cattle, she heard music and songs from afar. Upon inquiring, she found out that Ramdev was preparing to take live Samadhi (death by interment). Hearing this, she rushed to the spot where Ramdev was engaged in preparation and started contesting his decision. She insisted that she should be the one to take Samadhi before him. Disciples and devotees were taken aback at the vigorous arguments between the two unrelenting individuals. Finally, a way out was suggested by Dalibai and agreed upon by all. It was so decided that if, while digging for the samadhi, articles used by women such as comb, bangles etc. were to be found, Dalibai would be the first to take Samadhi. If, on the other hand, articles used for worship such as the jhalar (frill used in rituals) and shankh (conch shell) were to be unearthed, Ramdev would take his turn first. Curious devotees were surprised when articles used by women were found buried in the layers of the subsoil. According to the agreement, Dalibai went ahead and took Samadhi. She instructed Ramdev to follow suit in three days' time. Ramdev, as the narrative records, paid homage to Dalibai by singing bhajans at her Samadhi for three days, after which he consigned himself to the earth."

Defending the status of deity attributed to a Meghwal female must have given a sense of pride to the members of Meghwal caste and an icon to rally around. Singing of bhajans by Ramdev and Dalibai in lower caste gatherings in general and Meghwals in particular gradually built up the close socio-cultural network within the Meghwals[14] and provided them an identity as a community.

In the 18th century Rajasthan underwent crucial political transformation[15]. The Rajput polity was shrouded with challenges in the changed political scenario. In order to stabilize and strengthen its social position an attempt by the Ruling Rajputs was made to bring several folk deities along with Ramdev into their fold. The process of Rajputization of Ramdev,[16] gave him a definite kind of image and identity along with the other folk deities. His birth in Rajput family was stressed alongside image of Ramdev in prince attire sitting astride a horse with flag was popularized from the 18th century. From 19th century he has been considered as the incarnation of Lord Krishna,[17] increasingly, narratives and legends made him the part of the incarnation theory. Subsequently with time, upper caste as well as Rajputs started worshipping him. In this whole historical

process when the identity of Ramdev from the 'god of untouchables' to 'Pan Hindu god' was being formed, his co disciple Dali bai was not included.

Swami Gokul Das, records the construction of temples at Samadhis of both Ramdev and Dalibai in the same enclosure.[18] The temple of Ramdev was renovated by Sri Ganga Singh, who ruled Bikaner during first half of the twentieth century, new floor was constructed and doors of the temple were replaced. The author records with dismay that Ganga Singh paid no attention to the temple of Dalibai which stood in a bad condition next to Ramdev's temple.

It is asserted that every year, a large number of Meghwal devotees visit the temple and make monetary contribution, but money by the trust of the Ramdev temple, is not spent on Dalibai's temple.[19] The neglect of Dalibai as a deity was further established when visit of the devotees, offerings and physical representation was personally observed by me at Runeecha temple.[20] The shrine of Dalibai besides Ramdev's temple presents a stark contrast. It was a small structure, not repaired for a long time and without any proper icon of Dalibai in the sanctum sanctorum. The devotees queued up to worship and make offering to Ramdev. Once out of Ramdev's temple very few of them paid a visit to Dalibai's shrine. When inquired from those few, most of them were found to be from the lower caste groups. A few of them who visited Dalibai's shrine from the middle caste and upper caste groups knew nothing about the deity. The shrine had no regular priest but I was told that priests from Meghwal community perform puja (prayer)and receive offerings.[21]

Interestingly, an attempt has been made by some groups to bring her into the fold of Vaishnava cult. In the blockbuster films Dalibai has been portrayed similar to Mira. She has been shown wearing outfits very similarto the created imagery of Mira and supporting a single mala (garland) singing with an instrument similar to Mira and being a Bhakt (devotee) of Krishna. In a subtheme of the film, she is thrown out from the palace of Ramdev by his wicked aunt. So when Ramdev comes to know about it, he goes to get her back. However when he confronts her and asks her, why she has left the palace and him? Her answer was, 'who said I have left you', 'I will die if I do so, look you are with me and takes out an idol of Krishna and says here is my Prabhu, my Nandlal' (Lord Krishna is

addressed by multiple names, Nandlal is one of them). There is an attempt in both the films to appropriate Dalibai into the Hindu religious fold by subsuming her into the Krishna incarnation theology. Dali Bai has been shown singing Bhajans of Ramdev on Tambura and playing Chimta while moving with a lower caste Mandali from place to place. She is also depicted as a worshipper of lord Krishna and addresses Ramdev as her Murlidhar. There is all possibility that portraying her as the devotee of Lord Krishna, there seems to be an attempt to weave her identity with pan Hindu through the Krishna re-incarnation theory like Ramdev.

However, with regard to the acceptance of Dalibaias a Hindu goddess by the upper caste communities at large, the observation made in the text Meghvansh Itihas by Swami Gokul Das regarding her neglect by Maharaja Ganga Singh and physical representation and worship of Dalibai at Ramdev temple at Runeecha as well as other temples as observed by the author, throw up some important conclusions. The attempts to appropriate Dalibai into the Hindu pantheon of deities, therefore, have remained primarily at theological level. Caste still functions as a major deterrent for the upper caste groups in accepting Dalibai as a deity.

References

1. *The devotees revealed during the course of an interview on March2001at the temple of Ramdev and Dalibai at Runeecha that Dalibai protects them from diseases, natural calamities and evil spirits. Also see Gokul Das,(1994) MeghvanshItehas, Ajmer: Phoolchand Bookseller.*
2. *Nainsi, Muhato, Marwar Ra ParganaRiVigat, eds., Narayan Singh Bhati, Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur1968. Also see B.L. Bhadani, Peasants, Artisans and Entrepreneurs Rawat, Jaipur, New Delhi 1999 pp 361.*
3. *D. SilaKhan(1997), Conversion and Shifting Identities: RamdevPir and the Ismailies in Rajasthan, Delhi:Manohar.*
4. *MunhtaNainsi, Marwar-Ra-Pargana-Ri-Vigat, Vol. II, RORI, 1969*
5. *RajshreeDhali(2007) ."History, Community and Identity: An interpretation of Daliba" in Language Forum. Vol33, Issue1, Bahri Publications.*
6. *PushpaBhati,(1996)Rajasthan KeLokdevtaAvamLokSahitya, Bikaner :,KavitaPrakashan*
7. *Dominique Sila Khan, opcit; KumudSharma (2002) LoknayakBABA RAMDEV lokdharamavamlokparampara, ,Jaipur:Jaipur publishing house; SonaramBishnoi(1989), Baba Ramdev: Itihas Avam Sahitya,*

Jodhpur: Scientific publishers
8. *ibid*
9. *DominiqueSila Khan, opcit*
10. *Shyamlal (2010), studies in social protest..Delhi :Rawat*
11. *Gokul Das, (1994) MeghvanshItehas,Ajmer.:Phoolchand Bookseller,*
12. *In both the films,it has been portrayed very elaborately*
13. *Gokul Das opcit. D. Sila Khan opcit*
14. *RajshreeDhali,"(2016) Making of an Identity: Meghwals of Rajasthan" in SwarajBasu (Ed): Readings on Dalit Identity: History, Literature andReligion.OrientBlackswan.*
15. *See, James Tod (1829), Annals And Antiquities Of Rajasthan ; Vol. II;London:Routledge and Kegan Paul Ltd..VisheshvarNathReu; "Maharaja Ajit Singh of Marwar", in Suresh Kumar Sharma and Usha Sharma eds.; Rajasthan Through the Ages; Vol.-1; Delhi; 1999; and VisheshvarNathReu; MarwarKaItehas; Vol.1; 1999*
16. *Imperial Gazetteer of India provincial series, Rajputana 1908, page 200.,Rajputana Gazetteer Vol. III-A, Western State Residency, 1909., Personally visited Mandore on 9th Oct, 2000.*
17. *ShriPanalalTripathi (1973), AvtariShriRamdev Katha, Madras. Also seeRamdevChalisa, ShriSarswatiParkashan, Ajmer.*
18. *Gokul Das opcit*
19. *Revealed by the Kamad singers of the BhajanMandali of the temple complex of Runeecha/ Ramdevra while interaction in march 2001.*
20. *I visited in march 2001and observed and then again in 2016.*
21. *Ibid*

Memorial Stones : A Study of Regional Context in Early Medieval Indian History

Dr. Neeraj Sahay

Memorial Stones have been found in different parts of India and their origins are often associated with megalithic period or agro-pastoral ecological and economic settings. These structures were erected in certain socio-political situations. In India, memorial stones have been largely found in peninsular, Western and Central India. This paper attempts to understand the regional context of the memorial stones without any claim to any comprehensive survey of pan Indian situation. At the outset, it may be highlighted that in peninsular India, the literary references are earlier as compared to archaeological finds. In the remaining areas the physical remains are dated earlier than literary references. In the following pages, our endeavor is to look at the historical data relating to parts of peninsular and Western India. We confine ourselves to the sources dated up to early medieval period, in an effort to unravel some of the following pertinent questions. What kind of variations do we find in these memorial stones? How these structures changed over period of time and what were the contexts of these changes? The meanings of death are an equally important subject matter of our study.

As a subject of study, Memorial stones received scant attention till 1980s. Romila Thapar opined in 1981: " That historians and archaeologists have until recently tended to ignore this cult (hero-stones) may also be partially explained by its being culturally a substratum cult and by the fact that it contradicts the neat generalizations culled from the classical Sanskrit texts."[1] In the following year, S. Settar was more categorical about the case of Andhra: "Our knowledge of the Andhra Pradesh memorials is so scanty that at present very little can be said about them; we are also not aware of any institution or scholar who is actively engaged in their study. But there appears to be hardly any doubt that there is vast and varied material hidden in this land…."[2] In the volume edited by Settar, B D

Chattpadhyaya echoed similar understanding pertaining to study of early memorial stones of Rajasthan. This was partly attributed to lack of information about the dead and the conditions of their death.

The inadequacy of research that Thapar and Settar pointed was filled to some extent by R. Chandrasekhara Reddy.[3] Reddy's study took in to account several taluks of the Rayalaseema and a few located in coastal and Telengana district of erstwhile Andhra Pradesh. Though the concentration of these memorial stones was largely found in Rayalaseema, however it transcended the barrier of this physiographical zone. Memorial stones were also found in the surrounding states. Reddy's survey significantly highlighted the sub-regional distribution pattern of hero-stones. A total of 476 hero-stones were surveyed out of which 72.2% were distributed in the sub-region of Rayalaseema. Hero-stones in the contiguous Telangana and coastal Andhra were quite less but equitably (13.3% and 14% respectively) distributed. Although, Reddy's work was a welcome addition to existing literature the ascription of sub-regional specific purposes of hero-stones was based on sporadic data.

In Rajasthan, two kinds of stone structures were found in early medieval period[4]. First of these have been identified as memorial pillars called Govardhana or Tirthambas. These had sculptured tops. Another kind called paliyas or devalis stood vertically and had relief work. Paliyabhumi referred to location of memorial stones on the periphery of villages or near river banks. B D Chattopadhyaya cites evidences from Nagaur dated 7th century AD and then dated to 12th century from Pushkar and Jaisalmer. These pertain to death of men and following it, their spouses performing Sati. Romila Thapar classifies memorial stones other than hero-stones as complementary and subsidiary. The first category refers to sati stones. Sati or Sati-kal could be counterpart of Vira-kal. There is growing incidence of sati after mid first millennium AD. Subsidiary stones pertained to those that need to be propitiated. These were initially worshipped by cult priest called bhagat. Upon more elaboration of memorial stones, brahmana priests started performing the rituals. Death could arise untimely and unexpectedly such as in the act of a fight in cattle raid or battle field or coastal area, accident, suicide out of anger or desperation, etc. Memorial stones appear to commemorate death as a ritual and not all of them were hero stones. This could be true of any region. Evidences from Bayana in

Bharatpur, Pokharan in Jodhpur and Jaisalmer-all dated to early medieval context record deaths during cattle raids.

Deaths of the heroes in Rayalaseema of Andhra Pradesh and the adjoining areas are recorded in various acts. The ecological settings of hero stones provide insights about people living on the margins of agriculture and their possible subsistence strategies. These memorials have been reported from the frontier areas viz. upland areas, areas bordering forests and tribal habitats. These areas were not conducive to regular cultivation. Subsistence strategies of the societies producing hero-stones could not have been uniform. They could be hunters, cattle-herders and some other groups occasionally practicing cultivation. Mayank Kumar's study of Rajasthan (Monsoon Ecologies: Irrigation, Agriculture and Settlement Patterns in Rajasthan during pre-Colonial period) underlines agro-pastoralism and how pastoralism and agriculture not only co-exited but complemented the sustenance forms.[5] Govardhanas thus reflect cattle raids and their implications for the ecological context of Jaisalmer. Malini Adiga treats the evidence of land grants in hero stone inscriptions of south Karnataka as a sign of mixed farming.[6] In Andhra, the antiquity of cattle raids in memorial stones is traced back to 4th century A.D. chaya-khamba found at the Ganaperuru village in Siddhavatam taluk of Cuddapah.[7] Romila Thapar has suggested that the frontier areas served the important purpose as buffer zones. Located outside the kingdoms, the locals sought to protect themselves. Such settings could produce heroes. These areas could provide refuge to peasant groups fleeing from demands of exorbitant revenue. However, this could result in conflict with the local population. In course of state formation buffer areas could also be colonized.

Several hero stone inscriptions in Rayalaseema underline the forest setting. A hero stone, dated to the reign of a Nolamba king was found in Hindupur taluk of Anantpur district. It was raised in the memory of a hunting dog Puniga, which died in the act of killing a wild boar.[8] Several inscriptions from Cuddapah, Kurnool and Chittoor refer to death of the heroes in the act of fighting with tigers. R. Chandrasekhara Reddy points out that the forests in Nallamlla hill range where Srisailam is located is even now a tiger reserve forest.[9] A certain Vikramaditya had died in the act of killing four warrior sons of Vanaravadi.[10] A 10th century inscription from Peddabalijapalli in Rayachoti taluk records the death of a hero after

capturing the elephant of the enemy.[11]

Several inscriptions from Cuddapah in Andhra refer to warriors who died in the act of a fight or battle. Narasingarajapuram inscription from Rajampet taluk records the death of a warrior named Sattigandandu.[12] Ragidavanapalle inscription of Raychoti taluk registers the fight of certain Chatta Virunrayya.[13] A warrior named Anichchura fought with several wrestlers or mallas in the Kakandi battle of Vupallapara of Muttukuru (identifiable with Muttukur in Pulivendla taluk.[14] During the reign of Vaidumba king [Ga]nda Trinetra, a warrior named Chandraditya died while fighting several enemies in Tiruvula battle with Bana king.[15] An inscription from Bandapalli in Rayachoti taluk, dated to the rule of the same Vaidumba king mentions that Vinnampa Vikrama Redya, probably a subordinate of the king and the ruling chief of Valahaka died when the Bana king attacked the fort of Sora [medi]. The exalted warrior fought against enemies named Rachamalla, Nolambi, Maindadi and Dadiga along with their elephants and horses and finally seized the fort. Upon his death, a memorial stone was set up to record his heroism.[16] Vandadi inscriptions from Rayachoti taluk register the death of a warrior called Ereyamma in Mudimaduvu battle that took place between Ganapa Trinetra and Nolambi Maharaju Renanti Podanru, the senapati of Kalinga-Trintera also died. Subadeva and Kannanurlu offered themselves in Kilgunta.[17] Peddabalijapalli inscription from Rayachoti taluk registers the death of Kadheyarala Vijayaditya after capturing the elephant of Ganga Racheya.[18]

An important question to ask is why people behaved in a particular way. Did the fragile ecology drive people to desperation and in course of time societies came to celebrate such acts of heroism? The change may itself have been of a temporary nature and whenever the identical situation was produced, people acted in a certain way. The local histories register stories pertaining to breaches in the water tanks and people sacrificing their lives to close those breaches. Such heroic activities came to be celebrated and got ritualized in course of time. R. Chandrasekhara Reddy refers to such activities in the case of Andhra.[19] The context of water bodies and their association with Govardhanas in Jaisalmer needs to be explored.

Elisabeth Schombucher in a study of the Vadabalija fishing community of the Vishakhapatnam district in coastal Andhra underlines

how a sudden death of a minor was helpful to the kin and could thus provide tangible benefits to the bereaved.[20] The dead were accommodated in a hierarchy below the regional goddess and exercised a limited influence on the kinsmen. However, this limited influence could also take care of the basic existential necessities of living. The following inscriptions offer insights in to endowment made to the families of the dead. Kasanur inscription from Pulivendla taluk of Cuddapah, with Telugu characters assignable to 8th century A.D. informs that a certain [A] ggalaya died while fighting with Vommanarayarataru and subsequently a grant of talara (office of village official) was made.[21] Bodinayamipalli inscription[22] from Chittoor, informs that Baldi of Mangala died in a battle during the reign of Vajjradeva over Pulinadu. In A.D. 964 Arasu Vajjradeva and Ur (Mangala) donated five kola of paddy fields) to the deceased's family. The field was measured by rajamana (royal standard). Here, the donation by local assembly using the bamboo pole (kola) measurement is significant. The recipient of endowments may have benefited both socially and materially. Another inscription from the same place and dated to the same time[23] registers the death of Hengila Irugiya. The Arasu and the Ur donated to the deceased's family 18 kalani as kalnadu under a tank on the North of Mangala.

Death could have complex meanings for the departed and those they left behind. Heroes exhibited loyalty to the chief while sati did the same for her husband or master. For both of them it was an act of self-assertion. The process of deification and their association with deities evoked timelessness. The symbol of Sun and Moon meant eternity. For sati, it was an escape from the curse of widowhood since she would sit in the funeral pyres, dressed like a bride wearing bangles. Romila Thapar suggests that in hero-stones, one could find an alternate conception of death as compared to Brahmanical system. A hero could be transported instantly to heaven without suffering the ordeal as preta (wandering soul). In Brahmanical system, the concept of Pitr is predominant. It relates to a ritualized reminiscence and feeding for the soul to be nurtured in heaven. In the earlier period, for the living it could mean ways to strengthen patrilineage. Since there was a premium on heroic death, the status emanating from it could be appropriated by the royalty. Relocation of memorial stones within temple courtyard from outskirts of the village

amounted to enhancement of socio-political prestige.

The question of patronage, an important aspect of literature or any art (sculptural or structural) form is not analyzed in the study of hero-stones. Who incurred the expenses and who gained profitably from such an exercise is not studied. The issue of patronage is significant because the economics of raising memorials and structure of legitimacy cannot be ignored in societies, largely characterized by hunting, gathering, pastoralism and tribalism. A preliminary survey suggests that kinship played an important role in erecting tiny structures of cultic significance. Stray evidence from Remidcherla in Vinukonda taluk of Guntur in Andhra suggests that residents set up a hero-stone at Remidcherla.[24] Patronage becomes clear in cases where the donor was a chief or a king. Only the rulers belonging to Vaidumbas, Nolambas, Banas and their higher functionaries could afford to honour the memory of Virapurushas through land grants. The picture becomes clearer when the rulers like Bukkaraya and Krishnadeva Raya honoured these Virapurshas.

The form of memorial stones underwent changes over time. The sculptured panels showed Sun and Moon, and religious sect on the top. These could have Shaivite or Mahavira affiliation. Below this panel transportation of the dead or the hero to heaven by damsels was engraved. The act of heroic death was shown in the lowest panel. B D Chattoapdhyaya in his study of memorial stones of Rajasthan has suggested that the shift from simple wooden pillars to stone structures should be understood in terms of evolution of Rajput polity. The development of architectural pavilions in later times appears associated with emerging royalty. The memorial stones were also erected for Brahmanas, Jainas, Mercahants, Waigama, Kayasthas and family members of Potters or even Courtesans. However, memorial stones including sati stones predominantly these belonged to Rajputs. The social status could also be seen in the official titles like Rauta, Raja, Rana etc. In several cases, the dead or the hero came from ordinary background in the earlier period. More detailed styles could be result of claims of Kshatriya or higher social status.

The admiration and worship of the heroes, in course of time entered the realm of sacred shrines. Romila Thapar traces the transition to more detailed structures towards end of first millennium AD. There are evidences

from Palnadu of this transformation. Places like Macherla, Karempudi and Gurajala have several stories connected with it. In A.D. 1066 a certain Achkunjundu is stated to have sacrificed his life by offering his head to the goddess Pedlalsani for the sake of his lord Birudagamaya.[25] Kakatiya king Pratapa Rudra made land endowments for the worship of such Virapursha. The find spot of the memorial is just opposite to three temples dedicated to such heroes. Palnativirula Katha, produced in the medieval period contains information about the heroic tradition of Brahma Nayudu, his son Baludu and several of their followers. The epic of Palnad is performed even today. The ecological setting of Palnad, cutting across sub-regions is clearly brought out by Gene. H. Roghair.[26]

In Andhra, the martial tradition of hero cult came to be associated with many Shaivite centres, prominent among which were Srisailam, Tripurantakam, Draksharama, Palakollu, Bhimavaram, Gudipudi and Amravati. Malkapuram Stone Inscription(1261 A.D.)[27] records interesting information in this regard. Visvesvara Siva, the guru of Ganapatideva upon receiving the villages of Mandaram and Velagapundi from the father and daughter duo (Ganapatideva and Rudramba), combined these villages to constitute Visvesvara Golaki. A temple and a Matha were raised. Sixty Brahmin families, which worshipped Kalamukha sect, were brought from the Tamil land. Of these, Virabhadras were appointed as gramasyaraksakah or the village guardians. Along with Virabhadras, another group Viramustis practiced horrifying acts of self-torture. The genesis of the violent acts should be located in the cult of hero-stones, the evidence of which is prolific from 8th century onwards.

Romila Thapar has postulated that in the pastoral zone of Western Deccan, the development of cult of Vithoba-Pandherpur (in Maharashtra) in 12th century A.D. shows the process of deification of hero stone. This deification went beyond just transportation to heaven. Dead being carried to heaven could be seen from earliest times. Self- perception of the Marathas could be bolstered with the halo of this Vithoba-Pandherpur. Georg Berkemer in a comparative study of Kalinga and Andhra has argued that the 'politically sanctioned hero cult arose in Andhra in 13th century'.[28] There is a problem of chronological framework in this argument. In fact evidences point to decline in the cult of hero-stone after 1000 A.D. The militarization of society under Kakatiyas had already entered its formative

phase. Thus, the hypothesis of post-Kakatiya militarization and its linkages with anti-Bahmani struggle may not favourably weigh with the available evidence. B D Chattopadhyaya underlines that the early memorial stones roughly were spread over 1000 years that continued up to 13th century.

The variation within memorial stones is undoubted. However, while a neat ascription of purposes for which they were raised in different regions cannot be established, it is certain that these were governed by ecological and socio-political contexts. They were located on the margins of settled land, ranging from forests to lands of mixed farming. Also, the memorial stones did not remain immutable over period of time. These deaths were viewed differently in different contexts. Marking death, these memorials were not necessarily about heroism. However, the heroic deaths could bring tangible benefits to the bereaved.

References

1. *Romila Thapar, "Death and the Hero", included in her more recent edited volume, Cultural Pasts: Essays in Early Indian History, OUP, 2003, p. 680.*
2. *S.Settar, "Memorial Stones in South India", in S. Settar and Gunther D. Sontheimer (ed.), Memorial Stones: A Study of their Origin, Significance and Variety, Dharwad and Germany, 1982, p. 187.*
3. *R. Chandrasekhara Reddy, Hero Cults and Memorials: Andhra Pradesh, 300 A.D.-1600 A.D., Madras, 1994.*
4. *B D Chattopadhyaya, Early Memorial Stones of Rajasthan: A Preliminary Analysis of their Inscriptions, in S. Settar and Gunther D. Sontheimer (ed.), Memorial Stones: A Study of their Origin, Significance and Variety, Dharwad and Germany, 1982. Reprinted in B D Chattopadhyaya, Making of Early Medieval India, New Delhi, 1994, pp. 120-129.*
5. *Mayank Kumar, Monsoon Ecologies: Irrigation, Agriculture and Settlement Patterns in Rajasthan during pre-Colonial period, New Delhi, 2013.*
6. *Malini Adiga, The Making of Southern Karnataka; Society,Polity and Culture in the Early Medieval Period, A.D. 400-1030, New Delhi, 2006, pp.65-66.*
7. *M.L.K.Murty, "Memorial Stones in Andhra Pradesh", in S.Settar and Gunther D. Sontheimer (ed.), Memorial Stone: A Study of their Origin, Significance and Variety, Institute of Indian Art History, Dharwad and South Asia Institute, University of Heidelberg, Germany, 1982, pp. 210-11.*

8. *SII, vol. IX, no. 37 cited in Reddy, p. 54.*
9. *R. Chandrasekhara Reddy, p.74.*
10. *IAP, Cuddapah, part I, pp. 41-42.*
11. *Ibid., p.72.*
12. *Ibid., p.49.*
13. *Ibid., p.58.*
14. *Ibid., p.61.*
15. *Ibid., pp.62-63.*
16. *Ibid., pp. 64-65.*
17. *Ibid., pp. 66-67,68-69.*
18. *Ibid., p.72.*
19. *R. Chandrasekhara Reddy, Hero Cults and Memorials, Andhra Pradesh, 300 A.D.- 1600 A.D, New Era, Madras, 1994, p.16.*
20. *Elisabeth Schombucher, "Death as the Beginning of a New Life: Hero Worship Among the South Indian Fishing Caste", in Claus Peter Zoller and Elisabeth Schombucher(ed.),Ways of Dying: Death and its Meanings in South Asia, New Delhi,1999,pp.162,177.*
21. *IAP, Cuddapah , pp.59-60.*
22. *ARE, 1931-32,No. 180 cited in M.D. Sampath, Chittoor.., p 146.*
23. *Ibid, no.178 cited in M.D Sampath, Chittoor..*
24. *ARE, 237/1935-36 cited in R. Chandrasekhara Reddy, p. 57.*
25. *ARE, 448/1938-39, cited in R. Chandrasekhara Reddy, p. 14.*
26. *Gene H. Roghair, The Epic of Palanadu - A Study and Translation of Palnativirula Katha, Oxford, 1982, p 21.*
27. *JAHRS, IV, no. 3and 4 (1930), pp. 147-62.*
28. *Georg Berkemer, "No heroes in Kalinga?,"in Claus Peter Zoller and Elisabeth Schombucher (ed.) Ways of Dying: Death and its Meanings in South Asia, New Delhi,1999,pp.179-189.*

Mathas, Acharyas and Ascetics: Lakulisha-Pashupatas in Early Medieval Western India

Ravina Meena

Introduction

This paper intends to look at the role of the various Shaiva ascetic lineages or sects in carving out a separate identity of Saivism in western India centered on the institution of mathas. The role of the mathas would include a detailed history of its emergence and the resultant effect on the formation of various ascetic sects and consciousness around them. This paper will analyze the dominance of the Lakulisha-Pashupatas in early medieval western India and would also discuss a host of issues ranging from the social to religious.

This study also explores the historical context of the evolution of the ideology oriented towards asceticism and the institutional framework within which it functioned. It also studies how this ideology was manifested in the Brahmanical institution and society. The development of the early medieval western Indian monasteries could be seen at two levels: i) ideological-philosophical; and, ii) institutional.[1] Monasteries were/ are for the ones who want to take up asceticism to seek self-discovery in the long run.[2] This is to say that at the individual level, these were the spaces where one could focus on the inner self and get freedom from the cycle of birth and death through the practice of asceticism. As an institution, monasteries were also the places of social transformation as monks were facilitated with knowledge bearing activities such as spiritual mentoring, etc. They often functioned as a powerful mechanism through which the political elite and royalty would try to seek legitimate status.[3] The mid-first millennium CE saw the spectacular rise of Shaiva monasticism, especially in the peninsula.[4] Romila Thapar sees a gestation period for Shaiva monastic orders.[5] She argues that the Shaiva sects particularly the Kapalikas and the Pasupatas are referred to in earlier literature but are more commonly mentioned in other sources from about the seventh century

onwards. According to her, the Shaiva mathas seem to have played the same role as that of Buddhist and Jaina monasteries. They were also the instruments of acculturation in new areas since their early distribution was substantially in the peninsula and on the fringes of the heartland in northern India such as Kashmir and Nepal.[6]

The appearance of monastic establishments occurs historically at periods of change marked by not only religious but also socio-economic conditions which sanctioned the maintenance of such groups. For example, the growth of urban centers and the expansion of the agrarian economy provided favorable conditions for the growth of mathas.[7]

Ranabir Chakravarti had argued that religious organizations before the fifth century, received the major share of their patronage from individual donors like artisans, merchants, various professional groups, important administrative officers, and even rulers.[8] But subsequently, a significant change occurred in the nature of the donations. This change can be seen in the practice of creating agraha?ra, brahmadeya and devada?na holdings with the consent of political power.[9]

The Puranic Brahmanism of the early medieval period saw the emergence of the Brahmanical monastery with new political support to them, and it gave rise to a new alliance between ascetics and royalty.[10] The Gupta period gave a boost to Brahmanical culture and religion, which further gave special attention to the use of Sanskrit as the courtly language.[11] For the propagation of Sanskrit as an official language, it was important to incorporate Brahmanical schools into the temple. This could have encouraged the development of Brahmanical monasteries attached to temples.

The early medieval period saw the development of various sects which represented monasticism and were patronized by the royal dynasties. Our study suggests that the Mattamayu?ras and the Lakulisa-Pasupatas were two among these monastic movements, which developed in Western India. Monasteries acted as the focal point of social activity from dispersions of spiritual knowledge to preceptors of kings, and from the seat of advanced learning to the promoter of commercial and economic trade.

Shaiva mathas seem to have been a popular institution in the early

medieval era, and inscriptions have yielded several references to them from north India.[12] The inscriptions of Kalacuris of Madhya Pradesh help us to understand the functions of mathas in a Shaiva complex. Chandrehe and Gurgi inscriptions talk about Shaiva acaryas who moved from Mattamayura matha to the Chedi country.[13] The mathas from time to time provided Shaiva pontiffs to the monasteries of the Chedi country. The propagation of the Agamic Saivism was carried out through the acaryas of such mathas who also provided spiritual guidance to royal families such as the Andhras.[14] More often than not, these Shaiva mathas were attached to Shakta temples. The Golaki matha in Kalacuri territory was attached to sixty-four Yogini? temple at Bheraghat.[15] Thus, Shiva and Shakti worship became inseparable components of worship in Shaiva monastic establishments that had tantric overtones. This can be seen in yogini?s and acaryas, and viras participating in the rituals.[16] Peasants and other service providers worked for matha and were paid by it. These monastic establishments worked as feudal overlords who gave spiritual succor to the ruling classes, which in turn made donations of cash and land to them.[17]

Mathas acted as a center for popularization and propagation of Saivism in the area. The disciples from the area received indoctrination regarding Shaiva rituals and practices, and this ensured the extension and perpetuation of the sect in the region. The mathas must have also acted as a landed magnate controlling landed resources and servants.

Shanta Rani Sharma explains the reason behind the growth and popularity of Saivism in Rajasthan during c. 600-1000 CE. According to her, the austere life and effective organization of Shaiva teachers, through their active participation in temple building and management paved the way for the active growth of Saivism in Rajasthan.[18] Apart from that, their adoption of the market concept of investment to enhance the temple resources and patronage received from the political elite also strengthened their position.[19]

Lakulisa-Pashupata Sect

Puranas divide Saivism into three categories- Vedic, Tantric, and mixed (misra).[20] Pathak says, "In the mixed school of Saivism, the main deity Shiva was worshipped along with other four gods. This school is,

therefore, the same as the Smarta cult of the pañcadevopasana. Vedic Shaiva school appears to be the same as Lakulisa Pasupata whereas Tantric school was perhaps constituted by Kalanana, Kapalika, and other extreme sects. It may, however, be noted that even Lakulisa Pasupata is originally Agamic but it is described in the Puranas as Vedic because it is comparatively more orthodox and in the beginning, it recognized the Vedic institution of varna. The Shaiva-Siddhanta school was Agamic."[21] According to Dr. S.N. Dasgupta, the Pasupata system is a Brahmanical system where only brahmanas could be initiated to the Pasupata doctrines, but at the same time, it seems to break off from Brahmanism in a variety of ways.[22] It does not recommend any of the Brahmanical rites, but it initiates some new rites which are out of the Brahmanical domain.

According to R.G. Bhandarkar, Lakulin is the same as Nakulin and his rise has been represented by the Puranas to be contemporaneous with Vasudeva-Krishna, points to the inference that traditionally the system was intended to take the same place in the Rudra-Shiva cult that the Pancaratra did in the Vasudeva-Krisna cult.[23] Therefore he places the rise of Pasupata school around second century BCE. Whereas V.S. Pathak has suggested that Srikantha, was the founder of the Pasupata sect and a second movement in the history of the sect was initiated by Lakulisa whom he also placed in the second century BCE. He argues that references to the Pasupata school occur centuries earlier than Lakulisa and the branch started by Lakulisa was called after him as Lakulisa Pasupata.[24]

He further states that Lakulisa does not seem to be an immediate disciple of Srikantha because the accounts of Srikantha and Lakulisa available from literature and inscription do not represent them as teacher and disciple. On the other hand, a tradition in the A?gama quoted by Abhinavagupta (950-1016 AD) records the receiving of the doctrine by Lakula from Svacchanda Bhairava.[25]

D.R. Bhandarkar refers to the Mathura pillar inscription of Candragupta II, which records a donation by the Maheshvara teacher Uditacarya of two lingas named after his teacher, Bhagavata Kapila, and teacher's teacher, Bhagavata Upamita.[26] Here Uditacarya is described as tenth in descent from Bhagavata Kusika and fourth in descent from Bhagavata Parasara. He identified this Kusika with Kusika, the disciple of

Lakuli?s?a. On the basis of the inscription which is dated c. 380 CE, he assigned Lakulisa to the first half of the second century CE.

J. Van Troy assigns the widespread popularity of Pasupata movement in the light of the concept of tradition or sampradaya.[27] He has interpreted the concept of tradition concerning Sakhya theology. The strength of the tradition or sampradaya depends more on the personal guidance of the acarya than a doctrine.[28] This explains the origin of the various lineages in the Pasupata sect and their focus on spiritual growth with the help of a guru. Pranabananda Jash argues that Lakulisa could not have been the founder of Pasupata sect because if this would have been the case, then Patanjali would not have referred to them as Shiva-Bhagavatas.[29] He further argues that Lakulisa was instrumental in the growth of the cult and not for its origin. According to him, Lakulisa was probably the founder of the Lakulisa-Pasupata sub-sect which was orthodox in nature and was based on the Pasupata-sutra.[30]

B.P. Majumdar distinguishes Lakulisa-Pasupata from other schools of Saivism such as Mattamayuras, Kapalikas, Kalmukhas, Lingayats based on their belief in the theory of the incarnation of Shiva.[31] Unlike the Saivites who were guided by the Naiyayikadarshana, the Lakulisa-Pasupatas were the followers of the Vaisesika school of philosophy.[32]

U.P. Shah has dated Lakulisa in the first century B.C.[33] He argued that the cult must have been popular in Western India early in the Common era because ksatrapas in that region was known by names like Rudradaman and Rudrasimha. This point towards the possibility that ksatrapas came under the influence of this sect.[34] Many scholars have raised their doubt regarding the late dating of Lakulisa. V.S. Pathak has argued that there are two Kusikas among the spiritual descendants of Lakulisa.[35] Kusika I was among the earliest four disciples of Lakulisa whereas Kusika II is tenth in a list of seventeen tirthesas beginning with Lakulisa. Therefore we cannot precisely assume which Kusika was the one who is mentioned in the Mathura Pillar Inscription. According to David N. Lorenzen, the other reasons to refute this dating is the fact that neither the word Lakulisa nor Pasupata occur in the record.[36] J.N. Banerjea sees Lakulisa as the 'systematizer' of the earlier Pasupata order.[37] He mentions that Lakulisa seems to have systematized and reorganized an already existing Shaiva

order. He gives an analogy of Basava's association with Viraaivism to prove his case. The contribution of Lakulisa was so great that the sect came to be known by his name and the sub-sects which came into existence because of his immediate disciples also came under this general order.[38]

David Lorenzen has suggested that Shaivite ascetics existed before Lakulisa and some of these inculcated similar beliefs and practices, but this does not justify calling these early Shaivite ascetics Pasupatas.[39] According to him, Lakulisa was in all likelihood the founder of the Pasupata order.[40]

Alexis Sanderson argues that Agamic Saivism is a development from a Lakula base.[41] Through his study of various Shaiva texts, he proposes a structural continuity between the Lakula division of the Atimarga and the Agamic Saivism of the Mantramarga. This continuity could be seen both in Kapalika and Kalamukha practices.[42]

Susmita Basu Majumdar talks about the existence of another Shaiva tradition named Mausula in the early medieval period which was an offshoot of the Lakulisa sakha of Shaiva pantheon. She says, "these Mausulas though Pasupatas in a wider sense, too stem from Lakulisa. They are put on a lower scale by the Svacchandatantra and its commentator. The difference between the various sub-traditions within a larger tradition was mainly based on the hierarchy of highest stations, which was their ultimate goal."[43]

The Santiparvan of the Mahabharata gives the earliest reference to the Pasupatas as one of the five religious doctrines popular that time.[44] The five religious doctrines are Samkhya, Yoga, Pancaratra, the Vedas and Pasupata. It further mentions that the Pasupata doctrine is propounded by Shiva, who is also called lord of Uma, lord of beings, Srikantha, son of Brahma.[45] The Linga Purana mentions that Maheshvara has told Brahmadeva that when, at the time of Krishna-Dvaipayana during the twenty-eight repetition of the yugas, Vasudeva, the best of Yadus, would be born of Vasudeva, he would incarnate himself as a brahmacarin by the name of Lakulin after entering a dead body thrown into a cemetery.[46] The place where this would occur would be called Kayavatara or Kayavarohana, and he would have four pupils of the names of Kusika, Garga, Mitra, and Kaurusya.

According to Susmita Basu Majumdar, the process of the incarnation in Saivism was probably inspired by Vaisnavism.[47] Though Puranas end the process of incarnation soon after Lakulisa, yet, the Jayadrathaymala mentions a set of another 38 gurus in addition to the previous set of 28 who were declared as direct incarnations of Shiva.[48] These 38 preceptors were given the status of Rudras and not Shiva himself. The Junwani copper plate inscription indicates that these 38 embodiments which also claimed incarnated status declared themselves or were declared by their followers as incarnations of Lakulisa, the last incarnation of Shiva.[49]

The epigraphs of our time give various accounts of the story of the incarnation of Lakulisa. The Eklingji temple inscription (971 C.E.) informs us that Shiva became incarnate as a man with a club (Lakula) in his hand, in the country of Bhrgukaccha.[50] It records that Bhrigu being cursed by Murabhid (Vishnu) propitiated the god Shiva, who assumed a bodily form in the presence of that sage. The place where Shiva got descended on earth was called Kayvarohana. It mentions that Kusika was the most important and senior-most disciple of Lakulisa. The last line of the inscription gives some Shaiva ascetics name, because of whom this temple was constructed such as Supjitarasi and Viniscitarasi.[51]

Table 1 : Spread of Lakulisa-Pasupata Sect

No.	Name of Inscription	Date	Place	Lineage	Reference of Lakulisa/ as Shiva	Marital Status
1	Ekalingji Stone Inscription[52]	971 CE	Ekalingji, Udaipur	Kusika	An incarnation of Shiva with a lakula (club) in his hand	Celibate
2	Harsa Stone Inscription[53]	973 CE	Harsagiri Sikar	Not known	Pasupata	Celibate
3	Paldi Stone Inscription[54]	1117 CE	Udaipur, Rajasthan	Kusika	Incarnation of Shiva at Kayavarohana	Celibate
4	The Somanathapattana Prasasti[55]	1169 CE	Somanatha Gujarat	Gargya	Pasupata	Married
5	The Abu Inscription[56]	1208 CE	Abu, Rajasthan	Capaliya	Not known	Celibate
6	Eleven Land Grants of the Calukyas of Anhilvad- VII[57]	1231 CE	Patan Gujarat	Not known	Not known	Married
7	The Cintra Prasasti[58]	1287 CE	Somanatha Gujarat	Gargya	The incarnation of Shiva in the form of Lakulisa	Married

The Paldi inscription of Guhila Arisimha (1117 C.E.) is very important in terms of yielding the information about the Lakulisa sect.[59] It mentions the incarnation of Shiva as Lakulisa at Kayavarohana, Gujarat. It informs that Kusika and others were initiated into Pasupata yoga by Lakulisa himself.[60] It throws light on the Kusika lineage of this sect. It gives a list of teachers who succeeded one after the other, such as Khandesvara, Janakarasi, Trilocanarasi, Vasantarasi, Valkala, and Shivabhakti. The Chittor stone inscription dated 1275 CE states that it was through the favor of the sage Haritarasi that Bappa became lord of Medapata and its town Nagahrada.[61] Though it is not clear how Haritarasi helped Bappa it is certain that by this time Medapata was under the wider influence of Lakulisa-Pasupata ascetics. It shows how the Lakulisa-Pasupata ascetics were gradually establishing their presence not only in socio-religious spheres but politically too. The Mangrol stone inscription of the Guhila feudatory of Caulukya Kumarapala dated 1145 C.E. was composed by Parama Pasupatacarya mahapandita Sri Prasarvajna.[62] Their wider presence can be felt from the royal records to their individual records.

The Cintra prasasti states that Shiva became incarnate in the form of bhattaraka Sri-Lakulisa to bestow favor on the universe and favor the offspring of Uluka who was without sons in consequence of his father's curse.[63] Shiva came and dwelt at Karohana in the Lata country.[64] To fulfill the Pasupata vows, four of his pupils appeared, named Kusika, Gargya, Kaurusa, and Maitreya. Further, it tells about the Gargya line in which Karttikarasi (around 1225 C.E.) was born, after him Valmikirasi, and then Tripurantaka (around 1287 C.E.). These three teachers of the Gargya branch of the Lakulisa-Pasupata were in succession at some matha in Karohana in Lata or central Gujarat. According to tradition modern Karvan was the place where Shiva was born as Nakulesvara in the family of a brahmana of Ulkapuri.[65]

From the commentary on the Pasupata-sutra by Kaundinya (c.4th-6th century C.E.), we get to know about the life of a Pasupata upasaka, which is divided into several stages.[66] In the first stage, he has to undergo a course of training to become a yogi; second, he has to give up all outward practices and live in the society only to create in his mind an aversion for social life, and he has to assume an ugly appearance to invite abuses from others. Third, he has to live in cremation grounds only to realize the

transitory nature of worldly things and lastly he has to embrace absolute renunciation and fix his mind on God alone.[67]

D.R. Bhandarkar quotes from a Jaina work Tarkarahasya Dipika (a fourteenth-century work), a commentary on the Sadadarsanasamuccaya composed by Sri Gunaratnasuri (c. 1363 C.E.), which describes the lifestyle of Lakulisa's followers. The extract is as follows:

"They bear staves (danda-dharah), (and) wear a broad piece of clothe over their privities. They cover (their upper body) with woolen blankets, and bear matted hair. They smear their bodies with ashes and put on the sacred thread. They hold water pitchers and take tasteless meals. They generally live in forests, bear gourds hanging from their shoulders, eat bulbs, roots, and fruit of trees and take delight in the duties of hospitality. Some have wives and others not. Those without wives are the best amongst them. They are engaged in the performance of five fire penances (pancagnisadhanaparah) and even bear a consecrated linga in their hands or matted hair. But those who have attained to the perfect state of self-restraint wander naked. After washing their mouth, feet and so forth in the morning, they draw three stripes at a time of ashes on their bodies, while meditating on Shiva."[68]

The Eklingji inscription tells that the ascetics resorted to the use of ashes, barks and matted hair.[69] The Harsha stone inscription (974 C.E.) mentions the fierce austerities of Pasupata ascetic Bhavadyota who had matted hair, ashes on the body, a broad couch formed by the earth, food received as alms and the hand used as a drinking cup.[70] The Tewar stone inscription of Gayakarna mentions the ascetic Bhavabrahman, a disciple of Bhavatejasa who is said to have given up all actions and is ever engaged in the performance of penance.[71] It is said, "he is clad only in a loin-cloth, lies on pure ashes, is proficient in the knowledge of the Pancartha (system), lives on a limited quantity of food, is another Sanatakumara on account of his celibacy, and is devoted to (the practice of) yoga as taught in the system of Patanjali."[72] It further says, "using control of breath, observances essential for meditation, contemplation, and postures, he day by day practices intellectually (meditation on) Shiva whom he places in the lotus of his heart."[73] These records show the lifestyle of ascetics who were following celibacy and strict regime.

On the other hand, we have records mentioning the married ascetics. The Somanathapattana prasasti of Bhava Brhaspati mentions that Bhava Brhaspati was married to Mahadevi, daughter of Sodhala and had four sons named Aparaditya, Ratnaditya, Somesvara, and Bhaskara.[74] The Ganda Brhaspati of Cintra prasasti was married to Uma and Tripurantaka built a temple named Umesvara for the welfare of the priest's wife.[75] Tripurantaka built another temple which was named Malhanesvara after her mother Malhana and Ramesvara after his wife.[76] These instances prove the statement given in Sadadarsanasamuccaya that some Lakulisa-Pasupata ascetics were with wives and some were without.[77]

Out of the four disciples of Lakulisa, Garga was successful in Gujarat where the sect was known as Gargya, and they received the support of the Caulukyas.[78] We do not have a record of the sect for the interval of eight to nine centuries after the birth of Lakulisa and the establishment of Caulukya rule in Gujarat. The epigraphic record suggests that the Pasupata acarya Dirghacarya, son of Durlabhacarya had come from Kanyakubja and settled in the area during the Caulukya rule.[79] G. Buhler has given convincing arguments in support of the Gujarat chronicles which state that Mularajadeva, the founder of the Caulukya rule in Gujarat, was the son of Raji who was king of Kalyanakataka in Kanauj.[80] It suggests that since Mularajadeva's paternal home was in Kanauj and their family deity was Shiva, it was possible for him to give patronage to the ascetics from Kanauj who happened to be followers of the Lakulisa-Pasupata sect. The Bhera Ghat stone inscription of Narasimha supports our argument as it mentions that the Kalacuri queen Alhanadevi, a Guhila princess, placed the Pasupata ascetic Rudrarasi of the Lata lineage in charge of a temple of Shiva and made donations of some villages for its upkeep.[81] It is known from the Eklingji inscription and Mount Abu inscription of Samarasimha that the Guhilas were followers of Lakulisa-Pasupata sect.[82]

According to Skanda Purana, Lakulisa had gone to the Mahakalavana near Ujjain from Kayavarohana and taken up his abode which gave it a special sanctity.[83] It could be argued that though Lakulisa-Pasupata sect's origin was in Gujarat, the popularity and spread of the sect were much wider in Rajasthan and Central India. Later, the ascetics from the Kanauj area got hold of the pontiffs of Somanatha temple and formed the spiritual genealogy. The Somanathapattana prasasti of Bhava

Brhaspati records that he was born at Banarasi, a town which belonged to the empire of Kanyakubja, in the family of a brahmana of the Gargeya gotra and became a Pasupata.[84] The writer of the inscription gives Bhava Brhaspati a divine status by saying that Nandisvara, at the command of Isvara, took birth in the house of a brahmana. He further tells that his body resembled Nakulisa.[85] He left his home to initiate princes into the faith and migrated to Malava, and for a short duration resided in Dhara and Avanti and superintended the Shaiva mathas.

Later he convinced king Jayasimhadeva to renovate the Somanatha temple, but indue course, Jayasimhadeva died. Kumarapala mounted the throne and made generous donations to the temple and to the ascetic to renovate the temple. He even honored Bhava-Brhaspati with the title 'Ganda' which is an epithet of Shiva who is called 'Ganda Sarvesvara.'[86]

His successor and next acarya of the Somanatha temple was Visvesvararasi. Visvesvararasi occupied the pontifical seat during the reign of Ajayapala who entitled this acarya as Ganda tirthesvara.[87] His successors were, respectively, Durvasu,[88] Tripurantaka, and Vimalasivamuni, who was acclaimed as 'bhupalakula sadguru.[89] His successors, who made Somanatha their seat, were Parama Pasupatacarya Mahapandita Ganda Sri Virabhadra, who is mentioned in the Veraval inscription.[90] The purpose of this record was to grant the income from a piece of land, from an oil mill and from two shops to a mosque built by Nuruddin Piroz, a Muhammadan shipowner from Hurmuz.[91] It is further mentioned that this grant was made with the consent of Mahattara Ganasri-Para Virabhadra, the great teacher of the Pasupatas.[92] Nuruddin Piroz bought a piece of land (palladika) which belonged to the temple of Sri-Baulesvara in the Somanathapattan which he bought from Sri Para Tripurantaka the sthanapati of the Sri Navaghanesvara and Vinayaka bhattaraka, Para Ratanesvara and others.[93]

Veraval grant of Arjunadeva mentions a person named Nuruddin Piroz, a Muhammadan ship-owner from Hurmuz who had given a grant of an income from a piece of land, from an oil mill and from two shops to a mosque built by him and for the religious festivals celebrated by Shiate sailors of Somanathapattana.[94] It is interesting to note that the Pañcakulas (Town council) of the grant, with whose consent the grant was made,

included Mahattara Gandasri ParaVirabhadra, the great teacher of the Pasupatas. Nuruddin Piroz bought a piece of land (palladika) which belonged to the temple of Sri Baulesvara in Somanathapattana, and he bought it from Sri ParaTripurantaka the sthanapati of the Sri Navaghanesvara and from Vinayaka bhattaraka, Para Ratanesvara, and others. The point to note is that the cultural life of Somanathapattana (the port town) was very accommodative, and the best example of it was the presence of religious heterogeneity in the form of a mosque in a primarily Shaiva center. Another important point to notice is that the visit of Nuruddin Pirozand his patronage for the mijigiti at Somanatha took place when Gujarat was very much under the control of the ruler's patronizing Brahmanical cults.[95]

The Cintra Prasasti of the reign of Sarangadeva cites two predecessors of Tripurantka, namely Karttikarasi and Valmikarasi, the latter being the direct master of Tripurantaka and a contemporary of Sarangadeva.[96] The previous cited record of 1246 CE mentions Tripurantaka as the sthanapati of the Sri Navaghanesvara. After nearly a quarter of a century, he managed to emerge as a prominent figure in Somanatha. It gives the name of the places which were visited by Tripurantaka during his course of the pilgrimage. First, he visited Kedara, and afterward, he bathed at Prayaga, from there he went to Sriparvata where he circumambulated it and was blessed by the aspect of divine Mallinatha.[97] It is important to note that in the Jaina tradition, Mallinatha is considered as the nineteenth Tirthankara.[98] A visit of a Lakulisa-Pasupata ascetic to a Jaina Tirthankara during his pilgrimage and mentioning of the Tirthankara's divine aspect in reverence speaks of the religious harmony of the time. From the Narmada, he turned to the Godavari and visited Tryambaka, i.e., Trimbak near Nasik. After that, he reached Ramesvara and the bridge of Rama. Finally, he returned to the north-west and came to Devapattana or Prabhasa, where the river Sarasvati flows into the ocean. It could be possible that the places above were notable centers of the Lakulisa-Pasupata sect.[99]

The continuity of Somanatha as a cultural-cum-port center even after the Ghaznavid attack of 1025 CE points towards the efforts of the religious community.[100] Tripuarantaka directed his actions not only through religious activities but also through trading contacts with the merchants like Nakhuda Nur-ud-Din Firuz.[101] This shows that there was no crisis in

the cultural center of Somanatha in the 11th-century CE.

The Abu inscription of the reign of Bhimadeva II mentions a certain Kedararasi who seems to have been the head of a Shaiva matha at Ujjain, belonging to Capaliya sect.[102] He started some building operations at Kanakhala in Achalgadh. The Mount Abu stone inscription of Samarasimha suggests that the goal of Lakulisa-Pasupata ascetics was to attain Shiva-sayujya, i.e., absorption into Shiva, which was true in the case of Harita and Bhavasamkara.[103]

These ascetics were sometimes given special attention by the royalty. The Kayadra stone inscription dated 1164 C.E. records the grant (sasana) made by Maharajadhiraja Mahamandalesvara Dharavarsa for the remission of taxes on Phulahali (a village) belonging to bhattaraka Devesvara, of the temple of Kasesvara.[104] Another record of the reign of Dharavarsa states he permitted bhattaraka Visala Udagradamaka, the Parama Shaivacarya to graze his cattle on the pasture grounds free of charge in the village of Shilavada.[105]

The wide popularity and social acceptance of these ascetics could be seen from the fact that they were named as the witnesses for the royal records. The Nadlai stone inscription of Rayapala dated 1132 C.E. records the name of persons who were the witnesses of the grant given by queen Manaladevi to Jaina sadhus.[106] The head of these witnesses (pañca) was Nagasiva. Another inscription from Nadol dated 1141 C.E. talks about the king Rayapala's order for the safety of travelers and traders.[107]

The witnesses for this document were many individuals among whom we find names of a person ending with -shiva and -rasi which is generally believed to be related to Shaiva and Lakulisa-Pasupata sects.[108] These were the bhattaraka Varunasiva of the temple of Anahilesvara, the bhattaraka Mahesvarasiva of the temple of Jendrarajesvara, the Bhattaraka Jnanasiva of the temple of Anupamesvara, the Bhattaraka Vinayaka and Sntisiva of the temple of Tatpurusa, the Bhattaraka Brahmarasi of the temple of Asapalesvara.

The administration of the grant given to temples and matha were sometimes in the hands of the ascetics attached to the temple. The Rajorgadh inscription mentions that the administration of the grant given by Mathanadeva was handled by ascetic Omkarasivacarya.[109] Sthanapati

Vedagarbharasi (the superior of the Mandal matha) was made the trustee of the grants given by Bhimadeva II to the temple of Mulesvara and its matha at Mandal.[110] These ascetics either managed the grant on their own or took the help of gosthikas (a member of the managing committee) to carry out the management. The Kaman stone inscription records that Bhojadeva (Pratihara) gave some drammas to Pramanarasi, which the latter gave to Camundarasi.[111] After Pramanarasi's demise, Camundarasi seems to have paid the amount to the gosthikas (a member of the managing committee). The latter purchased two avarikas with this money. The avarikas were situated in the Kambali hatta (cattle market). The rent of these shops was to be utilized by the gosthikas in meeting the expenses of the temple.

These Shaiva ascetics were not only the trustees of the grants given to Shaiva temples but were assigned the work for other Brahmanical deities too. The grant given by Caulukya king Visaladeva to the temples of Ballalanarayana and Rupanarayana, and to repair dilapidated temples was entrusted to the superior of Srimulesvaradeva's matha at Mandal, the great lord of ascetics Rajakula Visavamitra.[112]

The broad survey of the various branches of Lakulisa-Pasupata sect shows that the Kusika branch of the sect was flourishing in early medieval Rajasthan whereas the Gargya branch of the sect was dominant in early medieval Gujarat and Madhya Pradesh area. Though the generalization is based on a few epigraphs, we can see that the available epigraphs do not mention any Kusika branch in Gujarat.

Similarly, there is a paucity of epigraphs which talk about the spread of Gargya branch in Rajasthan. We have epigraphs which talk about the individual ascetics of the sect, but it is difficult to put them under the branches above. Our study suggests that the celebrated temple of Somanatha was under the influence of Gargya branch of the Lakulisa-Pasupata sect. The temple of Ekalingji was under the influence of Kusika branch of the Lakulisa-Pasupata sect.

Women and Asceticism

We have one instance of female asceticism (tapasvani) in the case of the Lakulisa-Pasupata sect. Abu inscription of Bhimadeva II, dated 1208-09 C.E. mentions, Kedararasi, who seems to have been the head of

a Shaiva monastery at Ujjain belonging to Capalya sect. He oversaw some building work at Kanakhala in Acalgadh, i.e., Abu. His sister Moksesvari also built a temple of Shiva. This inscription gives the names of Shaiva ascetics who came from Ntana-matha of Avanti to 'Kanakhala' (a place near Abu). The names are Vakalarasi, Jyesthajarasi, Yagesvararasi, Maunirasi, a female ascetic named Yagesvari, and Durvasarasi. This gives an idea that women also adopted celibacy and joined the Lakulisa-Pasupata sect.[113] Here, Yagesvari is mentioned both as a disciple and teacher. It is also important to notice that the disciple of Yagesvari is not a female ascetic but a male named Durvasarasi. It is surprising because, in the other monastic sects such as Buddhism, we do not find a single instance where a monk was a pupil under a nun.[114]

Lakulisa-Pasupata initiation of sibling Kedararasi and Moksesvari shows the importance of family relations among ascetics as the inscriptions clearly mentioned Moksesvari as the sister of Kedararasi.[115] She is mentioned as "brahmacaryaparayana sivasyayatanam ramyam" which shows that she was living the life of a celibate.[116] It is quite surprising to know that ascetics who were supposed to untie the temporal relationships were still carrying these in their monastery. Though our sources do not mention any woman head of Shaiva monastery, it does give us the idea of women joining the sect, though the number is minuscule.

Matha and their wealth

Individual Wealth - The ascetics had both individual and collective wealth, which was obtained by them through the medium of donation and grant. We have not come across any instance where ascetics were invoking or using their parental wealth.

Harsa inscription of Cahamana Vigrahraja dated 973 CE states that Bhavarakta also called Allata built "the mansion of Harsa with its well-constructed halls with the wealth received from pious people."[117] Caulukya king Bhimadeva I gave a grant of a village named Masura, in the Kachha province to bhattaraka Ajapala, son of acarya Mangalasiva.[118] Caulukya king Kumarapala who is said to have restored the temple of Somanatha after being requested by Bhava Brhaspati entrusted the ascetic with the governorship of Somanathapattana and gave presents of ornaments, two elephants and pearl necklaces.[119] The king granted him the village of

Brahmapuri near Mandali and made him the head of all Shaiva temple priests in his dominions. He made his office of chief temple priest hereditary and gave another village to the priest, the name of which is not mentioned. Bhimadeva II gave the grant of twenty ploughs of land in the village (the name is not mentioned) for Somesvara, the son of sthanapati Vedagarbharasi of the temple of Mulesvara and its matha at Mandal.[120] The Paramara king Devaraja donated a field south of the city wall of Srimala for the increase of the merit of his parents and himself to Aurakacarya, son of Candasivacarya, head of the temple of Siddhesvara Mahadeva.[121]

Institutional/Collective wealth - An inscription from Kaman, Bharatpur (869 C.E.) talks about Shaiva acaryas who were successively in charge of the Shiva temple at Kamyaka. It records that some drammas were made over by Bhojadeva to Pramanarasi, which he gave to Camundaka. After Pramanarasi's death, the acarya Camundakarasi paid the amount to the gosthikas, which was utilized by the latter in meeting the expenses of white-washing, vermilion, and lights for the temple. The temple was maintained through the permanent endowment by the gosthikas.[122] Here, it is important to note that king Bhojadeva made over a sum of money to a Shaiva acarya for the maintenance of a Shaiva temple. Besides the Shiva temple, this temple complex had two subsidiary shrines dedicated to Vishnu and Camunda. These temples were placed in charge of Shaiva acaryas of the Pasupata sect, though the actual management of them was carried out by a committee appointed for the purpose.

The temple of Mulesvara and its monastery at Mandal were the frequent recipients of the grant given by various Caulukya rulers from time to time. Bhimadeva II gave the grant of a village named Natauli to the temple of Mulesvara (at Mandal) and the ascetics of the monastery attached for daily worship and maintenance.[123] He gave another grant of a village (name lost) to the temple of Analesvara and Salakhanesvara and sthanapati Vedagarbharasi for the maintenance of the bhattarakas and the almshouse.[124]

Conclusion

The general understanding of an ascetic is one who has no social obligation and has renounced the mundane world. He/she does tapa for individual salvation, but our study suggests that these ascetics were very

much part of the mundane world and sometimes by acquiring positions such as that of pontiffs, they assumed social obligations knowingly. So these categories are very fluid, and a result of the material condition of the time. We can see that much emphasis was given on the celibate status of the ascetics in their early inscription (approx. from 8th-10th century) but later on their marital status was also coming up in the record which seems to have been acceptable in their respective traditions.[125] Second, in the case of those ascetics who were celibate, we see that they did not renounce their family relations, and some were even taking it to the mathas.126 Women were allowed to join mathas and could even be part of the spiritual-genealogy of the sect. The broad survey of the various branches of Lakulisa-Pasupata sect shows that the Kusika branch of the sect was flourishing in early medieval Rajasthan whereas the Gargya branch of the sect was dominant in early medieval Gujarat and Madhya Pradesh area.

References

1. *Sergio Meliton Carrasco Alvarez, Brahmanical Monastic Institutions in Early Medieval North India: Studies in their Doctrinal and Sectarian Background, Patronage and Spatial Distribution, thesis submitted to Jawaharlal Nehru University, New Delhi, 1990, p. vi.*
2. *Ibid.*
3. *Sergio Meliton Carrasco Alvarez, Brahmanical Monastic Institutions in Early Medieval North India: Studies in their Doctrinal and Sectarian Background, Patronage and Spatial Distribution, thesis submitted to Jawaharlal Nehru University, New Delhi, 1990, p. vi.*
4. *R.N. Nandi, Social Roots of Religion in Ancient India, K P Bagchi and Company, Calcutta, 1986, p. 94.*
5. *Romila Thapar, Cultural Pasts: Essays in Early Indian History, Oxford University Press, New Delhi, 2000, p.886.*
6. *Ibid, p.887.*
7. *The early tradition of asceticsm could be traced from the Vedic literature. The political and material situations in the Ganga valley during the fifth-sixth centuries BC paved the way for new religious movements, which developed as counter currents to the brahmanical ideology. In the early period the renouncer emerges with the coming of sects such as the Buddhists and the Jainas, which in turn are tied to some of the departures from Vedic ritual as registered in the major Upanisads. For further discussion on early tradition of asceticsm see Haripada Chakraborti, Asceticism in Ancient India, Punthi Pustak, Calcutta, 1973; Romila Thapar, Cultural Pasts: Essays in Early Indian History, Oxford University Press, New Delhi, 2000, pp. 807- 946.*
8. *Ranabir Chakravarti (ed.), Trade in Early India, Oxford University Press, New Delhi,2001, p. 258.*
9. *Ranabir Chakravarti (ed.), Trade in Early India, p. 259.*
10. *Alvarez, Brahmanical Monastic Institutions in Early Medieval North India, p.xiii.*
11. *Ibid, p. xiv.*
12. *V.N. Drabu, Saivagamas: A Study in the Socio-Economic Ideas and Institutions of Kashmir (200 BC-AD 700), Indus Publishing Company, New Delhi, 1990, pp-155-162.*
    See also, Seema Bawa, 'Extension and Entrenchment of Shivaism in the Chamba Valley (A.D. 700-1000)', Proceedings of the Indian History Congress, vol. 53, 1992, pp. 119-127.
13. *V.V.Mirashi ,'Bargaon Stone Inscription of Sabara', in V.V.Mirashi (ed.), Corpus Inscriptionum Indicarum, Vol. IV, Ootacamund, 1955, pp.198-204, 224-234.*
14. *J. Ramayya Pantulu, 'Malkapuram Stone Pillar Inscription of Rudradeva (Rudramaba)', Journal of Andhra Historical Research Society, Razan Press, Rajahmundry, July-Dec. 1929, Vol. IV, pp.147-162.*
15. *V.V.Mirashi (ed.), Introduction', Corpus Inscriptionum Indicarum, Vol. IV, Ootacamund, 1955, p. clvii.*
16. *V.N. Drabu, Saivagamas, pp 159, 189.*
17. *Ibid, p 159.*
18. *Shanta Rani Sharma, 'Metamorphosis of Saivism in Rajasthan, C. AD 600-1000: The Cult, Sects and Monastic Order', Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Vol. 83, 2002, p. 144.*
19. *Ibid, p. 143.*
20. *As cited in V.S. Pathak, History of Saiva Cults in Northern India From Inscriptions (700 A.D. to 1200 A.D.), Abinash Prakashan, Allahabad, 1980, p. 2.*
21. *V.S. Pathak, History of Saiva Cults in Northern India From Inscriptions (700 A.D. to 1200 A.D.), Abinash Prakashan, Allahabad, 1980, p. 2.*
22. *S.N. Dasgupta, A History of Sanskrit Literature, University of Calcutta, Calcutta, 1947, Vol. I, p. 374.*
23. *R.G.Bhandarkar, Vaisnavism, Saivism and Minor Religious System, Asian Educational Services, New Delhi, 1995, p. 166.*
24. *V.S. Pathak, History of Saiva Cults, p. 8.*
25. *Ibid, p. 8; also, Mark S.G. Dyczkowski, The Canon of the Saivagama and the Kunbjika: Tantras of the Western Kaula Tradition, SUNY, Albany, 1988, p. 107.*
26. *D.R. Bhandarkar, 'Mathura Pillar Inscription of Candragupta II', in Hirananda Sastri, K.N. Dikshit and N.P. Chakravarti (eds.), EI, Vol.*

XXI, 1931-32, p. 4.
27. *J. Van Troy, 'Sampradaya in the Pasupata Tradition: A Sacred History', Proceedings of the Indian History Congress,Vol. 38, 1977, p. 122.*
28. *Ibid, p. 124.*
29. *Pranabananda Jash, 'A Reappraisal of the Origin of the Pa?s?upata Sect', Proceedings of the Indian History Congress, Vol. 33, 1971, p. 155.*
30. *Ibid.*
31. *B.P. Majumdar, 'Lakulisa-Pasupatas and Their Activities in Mediaeval India', Proceedings of the Indian History Congress,Vol. 13, 1950, p. 115.*
32. *Ibid, p. 119.*
33. *U.P. Shah, 'Lakulisa: Saivite Saint', in Michael W. Meister (ed.) Discourses on Siva, Vakils, Feffer and Simons Ltd., Bombay, 1984, p. 94.*
34. *Ibid.*
35. *V.S. Pathak, History of Shaiva Cults, p. 9.*
36. *David N. Lorenzen,The Kaplikas and the Kalmukhas - two lost Shaivite sect, Thomson Press, New Delhi, 1972, p. 180.*
37. *J.N. Banerjea,'Lakulisa-The Founder or the Systematiser of the Pasupata Order', Proceedings of the Indian History Congress, Vol. 14, 1951, p. 33.*
38. *Ibid, p. 36.*
39. *David N. Lorenzen, The Kaplikas and the Kalmukhas - two lost ?aivite sect, p. 175.*
40. *Ibid.*
41. *Alexis Sanderson, 'The Lakulas: New Evidence of a System Intermediate Between Pñcrthika Pupatism and agamic saivism', The Indian Philosophical Annual, 24, 2006, p. 198.*
42. *Ibid, 208.*
43. *Susmita Basu Majumdar, 'Mausula- A Lesser Tradition? Or A Lesser Known Shaiva Tradition', p. 2 (Unpublished paper).*
44. *V.S. Pathak, History of Saiva Cults, p.4.*
45. *Ibid.*
46. *The Linga Purana, (trans.) By a Board of Scholars, Ancient Indian Tradition and Mythology Series, Vol. I, Motilal Banarsidass, Delhi, 1973, p. 98.*
47. *Susmita Basu Majumdar, 'Mausula- A Lesser Tradition? Or A Lesser Known S?aiva Tradition', p. 4.*
48. *Ibid.*
49. *Ibid.*
50. *D.R. Bhandarkar, 'An Ekalingji Stone Inscription and the Origin and History of the Lakulisa Sect', Journal of Bombay Branch of Royal Asiatic Society, Vol. XXII, Bombay, 1905-08, p. 152.*

51. *Ibid, p. 153.*
52. *D.R. Bhandarkar, 'An Ekalingji Stone Inscription', Journal of Bombay Branch of Royal Asiatic Society, Vol. XXII, pp. 166-167.*
53. *F. Kielhorn, 'Harsa Stone Inscription of the Chahamana Vigraharaja', in Jas. Burgess (ed.), Epigraphia Indica, Vol. II, 1892, pp. 116-130.*
54. *Akshaya Keerty Vyas, 'Paldi Inscription of Guhila Arisimha', in N. Lakshminarayan Rao (ed.), Epigraphia Indica, Vol. XXX, 1987, p. 9.*
55 *Vajeshankar G. Ojha with an introduction by G. Buhler, 'The Somnathpattan Prasasti of Bhava Brihaspati', Vienna Oriental Journal, 1889, WZKM, Vol. III, pp. 2-4.*
56. *W. Cartellieri Vienna, 'An Abu Inscription of the Reign of Bhi?madeva II', in Jas Burgess (ed.), Indian Antiquary, Vol. XI, 1882, pp. 220-222.*
57. *G. Buhler, 'Eleven Land Grants of the Chaulukyas of Anhilvad: A Contribution to the History of Gujarat', in Jas Burgess (ed.), Indian Antiquary, Vol. VI, 1984, pp. 203-204.*
58. *G. Bhuler, 'The Cintra Prasasti of the Reign of Sarangadeva', in Jas. Burgess (ed.), Epigraphia Indica,Vol. I, 1983, p. 273.*
59. *Keerty Vyas, 'Paldi Inscription', Epigraphia Indica, Vol. XXX, p. 9.*
60. *Keerty Vyas, 'Paldi Inscription', Epigraphia Indica, Vol. XXX, verse 12, p.12.*
61. *F. Kielhorn, 'A Short Account of Six Unpublished Inscriptions', in Jas Burgess (ed.), Indian Antiquary, Vol. XXII, 1893, p. 81.*
62. *Burgess (ed.), Antiquarian Remains of Bombay Presidency with an Appendix of Inscriptions from Gujarat, Government Central Press,1885, Bombay, pp. 179-80.*
63. *G.Buhler, 'The Cintra Prasasti', Epigraphia Indica , Vol.I, verse 14, p. 273.*
64. *Ibid., p. 273.*
65. *D.R. Bhandarkar, 'Lakulisa', Archaeological Survey of India, Annual Report, 1906-07, p. 180.*
66. *Haripada Chakraborti, Asceticism in Ancient India, Punthi Pustak, Calcutta, 1973, p. 157.*
67. *Ibid.*
68. *Bhandarkar, 'Lakulisa', pp. 189-191.*
69. *D.R.Bhandrakar, 'An Eklingji Stone Inscription and the Origin and History of the Lakulisa Sect', Journal of Bombay Branch of Royal Asiatic Society, Bombay, p. 152.*
70. *F. Kielhorn, 'Harsha Stone Inscription of the Cahamana Vigraharaja', in Jas. Burgess (ed.), Epigraphia Indica, Vol. II, 1892, p. 128.*
71. *V.V.Mirashi, 'Tewar Stone Inscription of Gayakarna', in V.V.Mirashi (ed.), Corpus Inscriptionum Indicarum, Vol. IV, Ootacamund, 1955, p. 308.*

72. *Ibid.*
73. *Ibid.*
74. *Vajeshankar G. Ozha and G Buhler, 'The Somnathpattan Prasasti of Bhava Brihaspati', Wiener Zeitschrift fur die Kunde des Morgenlandes, Vol. 3(1889), verse 35-38, p. 18. Republished at JSTOR.*
75. *G.Buhler, 'The Cintra Prasasti', Epigraphia Indica, Vol. I, verse 43, p. 276.*
76. *Ibid., verse 41, 43, p. 276.*
77. *Bhandarkar, 'Lakulisa', pp. 189-191.*
78. *D.C., Ganguly, 'The Chaulukyas' in R.C. Majumdar (ed.), The Age of Imperial Kanauj, pp.103.*
    Ashok Kumar Majumdar, Chaulukyas of Gujarat: A Survey of the History and Culture of Gujarat From the Middle of the Tenth to the End of the Thirteenth Century, Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay, 1956, pp. 292-95.
79. *Sten Konow, 'Balera Plates of Mularaja I', in Sten Konow and Rai Bahadur V. Venkayya (eds.), Epigraphia Indica, Vol. X, p. 78.*
80. *G Buhler, 'Eleven Land- Grants of the Chaulukyas of Anhilvad: A contribution to the History of Gujarat', in Jas. Burgess (ed.) Indian Antiquary, Vol. VI,1984, p.183.*
81. *V.V.Mirashi, 'Bheraghat Stone Inscription of Narasimha' , inV.V.Mirashi (ed.), Corpus Inscriptionum Indicarum, Vol. IV, Ootacamund, 1955, verse 31, p. 320.*
82. *Bhandrakar, 'An Eklingji Stone Inscription', Journal of Bombay Branch of Royal Asiatic Society, p. 152.*
    F. Kielhorn, 'Mount Abu Inscription of Samarasimha', in John Faithful Fleet (ed.) Indian Antiquary, Vol. XVI, 1984, p. 347.
83. *P.C. Divanji, 'Lakulisa of Karvan and his Pasupata Cult', Journal of the Gujarat Research Society, vol. XVII, 1955, p. 269; The Skanda Purana, G.V.Tagare (ed.), Ancient Indian Tradition and Mythology Series, Vol. 61, Motilal Banarsidass, Delhi, 2003, p. 44.*
84. *Vajeshankar G. Ozha and G Buhler, 'The Somnathpattan Prasasti', Wiener Zeitschrift fur die Kunde des Morgenlandes, Vol. 3, p. 13.*
85. *Ibid.*
86. *Ibid., p. 15.*
    M.R. Majumdar, 'Lakulisa Images from Western India', in H.L. Hariyappa and M.M. Patkar(ed.), P.K. Gode Commemoration Volume, Oriental book Agency, Poona, 1960, p. 113.
87. *M.R. Majumdar, 'Lakulisa Images from Western India', p. 113.*
88. *J.F.Fleet, 'Bombay Asiatic Society's Copper Plate Grant of Bhimadeva II', in John Faithful Fleet and Richard Carnac Temple (eds.), Indian Antiquary, Vol. XVIII, 1984, p.116.*

89. *G. Buhler and Vajeshankar G. Ozha, 'Sridhara's Devapattana Prasasti', in Jas. Burgess (ed.) Epigraphia Indica, Vol. II, 1892, verse 53, p. 446.*
90. *M.R. Majumdar, 'Lakulisa Images from Western India', p. 113; E. Hultzsch, 'A Grant of Arjunadeva of Gujarat', in Jas Burgess (ed.) Indian Antiquary, Vol. XI, 1984, p. 242.*
91. *E.Hultzsch, 'A Grant of Arjunadeva of Gujarat', Indian Antiquary, Vol. XI, p. 242.*
92. *Ibid., p. 244.*
93. *Ibid., 245.*
94. *Ibid., p. 242.*
95. *Ranabir Chakravarti, Trade and Traders in Early Indian Society, Manohar, New Delhi, 2002, p. 227.*
96. *G. Buhler, 'The Cintra Prasasti', Epigraphia Indica, Vol. I, p. 274.*
97. *Ibid., p. 275-76.*
98. *U.P. Shah, Jaina Rupa-Mandana, Abhinav Publications, New Delhi, 1987, Vol. I, p. 159.*
99. *B.P. Majumdar, 'Lakulisa Pasupatas and their Temples in Medieval India', The Journal of the Bihar Research Society, Vol. XXXIX, 1953, p. 5.*
100. *Krishnendu Ray, 'Tripurantaka: A Pasupata "Acarya" at Somanatha (13th century AD)', Proceedings of the Indian History Congress, Vol. 62, 2001, p. 185.*
101. *Ibid.*
102. *Cartellieri Vienna, 'An Abu Inscription', Indian Antiquary, Vol. XI, p. 220.*
103. *F.Kielhorn, 'Mount Abu Inscription' , Indian Antiquary, Vol. XVI, verse 10, 57 pp. 347, 350.*
104. *Harihar Vitthal Trivedi, 'Kayadra Stone Inscription of Dharavarsha', in Harihar Vitthal Trivedi (ed.), Corpus Inscriptionum Indicarum, Vol. VII, Part II, 1991, p. 243.*
105. *Harihar Vitthal Trivedi, Hathal Copper-plate Inscription of the time of Dharavarsha', in Harihar Vitthal Trivedi (ed.), Corpus Inscriptionum Indicarum, Vol. VII, Part II, 1991, pp. 245-46.*
106. *D.R. Bhandarkar, 'The Chahamanas of Marwar,VII- Nadlai Stone Inscription of Rayapala', Epigraphia Indica, Vol. XI, pp. 34-36.*
107. *Ibid., pp. 37-41.*
108. *Ibid., p. 39.*
109. *Kielhorn, 'Rajor Inscription of Mathanadeva', Epigraphia Indica. Vol. III, pp. 263-267.*
110. *Buhler, 'Eleven Land Grants', Indian Antiquary,Vol .VI, pp. 199-200, 203-04.*
111. *Mirashi, 'Kaman Stone Inscription', Epigraphia Indica, Vol. XXIV,*

pp.329-336.
112. *Buhler, 'Eleven Land Grants', Indian Antiquary, Vol VI, pp. 210-214.*
113. *Cartellieri Vienna, 'An Abu Inscription', Indian Antiquary, Vol. XI, verse 6, p. 221.*
114. *Bimala Churan Law, 'Bhikshunis in Indian Inscriptions', Epigraphia Indica, Vol XXV, p. 32.*
115. *Cartellieri Vienna, 'An Abu Inscription of Bhimadeva II',Indian Antiquary, Vol. XI, verse 11, p. 221.*
116. *Ibid., verse 11, p. 221.*
117. *Kielhorn, 'Harsha Stone Inscription', Epigraphia Indica, Vol. II,verse. 33, p. 128.*
118. *Buhler, 'Eleven Land Grants', Indian Antiquary, Vol VI, p. 193-94.*
119. *Vajeshankar G. Ozha with an introduction by G. Buhler, 'The Somnathpattan Prasasti of Bhava Brihaspati', Vienna Oriental Journal, WZKM, Vol. III, 1889, verses 12-14, p. 14.*
120. *Buhler, 'Eleven Land Grants', Indian Antiquary, Vol. VI, p. 204.*
121. *Harihar Vitthal Trivedi, 'Rapa Plate Inscription of Davaraja' in Harihar Vitthal Trivedi (ed.) Corpus Inscriptionum Indicarum, Vol. VII, Part II, p. 318.*
122. *V.V. Mirashi, 'Kaman Stone Inscription', in N.P. Chakravarti (ed.), Epigraphia Indica, Vol. XXIV, 1942, pp.331-332.*
123. *Buhler, 'Eleven Land Grants', Indian Antiquary, Vol. VI, verse 8, pp. 199-200.*
124. *Ibid, p. 204.*
125. *See Buhler, 'Chintra prashasti of the' Epigraphia Indica, Vol. I, pp. 271-287 for Lakulisa-Pasupata sect.*
126. *Cartellieri Vienna, 'An Abu Inscription', Indian Antiquary, Vol. XI, p. 221.*

Archaeological Distribution Pattern of Settlements in Hanumangarh District Rajasthan

Dr. Vikas Pawar

The District of Hanumangarh came into existence by carving out from Ganganagar district on July 12, 1994 as the 31st district of Rajasthan state.[1] The district covering a total geographical area of 9656.09 sq. km[2] is located between 28°46'30" to 29°57'20" North latitudes and 73°49'55" to 75°31'32" East longitudes.[3]

Previous Work

Not much exploration has been done in the area under study. In the early decades of 19th century Lt. Col. Todd explored a small part of this area and reported some ancient sites like Kalibangan[4] etc. L.P. Tessitori, an Italian scholar, in the course of his exploration visited Kalibangan in 1917 and 1918.[5] Aurel Stein carried out extensive explorations along River Ghaggar and discovered a number of Proto-historic and Historical sites.[6] A. Ghosh also explored this area and discovered some sites e.g. Sothi, Sher Pura and Nohar.[7] The Harappan sites explored by Ghosh were revisited by K.N. Dikshit.[8] They confirmed the existence of pre-Harappan pottery in this region. In 1980 K.F. Dalal explored Bahawalpur and Bikaner region along with the 'Lost' Saraswati River that is only noteworthy work involving methodical survey and surface collection of ceramics.[9] R. C. Thakran also explored some sites falling in Suratgarh and Hanumangarh Districts.[10] Later V.Shinde piloted a random survey along the Ghaggar basin in search of Harappan sites.[11]

Apart from these explorations a few sites in the present study area namely, Kalibangan, Sothi, Nohar (trail excavation), Dabdi, Dabli Was Chugta and Karanpura have been excavated. Excavations at Kalibangan were started during 1960-61 and came to an end in 1968-69 after nine seasons of excavations.[12] It has yielded the remains of Early Harappan (Period-I) and Mature Harappan (Period-II) culture. A few sherds akin to

Hakra ware were found from the lowest levels of period-I.[13] Sothi was excavated twice, first by A. Ghosh[14] and later on by K.N. Dikshit.[15] It has yielded evidences related to Early Harappan, Mature Harappan and Rangmahal cultures. The term Sothi-Siswal complex came into existence after excavations at Sothi and Siswal. Dikshit[16] also took some trial trenches at Nohar in 1978. It has yielded the remains of early Harappan, Harappan and Historical remains. Dabdi (2006) was excavated under the Joint Direction of R.C. Thakran and Amar Singh. It has yielded remains of Early Harappan period single culture site. Most of the pottery having incised design and main shapes are bowls and basin. In the house of antiquity unique type of micro terracotta beads and micro beads of steatite were found.[17] Dabliwas Chugta/Kamana (2011) was excavated under the Joint Direction of R.N. Singh (B.H.University, Varanasi) and C.A. Petrie (Cambridge University) under UKIERI project.[18] Excavation carried out at Dabliwas Chugta have produced a number of significant results relating to the location and distribution of protohistoric settlements in the hinterland of Kalibangan, the preservation of those settlements and the geographical landscapes within which those settlements lie. Ghaggar floodplain deposits appear to surround the site, but are especially prevalent and thickening to the south, indicating that the site was located on the margins of a substantial former floodplain that continued to seasonally aggraded before, during and after the occupation of this site during the early-mid 3rd millennium BCE. The slow annual accumulation of eroded fine soil derived material would have provided a naturally replenishing and moisture retentive soil and ground water system, where the moisture would have gradually evaporated after each period of monsoonal flooding and the groundwater table would slowly fall before the next monsoonal replenishment.[19] The excavation at Karanpura during 2012-13 and 2013-14 has revealed two cultural phase, viz., Early and Mature Harappan with a transitional phase noticed in some pockets. Karanpura is the only site in Lower Chautang valley, which has now been excavated in a horizontal manner, more scientific analysis will help in better understanding of the evolution of culture and the spread of Harappans during the mid 3rd millennium BCE. The excavator claim the site to around 16 ha during the Mature Harappan period, while the settlement was smaller during the Early Harappan period.[20]

As a result of this effort 574 sites were brought to light in this area.

Pottery and other associated finds of different cultures were collected from these sites to study the different aspects of the cultures. But in addition to this, effort has been made also to plug the major gap in previous works of different aspect.[21]

Distribution Pattern of Settlements in Hanumangarh District

The pattern of distribution has been seen in the context of ecology. It has been explained that how the different ecological factors of two zones, the Alluvium plain due to palaeo-channel and Sandy area due to aeolian activity, have affected the pattern of settlements in various ways.

Tehsil	Early Harappan	Harappan	Late Harappan	PGW	Historical	Medieval	Total
Bhadra	18	5	1	-	144	72	182
Hanumangarh	4	1	1	3	35	10	39
Nohar	25	5	-	-	167	61	204
Pilibangan	4	2	2	2	21	3	25
Rawatsar	13	-	-	-	61	33	79
Sangria	2	-	2	-	11	8	17
Tibi	5	2	1	3	27	-	28
Total	71	15	7	8	466	187	574

Table showing tehsil-wise distribution of sites of various cultures in the area.

As present result proved that the central part of Hanumangarh district has been a stimulant to the growth of settlements both in number and size while its southern part in the constraint to growth and expansion of settlements.

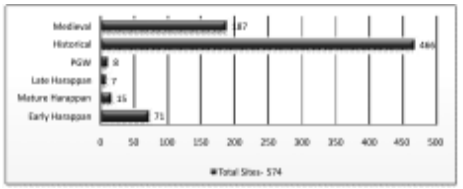

Histogram showing cultural distribution of sites in Hanumangarh district.

The earliest culture identified in the area of present study is Early

Harappan culture. The total number of Early Harappan sites is 71. Settlement patterns of the Early Harappans were conditioned by the behaviour of the river providing an active flood plain and navigability of the river for internal trade, climate, accessibility to natural resources and trade routes, both internal and external.

Harappan period is identified as the manifestation of Harappan culture due to its extraordinary urbanized form. During the course of exploration fifteen sites were identified which belong to mature Harappan period. An interesting feature of the Harappan settlements in the study area is that the total number of settlements is lesser than the Early Harappan. This may be due to the fact that while reporting the Harappan remains from a site the explorers based their findings on the basis of a few typical Harappan pottery-forms like perforated jars, dishes with flaring rims, dish-on-stand with a long stem, triangular terracotta cakes, goblets, etc. It is possible that in the rural settlements, the Early Harappan tradition continued and some such sites may have been contemporary with the Harappan phase but either these did not come into the contact or these rural culture did not borrowed typical Harappan elements. R. S. Bisht stating about it says that qualitative and quantitative presence of the classical Harappan elements was dependent on the socio-economic or political status of a given site.[22]

One remarkable feature in the size and distribution pattern of sites is that sites away from river bed are smaller in comparison to sites along the river-sides. This was not only for early cultures but historical and medieval periods also. The alluvial plain, which was result of rivers flood, might be the most attracting factor because of suitability for good agriculture, instead of fresh water or navigable transportation capability.

The Late Harappan phase is a stage of de-urbanization after the mature phase of Harappan culture. The total number of late Harappan sites is 7. After the mature Harappan, there is immense decrease in the settlements which shows the unfavorable condition during that period. It may be the reason for the migration of late Harappans in the east Sutlej-Yamuna Divide, particularly, Haryana and western Uttar Pradesh. The degenerate phase of Harappan culture is characterized by the absence of monumental architecture, large sized settlements and town planning. Some kind of script and graffiti, smaller seals may also be devoid of animal

motifs, steatite discolor beads, chert blades, pottery forms of Harappan culture and copper may also be present. It also seems to us that surplus food economy, distant trade and control of central authority by this time had either weakened or almost ceased to exist.

The total number of PGW sites in the district is 8 and all these are located along the river bed and in alluvium soil of Ghaggar. These settlements show that the Saraswati river might be dried or un-flooded by this time because all sites are located in the middle of river bed.

During the Historical period there are 466 sites and most of these are located in sandy plain. The pattern of site development shows that Hanumangarh district was thickly populated during this period. The increasing number of sites rapidly might be the result of many historical events like war, migration, disease, etc. All sites of Historical period do not show contemporary occupation because it is long time period and many sites are deserted from one place and inhabited at other places or nearby in the same time.

During the early centuries of Christian era, particularly Rangmahal period (Khushan and Gupta period), occupation is observed on more sites. This might be result of more favorable climatic conditions like sufficient rain and water in Ghaggar river as observed by the excavator of Rangmahal.[23] The pattern of sites development shows that most of the settlements (1 hec or less than it) were very small in size which indicates short time occupation or camp site settlement.

The number of sites during the Medieval period is. Most of the bigger sites in respect to size are found in the old river Ghaggar/Saraswati flood area. These thickly populated settlements showed importance of this area that further supported by the literary evidences of medieval period. Many of modern villages show the continuous occupation from 14th-15th century.

The result of present explorations shows that the frequency of sites in respect to soil zones is different during the various cultural periods. Alluvium plain is always being the most attracting place for the site selection because it having soil that is deposited by the river, and good for agriculture not only for the early farming community even today also. District has only few pockets of the alluvium soil those found in Ghaggar/Saraswati,

Drishadvati and Sutlej palaeo-channel while the other wide area is having sandy soil that is deposited by Aeolian activity during the Holocene period. Here this is notable that the alluvium soil is in very low frequency (around 15%) in respect to total area of Hanumangarh district. So, the ancient people had to habitat in sandy area also.

The Early Harappans settled their site in alluvium plain or sandy area that is near the palaeo-channel. During the Harappan period, that is an urbanized phase, the sites show more interest (59%) in the alluvium plain even in the Late Harappan period settlers also had the same intention. The PGW period that is always assigned by the pastoralist and agricultural based nomad's community, all the sites are in alluvium plain even in the middle of the palaeo-channel of Ghaggar (so called Saraswati). In the historical period most of the site fall in the sandy area that shows the soil is not the essential factor for settlement due to new life style. In the medieval period, this area was thickly populated and people needed more space for their settlements as well as agricultural and domestic activities. So they first chose alluvium plain but when it was not sufficient then they also chose the sandy area. When we analyzed the different soil-zone average size of settlements, we found that the sites located in alluvium plain are bigger in size, the size of a site is in sandy area reaches to a size of 3-4 hec, there is a tendency towards fission. They could not grow bigger in size as the settlements in the alluvium plain. This fission of settlements in the sandy area was perhaps due to non-availability of sufficient good agricultural land in the immediate around the settlement.

References

1. *Balak Ram and J.S. Chauhan (2002). Impact Assessment of IGNP Canal on Land use in Hanumangarh District, Rajasthan Using Remotely Sensed Data. Indian Cartographer. p. 200.*
2. *District Groundwater Brochure, District Hanumangarh, Rajasthan (2007). p. 2.*
3. *Balak Ram and J.S. Chauhan (2002). op. cit. p. 200.*
4. *Lt. Col. Tod (1832). Annals and Antiquities of Rajasthan. Vol.II. p. 167.*
5. *Tessitori, L.P. (1916-19). A Report on Tours in Search of Archaeological Remains made in the Bikaner State During the Year 1916-17, 1917-18. pp. 21-23 and 1918-19. pp. 22-23.*
6. *Stein, A. (1942). A Survey of Ancient Sites Along the "Lost" Sarasvati River. The Geographical Journal. XCI (4). pp.173-182.*

7. *Ghosh, A. (1989). The Rajaputana Desert- Its Archaeological Aspect. An Archaeological Tour Along the Ghaggar-Hakra River. Ed. S.P. Gupta. pp. 98-106.*
8. *Dikshit, K.N. (1984). The Pre Harappan Culture in Rajasthan. Bharti. pp. 55-77.*
9. *Dalal, K. F. (1980). A Short History of Archaeological Explorations in Bikaner and Bahawalpur along the 'Lost' Saraswati River. Indica. Vol. 17(1). p. 40.*
10. *Personal Communication with the Explorer.*
11. *Shinde, V. et al (2008). Exploration in the Ghaggar Basin and Excavation at Girawar, Farmana (Rohtak District) and Mitathal (Bhiwani), Haryana, India. Linguistics, Archaeology and the Human Past, (Occasional Paper No. 3) Kyoto, Japan. pp. 77-158.*
12. *Lal, B.B. et al (2003). Excavations at Kalibangan : The Early Harappans. MASI. No. 98. p. 13.*
13. *Ibid. pp. 219-22.*
14. *Ghosh, A. (1989). op. cit. pp. 98-106.*
15. *Dikshit, K.N. (1984). op. cit. pp. 55-77.*
16. *Ibid.*
17. *Personal Communication with the Excavators.*
18. *Ravindra N. Singh et al (2012). Survey and Excavations at Dabli vas Chugta, Hanumangarh District, Rajasthan. Puratattva. No. 42. pp. 133-147.*
19. *Ibid.*
20. *Prabhakar, V.N. and Jaseera, C. Majid (2014) Preliminary Result of Excavation at Karanpura, a Harappan Settlement in District Hanumangarh, Rajasthan. Man and Environment. Vol. XXXIX (2), pp. 13-41.*
21. *Pawar Vikas (2012). Archaeological Settlement Pattern of Hanumangarh District (Rajasthan). Unpublished Ph.D. Thesis. Maharshi Dayanand University Rohtak.*
22. *Bisht, R.S. (1976). Transformation of the Harappan Culture in Panjab with Special Reference to the Excavations at Sanghol and Chandigarh. Archaeological Congress and Seminar, 1972. pp. 16-22.*
23. *Rydh, Hanna (1959) Rang Mahal - the Swedish Archaeological Expedition to India 1952-54.*

Mysteries of Cupules in the Perspective of Primitive Age with Special Reference to Rajasthan

Dr. Virendra Sharma

Cupules have been reported from most of the states in India as well as from various parts of Rajasthan but not much more is known about them, about their purpose. Profound study is relentlessly being carried out across the country to unravel the mystery of these enigmatic relics of our ancestors.

Cupules are hemispherical depressions carved by the archaic humankind on surfaces of vertical, slanting and horizontal stones at an unknown antiquity for reasons yet not properly comprehended. The term cupule for the indents was actually coined by the eminent archaeologist R.G. Bednarik.

Research has shown that cupules need not always be circular but they could even be oval or little triangular in their shape . Cupules in India appear on rock arts, on walls and floors of ancient caves but never on ceilings, in megalithic sites and sometimes even on solitary outcrops. Cupules today have been elevated to the status of rock art. Credit to the discovery of cupules in megalithic sites in India should be granted to Rivett-Carnac who in 1879 recounted the sighting of cupules in the stone circles of Junapani in Maharashtra. Reports of finds of cupules on megaliths thereafter till the present times have been surfacing from megaliths all over the country. Cupules in a megalithic site can be observed on horizontal, recumbent and slanted stones as these petroglyphs are an ineffaceable component of many megaliths across the world.

Cupule making has ceased to be a prevalent tradition today and as the cupule making ancients have left behind no written documents for the posterity. It is difficult to comprehend the causes behind these mystifying indents on rocks. The paper is not only a study of cupmarks but basing on certain belief systems of the megalithic tribes but also attempts to seek

various possible causes behind them.

Cup marks are shallow cup-like indentations made or enhanced by human effort. They are found on boulders and megaliths that have been used in rituals the over the world in various form.Their true purposes are still unknown, however, they are probably related to Shamanic rituals, fertility practices and burial rites. They may have a common purpose and timeline in the development of cultures. In some cultures, cup- marked stones were created and used thousands of years ago, while in others, such in North America, they may be only a few hundred years old. It would appear that their appearance in certain societies is dependent upon the stage of development of society, such as hunter-gatherers or agriculturally based lifestyles the users had reached. In the Scandinavian country of Northern Europe, large numbers of cup marks have been discovered.

Cupules are reported from various sites in Rajasthan, as Kanyadeh in Baran, Chattanshewar in Kota, Viratnagar in Jaipur, Bajni Bhat and khola Dungri Hill in Alwar, Guhala , Sohanpurain in Sikar, Morajhari Modabhata, Koteshwar Mahadev Hill , Nasirabad in Ajmer, Chanchala Mata temple at Indragarh Astoli, Kalatol in Bundi.

Bajni Bhat is located in bansur tehsil of Alwar district is a granite rock which seems whale shaped from southwest side. Most of the Cupules in this rock shelter have been executed on the vertical wall. The cupules are on the plain and un-exfoliated surface. Eight cupules out of the total 67 are aligned along the edge of the big fractured rock on the vertical wall of the shelter. They are comparatively very shallow. The cupules on the rock have been executed without any pattern. They are generally round in shape. Scattered strokes can be seen around the shallow cupules. Most of the cupules are quite big in size which varies between 65 X 65 X 4.4 mm to 110 X 90 X 10.4 mm. The smallest measures 29 mm across and 0.9 mm deep, the longest are 120 mm and the deepest is 50 mm deep. They are almost circular in shape. The cupules are finely executed and their surface appears very smooth. There were some micro depressions also observed around the cupules.

Guhala is a small village in Neem ka thana (Sikar). A small village which is called as 'Ugrawala ki Dhani' is located two kilometre far away

from Guhala in Southwest direction of the right bank of the Kantli river. More than 17 stone slabs have been discovered on the hill which bears more than 200 cup marks of different dimensions. These varied shapes stone slabs called 'Bajni Bhat' by local resident, which means Rock ,that gives sound. The hill is formed by hard quartzitic sandstone. Cup marks are made of different dimensions and shapes like round, circular, elongated, oval, shallow, etc. Their size varies between 25 X 25 X 5 mm to 150 X 120 X 18 mm. It is really surprising that more than 200 cup marks are discovered from Guhala.

Kanyadeh is situated near Bilasgadh, a small village in the district of Baran. Cupules are in the form of a combination of couples or a few independent cupules. These irregularly distributed cupules have been seen on the floor of the rock shelter.

Chattaneshwar is a small village located 20 km south of Kota. Almost 70 cupules have executed on the bedrock of a rock shelter at this site in Chambal valley. Cupules have been arranged into two different manners as Anovoid form (35X50 cm), and 'U' form with its arm curved rightward and having a small line inside at its bottom. Their diameter varies between 21 X 20 mm to 25.5 X 25.5 mm and depth from 2 - 2.5 mm. Some light brown patination can also see on the cupules. However, Chattaneshwar and Kanyadeh cupule belongs to one category but at Chattaneshwar, development of cupule's pattern can be observed here.

Morajhari is a small village in Sapanda panchayat of Nasirabad in Ajmer district. There are several hundred boulders which bears cup-marks. The rocks are fine grained, grey in colour with black crystals in it. There are two rocks which bear cup marks. The major cupule rock is elongated and roughly round in shape. This rock is resting on the bed rock. It is full of cupules on all its faces on the upper and lower surface. The cupules are of different size and shape from small to circular, almost all with smooth surface. The standing rock also gives a metallic sound. Another cupule rock-2 is located about 100 meter southwards of cupule rock-1. 200 cup marks are observed on this rock.

About one kilometer to the south-southwest of the Moda Bhat is located about 4 kilometers to the west of Ajmer, lies a very similar formation, called 'Mahadeo Bhata'. There are twenty cupules have been observed on

this platform , some of which are as large as the one in the rock shelter at Moda Bhata. There is a big rock shelter measuring 18 meter long, 4 meter in height and 3 meter in depth. There are clusters of cupules on its floor and vertical wall. Ten cupules have been observed on this shelter. A number of cupules were also observed on the flat rocks, a little away in front of the hill in its west. The cupules are similar to those observed on Moda Bhata rock.

The site of Astoli is located near the district of Bundi. This site of Astoli was discovered by Ramesh K. Pancholi. It bears more than 60 cupmarks. Some cupules are also observed on other stone slabs.

Kala Tol is a solitary umberalla shape rock shelter which is situated at the western slope of the hill near Budhpura village of Bundi district. On this rock, a circular cup mark is depicted which is highly weathered. This site is situated at Mala Kanala which is a tributary of Mangli River.

Multiple linear pattern of cupules has also been discovered on the rock-shelter and that of the river close to it at Kanyadehn (Baran) . The dimensions and the style of the execution of cupules on the Indragarh hill and near Chanchala Mata temple put them in the evolutionary line of the previous two sites at Indragarh, but that at Kanyadeh represents a different tradition.

They are comparatively very much small in dimension (13 x 13 x 1.7 mm to 20 x 18 x 2.0 mm) and have been executed by fine pecking micro erosion dates were also obtained for cupules at Morajhari (Sikar) and Moda Bhata in Ajmer , which are in the order of 10000 to 5000 yrs BP.

The cupules are the oldest surviving rock art known in the world. The oldest cupules found so far in the America, Africa, Australia, Canada and Europe stretch up to the France and to about 50, 000 yrs. BP in Australia.

Daraki-Chattan is a small, narrow and deep cave in the upper strata of quartzite buttresses of Indragarh Hill, which are broken into big blocks by vertical fracturing. With more than 500 cupules on its two vertical walls, it is an extraordinary palaeolithic cupule site in the Chambal basin in the Bhanpura-Gandhisagar region of the Mandsaur district of Madhya Pradesh . Murjari in Ajmer district and in Bagra Bhata near Gohla village,

Sikar region were reported various cup makers. Cup-marks petroglyphs have also been discovered in the Aravali region .

Concept and Possible Purpose of Capules

Many of these cup marks had been used by more recent people who would put holy water or milk in them as offerings to God . According to Lewis Spence that many of the tombstones do the roof-slabs on ancient dolmens, and that they may have served as food receptacles for the dead. This may be true for some of the monuments, but many are located on areas that are not associated with the dead or, at least, the dead have not been located as yet. This theory falls short when you consider that cup marks are also commonly found on the underside of dolmens, rock overhangs and cave roofs and on the sides of standing stones.

Many researchers believe that these cup marks are representative of fire and the sun or were part of the thunder cult. In support of this theory, they suggest that many of the boulders that contain cup marks also have hand, foot and wheel carvings or paintings and that these are, symbols of the sky, or solar cult.

According to Lithuanian archaeologist Inga Marmaite, "It would seem that foot-marked stones are related to the cult of the dead, the fact, which could be proved by the not very clear but still distinguished connection with the burial monuments, as well as appropriate mythological parallels and folklore data.

There are as many possible explanations for these objects as there are cup marks, and no one explanation fits all of these locations.

In this light, others archaeologist have suggested that the hand and foot impressions found in native American sites represent a shaman's posting of a place as one of power and importance.

Archaeologist and rock art expert David Whitley suggested that these cupmarked boulders are related to fertility rites, and they represent the female genitalia. Generally cupmarks are one inch deep and two inches in diameter that may have been used by shamans to induce rain or, "in some cases, by barren women who desired to conceive children." Some cup-marked stone is said to have been an entryway for shamans to access the other world. After they had reached a state of trance, they would fly through the cup mark to the nearby stream, where they would then journey

to the spirit world to learn new healing techniques. When they returned, they would have learned those new ways and could apply them to the people.

Archaeologist Gary Fink wrote that ethnographic explanations for cupule petroglyph sites include such things as 'baby rocks' made by women desirous of offspring. Rain rocks were made in the hope of bringing rain to an area.

According to Old George, "such stones are alive and burrow in the ground like moles. To look at one would cause serious illness, perhaps paralysis. Only a medicine man could capture one and only he knew how to kill it."

The association of these stones with cup-marked boulders is uncertain - perhaps the cups were a way to control the "living stones" so that harm would not be visited upon the residents of the area.

In both Europe and North America, many cup-marked boulders include lines carved out between the cups and beyond. Some researchers theorize that the cup marks represent the womb and the straight lines pathways to guide the spirit to the womb of pregnant (or barren) women to ensure a safe birth. Others think that these straight lines represent the penis, or even semen, entering the vulva. This form of rock art is more common in the Great Basin and is believed to represent the oldest style in the Basin, dating back to more than 7,000 years.

Obviously, the American and European cup marked boulders are from different eras and may have had different purposes. While the European and British archaeologists believe that they represent death, the American archaeologists believe that they represent fertility and life. Both explanations may be valid.

According to Andres Tvauri, that these stones indicates that they have been used as sacrifices to stones and offerings were made for the faery and to obtain healing. Offerings included fire, blood, milk, fresh meat and burnt grain. Many of the cup-marked stones are associated with sacred groves and the stones were probably used as altars.

These stones were also utilized in much the same manner as holy wells have been. For some reason, diseases of the eye were often treated at these sites.

Using the ancient transference techniques, individuals would touch their afflicted eye(s) with a coin, or salt, and then leave the coin or salt in one of the cup-marks thereby transferring the disease to the stone. Rainwater that collected in the cup marks was also collected and used to treat diseased eyes.

Another theory about cup marked stones is that they are closely related with agricultural-fertility rituals practiced the world over. Evidence indicates that each year, at the time of sowing, one cup mark was carved into a chosen stone as part of a fertility tradition. After the stone was carved and the grain was sown, the stone's purpose had been served and it no longer had a sacred relevance. In19th century, in India, cup-marks were carved into stones situated along roads used for bridal processions.

The early agricultural people of India used these stones to grind sacrificial grain and to offer milk to the gods to ensure bountiful crops and successful hunts.

Ethnographic evidence indicates that these stones were used into the early 1900s in India.

Other theories proposed over the years suggested that these cup and ring designs were plans for stone enclosures such as Iron Age hill-forts, aligned with star groups - making an ancient star chart, or simply pre-historic doodles! Cup marked stones have many traditions associated with them as other megaliths.

The Roch d'la Sguia near Bessa, Italy, is a large, egg-shaped rock with a number of cup marks on one side. It is called the "sliding rock" because women over the years have worn it smooth by sliding down its contours to ensure pregnancy. Bessa is a unique area with numerous megaliths - many with cup marks. Researchers have noted that cup-marked stones are situated so that they are exposed to sunlight and many of them are slanted towards the sun. The positioning of these stones, or rather the selection of them, would give credence to the Sun or solar disc association. The vast majority of these stones are also located near waterbodies (indeed, most megaliths fall in to this category as well).

Another very real possibility is that the cup-marked stones were created as musical instruments. This certainly would be an important ritual tool and there are other locations around the world where "singing"

stones have been found.

After a good rain, people come to the rock outcrop. Leaders or shamans climb the outcrop, and 'play' the rock with the cup marks, leading the rest of the tribe below in songs of thanks."

Ethnographic information indicates that the Luiseño Indians in San Diego County, California used cup marked boulders in girls' puberty rituals - also to make musical sounds. However, ethnographic information also indicates that there was no one purpose for these markings but were used in different ways by different groups and tribes. Not all cup marked stones are musical so this is only one possible reason for their creation.

It is hard to believe that these cup marks and cup and rings are only coincidentally identical the world over; it may be that they once did have a common origin and common symbolism. It has been determined that some of the cup marks, or cupules, have been dated to 100,000 years ago and were used by Neanderthal groups.

Such markings, therefore, may be the one symbol that humans have been creating for the longest continuous period in their history. Anthropologists and others are striving to analyze why such an unusual symbolism might be found in identical representations across such wide geographic and cultural areas and extreme time periods, and how these symbols came into use universally.

Refrences

1. *Bednarik, R.G. 2001. Early Petroglyphs and their Global Context. Purakala*
2. *Das, Subhashis. 2014. Unknown Civilization of Prehistoric India. New Delhi*
3. *Kumar G. 1998. Morajhari: a unique cupule site in the Ajmer District, Rajasthan. Purakala.*
4. *Kumar, Giriraj. 1995. Daraki-Chattan: a Paleolithic cupule site in India. Purakala.*
5. *Rao, N. Kameswara. 2005. Aspects of prehistoric astronomy in India. Bulletin of Astronomical Society of India.*
6. *Sharma, K.G. 2014. History and culture of Rajasthan, Rajasthani Granthagar, Jodhpur*

Arjunayanas and Malavas; Some Reflections on Tribal Republics of Early Rajasthan

Om Prakash Singh

When we talk of 'republics' in ancient India, the picture which generally comes to our mind is that of 'republics' in northern and eastern India. A lot has been written on these 'republics' and the 'republican' tradition in ancient India is generally identified with these republics. However, our sources suggest that northern and western India was also the land of 'republics' from 500 BC to 400 AD. Unfortunately, in the case of most of these 'republics' we know nothing beyond their names luckily preserved in the books of some grammarians like Panini and Patanjali. These 'republics' are known to us from literary as well as archaeological, mostly numismatic, sources. Our literary sources suggest that the origin of these 'republics' dates back prior to 5th century BC. But coins issued by them suggest that they flourished between 200 BC to 400 AD. The coins issued by these 'republics' are termed 'tribal coins' because they bear the names of certain tribal communities which issued them. These 'tribes' followed a non-monarchical system of government and hence they are called 'tribal republics', though they were not 'republics' in the modern sense of the term.

But these 'republics' have not received the attention they deserve. The 'republics' of this area have largely been ignored by the scholars. Early historians they have made mostly passing references of these 'republics' in brief discussion and have concluded that these 'republics' had non-monarchical form of government except some detailed studies by M.K. Sharan[1], K.K. Dasgupta[2] and Bela Lahiri[3].Although literary sources suggest the existence of a number of 'tribal republics' but existence of all these 'republics' is not corroborated by archaeological evidence. Some of the important 'tribal republics', whose existence is proved by literary as well as archaeological sources, are the Arjunayanas, Audumbaras, Kunindas, Malavas, Yaudheyas,etc. Two of these 'tribal republics' Arjunayanas and Malavas, flourished in the Rajasthan, especially south-

 ISSN 2321-1288

east Rajasthan. These tribal 'republics' existed between 200 BC to AD 400, but when we draw the map of the Kushana state, these areas are also included in it. This work will throw some light on how and to what extent were they integrated with the Kushana state and why they disappeared after fourth century AD. Our endeavour of understanding these polities will perhaps also help us to appreciate the problem of the evolution of regions in northern India.

Arjunayanas

Coins of the Arjunayanas are few in number. Almost all of them are made of copper and are round in shape. Only one silver coin of the Arjunayanas has been found. The legend is in Brahmi and Sanskrit as restored from different specimens as ArjunayananamJayah. Allen[4] assigns the coins of the Arjunayanas on palaeographical grounds to about 100 BC while Rapson[5] ascribes them to either the later part of the first century BC or the earlier part of the first century AD. P.L. Gupta[6] suggests a much later date on palaeographic basis. On the basis of the use of Sanskrit and the style used in the legend, K.K. Dasgupta[7] suggests some date round about 150 AD for these coins. According to Allan[8], the lands of the Arjunayanas probably lay within the Delhi-Jaipur-Agra triangle.

According to K.P. Jayaswal[9], the Arjunayanas were a younger political community founded about the Sunga time (200 BC). But the legends on their coins, which are in Sanskrit, indicate that the Arjunayana coins are not likely to have been issued before the first century BC. We may thus hold with D.C. Sircar[10] that the Arjunayanas began to grow powerful with the gradual decline of the Indo-Greek power about the middle of the first century B.C.

Not much is known about the early history of the Arjunayanas but the rarity of their coins shows that the political independence of the 'tribe' was probably not of long duration. It appears that they were subdued by the Shakas of Mathura about the first century A.D.[11] It may be conjectured that the Arjunayanas and their neighbours remained under the subjection of the Kushanas during the time of Kanishka and Huvishka and also probably of Vima earlier.[12] With the decline of the Kushana power they asserted their independence and extended their influence. This seems to have been echoed in their coin-legends indicative of their triumph (Jayah) over some enemies. The enemies, most probably the Kushanas, were

ousted from power by constant attacks of the Yaudheyas, Malavas and Arjunayanas all of whom issued coins with legends ending with the word Jayah. If these people were not directly responsible for the decline of the Kushanas, they certainly accelerated the process. The term Jayah on their coins could also stand for 'self-eulogisation' or 'self-perception' by these tribes. It seems that after the decline of the Kushanas these 'tribes' tried to take advantage of the situation and tried to assert their position by creating an impression that they were instrumental in the decline of the Kushanas. It may be presumed, therefore, that the Arjunayanas were in power some time between the middle of the second century AD and the middle of the fourth century AD because the Allahabad pillar inscription mentions the ArjunayanasalongwithMalavas, Yaudheyas and others fully gratified the imperious commands of Samudragupta.

The legend ArjunayananamJayah is comparable to those on the Malava and the Yaudheya coins which read Malava-ganasyaJayah and Yaudheya-ganasyaJayah respectively-the the only difference that the word gana does not occur on Arjunayana coins. The three tribes-Malavas, Arjunayanas and Yaudheyas-are mentioned together in the Allahabad prasasti of Samudragupta. So, the most important evidence of the existence of the Arjunayanas as an independent political community is furnished by their coins as well as by the Allahabad pillar inscription. On the basis of non-occurrence of the term 'gana' on their coins one may think that they were not a gana state. But the Allahabad pillar inscription groups them along with the gana states of northwest India. On this ground, it can be assumed that their form of government was probably non-monarchical.

Malavas

More than six thousand coins and few seals of the Malavas have come to light. Most of these coins and seals have been found from eastern Rajasthan region, particularly Nagar, between Bharatpur and Alwar. These coins are all made of copper. Generally, the coins are round shaped, but rectangular pieces are also not uncommon. Carlleyle[13] places the beginning of Malava coinage in about c. 250 BC but Smith[14] and Rapson[15] assign it to about 150 BC, a dating now generally accepted by scholars. K.K. Dasgupta[16] suggests that the age of the Malava coinage may be said to have ranged from about the middle of the second century BC to the middle of the fourth century AD, the time of rise of Samudragupta as a paramount

ruler of Northern India. These legends on the Malava coins seem to be variations of the same term in Sanskrit and Prakrit. Since these coins are generally very small, so the legends on them are mostly incomplete or found in shortened form. The legends which are generally met with on the Malava coins are MalavanamJayah i.e. let the Malavas be victorious and MalavaganasyaJayah, i.e. let the Malava-gana be victorious. The legends are paralleled by those on the coins of theArjunayanas and the Yaudheyas. Apart from these coins a lead seal of the Malavas has been found from Rairh, a place near Nagar. The seal bears the legend Malava-Janapadasa.[17] This seal is supposed to be of about second century BC.

The discovery of a large number of coins dated between the second century BC and fourth century AD at Nagar in Eastern Rajasthan shows that the Malavas had built up an important centre of their power there. Earlier they were living in Punjab about which we know only from literature[18] but their coins have not been recovered from the Punjab region. Probably they migrated from the Punjab area due to unstable political condition there. They probably considered this successful migration to Rajasthan and their ability to maintain their independence in the new home as an act of triumph (Jaya) and some of their coins with the legend MalavanamJayah attributable to this period (i.e. second-first century BC) may have reference to their successful migration from Punjab and ultimate settlement in Rajasthan as an independent 'tribe'.[19]

The Malavas appear to have submitted to the Shakas in the first century AD but reasserted their independence in the third century AD.[20] The era of their prosperity continued till the rise of Samudragupta. Sometime about the middle of the fourth century AD they appear to have submitted to Samudragupta[21], but it may be believed that their submission to Samudragupta did not amount to their complete loss of independence because we find various references of the Malavas from a number of inscriptions and literary texts of early medieval period.[22]

The Malavas described themselves as a gana on their coins. On this basis it may be suggested that they had non-monarchical form of government. The word gana is also used when the form of government appears to have lost at least some of its early republican features in the third century AD as is known from the Nandsa record, although it cannot be said definitely that the government was even then a monarchy in every

respect.[23] The Nandsa inscription shows that the Malava-gana in the third century was probably administered by chiefs whose office seems often to have been hereditary.[24] However, the use of the word gana in the second century BC and third century AD on their coins may be an indication of the fact that the Malavas continued to be non-monarchical when its generally known political significance was changed with the assumption of the leadership of hereditary chiefs. It may be noted here that the word Janapada occurs on a Malava seal. But no coin with Janapada legend has been found. The seal is supposed to be of about second century BC. The occurrence of the word gana on their coins and Janapada on a seal in the second century BC is suggestive of the fact that gana and Janapada denoted non-monarchical form of government and Malavas too practiced it.

Conclusion

The earliest coins of all the 'tribes' cannot be dated earlier than second century BC, including the Malavas and the earliest coins of the Arjunayanas are dated to second century AD. Though the legends on Malava coins of second century BC do not throw any light on the nature of their polity but the lead seal found from Rairh contains the term janapada in its legend thus emphasizing the importance of 'locality'. Janapada primarily means a tribal settlement[25] and it includes both territory and population.[26] This evidence suggests that the Malavas enjoyed control over some specific and limited localities. No coins have been recovered from first century BC and first century AD. Probably Arjunayanas and Malavas, during this period, were overpowered first by Shakas and then by Kushanas.

Arjunayanas and Malavas issued their coins again during the period second to fourth century AD. In the legends of this period we find the term gana along with the name of the 'tribe' as in the case of the coins of the Malavas. These legends also contain the term jayah in their legends besides Arjuanyana coins where, however, the term gana is absent.The mention of the term gana on the coins of second to fourth century AD signifies that 'tribes' using this term had a uniform pattern of administration. The word jayah in the legends of this period may be suggestive of self-eulogisation or self-perception by these 'tribes' after the decline of the Kushanas. It may also be possible that by using the term jayah they were trying to take the credit of the decline of the Kushanas.

Between second century BC to AD fourth century, the Malavas witnessed several developments which help us to understand their nature of polity. In the beginning they called themselves janapada but by fourth century AD they started calling themselves gana. Studies suggest that janapada and gana denoted non-monarchical form of government. Thus these 'tribes' generally practised non-monarchical form of government but they could not remain aloof from the changed socio-economic complexion of times as suggested by the material culture found during archaeological excavation of the region and it needs further investigation.

References

1. *M.K. Saran, Tribal Coins-A Study, 1972, New Delhi.*
2. *K.K. Dasgupta, A Tribal History of Ancient India-A Numismatic Approach, 1974, Calcutta.*
3. *Bela Lahiri, Indigenous States of Northern India, 1974, Calcutta.*
4. *John Allan, Catalogue of the Coins of Ancient India, 1975, New Delhi, p. lxxxiii.*
5. *E. J. Rapson, Journal of Royal Asiatic Society, 1900, pp.106-07.*
6. *P.L. Gupta, Indian Historical Quarterly, Vol. XXVII, p.208.*
7. *K.K. Dasgupta, op. cit., p.22.J.*
8. *Allan, op. cit., p. lxxxiii.*
9. *K.P. Jayaswal, Hindu Polity, 1943, Bangalore, p.154.*
10. *c.f.R.C. Majumdar (Ed.), The Age of Imperial Unity,1960, Bombay, p.163.*
11. *Bela Lahiri, op. cit., p.281.*
12. *K.K. Dasgupta, op. cit., p.26.*
13. *A.C. Carlleyle, Cunningham's Archaeological Survey Reports, Vol. VI, p.178.*
14. *V.A. Smith, Coins of India, Vol.I., 1972, Varanasi, p.15.*
15. *E.J. Rapson, op. cit., p.15.*
16. *K.K. Dasgupta, op. cit., p.125.*
17. *K.N. Puri, Excavation at Rairh, 1941, Jaipur, pp.49 and 54.*
18. *Cunningham's Archaeological Survey Reports, Vol. VI, p.182.*
19. *K.K. Dasgupta, op. cit., p.135.*
20. *Ibid., p.135.*
21. *Corpus InscriptionumIndiacarum, Vol. III, p.8.*
22. *Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute, Vol. xiii, pp.218-19.*
23. *K.K. Dasgupta, op. cit., p.137.*
24. *Epigraphica India, Vol. xxvii, p.260.*
25. *R. S. Sharma, Aspects of Political Ideas and Institutions in Ancient India, 1991, Delhi, p.34.*
26. *Ibid., p.35.*

Interpreting Integration Process in Early Medieval Rajasthan : A Case Study of the Making of Mewar Kingdom

Pinal Jain

Nomenclatures such as 'Early Medieval India' or 'Early Medieval Rajasthan' are themselves imbued not only with historical developments of the age but with a long history of history writing also;[1] which has both liberated this age from stereotype of the 'dark age' and has proved it to be a continuation of the processes from its preceding phases.[2] The early medieval era is associated with the discussions of the emergence of a number of Rajput Kingdoms which automatically brings forth the question of the 'Origin of the Rajputs'. This question has been answered differently by various scholars either as connecting rajputs to Kshatriya or Brahmana varna and justifying the claims of belonging to Suryavamsa or Candravamsa or by arguing in favour of the assimilation of some foreign elements in Indian society and their political ascendancy being justified through Agnikula myth. Another opinion which had been put forward is that because these powers resisted foreign invasions in order to preserve Indian culture; they came to be recognized as kshatriyas.[3]

However, all these positions reiterate that connection to kshatriya varna whether directly or indirectly was necessary in order to achieve 'Rajput' status. And these theories have been located specifically in the region of Rajasthan. A departure from the above-mentioned opinions has been made by B.D. Chattopadhyaya by seeing the Rajputs as belonging to 'mixed caste' and their origin "as a process which may have had parallels or otherwise in early medieval developments outside the region"[4] A discussion of the viewpoints of Chattopadhyaya brings an end to the study of early medieval Rajasthan in seclusion and connects it to the wider paradigms of different approaches for the analysis of early medieval Indian history.

Early Medieval India : Conceived variously -

History of early medieval India has been viewed through different

 ISSN 2321-1288

lenses. Primarily it was characterized by the imperialist historians as a phase of political disunity which got refuted by Nationalist historians such as K.A.N. Shastri, R.C. Majumdar etc. who believed this age was marked by centralized empires. But with coming up of Marxist historians (primarily D.D. Kosambi, then R.S. Sharma and many others) this concept of centralized empires began to be seen rather as fragmented and decentralized political formations. But this approach 'from above' also came under criticism by Segmentary state and Integrative model.

As the title of this paper indicates this paper is an effort to understand processes of integration in various spheres during early medieval Rajasthan. This model was propounded in 1970-80s by Hermann Kulke and B.D. Chattopadhyaya. It focuses on the processes 'from below' and questions the idea of political decentralization and argues for the existence of great regional kingdoms which arise not from the centres of the Gupta empire, rather in their autonomous peripheral hinterland and in intermediate regions.

Kulke explains these processes of state development in three stages-

1. **Chiefdom -** Control over the local nuclear area by a particular clan, hence he also calls this stage to be 'rajavanmsa'.
2. **Early Kingdom -** expansion of control in peripheral zones with conditions of tribute on their chiefs. It is defined as 'samantacakra.'
3. **Imperial Kingdom -** penetration into the nuclear areas of independent neighbours and because of expansion of territory change in the capital of kingdom. This stage is termed as 'mandala'.[5]

This political ascendancy was then legitimized through various tactics both 'vertically' (integration of local cult into the courtly cult) and 'horizontally' (through creation of genealogies, building of temples, and then 'deification' of the king as well as 'royalization' of the God).[6] Though Kulke dealt with the integrative processes at length especially in the socio-religious spheres (in the form of processes of legitimization) but he did not delineate political mechanism of integration with all its nuances. This gap was then fulfilled by B.D. Chattopadhyaya, who recognizes the proliferation of lineage-based states in India. He sees the political processes from two vantage points -

1. Transformation of a lineage into a regional power - On the basis of military supremacy and inter-lineage as well as intra-lineage networks of power.

2. Redistribution of resources - Through a system of ranking (both in the form of administrative posts such as sandnivigrahika, dandanayaka etc. and in the form of samanta hierarchy).

According to him this integration in the political field through expansion of state society in pre state areas, then echoed in economy, society and religion as well.

Economic processes - Spread of rural agrarian settlements with the peasantization of tribes

Social Processes - Caste formation with the spread of the dominant ideology of the social order based on varna division

Religious Processes - Integration of local cult rituals and sacred centres into a pantheistic supra-local structure

These processes then culminated into the development of regional/ supra-regional polities from sub-regional and local polities; stages of state development which are comparable to the stages of chiefdom, early kingdom and imperial kingdom in the framework of Kulke.

From Lineage to Regional Kingdoms : Experience of Early Medieval Rajasthan

History of early medieval Rajasthan is marked by a number of regional kingdoms coming upon the scene such as that of Gurjara-Pratiharas, Cahmanas and Guhilas. However as stated earlier the discussion of the history of early medieval Rajasthan itself connects to the question of the origin of the Rajputs; different opinions regarding it are mentioned in the previous section.

Chattopadhyaya looks for the origin of these various 'Rajput' regional kingdoms in different ruling lineages which came from a wide social strata such as tribes (in case of Medas) and foreign elements assimilated in Indian society (in case of Hunas). Hence with the opinion of 'the mixed caste' origin for the rajputs he goes to "search not for the original ancestry of the clans but for the historical stages in which Rajput clan structure came to be developed.[7] Because according to him "Rajput like the traditional varna categories, is known to have been assimilative in space and time and has until recent times, been a recognizable channel of transition from tribal to state polity"[8] through the processes which he calls as 'Rajputization'; so now let us interpret this process of 'Rajputization'.

These processes started with different lineages seeking political power and hence exhibiting themselves according to contemporary political ideology, and that's why these processes were in correspondence to pan-Indian phenomena. Formation of the centres of political importance of these lineages was correlated to the formation of the agrarian bases and for this colonization of new areas (pre-state or tribal areas) was accomplished which not only led to the territorial expansion of these ruling lineages but also to an introduction of 'a more advanced economy' in these new/pre-state/tribal areas.[9] At this juncture, land grants to brahmanas as well as distribution of land among royal kinsmen is to be seen. Distribution of land among royal kinsmen or to the samantas (arranged in a hierarchy) did not lead; hence to the weakening of political control rather to the strengthening of it.[10]

After an increase in the areas these lineages controlled, they strived to for an upward social mobility (in order to conform to the contemporary political ideology) and so different tactics were applied such as construction of geneologies, patronage to certain religious sects, assimilation of local cults and then ultimately creation of a regional cult which consisted both the elements of local /tribal cults as well as of their patronized religious sects.[11]

This process of legitimization again reflected in the claims of ksatriya origin; for which 'Brahma-Ksatra'[12] was a transitional and relatively open status. An another major factor for obtaining legitimization and stablisation of the kingdom was marriage alliances. These marriage relationships also allowed inclusion in the 'Rajput' category. Chattopadhyaya argues that - "It shows that the emergence of the early rajput clans took place within the existing hierarchical political structure. This point is often missed in efforts to build an image of the rajputs as making a sudden and brilliant debut on the north Indian political scene"[13]

Making of the Mewar Kingdom-

After understanding the processes of integration and 'Rajputization' in general in the context of early medieval Rajasthan; let us now proceed to elaborate how these processes were executed particularly in the case of the emergence of the regional kingdom of Mewar on the basis of the research work done by Nandini Sinha Kapur which was published in the form of a book titled State formation in Rajasthan: Mewar During the

seventh-fifteenth centuries in 2002.

Arguing on the lines of integration model, Kapur highlights that the emergence of the Guhila state was not on the reminiscences of the Pratihara empire, rather they developed from the nuclear areas; and adopting the processes of incorporation reached to a stage of a formidable regional power.

Guhila lineages in the form of local polity-

Kapur traces the process of primary state formation with the establishment of different lineages of Guhilas from seventh century onwards. She counts the presence of various Guhila families on the basis of inscriptional evidences such as Guhilas of Chatsu, of Unstra (in Jodhpur district), of Nadol, of Mangrol, of Nagda-Ahada, of Kiskindha (in south Udaipur), of Dhavagarta who though, as reflected from their inscriptions, accepted suzerainty of Mori kings but in no way were established by Mori rulers.[14]

These Guhila lineages, after consolidating their political power locally created an economic base either through donations of agricultural fields (in case of Guhilas of Dhavgarta) or through opening of mines (at Aranyakupagiri by Guhilas of Nagda-Ahada - described in the Samoli inscription of king Siladitya). This began the process of the transformation of some of the Bhils, from hunter-gatherers to agriculturists and miners. Besides this, the location of thee centres also helped them to establish as exchange centres.[15]

In addition to backing themselves on an economic base, these Guhila lineages also started the process of the incorporation of local chiefs as indicated through the land grant inscriptions of the Guhilas of Kiskindha. This was how Guhila lineages of Kiskindha and of Nagda- Ahada started consolidating their power in this first phase of state formation.

Journey towards a Regional Kingdom-

In the second phase of development it was the Guhila house of Nagda-Ahada, who successfully integrated the areas of the central part of the Mewar hills and possibly touched the Northern Mahi basin as after 8th c. AD no record of Guhilas of Kiskindha is found. This increase in political influence got reverberated in the Atapura inscription of Saktikumara, where for the first time a long geneological list of the Guhilas of Nagda-Ahada

appears officially and king Saktikumara also changed his capital from Nagda to Ahada. This phase is also marked by the matrimonial alliances with contemporary powers such as Hunas and Parmaras.

With the substantial increase in the political power Paldi inscription of Guhila Arisimha (1116 AD) mentions king as 'Bhupale Medapata-mahimam'. In thirteenth century, with the occupation of the fort of Chittaur, the Guhila family of Nagda-Ahada proclaim themselves to be a regional power of considerable importance, which also marks the final stage of state development.

Tools of Legitimization: Origin Myths

De facto power of the ruler was transformed into de jure power through the tools of legitimization. Guhila kings also used these techniques. Shifts in the origin myths of the Guhilas reflect stages of state formation in Mewar.

In their initial inscriptions different lineages of Guhilas mention themselves simply as 'Guhilanvaya' but with obtaining a certain degree of political control Guhilas of Nagda-Ahda in the Atapura inscription of tenth century AD, the ancestor Guhila is claimed to belong to a brahmana family of Anandnagar, Gujarat. Introduction of this migration myth and connection to a prestigious family provided the legitimizing authority to the Guhilas.

Next shift in the origin myth came in thirteenth century when in the Chittaurgarh inscription of 1274 AD and in the Achalesvara inscription of 1285 AD, Bappa is claimed to be the founder of the dynasty and Guhila as his son. This was the stage of brahma-kshatra status when the brahmana Bappa received kshatriyhood from Haritarasi. However Kapur argues that Bappa was not the actual ruler but a generic term (meaning father/father-like figure) and was used as a legitimizing agent. With the acquisition of Chittorgarh in the thirteenth century it was necessary to claim such a status to come on a equal level with neighbouring kshatriya powers.

Next step in the evolution of origin myths comes in 15th -16th centuries when Guhilas proclaim themselves to be kshatriyas and connect themselves to the Iksvaku ancestry and hence to Suryavamsa.

Tools of Legitimization: Religious Dimension-

During early medieval period temples emerged as a legitimizing centre through creation of a regional cult, which as Kapur opines,

appropriated in two ways-

1. Through a process of identification with the divinity enshrined in the temple (as done by Colas - Rajrajeshwar temple).
2. To surrender temporal power to the divinity (as in Orissa, where Lord Jagannatha considered to be the king of the empire - Odisa-rajya-raja) and Gajapati kings ruled as his deputy (ravuta) and son (putra).This strategy was applied in case of Mewar also.

This process starts with the patronage of Pasupata sect and construction of the temple of Ekalingaji at Nagda in tenth century AD. The inscription of the temple mentions the legend of 'Bappaka in Naghrda' where Bappa appears for the first time in official records. In the later times from the legends of 'Bappaka in Nagahrda' were created the legends of Bappa, Haritarasi and Eklinga in Mewar to justify hold over Chittaur.

In order to assimilate the tribal/local cults in the cult of Eklinganatha, local goddess Vindhyavasini came to be attached to Ekalingaji by being identified with Parvati in the Ekalingamathtmyam. Vindhyavasini was also connected to the legend of Bappa, Haritarasi and Ekalinga in Mewar. However till this point Pasupataacharyas act as agents of the integration. The ultimate point in these processes is achieved in the fifteenth century when kings of Mewar adopt the title of 'Ekalinganijasevaka' found both in the Ekalingamahatmyam and Kumbhalgarh inscription.

Conclusion

Throughout the paper I have tried to understand both the integrative processes which were at work in the different spheres of the early medieval period with a case study of the Mewar kingdom and the question of the origin of the Rajputs as a social category which itself gets linked to the overall development in the early medieval India. This paper is an effort to underline the paradigm shifts which have been achieved in the historiography of this period.

References

1. *In the words of Upinder Singh 'Presents a classic case of historiography overwhelming history'. Singh ,Upinder, Rethinking Early Medieval India, OUP, 2011, page no.1.*
2. *Indian feudalism school has argued in favour of a sudden break and even opposition from the processes of early historical phase but Integrative model champions the idea of continuation. For more details see Introduction of The making of Early Medieval India by B.D. Chattopadhyaya.*
3. *Sharma, Dasharatha, Early Chauhan Dynasties, S.Chand & co. Delhi,1959, page no.6.*
4. *Chattopadhyaya, B.D., The Making of Early Medieval India, OUP, 2012, page no.- 60.*
5. *'Mandala' generally means provinces in ancient Indian administration. In the last phase of the state development local chiefs of the previous peripheral areas, who enjoyed an almost independent status though with condition of paying tributes, now come to be inculcated in the administration of Imperial kingdom as heads of the mandala or provinces.*
6. *For a detailed argument see Kulke, Hermann, 'The Early and the Imperial kingdom: A Processual model of Integrative state formation in Early Medieval India' in idem ed. The State in India 1000-1700 , OUP, 1997.*
7. *Chattopadhyaya, B.D., The Making of Early Medieval India, OUP, 2012, page no.- 67*
8. *Ibid., page no.- 59.*
9. *Besides advance in economy, penetration into the tribal areas and then their interaction with state society and brahmanised framework brought social stratification in them as well.*
10. *Later with some sort of consolidation of political power by these local polities, Chattopadhyaya argues that, construction of fortresses also worked as strengthening tool for control over their rural surroundings along with defense purposes.*
11. *This corresponds to Kulke's ideas of 'temple policy', 'vertical and horizontal legitimization'.*
12. *A stage from where transition to Ksatriya from brahmana origin (e.g.- Guhilas-Nagar brahmana) was both easy and respectable.*
13. *Chattopadhyaya, B.D., The Making of Early Medieval India, OUP, 2012, page no.-76.*
14. *Subordination of these Guhila Families is inferred through their titles found in the inscriptions, however they developed on their own and Mori kings rather acknowledged Mewar as the domain of the Guhilas. (Dabok Inscription)*
15. *Dhavgarta was located in proximity to Chittaurgarh and was on the major trade route to Malwa and Gujarat. Ahada - because of lying on a strategic location which provided safety to traders commuting between Delhi and Gujarat coast (because of Mt. Abu route in spite of being popular, was vulnerable to Mongol attacks) emerged as a commercial centre, which facilitated the second phase of state development for Guhilas of Nagda-Ahada.*

Stoney Realm : Minerals as Makers of Social and Culturtal Spaces in Bikaner State during Late Medieval Times

Dr. Nitin Goyal

Man has used minerals in the pursuit of development throughout the ages. From the crudest flint implements to impressive buildings man has all along made bold and large scale experiments in the use of minerals which have in turn, shaped the destiny of man. In the late medieval times, minerals were mainly utilized in the realms of i) food (salt, sazzi) ii) clothing (dying, tanning material) iii) construction (clay, lime, sand stone) iv) commerce and karkhana (iron, copper). In terms of definition, minerals are natural substances with distinctive chemical and physical properties. They are extracted from earth by mining or quarrying and used in a wide range of applications. Resource extraction involves activities that withdraw resources from nature. This can range from the primitive techniques of mining to the modern sophisticated methods. This being the role of minerals in existence, they should be considered as valuable assets in the natural resource of any realm. For practical purposes, every state has looked at its mineral resources from the view point of sufficiencies and deficiencies. Nature has made a very unequal territorial distribution of minerals in the Indian subcontinent.

In the state of Rajasthan, Bikaner is in north-western part, has been blessed with wide variety of nonmetallic minerals and precious stones. The sandy part of Bikaner has concentration of the deposits of copper, lime, sandstone, salt, fuller's earth as noteworthy rocks and minerals. The nature given minerals not only fulfill the local requirements but some of them have added to the state's treasury with their export potential. Many requirements were fulfilled by importing things from far off places through long distance trade routes passing through Bikaner.[1] Many objects i.e, Wool, Sazzi, Fullers'earth, Leather products and Salt, etc. exported from Bikaner to Sindh. Bikaner imported commodities such as iron, indigo,

sugar and drugs from Hisar, Bhiwani, Delhi, Agra and Patiala. Such an exchange shows that minerals played a significant role in developing relations among states.

Unlike southern Rajasthan, North-western Rajasthan, was a resource rich region. Being a semi-arid zone, minerals were found in south-east corners of Bikaner. Moreover, geographically Bikaner state was positioned in the midst of a desert. The traditional economy of the region was largely based on mono-crop agriculture other than the livestock rearing as a vital source of livelihood under the risks and fears of recurrent droughts. But when prolonged droughts turned into famines and endangered the existence of agriculture and animal based economy then it was mineral exploitation which used to come at the rescue and provide some relief to the famine effected masses. Various stone construction edifices like forts, water bodies and outer wall of the city were initiated by the then rulers, where the utilization of mineral wealth provided relief to the famine stricken people.

From contemporary historical records, the first semblance of some industrial activity in the state can be traced during the reign of Raja Raisingh (1574-1610 AD) who established royal karkhanas. These karkhanas were based on the line of imperial Mughals.[2] They worked under the aegis of central administration of the capital and outturned those things which were needed by the aristocracy or in the durbar

However despite some encouraging signs of minerals presence till the end of the nineteen century, state had not come forward to draw any strategy for mining or quarrying for extracting natural resources. Unlike the eastern parts of India, here rulers never designed a separate department for mineral extraction. Such attitude on the part of the rulers signifies their lack of knowledge, absence of mining techniques and the utilization of minerals at business scale.

To understand the utilities and deployment mineral natural resources it is pertinent to know about the presence of the metallic and non-metallic minerals in the state.

Clays : The role of clay in our daily life hardly needs any introduction. It is the kind of earth which is easy to approach and when moistened possess a high degree of plasticity and tenacity. From centuries,

clay has been the basic building and cementing material in human dwellings. Baked clay-bricks are a handy medium of house construction. Starting as a basic raw material for building and utensils, it has now reached a constantly widening application, in the manufacture of tiles, earthenware etc. Among clay, a red clay quarried in Bikaner employed for mud plastering on both sides (lipana) of wall. This clay helps the houses to withstand during rainfall.[3] Apart from red clay the noteworthy clay mineral found in Bikaner is Multani mitti or fuller's earth.

Fullers earth (Multani mitti) : Fullers earth[4] is white, greenish-gray or greenish-brown yellow, soft and earthy mineral. It is used as a detergent agent and has a high absorbent power for many substances. It is obtained by quarrying some beds of yellow and brown earthy shale belonging to the Eocene rock system. Reportedly, it occurs in thick beds in Magra (Kolayat)[5] and Palana (14 miles south of capital), in Bikaner state. This well-known yellow clay is also quarried near the village of Mundh 7 miles from Kolayat railways station) in the southwest which is locally called Multani mitti or maet and sometimes gachani in the vicinity of Gajner.[6] Larger portion of its output were exported chiefly to Punjab. In neighboring state of Punjab, it is used for the manufacture of high grades pottery. In nineteenth century Fuller's earth is also obtained in capital Bikaner where it is quarried and sold in the market. Locally it sells at one aana per maund (821lbs). Its characteristic of being greasy made it widespread preference for hair wash. Interesting, myth has it that centuries ago, the ladies of Kutch ate it to improve their complexions.[7] Mines of Multani mitti were the source of income generation for the state by leasing them. Durbar regularly offered its mines of fuller's earth on leases to the highest bidders.[8] The mineral extracted from mine also liable for state tax until it reached the end user. The more it was procured the higher it augment state treasury by taxes. Under this guiding principles durbar inclined towards extraction. Archival evidences reveal that the durbar kept a close watch over the miners through its officials, and directed them to dig the mines deeper. There was an emphasis on extracting the mineral to its maximum, in order to generate more revenue for the state. In the year 1825 durbar ordered the miners that the multani mitti should not be taken out only from the upper surface but must be dug out from the deeper earth.[9]

Along with leasing the mines the state also earned transit duties

(jagat) through the transportation of clay. As in the first quarter of the nineteenth century durbar declared 3 aana duties on one camel of maet.[10] About the export of Multani mitti, Captain Powlett described in his Gazetteer that Fuller's earth was delivered for its onward transmission at Sirsa and Fazilka -two important commercials towns bordering Bikaner at its northern frontier.[11]

Limestone (Chuuna pathar)-Ever since the pre-industrial times, all the states of western Rajasthan have been endowed with the vast reserves of limestone. Limestone was mainly used for producing best quality limes by burning it. Hence became most suitable to be used as a binding or cementing material. In Bikaner naturally existing source of lime is kankar,[12] which occurs plenty as irregularly disseminated in the clays. The clay admixture in kankar is often in sufficient proportion to produce, on burning a quicklime. Limestone used in the construction of many of the noted monuments of the past in all parts of state.[13] Lime was quite popularly used for whitewash or putai of houses. In 1806 CE. Mounstuart Elphinstone, the British envoy, passed through Bikaner territory on his way to Kabul, he visited Churu and described the presence and utilization of lime in houses,

" the houses are all terraced and both they and the walls are built of a kind of limestone of so pure a white that it gives an air of greatness to everything composed of it. It is, however, soft and crumbles into a white powder, mixed here and there with shells, it is found in large beds in many parts of the desert".[14]

On the presence of limestone in the state, Powlett observed that lime was excavated in the vicinity of most of the towns of the state.[15] Limestone is extensively quarried at Mundser[16] and form a source of building material. On the presence of limekilns Erskine reveals that quarries of sweet lime (mitha chuna) located near the Sardarsahar and Jamsar.[17] Other than these venues lime stone also found in Rajgarh and Sujangarh[18] A specific tax named- chune re lag was laid by state on lime excavators.[19] Specific community known as chungar did the burning of limestone.[20] In capital city, a particular land area was allotted to them for residential purposes named- chungaran mohalla. Durbar laid a tax on lime makers named chungaran ri bhach.[21] Generally durbar offered free of cost lime

from its mines to its public constructions like temples and wells.[22]

Building stone: Like other parts of Rajasthan, Bikaner state was also known for its reserves of stones. The sand stone is one important rock of this area. Excellent red sandstone was quarried at Kharee mines situated in northeast part of the capital.[23] Munshi Sohanlal in his Tawarikh Rajshri Bikaner observed that in the southwestern side towards Jaisalmer border sandstone was quarried and utilized for building construction.[24] This quarrying is done by manual labor and methods employed were primitive in nature. Earlier in Bikaner, yellow stone for building construction was imported from Jaisalmer at great expense but after the discovery of red sandstone quarries in Kharee, this import of stone discontinued.[25] The sandstone used for roofing, flooring, paving, paneling, beams, pillars, arches, doors and window sill, wall facing etc, as the effect of saline winds on sandstone is negligible. The sandstone was quarried and used since long in various buildings. During the last decade of the nineteenth century the mining of sandstone increased many fold due to better mining and digging instruments. Besides serving local demands this stone was exported to Bahawalpur, Bhatinda and other places in Punjab adding to the revenue for state treasury.[26] Apart from Kharee, Randhisar, Gopalpura (in Sujangarh sub-region), Biramsar village of Churu were able to produce sandstone, specifically used for flooring of roads. Moreover two specific varieties of stone, ghiya bhata, and jhanjheda stone were also mined from Churu region.[27]

Sandstone found in Sujangarh being inferior to the Dulmera (42 miles in northeast of the capital Bikaner) variety is only used locally in the construction of palaces, temples, havelis (see fig 5.1) and chatteris.[28] Red sandstone of Dulmera was beautifully carved and exquisitely designed by the stone carvers with the help of chisel and hammer and dressed to a smooth surface of various attractive shapes. The eye-catching and perfect designs of sand stone lattice (jalli work) was widely used in construction of the exterior portions by the seths of Bikaner in their world famous Rampuria havelis. It was admirably adapted for fine carving and has been used for the new palace of Raja, Lalgarh, the Victoria memorial club and several other buildings at the capital. Along with these mines, Bidasar also showed rock deposits in the form of mines. On Bidasar stone, Captain Powlett has stated in his Gazetteer that Bidasar stone is especially suited

for roof slabs as it is not as soft as the Dulmera stone.[29]

To enhance its earning, the state, like other mineral mines, used to offer its stone mines on lease (muqata) to bidders.[30] Administration used to come forward for the allocation of land to dig new mines as this would help them to generate income through taxes.[31] Interestingly through archival sources, we are able to find that natural resource was used as one of the tool for patronage by state towards its inhabitants. Durbar through its official order either gave free stone or provided relaxation on transit duties/ taxes. Generally whether it was for the construction of temples or wells or havelis of businessmen, durbar used to issue a specific order to its stone mines officials for providing stone. For instance in 1828 AD, for making a temple in village Sinthali, durbar ordered its officials for not taking any money in the form of transit duties and taxes.[32] Similarly in 1831 AD, for constructing a well in village Ravaniya, state ordered its mine officers at Kharee to allow stone to be carried through twenty camel. Likewise when famous businessman Mirazamal Poddar of Churu was invited to stay in the state then for the construction of his house, stone was allowed to be taken free of cost from village Paleisar and Oontwaliya.[33]

Copper: Until the second half of the nineteenth century, the only metalliferous mineral found in Bikaner was copper. This reddish-orange colored metal is regarded as a basic metal. According to Colonel Tod, in Bikaner state, its deposits were found in Biramsar (in Ratangarh) and Dariba- Bidasar (both in the south of the state) villages in the form of mines. Some meagre presence of copper was found in the Bhadasar village of Sardarshar.[34] Dariba-Bidasar mines, around 7 miles northeast from Sujangarh, were discovered in 1753 AD during the reign of Raja Gajsingh (d.1787).[35] As copper can be mined from below ground and open pits. As in Bikaner, a certain quantity of copper ores was mined and went through primitive smelting process. Documentary evidence shows that in Dariba, initially some copper was extracted from metal ores or scrap copper. Due to the absence of any scientific technique or knowledge of refining process, the mining of copper discontinued as it was proved to be uneconomic. Captain Powlett records that Dariba mines was not economically viable but the contemporary bahis provide reference of the production of copper from these mines and were given on muqata. Thus it shows the significance of the metal.[36] We find in the sawa bahi of 1767 AD that the

excavation of copper ore in Dariba was leased out to merchant Jethmal Nahata for annual payment of Rs 6001.[37]

Commonly on the other source of copper deposits, Colonel Tod, writes in his Annals, that occurrence of copper from Biremasar (in Ratangarh) also started at very small scale and yet did not gain much beyond the prospecting stage.[38]

State awarded the right to mining to the highest bidder, on lease. This arrangement was known as Muqata system, and had similarities with the Mughal Ijara. While the lease was granted for a stipulated time to the muqati, the state was not bound to obey it. If any other person was ready to pay higher amount for the mine at any time during the period of the lease, then the durbar transferred the right of the mine to the new muqati. This new bidder paid the balance amount to the older muqati and the excess amount of bid was deposited to the durbar. Under these conditions, a muqatiwas always under pressure to extract the maximum possible benefits in the least possible time.[39] It is a clear example of the state to extract the maximum monetary gains from its natural resources, which in this case were the mines. Durbar in order to make more money out of the mines, overlooked the technological advancements that were the need of the hour. This outlook adversely affected the overall development of the state, in a long run. This peculiar nature of the muqata always resulted in the over-exploitation of the already scanty resources of the state.

In the state, whatever progress was achieved was an outcome of economic development, not of any industrial growth. Despite having reserves of noteworthy minerals which had the potential to generate the industrial evolution, Bikaner state was not able to register any rise like the eastern states of India. One of the reasons was that Bikaneri capitalists and businessmen had been scared and even for small investment found an easier and more certain outlet in commerce rather than in industry.

The above discussion clearly shows that mineral resources of the state, though not properly utilized, were primarily used to augment the revenue of the state. Durbar stressed upon exploiting the mineral resources more and more. This unplanned extraction sometimes led to the exhaustion

of mines. This outlook to earn more at times interfered with welfare of the state.

Through a study of lease of mines, we also come to understand the relationship that British had with the princely state. The control over salt production and its trade routes shows that the protection of British interests was of paramount importance. In absence of well-developed agricultural sector durbar looks at the mining as significant source of income, but to proliferate it no advanced and technological upgradation policy adopted by state.

References

1. *Trade route from Delhi to Sindh and Multan goes through Bikaner. Many trading chowkis were developed on routes like Hanumangarh, Churu, Rajagarh.*
2. *G.S.L.Devra, 'Industrial Progress in Bikaner', in G.S.L.Devra (ed.), Maharaja Gangasingh Centenary Volume, Vikas Printers, Delhi, 1980,p.100.*
3. *Munshi Sohanlal, Tawarikh Rajshri Bikaner, Bikaner, 1888, p.5.*
4. *The mineral is a variety of clay and derives its name from its use in 'fulling' i.e., removing grease stains from the cloth. Mineralogically fuller's earth is a calcium montmorillonite and is non-plastic in character. See M.L.Sethi, Minerals Resources of Rajasthan, Jaipur, 1956,p.65.*
5. *Col. James Tod, Annals of Bikaner, p.222.*
6. *W.H. Nelson, A Medico- Topographical Account of Bikanir, Allahabad, Pioneer press, 1898, p. 2,*
7. *Major K.D. Erskine, Rajputana Gazetteers, vol-III A, The Western Rajputana State Residency and the Bikaner Agency, Allahabad, Pioneer press, 1909, p.350.(Hereafter referred as Erskine)*
8. *Sawa bahi vs 1891-94/1834-1837,…maet ri khan ram aha sudi 5 huta muqata rupiya 4500) gumane duwarkoni re…*
9. *Kagado ri bahi, no.32, vs 1883/1826, f.2-b….uparli maet to kadi choki maet ttale ri kaadi nahi su aa baat duras nahi maet choki hue to kadhakarjo….*
10. *Kagado ri bahi no.33-1, vs 1884/1827,f.87-a.*
11. *P.W. Powlett, Gazetteer of the Bikaner State, Bikaner, 1874, Appendix - 1,p.82.*
12. *Best quality kankar found in Utamdesar village, nearlunkaransar.*
13. *Sawa bahi Bhadra vs 1888-91/1831-1834. …Kamthane kot ri marmat, darwajo navo karyo, buraj karyo va chowidari salkarvayie…1*
14. *Mounstuart Elphinstone, An Account of Cabul and its Dependencies in*

Persia, Tartary and India, A view of the Afghan Nation, Vol.1, London, 1842,p.8.

15. *Powlett,op.cit, p.98.*
16. *A.H.E. Boileau, Personal Narrative of a Tour Through the Western States of Rajwara in 1835 comprising Bikaner, Jesulmer, Jodhpur the passage of the Great Desert, and a brief visit to the Indus and to Buhawulpoor, Calcuttta, 1837, p. 173.*
17. *Erskine, op.cit, p.351.*
18. *Govind Agarwal, Churu Mandal ka Shodhpurn Itihas, Nagarshri, Churu, 1974, p.8.*
19. *Kagado ri bahi no.32, vs 1882/1826, f.2-b.*
20. *Kagado ri bahi no.36, vs 1887/1830, f.48-b…. Ratangarh mai chungar baise che chuno pacahavato…*
21. *Kagado ri bahi no.43, vs 1893/1836, f.89-b.*
22. *Kagado ri bahi no.33-2, vs 1884/1827,f.2-a…. shri ganeshji re mandir karye che te vaste chuno gadi 15 magare re gawa mai chune ri bhhati lage che teme dedejo…*
23. *W.H. Nelson, A Medico- Topographical Account of Bikanir, Allahabad, Pioneer press,1898,p.2.*
24. *Munshi Sohanlal, Tawarikh Rajshri Bikaner,p.1.*
25. *Boileau, op.cit., p.17.*
26. *Erskine, op.cit.,p.350*
27. *Govind Aggarwal, Op.cit, p. 8. Ghiya bhata also called as Churu bhata (soap stone). Probably Churu were the center of export of this sandstone in earliertimes.*
28. *Chatteris are cenotaphs. camel, elephant, horse etc were beautifully carved on some of the cenotaphs. See Nanuram Sanskarta, Khedai-Report (Area History), kalu (Bikaner), Lok Sahitaya Prtisthan, 1984,p.212.*
29. *Powlett, op.cit, pp.97-98.*
30. *Kagado ri bahi no.4, vs 1831/1774, f.5-a…. pakhan ri khan kharee satasar mai che…tero muqato sihioni jiwan hastu rupiya 125 mai theraoyohai…*
31. *Kagado ri bahi no.34, vs 1885/1828 ,f.103-a.*
32. *Kagado ri bahi no.34, vs 1885/1828,jeth budi5.*
33. *Kagado ri bahi no.33-1, vs 1884/1827,f.65-b.*
34. *Govind Aggarwal, Churu Mandal ka Shodhpurna Itihias, op.cit., p.8.*
35. *Munshi Sohanlal, op.cit., p. 367.*
36. *Kagado ri bahi no.2, vs 1820/1763,f.32-a.*
37. *Sawa bahi khajana sadar no.3, 1824/1767, f.11-a. One more reference from same bahi tells rs 3200 were came from merchants who took Dariba mine on muqta on paying 7501 rsannualy.*

38. *Boilieau, op.cit., p.11., K.K.Sehagal, Rajasthan District Gazetteers, Churu, March 1970, p.7*
39. *Munshi Sohanlal, Tawarikh Rajshri Bikaner, Bikaner, 1888, p.364.*

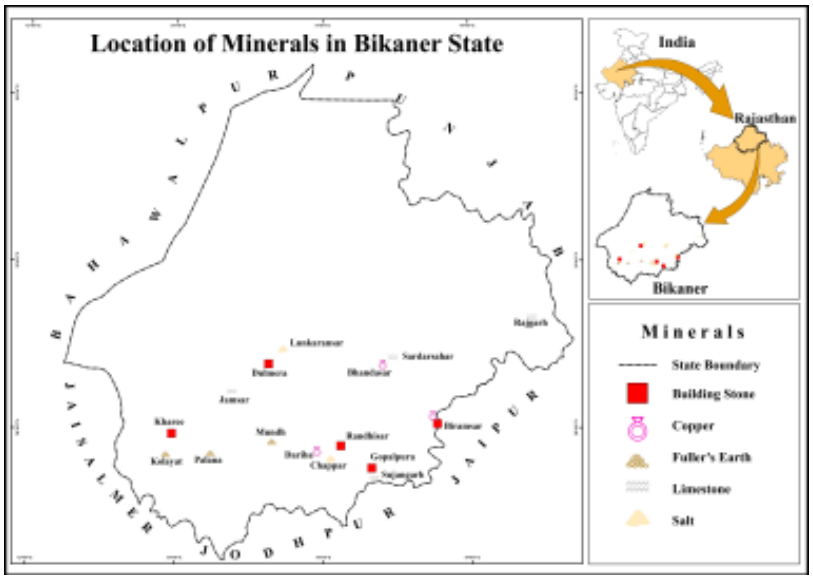

Map of Bikaner state during early modern time

महाराजा विजयसिंह कालीन सनद परवाना बहियों में सामाजिक अपराध और दण्ड

फिरदोस बानो

मारवाड़ की सनद-परवाना बहियां महाराजा विजयसिंह के कालखण्ड से आरम्भ होती हैं, जिसमें विभिन्न प्रकार की ऐतिहासिक जानकारियां संग्रहीत है। सनद परवाना बही नं. 1 जो विक्रम संवत् 1820-21 के कालखण्ड की है इसमें पूर्व शासकों के परवानों की नकलें, मारवाड़ के विभिन्न विभागों जिसमें प्रमुख रूप से अंबार के कोठार, सिलेहखाना, सुतरखाना, गऊखाना, तबेला, चरवादार, टकसाल, खेमा का कारखाना आदि के उल्लेख के साथ ही महाराजा विजयसिंह के द्वारा वैष्णव धर्म स्वीकार करने के पश्चात् राज्य में पशुहत्या निषेध के अलावा कई महत्वपूर्ण रोचक जानकारियां मिलती हैं। इसके अलावा राज्य के विभिन्न परगनों में लगने वाले करों की जानकारी के अतिरिक्त अपराध एवं दण्ड के प्रसंग के साथ ही परगनों में स्थित मंदिर, मठ, मस्जिद के सेवकों, सन्तों, पीर-फकीरों आदि को दी जाने वाली भेंट के तथ्य भी उजागर होते हैं।

महाराजा विजयसिंह की सनद परवाना बही में विक्रम संवत् 1820-21 में मारवाड़ के विभिन्न क्षेत्रों में कई अपराध की घटनाएं हमें मिलती हैं तथा इसके साथ ही हमें दण्ड के प्रारूप भी मिलते हैं, जिनमें सामाजिक अपराध चोरी की घटना का वर्णन हमें मिलता है।

समाज में कई सामाजिक अपराध होते हैं - जैसे चोरी होने की घटना, बालिका हत्या, पशु हत्या आदि। अपराध के साथ ही सुरक्षा की दृष्टि से राज्य आदेश भी जारी करते थे। यह आदेश महाराजा विजयसिंह के समय में लड़कियों के जन्म होने पर उन्हें मार डालने की घटनाएं ज्यादा होने के परिणामस्वरूप मारवाड़ के विभिन्न परगनों में यथा नागौर, मेड़ता, परबतसर, सोजत, पाली, जालोर, भीनमाल, मारोठ, सिवाणा, डीडवाणा, दौलतपुरा, कोलिया, नावां, जैतारण, तातूंटी तथा फलोधी में यह सूचना प्रसारित की गई कि यदि कोई बालिका हत्या करता है तो उसको राज्य से बाहर निकाल दिया जाएगा।[1]

महाराजा विजयसिंह के काल में अपराध और दण्ड के साक्ष्य हमें प्राप्त होते हैं इसके पूर्व हमें प्राचीनकाल, मध्यकाल तथा ब्रिटिश काल में दण्ड और अपराध की जानकारी हमें मिलती है।

प्राचीनतम काल में दण्ड व्यवस्था के महाध्यम से होता होगा किन्तु छठी शताब्दी

में ई.पू. से हमें ऐसे अभिलेखिक एवं साहित्यिक साक्ष्य प्राप्त होते हैं जो अपराध एवं दण्ड पर हमें जानकारी देते हैं। बिम्बिसार के शासनकाल में 'धर्मस्थानीय एवं कण्टकशोधन न्यायालयों का उल्लेख मिलता है जो आधुनिक 'सिविल एवं फौजदारी के समकक्ष थे। पुलिस प्रशासन एवं कानून व्यवस्था का उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र एवं अशोक के अभिलेखों में प्राप्त होता है।

मध्यकाल में बाह्य युद्ध तथा आन्तरिक शान्ति एवं सुरक्षा का उत्तरदायित्व सेना पर ही था। आन्तरिक व्यवस्था हेतु पुलिस व्यवस्था नहीं बनी हुई थी तथा न्याय का कार्य जागीरदारों, मनसबदारों, काजियों, उलेमाओं तथा सुल्तानों द्वारा किया जाता। यही परम्परा राजपूताना के शासकों द्वारा भी लागू की जा रही थी। ब्रिटिश शासनकाल में 'विधि का शासन' लॉर्ड कॉर्नवालिस के काल में पुलिस व्यवस्था का निर्माण हुआ। कालान्तर में इसी काल में मारवाड़ में भी इसका प्रभाव पड़ा।[2] इसी प्रकार महाराजा विजयसिंह के काल में भी अपराध होने पर सुरक्षा की दृष्टि से राज्य द्वारा आदेश जारी किये जाते थे।

1. सामाजिक अपराध

समाज में कई सामाजिक अपराध की घटनाएं होती हैं जिनमें पशु हत्या, बालिका हत्या, भेदभाव, चोरी की घटना आदि। महाराजा विजयसिंह कालीन सनद परवाना बही नं. 1 में चोरी की घटना का वर्णन मिलता है।

चोरी की घटना-

। मिति फागुण वद 6 सोम सं. 1821

। तथा सांभर रा महाजन नोला रो मुंडवा रा मेला सुं पाछो जातागांव अडवड कनै रूपीया 36) छतीस रो माल गयो सुं अे समाचार श्री हजुर मालुम हुवां सु हुकम हुवो है इण रो माल गयो हुवे तिण रो अधकरी इण नुं दरबार सु दिराय दिजो ने माल रो तलास करजो श्री हजुर रो हुकम है।

द।। पणियो आईदान

फाल्गुन कृष्ण 6 सोमवार के परवाने से ज्ञात होता है कि जब मूंडवा के मेले से वापिस सांभर का महाजन नोला जा रहा था तो अडवड गांव के पास उसके 36 रुपये का माल चोरी हो गया तब राज्य की ओर से उसको 18 रुपये दिलाने के साथ ही माल की तलाश करने का आदेश जारी किया गया।

इस घटना से हमें यह जानकारी मिलती है कि अडवड गांव में 36 रुपये का माल चोरी हो गया था तथा उनके माल को वापिस दिलाने के लिए राज्य की ओर से आदेश जारी किया गया था जिससे ज्ञात होता है कि गांवों में सामाजिक अपराध होने पर उनकी सुरक्षा राज्य द्वारा की जाती थी।[3]

2. पशु हत्या

आसोज सुद 2 गुर

। परगना कागद लीषा कसाब मनै करण रा

। तथा श्री हजुर सु फुरमायो है ओ कागद पोहचे जिण मिति सुं कसाब मनै कर दिजो कसायां ने जीनावर करण देजो मती नै हमें कोई कसाई जीनावर कीयो साभलो तिण रो हाथ कटाय नाषणो ने माहै दुकाना में दुसरावा ऊपर षजाना रो लिषो

1 नागोर कचेड़ी चौतरो	1 डीडवाणो
1 दौलतपुरो	1 कोलीयो
1 परबतसर	1 नावो
1 जैतारण	1 बीलाड़ो
1 सोझत	1 पाली
1 जालोर	1 भीनमाल
1 सीवाणा	1 पचपदरा
1 फलोधी	1 तातोटी
1 पीपाड़	

कासीद चलाया

1 का. 1 नागौर, डीडवाणो, दोलतपुरा, कोलीया

1 का. 1 मेड़ते, परबतसरा, नावा, मारोठ, रामकरण

1 का. 1 सोझत, जैतारण, बीलाड़ा, पाली

1 का. 1 जालोर, भीनमाल

आश्विन शुक्ल 2 गुरुवार की सनद से ज्ञात होता है कि कसाई लोगों के द्वारा जीव हत्या नहीं की जायेगी यदि कोई फिर भी ऐसा करता है तो उसका हाथ काट दिया जाएगा। यह आदेश दशहरा के अवसर पर सभी परगनों यथा नागौर, दौलतपुरा, परबतसर, जैतारण, सोझत, जालोर, सिवाणा, फलोधी, पीपाड़, डीडवाणा, कोलियां, नावां, बिलाड़ा, पाली, भीनमाल, पचपदरा, तालूंटी में जारी किया गया।[4]

इसके अलावा ज्येष्ठ सुद 9 सोमवार को राज्य की ओर से एक सनद गांव पटायतों को जारी की गई कि गांव में जहां विश्नोई जाति के लोग रह रहे हैं वहां के पशु-पक्षियों का शिकार नहीं करेंगे तथा वहां के वृक्ष को भी नुकसान नहीं पहुंचाया जाए। इस सनद से यह ज्ञात होता है कि जीव हत्या नहीं की जायेगी। यदि कोई जीव हत्या करता है तो उसके लिए दण्ड का प्रावधान था। पशु-पक्षियों का शिकार न करना तथा वृक्षों को नुकसान न पहुंचाया जाए जिससे पता चलता है कि पशु-पक्षियों की सुरक्षा के साथ-साथ पर्यावरण को भी संरक्षित किया जाता था।[5]

3. निम्न जाति के लोगों के साथ भेदभाव

समाज में हो रही पशु हत्या के साथ ही निम्न जाति के लोगों की बसावट/निवास स्थान के लिये भेदभाव किया जाता था। माघ सुद 6 रविवार की सनद में यह पाया जाता है कि किसी जाति विशेष के लोगों के पीछे दूसरी निम्न जाति के लोगों की बसावट होती है तो उन्हें वहां से अलग अथवा उसी निम्न जाति के लोगों के बीच बसाया जाता था। मेड़ता स्थित मेहरों के घरों के पीछे जब मेहतर आकर रहने लगे तो राज्य की ओर से सनद जारी कर कहलाया गया कि मेहतरों को दूसरी जगह बसावट करावें।[6] महाराजा विजयसिंह कालीन सनद परवाना बही सं. 1 विक्रम संवत् 1820-21 में हमें सामाजिक अपराधों की घटना के साथ-साथ हमें दण्ड के प्रारूप भी मिलते हैं।

। मीगसर सुद 10 रीव सं. 1821

। तथा गांव जायल में हाडा दलेलसिंघजी रा आदमी षेत मापता ब्रीमण मना षडेलवाल री बेटी नुं गैर जबां बोलीया तिण ऊपर मना री बेटी कटारी षाय मुई सुं दरबार सुं रूपीया 100) एक सो जायल में जागीरदार रै भोग हासल म्हा सुं ब्रामण मना नुं दीराया है तीण रो परवांनो कराय दीयो है सुं जायल रा लोग कनै जागीरदार रै हासल मैं रूपीया एक सो पहैला ईण ब्रामण नु दीराय देजो श्री हजुर रो हुकम छै

मार्गशीर्ष सुद 10 विक्रम संवत् 1821 की सनद से ज्ञात होता है कि गांव जायल के हाडा दलेलसिंह के आदमी जब खेतों का नाप चौक कर रहे थे तब ब्राह्मण मना खंडेलवाल की पुत्री को उन्होंने अपशब्द कहे इससे दुखी होकर उसने कटारी खाकर आत्मघात कर लिया तब राज्य की ओर से जायल के जागीरदार से भोग हासल में से 100 रुपये ब्राह्मण मना को दिलाने का आदेश किया गया। इस घटना से पता चलता है कि राज्य के आदेशों के माध्यम से दण्ड दिया जाता था।[7]

अपराध शुल्क

। फागुण वद 9 सुकर

। तथा गांधीतारा रो बैटो ऊठै अटकाव में है ईण कनै हमार रूपीया 1500) पनरै सो भराय नै छोडण रो हुकम हुवो तिण में रूपीया 1200) अषरै बारे सो आगै षासे षजाने आया है ने रूपीया 255) हमार आया नै रूपीया 45) ऊठै भराय नै ऊण नै छोड़ देजो ने रूपीया अठै मैल देजो भी हजुर रो हुकम है।

फाल्गुन शुक्ल 9 शुक्रवार की सनद में गांधीतरा के पुत्र को छोड़ने के लिये 1500 रुपये राज्य की ओर से उन पर शुल्क भी निर्धारित किया गया। उनके पास अभी 1500 रुपये लेकर उनको छोड़ने का हुकम है जिनमें 1200 रुपये पहले ही आ गये थे तथा 255 अभी आये हैं जब वे 45 रुपये पूरे भर देंगे तो उन्हें छोड़ने का हुक्म दिया गया है। इससे ज्ञात होता है कि अपराधियों के लिए सजायें निश्चित की गयी थीं उन्हें कठोर

दण्ड दिया जाता था तथा उन्हें रिहा भी किया जाता था।

इस सनद से हमें यह जानकारी प्राप्त होती है कि अपराधियों को कैद करने के पश्चात् उनको छोड़ने के लिए राज्य की ओर से उन पर शुल्क भी निर्धारित किया जाता था।[8]

। मिति जेठ वद 7 सन

। तथा सेवग लषो अटकाव में है सु रूपीया 150) अशरै दोढ सो भराय ने लषा नुं छोड़ दीजो श्री हजुर रो हुकम है

दु। वेद सूरजमल

ज्येष्ठ कृष्ण 7 शनिवार की सनद में सेवग लखो को छोड़ने के लिए 150 रुपये देने का हुकम है।[9]

। चैत सुद 3 रविवार सं. 1821

। तथा गांव अणंदपुर रा महाजन हेमा रे चांमचोरी बाबत रूपीया 80) माथे कीया तिण में छतीस रूपीया भराया ने और बाकी है सु हमार हेमे अठै आय नै हकीकत मालम कराई सु हुकम हुवो है गुनेगारी रा छतीस रूपीया भरीया बाकी रहा हुवे सूं छूट करजो श्री हजुर रो हुकम छै।

चैत्र सुद 3 रविवार की सनद में गांव अणदपुर के महाजन हेमा के द्वारा बलात् कार्य करने के लिये उस पर 80 रुपये गुनेहगारी के लगाये गये। उसके द्वारा राज्य में 36 रुपये जमा करवाये गये बाकी रुपये माफ कर दिये जाने के सूत्र भी प्रकाश में आते हैं।

इस सनद से जानकारी मिलती है कि अपराधियों को दण्ड स्वरूप शुल्क चुकाना पड़ता था तथा शुल्क राज्य द्वारा माफ भी कर दिया जाता था।[10]

प्रबंध एवं व्यवस्था

नागौर कोटवाली चौंतरे

षींची विजो जोसी जगराम

। आसाढ सुद 12 सं. 1820

। तथा आसोपां गुमानीराम नु कोटवाली चौतरे पोतदार राषण रो ने पं. लाल बिहारी नुं सिकदार तालके नवीसदां राषण रो हुकम हुवो है सुं इणा रा नावा मंडाय देजो श्री हजुर रो हुकम छै

राज्य की सुरक्षा का पूरा दायित्व कोतवाल अथवा सिकदार नामक अधिकारी पर होता था यह पद प्रतिष्ठित होने के साथ ही जिम्मेदारी से परिपूर्ण था। मारवाड़ में जिलों के शासन को संभालने वाले सिकदार नागरिकों में सर्वश्रेष्ठ समझा जाता था। जिलों में होने वाले उपद्रवों के दमन का उत्तरदायित्व इन्हीं पर था।

कोतवाली चौंतरे पर पोतदार पद पर आसोपा गुमानीराम को ओहदेदार रखने का और सिकदार तालके पर पण्डित लाल बिहारी को नवीसदां पद पर नियुक्त करने का

आदेश दिया गया है।[11]

। फागुण सुद 5 रव

। तथा करवां रै ने गिलड़ा रै माही माह होली री गेहर रो झगड़ो है सुं करवां श्री हजुर में अरज कराई है सुं हुकम हुवो है सैहर में कैह देजो आपो आप री हद में रमै ने आपो आप री होली कनै नगारा बजावे सैहर सारा ही में किणी नुं कजीयो झगड़ो करण देजो नहीं ने कोई कजीयो करे तिण ने माकुल करजो श्री हजुर रो हुकम छै

महाराजा विजयसिंह कालीन सनद परवाना बही में फाल्गुन सुद 5 रविवार की सनद से पता चलता है कि होली की गेहर के झगड़े को लेकर श्री हजूर के पास अरज कराई है तथा शहर में हुकम हुआ कि आप अपनी मर्यादा में रहकर होली का त्योहार मनायें तथा अपनी होली के पास में नगारा बजावें। सारे शहर में शोरगुल करके झगड़ा नहीं करें। श्री हजुर का हुकम है कि कोइ झगड़ा करता है तो उन्हें समझाया जाए।

इस घटनाक्रम से हमें उस समय शहर में जो धार्मिक पर्व में छोटे-मोटे अपराध या झगड़े होते थे उनको शान्तिपूर्वक राजा द्वारा आदेश जारी करवाकर उनका समाधान किया जाता था।[12]

निष्कर्ष-आजकल समाज में बहुत से सामाजिक अपराध हो रहे हैं जैसे-महिलाओं के साथ दुष्कर्म, भेदभाव, कन्या भ्रूण हत्या, दहेज प्रथा, पशु हत्या आदि। महाराजा विजयसिंह कालीन सनद परवाना बहियों में हमें कुछ सामाजिक अपराधा का वर्णन मिलता है तथा निम्न जाति के साथ भेदभाव किया जाता था। इसके साथ ही सुरक्षा के लिए दण्ड का प्रावधान भी था।

सन्दर्भ

1. *भाटी, विक्रमसिंह, महाराजा विजयसिंह कालीन सनद परवाना बही, पृ. 4*
2. *व्यास, प्रो. एस.पी., मारवाड़ में अपराध एवं दण्ड (1886-1891) आपराधिक जनजातियों के विशेष सन्दर्भ में, पृ. 86*
3. *भाटी, विक्रमसिंह, महाराजा विजयसिंह कालीन सनद परवाना बही, पृ. 31, 4*
4. *वही, पृ. 9, 125-126*
5. *वही, पृ. 8*
6. *वही, पृ. 8*
7. *वही, पृ. 25, 6*
8. *वही, पृ. 41, 7*
9. *वही, पृ. 45, 7*
10. *वही, पृ. 59, 7*
11. *वही, पृ. 38*
12. *वही, पृ. 65*

शाहपुरा रियासत के रिकार्डस में उपलब्ध विभिन्न ब्याह (शादी) एवं शुभ प्रसंग की पत्र पत्रिकाओं में सामाजिक-सांस्कृतिक परम्पराओं का अवलोकन

डॉ. दिनेश राठी

शाहपुरा रियासत (ठिकाना) उदयपुर (मेवाड़) में स्थित थी। यह रियासत भीलवाड़ा के नजदीक स्थित थी। शाहपुरा रियासत का इतिहास अत्यन्त ही रोचक व गौरवपूर्ण रहा है। शाहपुरा रियासत के प्रारम्भिक इतिहास का अध्ययन करने पर यह जानकारी प्राप्त होती है कि शाहपुरा रियासत के शासक महाराणा अमरसिंह के द्वितीय पुत्र सूरजमल के वंशज थे। शाहपुरा के शासकों की राजाधिराज की उपाधि थी। सूरजमल के दो पुत्र थे-सुजानसिंह और वीरमदेव। सुजानसिंह तत्कालीन मुगल बादशाह शाहजहाँ की सेवा में चला गया। जिसके फलस्वरूप शाहजहाँ ने फूलिये का परगना मेवाड़ से अलग कर 800 जात और 300 सवार मनसब के साथ जागीर में दे दिया। जिसके प्रतिउत्तर में सुजानसिंह ने बादशाह शाहजहाँ को प्रसन्न करने के लिए उसको प्रदत्त परगने फूलिया का नाम शाहपुरा रखा और बादशाह के नाम से शाहपुरा नाम का कस्बा आबाद किया जो कि उक्त ठिकाने का मुख्य स्थान है।[1]

शाहपुरा रियासत के केन्द्र के साथ संबंध गौरवपूर्ण एवं सम्मानजनक रहे। केन्द्र में चाहे मुगल सता रही एवं तत्पश्चात अंग्रेजी शासन के साथ संबंध सम्मानपूर्वक रहे। शाहपुरा रियासत का मेवाड़ राज्य के साथ भी संबंधों व परम्पराओं की गौरवपूर्ण इतिहास रहा है। ब्रिटिश शासन काल में भी शाहपुरा रियासत को वंशपरम्परागत 9 (नौ) तोपों की सलामी का सम्मान भी दिया गया। भारत की स्वतंत्रता के बाद 1949 ई. में शाहपुरा रियासत का विलय राजस्थान में हो गया।[2]

शाहपुरा रियासत कालीन दस्तावेज सन् 1981-82 ई. में समस्त रिकार्डस राजस्थानी शोध संस्थान, चौपासनी, जोधपुर को सौंप दिये।[3] इन रिकॉर्डस में शाहपुरा रियासत कालीन पट्टों की नकलें, जमाबन्दी की नकलें, ख्यात, भूमि पैमाईश के रिकॉर्डस, विभिन्न प्रकार के पत्र-व्यवहार जिसमें प्रमुख रूप से शादी-ब्याह के कुंकुम पत्रिका, आमंत्रण पत्रिका, गद्दीनशीनी में आमंत्रण की पत्र-पत्रिकाएं, औसर-मौसर से संबंधित पत्र-पत्रिकाएं इत्यादि अनेकानेक दुर्लभ दस्तावेज-रिकार्डस-सामग्री सम्मिलित है।

शाहपुरा रियासत कालीन यह समस्त ग्रंथ, दस्तावेज, रिकार्डस, पत्र-पत्रिकाएं इत्यादि राजस्थान शोध संस्थान, चौपासनी, जोधपुर में कुल 85 बस्तों में समुचित रूप से संरक्षित है। ये कुल 85 बस्ते यहाँ (शोध संस्थान) की चार अलमारियों में अत्यन्त ही व्यवस्थित रूप से रखे गये हैं।[4] शाहपुरा रियासत के इतिहास लेखन में महा. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा एवं सुख सम्पत्तिराय भंडारी का प्रथम स्थान आता है। ओझा जी ने उदयपुर राज्य का इतिहास नामक ग्रंथ में शाहपुरा रियासत के इतिहास का विवरण दिया है। इसी प्रकार से सुखसम्पतिराय भंडारी ने अपने ग्रंथ भारत के देशी राज्य (History of the Indian State) में शाहपुरा रियासत का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।[5] इसी प्रकार से श्यामलदास के वीर विनोद में भी विवरण प्राप्त होता है।

राजस्थान शोध संस्थान चौपासनी, जोधपुर में स्थित शाहपुरा रियासत के रिकार्डस अभी तक अनछुए है। इन रिकार्डस-दस्तावेजों के आलोक में शाहपुरा-रियासत का इतिहास लेखन किया जाए तो कई नवीन जानकारी-तथ्य अवश्य ही उजागर होंगे। न केवल शाहपुरा रियासत के इतिहास के बारे में अपितु मेवाड़, मुगल एवं अंग्रेजी शासन-प्रशासन की नई जानकारी उजागर होगी। इन रिकार्ड्स से न केवल राजनीतिक इतिहास अपितु सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक अवस्था की भी पर्याप्त जानकारी प्राप्त होगी।

प्रस्तुत मेरा शोध पत्र भी सामाजिक, धार्मिक व सांस्कृतिक पक्ष को उजागर करने का प्रयास है। तत्कालीन समय की उपलब्ध विभिन्न ब्याह (शादी) एवं शुभ-प्रसंग की पत्र-पत्रिकाओं के अध्ययन से गौरवशाली सामाजिक-सांस्कृतिक परम्पराओं व अवस्थाओं की जानकारी प्राप्त होगी। मैंने मेरे इस शोध पत्र में राजस्थान शोध संस्थान चौपासनी, जोधपुर में स्थित शाहपुरा रियासत के इन रिकार्डस में से ब्याह (शादी) की कुकुंम पत्रिकाएं, उनसे सम्बंधित पत्र-व्यवहार, शुभ प्रसंग के समय के आमंत्रण हेतु पत्र-पत्रिकाएं इत्यादि का चयन किया है।

इन शुभ प्रसंग की कुंकुम पत्रिकाएं व अन्य पत्रों के भौतिक स्वरूप के संबंध में अत्यन्त ही रोचक जानकारी प्राप्त होती है। इन पत्र पत्रिकाओं में सोने का कार्य देखने को मिलता है। अधिकांशतया इन पत्र-पत्रिकाओं में सोने के फूल बने हुए है। इसके साथ कई पत्रिकाओं के बार्डर भी सोने के बने हुए हैं। एक तरह से यह पत्र-पत्रिकाएं तत्कालीन समय में कलाकृतियों के प्रति रुचि व उत्साह को अवगत करवाते हैं।[6] इन पत्र पत्रिकाओं के अवलोकन से तत्कालीन समय की कला-तकनीक व विज्ञान की भी जानकारी देता है। सोना-कागज व रंगों का समुचित प्रयोग विज्ञान-तकनीक व कला-कौशल का परिचायक है। इन पत्र-पत्रिकाओं पर सोने का कार्य (लेप) आज भी जस का तस बना हुआ है।[7]

इन पत्र-पत्रिकाओं की भाषा विज्ञान भी अत्यंत ही उच्च स्तर का है। अधिकांश पत्र पत्रिकाएं राजस्थानी भाषा का ही प्राप्त हुई है। कुछ गुजराती भाषा में शाहपुरा रियासत को भेजी गई पत्र पत्रिकाएं भी उपलब्ध है।[8]

इन पत्र-पत्रिकाओं के अध्ययन से तत्कालीन समय के राजा-महाराजों के नाम की जानकारी प्राप्त होती है। इन नामों के साथ उनकी पदवी-उपाधि का भी उल्लेख मिलता है। राजाधिराज, रावराजा, बहादुर, राजर्षि अंग्रेजों द्वारा प्रदत्त कर्नल के.सी.एस. आई., जी.सी.एस., आई.जी.सी.आई.ई. इत्यादि उपाधियों की भी जानकारी प्राप्त होती है। अप्रत्यक्ष रूप इनके पद सम्मान एवं स्थिति की भी जानकारी प्राप्त होती है।[9]

एक ही पत्रिका में कई तिथियां तारीख प्राप्त होती हैं। जिस दिन पत्रिका लिखी गयी उसकी तारीख मिलती है। तत्पश्चात् जिस शासक को भेजी गयी उसे किस तारीख को प्राप्त हुई वह उसके ऑफिस द्वारा सील लगाकर तारीख लिखता था। उस पत्रिका में किस तारीख को शादी है उसका उल्लेख मिलता है। इस प्रकार से तत्कालीन समय की तिथियों की समुचित जानकारी प्राप्त होती है। साथ ही तत्कालीन समय में डाक व्यवस्था पत्र को लाना-ले जाना, कितने दिन बाद पत्र पहुंचता है, उससे उसकी रियासत से दूरी इत्यादि अनेकानेक तथ्य भी उजागर होते हैं।[10]

इन पत्र-पत्रिकाओं को राजा, शासक, जागीरदार, ठिकानेदार अपने कार्यालय-दफ्तर, इत्यादि के व्यक्तियों द्वारा लिखवाता था परन्तु सभी पर हस्ताक्षर संबंधित जागीरदार-ठिकानेदार, राजा, शासक के होते थे। कुछ पत्र-पत्रिकाओं में हिंदी में हस्ताक्षरनाम प्राप्त होते हैं। कुछ पत्र-पत्रिकाओं में अंग्रेजी में हस्ताक्षर प्राप्त होते हैं।[11] जिसके फलस्वरूप ब्रिटिश शासन एवं अंग्रेजी शिक्षा पद्धति का प्रचलन स्वत: ही उजागर हो जाता है।

अनेक स्थानों से शाहपुरा रियासत के शासकों को प्रेषित पत्र-पत्रिकाओं के अवलोकन से उन स्थानों-ठिकानों की मोहरें छपी मिली है। इस प्रकार से भांति-भांति की सील (मोहरों) की महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। इसके साथ ही अलग-अलग ठिकानों-राजघरानों से प्रेषित पत्र-पत्रिकाओं का प्रारम्भ उनके इष्टदेव से होता है। श्रीरामजी, श्रीरघुनाथजी महाराज इत्यादि कई ईष्टदेवों के नामों की जानकारी प्राप्त होती है।[12]

राजाधिराज उम्मेदसिंह, शाहपुरा रियासत द्वारा अलवर के शासक जयसिंह को गद्दीनशीनी के समय एवं कुंवर सुदर्शन देव के विवाह अवसर पर आंमत्रित किया परन्तु कार्यव्यस्ता के कारण दोनों अवसर पर स्वयं नहीं आ पाया। स्वयं नहीं आने की स्थिति में दोनों ही बार उसने पीलवा ठाकुर सुल्तानसिंह को अपने प्रतिनिध के तौर पर भेजा। ये ऐसे उदाहरण है जिससे एक शासक द्वारा दूसरे शासक के प्रति शिष्टाचार मान-

मर्यादा-सम्मान का प्रदर्शन करते थे। तत्कालीन समय की परम्पराओं का भी बखूबी दर्शन होते हैं।[13]

विवाह संबंधी पत्र-पत्रिकाओं का सूक्ष्म अध्ययन करने से पता चलता है कि राजकुमारों की शादियों की तैयारियों के लिए लम्बा समय अंतराल दिखाई देता है। जबकि राजकुमारियों को विवाह में ऐसा नहीं मिलता है। राजकुमारों की शादी की रस्मों में मिलनी व निकासी कहीं-कहीं 15 दिन व 1 महिने पूर्व कार्यक्रम की जानकारी मिलती है और उसके बाद विवाह कार्यक्रम की जानकारी प्राप्त होती है। राजकुमारों की बारात प्रस्थान, नियत स्थान से दूरी इत्यादि इन कार्यक्रमों की तारीख व समय निर्धारित करते थे।[14]

इन पत्र-पत्रिकाओं में ब्रिटिश रेजीडेंट के स्वागत कार्यक्रमों की भी जानकारी प्राप्त होती है। रतलाम के शासक लोकेन्द्रसिंह ने अंग्रेजी रेजीडेन्ट के स्वागत में कार्यक्रम रखा और इस कार्यक्रम में शाहपुरा के शासक उम्मेदसिंह को उसने आमंत्रित किया। इस प्रकार के उदाहरणों से तत्कालीन समय में ब्रिटिश शासन का प्रभाव एवं देशी रियासतों के साथ संबंध, उनकी पद-स्थिति, सम्मान इत्यादि की जानकारी प्राप्त होती है।[15]

संतरामपुर के शासक प्रवीणसिंह ने अपनी गद्दीनशीनी के अवसर पर शाहपुरा शासक उम्मेदसिंह को आमंत्रण पत्रिका भेजी जो कि गुजराती भाषा में लिखी गई है। जिसमें प्रवीणसिंह ने अंग्रेजी भाषा में हस्ताक्षर किए है। इस पत्रिका में सुंदर सोने की फूलपत्तियों का बार्डर है। पत्रिका के प्रारम्भ में श्री गणेशाय नम: लिखा है। गणेशजी की चित्र अंकित है।[16]

इस प्रकार से इन रिकार्डस (दस्तावेजों) से विभिन्न महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। इनसे भाषा-विज्ञान, शब्द-शब्दावली का ज्ञान होता है। तत्कालीन समय की कला-विज्ञान की उन्नत अवस्था का पता चलता है। उन्नत किस्म का कागज एवं उस कागज पर सोने का प्रयोग इस तथ्य को स्वत: ही सिद्ध करता है। इन पर लिखित सामग्री से तत्कालीन समय की समृद्ध सामाजिक व सांस्कृतिक परम्पराओं पर पर्याप्त रूप से प्रकाश पड़ता है। इनके अध्ययन से राजपरिवारों पर अंग्रेजी भाषा व ब्रिटिश-शासन का प्रभाव भी उजागर होता है। तत्कालीन समय के राजपरिवारों के सामाजिक उत्सव व आयोजनों के प्रकार व स्वरूपों पर भी पर्याप्त प्रकाश दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार के स्रोत इतिहास लेखन में महत्वपूर्ण सिद्ध होते हैं।

संदर्भ

1. *महा. गौरीशंकर हीराचंन्द ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, खण्ड-2 पृ.-771, चतुर्थ संस्करण, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर*

2. *सुख सम्पत्तिराय भंडारी,भारत के देशी राज्य, पृ.17 राज्य मण्डल बुक-पब्लिशिंग हाउस, इंदौर सिटी*
3. *राजस्थानी शोध संस्थान, चौपासनी, जोधपुर के स. निदेशक डॉ. विक्रमसिंह भाटी से साक्षात्कार*
4. *उपरोक्त*
5. *महा. गौरीशंकर हीराचन्द ओझ, उपरोक्त*
6. *मूल दस्तावेज, शाहपुरा रिकार्डस् बस्ता संख्या (विशेष रूप से द्रष्टव्य शाहपुरा ठिकाने ब्याव की कुंकुम पत्रिकाएं, उसने संबंधित पत्र व्यवहार, धार्मिक पत्र व्यवहार), रा.शो.सं., चौपासनी जोधपुर*
7. *वही*
8. *वही*
9. *वही*
10. *वही*
11. *वही*
12. *वही*
13. *वही*
14. *वही*
15. *वही*
16. *वही*

मारवाड़ के कारखाना-जात विभाग का ऐतिहासिक सर्वेक्षण (खाना रिकार्ड कारखाना-जात के आधार पर)

मरजीना बानो

अभिलेखागारीय सामग्री इतिहास की जानकारी के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है ये अभिलेखागारीय सामग्री हमें विभिन्न रूपों में प्राप्त होती है - जैसे बहियां, रूक्के, परवाने, सनद विगत, ख्यात, बातें आदि। राजपूताना के मनसबदारों द्वारा बहीखानों एवं पोथीखानों की स्थापना की गई जहाँ प्रशासन एवं जीवन के विभिन्न पक्षों की जानकारी व सूचनाएं एकत्र की जाने लगी। माइक्रो-स्टडीज के अन्तर्गत क्षेत्रीय इतिहास महत्वपूर्ण स्थान रखता है, स्थानीय से क्षेत्रीय तथा क्षेत्रीय से राष्ट्रीय इतिहास का निर्माण होता है। चूंकि मुख्य रूप से अभिलेख राजकीय व प्रशासनिक दस्तावेज है अत: इनसे प्राप्त अधिकाश सामग्री तथा जानकारी वस्तुनिष्ठ होती है। अभिलेखागारीय सामग्री में मारवाड़ राज्य के खाना रिकॉर्डस महत्वपूर्ण स्थान है। 'खाना' का तात्पर्य - विभागवार - विषयवार फाइल्स का विभाजन। चूंकि फाइल्स को विषयानुसार विभाजित कर वर्ष भर की सूचनाएँ एकत्र की जाती थी। अत: इन रिकॉर्डस को 'खाना रिकॉर्डस' पुकारा गया।[1]

ये रिकॉर्डस इतिहास लेखन की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण इसलिए हो जाते हैं क्योंकि कि ये राजतंत्र, ब्रिटिश तंत्र, लोकतंत्र के संक्रमण काल के रिकॉर्डस हैं।[2] इस समय मारवाड़ राज्य प्रशासनिक-आर्थिक व सामाजिक दृष्टि से बदल रहा था। नई तकनीक एवं आर्थिक परिवर्तन हो रहे थे। खाना रिकॉर्डस जोधपुर राज्य के महकमा खास के समान ही हिन्दी रिकॉर्डस है। ये रिकॉर्डस सूचनाओं के भण्डार है, जिनमें संबंधित 'खाना' की सूचना के अतिरिक्त व्यापार-वाणिज्य कर व्यवस्था करों के प्रकार, बैंकिंग व्यवस्था, राजस्व व्यवस्था, न्याय व्यवस्था, त्योहार आदि की विस्तृत जानकारी उपलब्ध कराते हैं। राज्य के विकास कार्य जैसे बालसमन्द, लाल सागर, मण्डोर व किले से संबंधित विकास के बारे में भी इस रिकॉर्डस से जानकारी प्राप्त होती है।[3]

खाना रिकॉर्डस की संख्या 105 है[4]- जैसे

जनाना	ट्रिबयूट	देवकुण्ड
राजतिलक	दस्तरी	जनानी ड्योडी
टकसाल	नगार खाना	जवाहर खाना

सफा खाना	वाल्टरकृत सभा	जंगलात
फरासखाना	पुस्तक प्रकाश	ओडिट-ऑफिस
मुंशीगिरी	बैंक	मुत्तर फरकात
हवाला	शादी	दिल्ली दरबार
मिल्ट्री फतेहपोल	बन्शी जागीर	कारखाना जात
गऊखाना	सुप्रेडेंटी	गजट
हाउस होल्ड	सफर खर्च	जेल खाना
बडी बकालत	रेलवे	
सुतर खाना	चंवरिया लाग	

कारखाना - जात खाना

खाना रिकॉर्डस में कारखाना-जात एक अति-महत्वपूर्ण खाना है जो कि स्वयं विभिन्न खानों में विभक्त होता है, जिसकी जानकारी कारखाना जाता खाना न. (38) बस्ता न. (17) व (18) से प्राप्त विभिन्न फाइलों से मिलती है।[5] इन फाइलों के अतिरिक्त कारखानाजात व उसके विभिन्न खानों की जानकारी मारवाड़ के महकमा खास के द्वारा लिखे गए ऑफिस नोट में भी मिलती है।

कारखानाजात को '"देशी बरकसोप' (Domestic Workshop) भी कहा जाता है, जिसके प्रमुख को सुप्रीडेंट अथवा दारोगा पुकारा जाता है। कारखाना जात स्वयं एक बड़ा विभाग है। जिसके अन्तर्गत कई प्रमुख खाने है अथवा स्वयं कारखाना जात विभिन्न खानों में बंटा हुआ है जैसे-:

सुथार खाना	पालकी खाना
छत्तर खाना	मोदी खाना
अस्तबल खाना	पंखा खाना
पील खाना	नगार खाना
सुत्तर खाना	इंग्लिश किचन आदि

कारखाना जात के अन्तर्गत आने वाले ये प्रमुख खाने विभिन्न प्रकार के कार्यों में संलग्न थे तथा विभिन्न प्रकार की वस्तुओं को बनवाने व किसी के द्वारा मांगे जाने पर उनकी मांगपूर्ति भी करते थे। कारखाना जात के इन प्रमुख खानों अथवा विभागों से मारवाड़ की व्यापारिक व्यवस्था, सफाई व्यवस्या, आपसी लेनदेन, इलेट्रोनिक व मेकेनिकल कार्यो विवाह संबंधी कार्यो आदि की प्रमुख जानकारी प्राप्त होती है।[6]

कारखानाजात के विभिन्न खानो अलग-अलग खानों के कार्यो को संभालने के लिए उन विभिन्न खानों मे अलग-अलग दारोगाओ की नियुक्ति की जाती थी। इन सभी खानों अथवा उनके दारोगाओं के द्वारा किए गए कार्यों की निगरानी कारखाना जात का दारोगा रखता था जिसे HEAD OF THE KARKHANAJAT / दारोगा कहा जाता था।

कारखानाजात के दारोगा का प्रमुख कार्य यह भी होता था कि जब किसी महाराजा अथवा अन्य व्यक्ति के द्वारा किसी वस्तु की मांग की जाए। तब वह व्यक्ति अथवा महाराजा कारखानाजात के दारोगा को पत्र लिखता है कि उसे किस सामग्री की आवश्यकता है एवं क्यों है, तब कारखाना जात का दारोगा अपने अधीन कारखानो को वह वस्तु उस व्यक्ति को उपलब्ध कराने के लिए कहता था। इस प्रकार कारखानाजात का सुप्रीडेंट अपने अधीन कार्यरत खानों व उनके दारोगाओं को कार्य करने के लिए कहता अथवा उनके द्वारा किए गए कार्यो की निगरानी करता था।[7]

कारखानाजात के प्रमुख दारोगा[8]

दारोगा-जालम सिंह

गोपाल सिंह

प्रताप सिंह

मगल सिंह

फतेह सिंह

कारखाना जात के अधीन कार्यरत प्रमुख खाने[9] अथवा उनके कार्य

1. जवाहर खाना, 2. मोदी खाना, 3. फरास खाना, 4. पंखा खाना, 5. गेस्ट हाउस, 6. बगी खाना, 7. सुत्तर खाना, 8. नगाड़ खाना, 9. पील खाना, 10. अस्तबल, 11. इंगलिश किचन, 12. इलेक्ट्रिक डिपार्टमेन्ट, 13. मेकेनिकल डिपार्टमेन्ट।

जवाहर खाना : जवाहर खाना का उल्लेख खाना कारखाना जात बस्ता स. (18)/फाईल स. (10, 13, 7) में मिलता है। जवाहरखाना कारखानाजात का एक प्रमुख खाना है, जिसका कार्य अथवा संचालन दारोगा की निगरानी में होता था। 1902 में जवाहर खाने का दारोगा नरपतसिंह था। जवाहर खाने का प्रमुख कार्य सोने व चांदी के आभूषण बनवाना, चाँदी पीतल व तांबेके बर्तन (थाल, मरताबीया (प्लेट) पान की डिब्बियां आदि बनवाना होता था। जवाहर खान के अन्तर्गत दारोगा द्वारा विभिन्न कारीगरों की नियुक्ति की जाती थी जो कि इन आभूषणों व बर्तनों को बनाते थे।[10]

खाना कारखानाजात की फाईल स. 13 से प्राप्त महकमा खास के ऑफिस नोट से हमें यह जानकारी मिलती है कि House Hold Controlor जवाहर खाना के दारोगा को पत्र लिखता है कि उसे मारवाड़ के देशी रसोड़े के लिए एक रजत थाल, रजत पान की डिबिया व 50 तांबे के थाल की आवश्यकता है। मारवाड के हाउसहोल्ड कंट्रोलर की तुलना मुगलकाल के मीर-ए-सामां से की जा सकती है।[11] खाना कारखाना जात फाईल स. 7 से प्राप्त महकमा खास ऑफिस नोट से यह जानकारी मिलती है कि हर हाइनेस (H.H.) महारानी साहिबा के द्वारा पत्र लिया गया। जन्मदिवस के अवसर पर जनानी ड्योढी में उन्हें चांदी के बर्तन मरताबियाँ (प्लेट) आदि की आवश्यकता है।

जवाहर का दारोगा उन्हें यह उपलब्ध कराए।[12] फाईल सं. 8 में यह भी उल्लेख मिलता है कि जब जवाहर खाने में किसी द्वारा किसी वस्तु की मांग की जाने पर जब वह वस्तु उपलब्ध नहीं होती थी तो जवाहर खाने का दारोगा पुनः पत्र लिखता था, पत्र कुछ इस प्रकार लिखा गया –

छोटी मरताबीया (प्लेट) मारे कने सिर्फ तीन ही है सो दोय तो आबूंउपर सामान जो श्री जी रे सवारी वास्ते पडियौ है उठे है और? डाक्टर मनोरम जी रे उठे हैं।[13]

मोदी खाना : मोदी खाने का उल्लेख खाना कारखानाजात फाइल स. 19 व 22 में मिलता है। मोदी खाने की तुलना आज के लोकल मार्केट से की जा सकती है। मोदी खाना एक ऐसा बाजार था जहाँ एक ही जगह प्रत्येक वस्तु उसी बाजार मे रिथत दुकानों पर आसानी से मिल जाती थी। 1917 में मोदी खाने के दारोगा अब्दुल गनी व अब्दुल हकीम नामक दो व्यक्ति थे। मोदी खाना का पूर्ण कंट्रोल कारखाना के दारोगा के हाथ में होता था।[14] खाना कारखानाजात फाईल सं. 19 और 22 में व्यापारियों द्वारा बेची जाने वाली वस्तुओं की सूची मिलती है,[15] जैसे –

मैदा	दालमसूरी	गर्ममसाला	तिलां रा तेल
ज्वार	दालतूरी	केर	पतंग रो डोरो
बेसण	इलायची	ग्वारफली	फिनाइल
गेहूँ	जायफल	मोली	कत्था
मोठ	जावित्रि	कुमटियाँ	अचार
उडद	डोडा	तेजाब	कपूर
पापड़	साबूदाणा	चमड़ा	रेगमाल
बडियों	केसर	बुरस	अगरबती रो पुडो
मूंग	लौंग	रूमाल	सिगरेट
ज्वार	फिटकरी	सरसो रा तेल	दूध
आमचूरा	हींग	सिंदूर	दही आदि

फरास खाना : खाना कारखाना जात का एक प्रमुख खाना – फरासखाना होता था। जिसकी सूचना हमे फाइल स. (16) में मिलती है। फरास खाना कारखानाजात के अधीन एक बहुत बड़ा विभाग होता था जहां विभिन्न पदों पर विभिन्न प्रकार के कार्यों को करने के लिए विभिन्न जाति के व्यक्तियों की नियुक्ति की जाती थी। फरासखाने का प्रमुख कार्य साफ-सफाई की व्यवस्था करना, उसके लिए विभिन्न चौकीदारों, जमादारों आदि की नियुक्ति करना, बिछायत लगवाना आदि होता था। फरासखाने का सुप्रिडेंट दारोगा कहलाता था, जो कि कारखानाजात के दारोगा के अधीन होता था। विभिन्न पदों पर व्यक्तियों की नियुक्ति का कार्य फरासखाने के दारोगा का होता था।[16] फाईल स. 18 में यह उल्लेख मिलता है कि फरासखाने में कौनसे पद पर किस जाति के व्यक्ति की

नियुक्ति की गई। फाईल में हमें विभिन्न जातियों के नाम मिलते है जो कि मारवाड़ की जाति व्यवस्था पर प्रकाश डालते है जैसे-

फाईल में उल्लेखित नक्शा कोमवार मुसलमान फरासखाना[17]

माली	जाट	दरजी
बांबी	लोहरा	पुरवीया
गुजर	पांचोली	आदि।

फरासखाने की हुलिया परम्परा : फाईल सं. (19) में हुलिया परम्परा का उल्लेख मिलता है जब फरास के दारोगा द्वारा जिस भी जाति के व्यक्ति की नियुक्ति जिस भी पद पर की जाती थी उसका हुलिया अवश्य नोट किया पाता था ताकि किसी भी प्रकार का कोई भ्रष्टाचार ना होने पाए। हुलिया नोट करने के साथ ही वह व्यक्ति किस जाति का उसकी उम्र क्या उसकी नियुक्ति किस पद पर कब की गई वेतन कितना है व कब पदमुक्त आदि सभी की एक सूची तैयार की जाती थी। जैसे-

नाम	जात	ओहदा	जगह	तनखा	उम्र	ता.
मादोराम	माली	जमादार	पेलेस		28	
हरिराम	जाट	कोठारी	श्री जी साहिबा रे बंगले गोदाम पर		32	
फतेह खां	मुसलमान	चाकर	गेस्ट हाउस		30	
लाल खा	मुसलमान	जमादार	श्री रिजेन्ट साब रे बंगले		33	

इस प्रकार फरासखाने का प्रशासन चलता था।[18]

बग्गी खाना अथवा पालखी खाना : कारखाना जात का एक प्रमुख खाना बग्गी अथवा पालखी खाना होता था। जिसका उल्लेख खाना कारखानाजात फाईल सं 1 में पृष्ठ सं. 5 पर मिला है। बग्गी खाने का प्रमुख कार्य बग्गी अथवा पालखियों को बनाना, टूटी हुई बग्गियों को रिपेयर करना व उनकी मांग पर (बग्गी अथवा पालखी की) उन्हें उपलब्ध कराना।[19] फाईल सं. (1) से प्राप्त महकमा खास ऑफिस में उल्लेख मिलता है कि बग्गी खाना के निगरानी ऑफिसर भैरूजी से शिवनाथ (राज मारवाड़) द्वारा 6 नई बग्गी की मांग की गई क्योंकि पुरानी बग्गी टूट गई थी।[20]

इलेक्ट्रॉनिकल व मेकेनिकल डिपोर्टमेन्ट : खाना कारखानाजात फाईल सं. 13 में इलेक्ट्रॉनिकल व मेकेनिकल डिर्पाटमेन्ट का उल्लेख मिलता है जिसका प्रमुख कार्य मोटर गाडी रिपेयर करना, लाईट, पावर हाउस बिजली आदि व्यवस्थाओं को संभालना होता था। यह कार्य इस डिपार्टमेन्ट के दारोगा की निगरानी में होता था।[21]

गेस्ट हाऊस : गेस्ट हाऊस का उल्लेख फाईल सं. 3 व 7 में मिलता है। फाईल में उल्लेख मिलता है कि गेस्ट हाउस का पूर्ण नियंत्रण, यहां नियुक्त दारोगा के हाथ में

होता है। किसी महाराजा अथवा महारानी के आने पर उनके स्वागत में अतिथि गृह में उनके रहने व खाने की व्यवस्था गेस्ट हाउस में नियुक्त दारोगा द्वारा की जाती थी।[22] फाईल सं. 7 से प्राप्त ऑफिस नोट (from Mahakmakhas) में मिले पत्र में लिखा गया—केशव लाल एन जोशी सुप्रिडेंट ऑफ गेस्ट हाउस के श्री दरबार राज मारवाड द्वारा पत्र लिखा गया–

जब रीजेन्ट साब बहादुर जी रे बंगले पधारे तब उनके रहने व खाने का इंतजाम किया जाए तथा उनकी सवारी रे वास्ते घोड़ा आदि का इंतजाम किया जाए।[23]

पील खाना : खाना कारखानाजात फाईल सं 5 में पील खाना का उल्लेख मिलता है। पील खाना में भी कारखानाजात द्वारा दारोगा की नियुक्ति की जाती थी। पील खाना को हाथी खाना भी कहा जाता था, जहाँ हाथियों को रखा जाता था।[24]

नगाड़ खाना : खाना कारखाना जात फाईल सं. 8 व 9 में नगाड़ खाने का उल्लेख मिलता है। नगाड खाना कारखाना जात का एक प्रमुख खाना था जहाँ इसके दारोगा द्वारा शादी, विवाह व अन्य अवसरां के लिए नगाड़े, शहनाई आदि का संग्रहण किया जाता था।[25]

पंखा खाना : खाना कारखाना जात फाईल सं. 3 व 7 में पंखा खाना का उल्लेख मिलता है। पंखा खाना का प्रमुख कार्य पंखा रिपेयर करना हाथ पंखा बनाना उन्हें रिपेयर करना आदि होता था।[26]

सुत्तर खाना : खाना कारखाना जात के फाईल सं. 2 में सुत्तर खाने का उल्लेख मिलता है। जहाँ ऊँट बेचने व खरीदने का कार्य किया जाता था। जहाँ ऊँटों का पालन किया जाता था।[27] फाईल सं. 3 में उल्लेख आता है कि सुत्तर खाने के दारोगा द्वारा तथा एक क्लर्क द्वारा अजमेर पुष्कर में लगे पशु मेले में 25–30 ऊँट बेचे गए तथा जैसलमेर पशु मेले में 3 उत्तम नस्ल के ऊँट खरीदे गए।[28]

तबेला/अस्तबल/घुड़साल : खाना कारखाना जात की फाईल सं. 26 से घुड़साल का उल्लेख मिलता है। यह कारखाना जात का एक प्रमुख खाना था जहाँ घोड़े रखे जाते थे।[29]

इंगलिश किचन : खाना कारखाना जात की फाईल सं. 15 से इंगलिश किचन की जानकारी मिलती है। इंगलिश किचन का कार्यभार निगरानी ऑफिसर के अधीन होता था।[30]

शिकार खाना : खाना कारखाना जात की फाईल सं 6 व 8 तथा महखमा–खास ऑफिस नोट से शिकार खाने की जानकारी मिलती है। शिकार खाना एक ऐसा खाना था जहाँ विभिन्न प्रकार के जानवरों को रखा जाता था तथा उनके रहने के लिए पिंजरे (cage) भी बनाए जाते थे।[31] शिकार खाने में पिग्स, पैंथर, टाईगर, बफेलोज,

आदि जानवर रखे जाते थे। जिनकी जानकारी हमे फाईल सं. 8 से प्राप्त महकमा – खास ऑफिस नोट से मिलती है।[32]

ऑडिट ऑफिस : खाना कारखाना जात की फाईल सं 23 से ऑडिट ऑफिस विभाग की जानकारी मिलती है। ऑडिट ऑफिस विभाग कारखाना जात का एक बहुत ही प्रमुख खाना अथवा विभाग था। यह विभाग कारखाना जात के प्रमुख खानों को आपस में जोड कर रखता था तथा विभिन्न खानों में बकाया राशि की जांच करता था। यह कारखाना जात के प्रमुख खानों की जरूरत पड़ने पर आर्थिक रूप से सहायता करता था और विभिन्न खानों के बीच होने वाले लेन देन का ध्यान रखता था।[33]

इस प्रकार खाना कारखाना जात / देशी बरकसोप (Domestic Workshop) एक बहुत ही विशाल खाना रिकॉर्ड की श्रेणी में आता है। अभिलेखागारीय सामग्री में खाना रिकॉर्ड का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है जो कि विभिन्न प्रकार की सूचनाओं का भण्डार है। जिनका उपयोग कर हम अनेक महत्वपूर्ण सूचनाओं व जानकारियों को प्राप्त कर सकते है तथा शोध के नवीन प्रतीमानों को स्थापित कर सकते है।

संदर्भ

1. *प्रोसेडिंग्स ऑफ राजस्थान इतिहास कॉंग्रेस, संपा. प्रो. एस.पी. व्यास, वॉल्यूम 29, जोधपुर अधिवेशन, पृ. 562 (दृष्टव्य डॉ. अनिल पुरोहित का लेख, खाना रिकॉर्डस् में क्षेत्रिय इतिहास : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन)*
2. *वही*
3. *वही., पृ. 563*
4. *वही*
5. *खाना रिकॉर्डस्, खाना कारखाना जात, खाना संख्या 38, बस्ता संख्या 17 और 18, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, जिला जोधपुर शाखा जोधपुर*
6. *खाना रिकॉर्डस्, खाना कारखाना जात, खाना संख्या 38, बस्ता संख्या, 17, फाईल संख्या 1, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, जिला जोधपुर शखा जोधपुर, पृ. 1–3*
7. *वही, पृ. 1–4*
8. *वही, फाईल संख्या 18, पृ. 1*
9. *वही, फाईल संख्या 1, पृ. 3–9*
10. *खाना रिकॉर्डस्, खाना कारखाना जात, जवाहर खाना,बस्ता संख्या 18, फाईल संख्या 10, पृ. 1–2*
11. *वही, फाईल संख्या 13 से प्राप्त महकमा खास ऑफिस नोट, पृ. 1*
12. *वही, फाईल संख्या 7 से प्राप्त महकमा खास ऑफिस नोट, पृ. 6*
13. *वही, फाईल संख्या 8, पृ. 3–5*
14. *खाना रिकॉर्डस्, खाना कारखाना जात, मोदीखाना, बस्ता संख्या 18, फाईल संख्या 19, पृ. 1*

15. *वही, फाईल संख्या 19 और 22, पृ. 1-4; 5-8*
16. *खाना रिकॉर्डस्, खाना कारखाना जात, फरास खाना,बस्ता संख्या 18, फाईल संख्या 16, पृ. 3-5*
17. *वही, फाईल संख्या 18, पृ. 1-9*
18. *वही, फाईल संख्या 19, पृ. 1-5*
19. *खाना रिकॉर्डस्, खाना कारखाना जात, बग्गी खाना अथवा पालकी खाना, बस्ता संख्या, 18, फाईल संख्या 1, पृ. 5*
20. *वही, फाईल संख्या 1 से प्राप्त महकमा खास ऑफिस नोट, पृ. 11*
21. *खाना रिकॉर्डस्, खाना कारखाना जात, इलेक्ट्रॉनिक और मैकेनिकल डिपार्टमेन्ट, बस्ता संख्या 18, फाईल संख्या 13, पृ. 2-8*
22. *खाना रिकॉर्डस्, खाना कारखाना जात, गेंस्ट हाउस, बस्ता संख्या, 17, फाईल संख्या 3, पृ. 2-4*
23. *खाना रिकॉर्डस्, खाना कारखाना जात, गेस्ट हाउस, बस्ता संख्या 18, फाईल संख्या 7 से प्राप्त महकमा खास का ऑफिस नोट, पृ. 1*
24. *खाना रिकॉर्डस्, खाना कारखाना जात, पील खाना,बस्ता संख्या, 17, फाईल संख्या 5, पृ. 3*
25. *खाना रिकॉर्डस्, खाना कारखाना जात, नगाड़ खाना, बस्ता संख्या, 17, फाईल संख्या 8 और 9, पृ. 18-19*
26. *खाना रिकॉर्डस्, खाना कारखाना जात, पंखा खाना,, बस्ता संख्या, 17, फाईल संख्या 3 और 7, पृ. 1-2*
27. *खाना रिकॉर्डस्, खाना कारखाना जात, सुत्तर खाना, बस्ता संख्या, 18, फाईल संख्या 2, पृत्र 1*
28. *वही., फाईल संख्या 3, पृ. 2-6*
29. *खाना रिकॉर्डस्, खाना कारखाना जात, तबेला / अस्तबल / घुड़साल, बस्ता संख्या, 17, फाईल संख्या 26, पृ. 111*
30. *खाना रिकॉर्डस्, खाना कारखाना जात, इंग्लिश किचन, बस्ता संख्या, 17, फाईल संख्या 15, पृ. 22*
31. *खाना रिकॉर्डस्, खाना कारखाना जात, शिकार खाना, बस्ता संख्या, 18, फाईल संख्या 6, पृ. 13-15*
32. *वही, फाईल संख्या 8 से प्राप्त महकमा खास ऑफिस नोट, पृ. 16*
33. *खाना रिकॉर्डस्, खाना कारखाना जात, ऑडिट ऑफिस, बस्ता संख्या, 17, फाईल संख्या 23, पृ. 3-9*

मारवाड़ में न्याय प्रशासन (मारवाड़ प्रशासन रिपोर्ट-1890-1895 के आधार पर)

निगार खानम

इतिहास लेखन में ऐतिहासिक स्रोतों का अत्यधिक महत्व होता है। यह महत्व तब और भी बढ़ जाता है, जब किसी क्षेत्र विशेष के इतिहास का लेखन स्थानीय अथवा क्षेत्रीय ऐतिहासिक स्रोतों के आधार पर किया जाता है। भारतवर्ष के प्रत्येक राज्य में क्षेत्रीय ऐतिहासिक स्रोतों का अध्ययन वर्तमान में इतिहास लेखन की एक नवीन प्रविधी है, जिससे शोध के क्षेत्र में नए आयाम स्थापित हो रहे हैं। राजपूताना के इतिहास लेखन में भी क्षेत्रीय ऐतिहासिक स्रोतों का अध्ययन करना वर्तमान में काफी प्रासंगिक माना जाता है। राजपूताना के विभिन्न क्षेत्रों में क्षेत्रीय ऐतिहासिक स्रोत अत्यधिक मात्रा में प्राप्त हो जाते हैं, जिनमें पुरातात्विक, अभिलेखागारिय और स्थानीय भाषा में लिखित साहित्यिक स्रोत प्रमुख है। अन्य ऐतिहससिक स्रोतों की भांति स्थानीय अभिलेखागारों में संग्रहीत अभिलेखागारिय स्रोत भी अत्यधिक महत्व के है। अभिलेखागारिय स्रोतों में प्रत्येक राज्य से संबंधित प्रशासनिक रिपोर्टों का महत्वपूर्ण संग्रह भी राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर और इसकी जिला शाखाओं में संग्रहीत किया हुआ मिलता है। प्रशासन रिपोर्टों में रियासत में विद्यमान विभिन्न विभागों के प्रशासन का विवरण प्राप्त होता है। मारवाड़ रियासत की प्रशासनिक रिपोर्ट में विभिन्न प्रकार की जानकारी प्राप्त होती है। जैसे-मारवाड़ रियासत के नियम संबंधित जानकारी प्राप्त होती है, सीमा शुल्क विभाग के कार्यों से संबंधित जानकारी, जंगल विभाग के कार्यों की जानकारी, न्याय विभाग, शिक्षा विभाग, शाही डाकघर, वित्त व राजस्व विभाग के कार्यों के बारे में जानकारी इत्यादि मारवाड़ रियासत की प्रशासनिक रिपोर्ट में प्राप्त होती है।

मारवाड़ रियासत के न्याय व्यवस्था के बारे में जानकारी प्रशासन रिपोर्ट से प्राप्त होती है। प्रशासन रिपोर्ट में मारवाड़ में प्रचलित न्याय व्यवस्था के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है।

मारवाड़ रियासत में न्याय के लिए कई न्यायालय प्रचलित थे, जिसमें प्रमुख न्यायालय महकमा खास था।

1. **महकमा खास**-महकमा खास मारवाड़ रियासत का प्रमुख न्यायालय था।

यह मारवाड़ का सर्वोच्च न्यायालय था। महकमा खास का निर्णय अन्तिम निर्णय होता था। महकमा खास का प्रमुख न्यायाधीश महाराजा होता था। मुसहिब-आला के द्वारा महकमा खास का कार्य संभाला जाता था, इस समय मुसहिब आला सर प्रताप सिंह था।[1] महकमा खासा के अधीन इजलास न्यायालय था जिसमें अपराधी व दीवानी मामलों की सुनवाई की जाती थी। इजलास न्यायालय द्वारा मृत्युदण्ड व अजीवन कारावास की सजा सुनाई जा सकती थी। मारवाड़ प्रशासन रिपोर्ट 1890-91 में विवरण मिलता है कि इलजास के पास 12 अपराधिक मामले आये, जिसमें सें 5 को अजीवन कारावास की सजा दी गई तथा 7 को मृत्यु दण्ड दिया गया।[2] इसी प्रकार का वर्णन मारवाड़ प्रशासन रिपोर्ट 1891-92 में भी मिलता है जिसमें इजलास द्वारा 5 मामलों में मृत्युदण्ड की सजा सुनाई गई।[3] मकहकमा खास में विविध प्रकार के मामलों पर सुनवाई की जाती थी, जिसमें दीवानी मामले, नगरपालिका समिति के निर्णय के विरुद्ध अपील महकमा खास में की जा सकती थी। असाधारण व्यय की मंजूरी सम्बंधित मामले, फरमानों के निष्पादन सम्बंधित मामले तथा सैन्य सम्बंधित मामले तथा शैक्षणिक सम्बंधित मामले की सुनवाई महकमा खास में की जाती थी।[4] मारवाड़ प्रशासन रिपोर्ट 1891-92 में विवरण प्राप्त होता है कि 379 दीवानी मामले दर्ज हुये जिसमें से 324 मामलों पर निर्णय दिया गया तथा 55 मामलों को वर्ष के अन्त के लिए छोड़ दिया गया। रिपोर्ट में विवरण है कि 776 अपराधिक मामले दर्ज हुये, जिसमें से 576 मामलों पर निर्णय सुनाया गया।[5]

मारवाड़ प्रशासन रिपोर्ट 1892-93 में विवरण मिलता हैं कि नगरपालिका समिति के खिलाफ अपील के मामले दर्ज होने का उल्लेख मिलता हैं। नगरपालिका समिति द्वारा दिये गये निर्णयों के विरुद्ध 7 अपील हुई तथा 16 मामले पिछले वर्ष के मामले थे, जिसमें से 18 मामलों पर निर्णय दिया गया।[6] मारवाड़ प्रशासन रिपोर्ट 1894-95 में असाधारण व्यय की मंजूरी सम्बंधित मामलों का विवरण प्राप्त होता है। रिपोर्ट में वर्णन मिलता है कि 287 मामले प्राप्त हुये 22 मामले वर्ष के प्रारम्भ में ही रुके हुये थे। इसमें 288 मामलों पर निर्णय दिया गया तथा 21 मामले वर्ष के अन्त के लिए छोड़ दिये गये।[7] मारवाड़ प्रशासन रिपोर्ट में महकमा खास द्वारा सैन्य सम्बंधित मामलों पर की गई सुनवाई का विवरण प्राप्त होता हैं। प्रशासन रिपोर्ट 1893-94 में विवरण मिलता हैं कि 507 मामले सैन्य सम्बंधी थे, जिसमें से 70 मामले पिछले वर्ष के थे इसमें से 526 मामलों को निरस्त किया गया तथा 51 मामलों को रोक दिया गया।[8] इस प्रकार महकमा खास के अधीन दीवानी मामले, अपराधी मामले, सीमा सम्बंधी मामलों पर निर्णय दिया जाता था।

2. सरदार कोर्ट-महकमा खास के बाद प्रमुख न्यायालय सरदार कोर्ट था। सरदार कोर्ट में पैसे के लेन-देन से सम्बंधित मामले, भूमि से सम्बंधित मामले की

सुनवाई सरदार कोर्ट में की जाती थी। सरदार कोर्ट का अध्यक्ष राय मुंशी हरदयाल था तथा इनका सहायक पंडित जीवानन्द था। सरदार कोर्ट का प्रमुख कार्य पैसे के लेन-देने से सम्बंधित मामलों की सुनवाई करना था। 1000 रु. के ऊपर के मामलों की सुनवाई कोर्ट में ही की जाती थी।[9] प्रशासन रिपोर्ट 1890-91 में विवरण मिलता है कि सरदार कोर्ट में 819 मामले पैसे के लेन-देन से सम्बंधित थे। जिसमें से 192 मामलों पर निर्णय दिया गया तथा 36 मामले गोद लेने से सम्बंधी थे। जिसमें से 14 मामलों को सुलझाया गया।[10] सरदार कोर्ट में इजलास खास के द्वारा दिये गये निर्णय के विरुद्ध अपील भी की जा सकती थी। प्रशासन रिपोर्ट 1891-92 में विवरण मिलता है कि 29 मामले इजलास खास के द्वारा दिये गये निर्णयों के विरुद्ध आये। सरदार कोर्ट की देखरेख में 1854 ई. में दिवालीयापन विभाग की स्थापना की गई। इस विभाग में जागीरदार अपने कोर्ट में अपील करता था। तब कोर्ट द्वारा जागीरदार की आय की गहन जाँच की जाती थी तथा लेनदारों को नोटिस जारी किया जाता था। जागीरदार की सम्पति पर दरबार का अधिकार होता था। जागीरदार की सम्पति में से एक हिस्सा दरबार के लिए रखा जाता था तथा शेष सम्पति लेनदारों में बाँटी जाती थी। यह सम्पति लेनदारों को निश्चित समयांवधि में किश्तों द्वारा भुगतान की जाती थी। किश्तों का भुगतान ठीक प्रकार से हो इसके लिए चार समूह बनाये गये थे। प्रथम समूह में वह लोग आते थे जिन्होंने जागीरदार का 5 वर्ष पहले ऋण दिया है। उन्होंने सम्पति की राशि के पहले भुगतान किया जाता था। द्वितीय समूह में वे लोग आते थे जिन्होंने जागीरदार को 10 वर्ष पहले ऋण दिया हो तथा तृतीय समूह में 15 वर्ष पहले देने वाले लोग आते हैं। वह चतुर्थ समूह में वह लोग आते थे जिन्होने जागीरदार को 20 वर्ष पहले ऋण दिया हो। अत: चारों समूह को भुगतान अलग-अलग प्रतिशत द्वारा किया जाता था। प्रथम समूह को 5% तथा द्वितीय समूह को 3% तृतीय समूह को 2% तथा चतुर्थ समूह में 1.5% राशि का भुगतान किया जाता था। सरदार कोर्ट में मुन्सिफ कोर्ट, हुकुमत के निर्णय, परगना के अध्यक्ष के द्वारा दिये गये निर्णयों तथा जागीरदारों द्वारा दिये गये निर्णयों के विरुद्ध भी अपील की जा सकती थी।[11] जागीरदार के द्वारा जिन मामलों पर सुनवाई नहीं की गई, उन मामलों पर सुनवाई सरदार कोर्ट में की जाती थी तथा जो मामले जागीरदार की शक्ति से परे होते थे, उन मामलों पर भी सुनवाई सरदार कोर्ट मे होती थी। प्रशासन रिपोर्ट 1891-92 में विवरण मिलता है कि सरदार कोर्ट में जागीरदार द्वारा दिये गये निर्णयों के विरुद्ध अपील की गई। ऐसे मामले 27 थे जिसमें से 23 मामलों को सुलझाया गया तथा 4 मामलों को वर्ष के अन्त के लिए छोड़ दिया गया।[12] अत: इस प्रकार कोर्ट मे जागीरदार के द्वारा दिये गये निर्णयों के विरुद्ध सुनवाई की जाती थी। सरदार कोर्ट में जागीरदार की शक्ति से परे सम्बंधित मामलों की सुनवाई का वर्णन प्रशासन रिपोर्ट 1892-93 में मिलता है। रिपोर्ट मे वर्णन मिलता है कि

14 मामलों पिछले वर्ष के अधूरे थे तथा 163 मामले नये आये थे, जो जागीरदार की शक्ति से परे थे। उसमें से 157 मामलों को सुलझाया गया।[13] सरदार कोर्ट मे जागीरदार के द्वारा दिये गये निर्णयों के विरुद्ध तथा जागीरदार की शक्ति से परे मामलों की सुनवाई भी की जाती थी।

3. जागीरदार कोर्ट – मारवाड़ रियासत मे 36 ठिकाने थे, जिनको न्यायिक अधिकार प्राप्त थे। सितम्बर, 1884 में एक कानून बनाया गया, जिसमें जागीरदारों को तीन श्रेणी मे विभाजित किया गया। प्रथम श्रेणी में 20 ठिकाने थे जिनको न्यायिक अधिकार प्राप्त थे। प्रथम श्रेणी के जागीरदार 1000 रु. तक के मामलों की सुनवाई कर सकते थे तथा वह 6 महीने की सजा सुनाने व 300 रुपये तक का जुर्माना लगाने का अधिकार प्रथम श्रेणी के जागीरदार को था। द्वितीय श्रेणी में 7 ठिकाने थे। द्वितीय श्रेणी के जागीदार को 500 रु. तक के मामलों की सुनवाई कर सकते थे तथा 3 महीने की सजा सुनाने व 450 रुपये तक के जुर्माना लगाने का अधिकार द्वितीय श्रेणी के जागीरदार को था। तृतीय श्रेणी में 9 ठिकाने थे जिनके पास न्यायिक अधिकार थे। तृतीय श्रेणी के जागीरदार को 300 रु. तक के मामलों की सुनवाई करने का अधिकार प्राप्त था तथा वह 1 महीने की सजा सुनाने व 100 रूपये तक का जुर्माना लगाने का अधिकार तृतीय श्रेणी के जागीरदार के पास था।[14] मारवाड़ प्रशासन रिपोर्ट 1894–95 में उल्लेख है कि जागीरदार कोर्ट को राय बहादुर हरदयाल की मृत्यु के बाद महकमा खास के प्रत्यक्ष नियंत्रण में ले लिया तथा प्रथम श्रेणी के 21 ठिकाने तथा द्वितीय श्रेणी के 7 ठिकाने व तृतीय श्रेणी के 10 ठिकाने थे। जागीरदार सरदार कोर्ट की विशेष अनुमति से वह अपनी श्रेणी से ऊपर के मामलों की सुनवाई भी कर सकता था तथा जागीरदार कोर्ट द्वारा दिये गये निर्णयों के विरुद्ध अपील सरदार कोर्ट में की जा सकती थी।[15] सरदार कोर्ट द्वारा कुछ जागीरदारों को न्यायिक कार्य में प्रशिक्षित किया जाता था ताकि वह सरदार कोर्ट का कार्य संभाल सके। प्रशासन रिपोर्ट 1892–93 में वर्णन मिलता कि अहलमद व कामदर जागीरदार को दरबार में कार्य करने के लिए प्रशिक्षित किया ताकि वह दरबार का कार्य संभाल सके। यह योजना दरबार के सतुंलन के लिए थी, क्योंकि कुछ जागीरदार महाराजा जीवनसिंह के साथ काम कर रहे थे। महाराजा दौलत सिंह नाबलिग थे। इसलिए उनका कार्य सरदार कोर्ट में चल रहा था।[16] जागीरदार के द्वारा दिये गये न्याय के विरुद्ध अपील सरदार कोर्ट में की जा सकती थी। इस प्रकार जागीरदार कोर्ट मारवाड़ रियासत की न्याय व्यवस्था का प्रमुख हिस्सा था।

4. मुन्सिफ कोर्ट– मुन्सिफ कोर्ट सरदार कोर्ट के प्रत्यक्ष नियत्रंण में था। मुन्सिफ कोर्ट में दीवानी, भूमि सम्बंधी मामले, अपराधिक मामले पर सुनवाई की जाती थी। मुन्सिफ कोर्ट के तरह दो अदालते थी – अदालत–ए–मुन्सिफ और कोर्ट मुन्सिफ।

अदालत–ए–मुन्सिफ : अदालत–ए–मुन्सिफ की स्थापना 19 जुलाई 1884 ई. में की गई थी। अदालत–ए–मुन्सिफ का अध्यक्ष पंचोली गांगदास था। अदालत–ए–मुन्सिफ में पैसे के लेन–देने सम्बंधी मामलों पर सुनवाई की जाती थी।[17] प्रशासन रिपोर्ट 1894–95 में विवरण मिलता हैं कि अदालत–ए–मुन्सिफ में पैसे के लेन–देन सम्बंधी 180 मामले आये तथा 8 मामले भूमि सम्बंधी तथा 2 मामले अन्य थे। इस प्रकार अदालत–ए–मुन्सिफ कोर्ट पैसे के लेन–देन, भूमि सम्बंधी तथा धोखा धड़ी सम्बंधी मामलों की सुनवाई की जाती थी। उनके द्वारा दिये गये निर्णयों के विरुद्ध अपील सरदार कोर्ट में की जा सकती थी।[18]

कोर्ट मुन्सिफ : कोर्ट मुन्सिफ की स्थापना 17 मई 1886 में की गई। कोर्ट मुन्सिफ का अध्यक्ष लालदेवी प्रसाद था। कोर्ट मुन्सिफ में पैसे सम्बंधी मामले, भूमि सम्बंधी मामले, धोखा–धड़ी सम्बंधी मामले की सुनवाई की जाती थी। प्रशासन रिपोर्ट 1892–93 में वर्णन मिलता हैं कि कोर्ट मुन्सिफ में 366 मामले पैसे के लेन–देन सम्बंधी थे। 16 मामले भूमि सम्बंधी थे तथा कुछ मामले धोखा धड़ी सम्बंधी थे, जिन पर कोर्ट मुन्सिफ द्वारा निर्णय दिया गया। कोर्ट मुन्सिफ द्वारा दिये गये निर्णयों के विरुद्ध अपील सरदार कोर्ट में की जा सकती थी।[19]

5. मालानी – मालानी कोर्ट, जिले के दीवानी व राजस्व कार्य संबंधी कोर्ट था। मालानी का कार्य राय बहादुर हरदयाल संभालता था, हरदयाल के अधीन मोहम्मद खान, हकीम व हीरासिंह मुन्सिफ थे। अध्यक्ष के द्वारा मालानी जिले के दो दौरे किये। प्रथम 21 अक्टूबर व द्वितीय 18 नवंबर को किया। अध्यक्ष द्वारा जिले के उन स्थानों का दौरा किया जहां प्रमुख व्यवसाय था तथा कार्यालयों के निरीक्षण तथा स्कूल, सीमा शुल्क बंदरगाह व अकाल संबंधित कार्यों का निरीक्षण किया था। वह उन सीमा स्थल पर भी जाते थे जिनके मामले उनके कार्यालय में आये हुए हैं। मुन्सिफ कोर्ट द्वारा दिये गये निर्णयों के विरुद्ध अपील मालानी कोर्ट में की जा सकती थी। प्रशासन रिपोर्ट 1892–93 में यह वर्णन मिलता है कि मुन्सिफ कोर्ट के विरुद्ध 6 मामले दर्ज हुये, 7 मामले वर्ष के आरंभ में तथा 13 मामलों को वर्ष के अन्त में सुलझाया गया।[20] मारवाड़ प्रशासन रिपोर्ट 1894–95 में विवरण है कि मालानी कोर्ट का अध्यक्ष का कार्य राय बहादुर सिंह के निध ान के बाद पण्डित माधो प्रसाद को दीवानी सौंपा गया। प्रशासन रिपोर्ट 1894–95 में विवरण है कि पश्चिमी राजपूताना राज्य में अत्यधिक हत्या के मामले दर्ज होते थे। मालानी के अधीन 597 गांव थे। इनको नौ परगनों और 34 उपपरगनों में विभाजित किया गया था जिसमें से केवल दो परगनों में ही पुलिस थाना था। जुलाई माह में मालानी कोर्ट में हत्या का मामला दर्ज हुआ। सिंदरी जागीरदार के स्थान में भूमि विवाद को लेकर एक व्यक्ति की हत्या कर दी गई। यह हत्या भाटियों द्वारा की गई थी। मालानी के अधिकारी

ने दण्डात्मक रूप से जागीर में 1 हवलदार व 5 सिपाही तैनात किये तथा उनका खर्च मासिक रूप से 30 रुपये जागीरदार से वसूल गया। यह 2 वर्ष के लिए था। मालानी की पुलिस में 52 घोड़े, 50 ऊंट व 40 पैदल सवार, जो सिकन्दरखान के नियंत्रण में थे।[21] इस प्रकार जिले संबंधी मामलों की सुनवाई मालानी कोर्ट में की जाती थी।

6. अपीलीय न्यायालय – अपीलीय न्यायालय में विभिन्न कोर्ट द्वारा दिये गये निर्णयों के विरुद्ध अपील की जा सकती थी। भण्डारी हनवन्तचन्द इस न्यायालय का न्यायाधीश था। अपीलीय न्यायालय में पिछले वर्ष में न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णयों पर भी अपील की जा सकती थी तथा महकमा खास द्वारा किये गये निर्णयों के विरुद्ध अपील भी की जा सकती थी। प्रशासन रिपोर्ट 1892-92 में विवरण मिलता है कि महकमा खास द्वारा दिये गये निर्णयों के विरुद्ध अपील के 41 मामले प्राप्त हुये जिसमें से 14 मामले पैसे के लेन-देन संबंधी, 26 मामले गोद संबंधी तथा 1 अन्य मामला था।[22] इस प्रकार अपीलीय न्यायालय में महकमा खास के द्वारा दिये गये निर्णयों पर भी अपील भी जा की सकती थी।

7. फौजदारी कोर्ट – फौजदारी कोर्ट का अध्यक्ष कविराज मुरदान था। फौजदारी कोर्ट में राज्य के खिलाफ अपराध, लोक सेवा द्वारा या उससे संबंधी अपराध, झूठे सबूत और सार्वजनिक न्याय के खिलाफ अपराध संबंधी मामले, सिक्के व स्टेम्प संबंधी अपराध, सार्वजनिक स्वास्थ्य सुरक्षा सुविधा, शालीनता व नैतिकता को प्रभावित करने वाले, अपराध, धर्म से संबंधित अपराध आदि मामलों की सुनवाई फौजदारी न्यायालय में की जाती थी तथा सम्पति की चोरी की भी सुनवाई फौजदारी कोर्ट में की जाती थी।[23] मारवाड़ प्रशासन रिपोर्ट 1894-95 में विवरण मिलता है कि वर्ष के अन्त में 696 मामले सम्पति से संबंधी अपराध के थे तथा 139 मामले सोने की मोहर की चोरी संबंधी थे।[24] इस प्रकार फौजदारी कोर्ट सम्पति संबंधी अपराध के मामलों की सुनवाई भी करता था।

8. दीवानी कोर्ट – दीवानी कोर्ट का अध्यक्ष मेहता अमृतलाल था। दीवानी कोर्ट में पैसे के लेन-देन संबंधित मामले की सुनवाई की जाती थी। मारवाड़ प्रशासन रिपोर्ट 1894-95 में वर्णन मिलता है कि 574 मामले दीवानी कोर्ट में पैसे के लेन-देन से संबंधित थे। जिसमें से 299 मामलों का निरस्तारण किया गया।[25] इस प्रकार मारवाड़ रियासत का न्याय प्रशासन विभिन्न न्यायालयों द्वारा चलाया जाता था। सभी न्यायालयों का मारवाड़ रियासत के न्याय प्रशासन में महत्वपूर्ण योगदान था।

संदर्भ

1. *मारवाड़ प्रशासनिक रिपोर्ट, 1890-91, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, जोधपुर शाखा, जोधपुर, पृ. 62*
2. *वही*

3. *मारवाड़ प्रशासनिक रिपोर्ट 1891-92, पृ. 46*
4. *मारवाड़ प्रशासनिक रिपोर्ट 1890-91, पृ. 63-64*
5. *मारवाड़ प्रशासनिक रिपोर्ट 1891-92, पृ. 48*
6. *मारवाड़ प्रशासनिक रिपोर्ट 1892-93, पृ. 45*
7. *मारवाड़ प्रशासनिक रिपोर्ट 1894-95, पृ. 76*
8. *मारवाड़ प्रशासनिक रिपोर्ट 1893-94, पृ. 62*
9. *मारवाड़ प्रशासनिक रिपोर्ट 1891-92, पृ. 50*
10. *मारवाड़ प्रशासनिक रिपोर्ट 1890-91, पृ. 64*
11. *मारवाड़ प्रशासनिक रिपोर्ट 1891-92, पृ. 50-51*
12. *वही, पृ. 52*
13. *मारवाड़ प्रशासनिक रिपोर्ट 1892-93, पृ. 49-51*
14. *मारवाड़ प्रशासनिक रिपोर्ट 1891-92, पृ. 53*
15. *मारवाड़ प्रशासनिक रिपोर्ट 1894-95, पृ. 78*
16. *मारवाड़ प्रशासनिक रिपोर्ट 1892-93, पृ. 52*
17. *वही, पृ. 56*
18. *मारवाड़ प्रशासनिक रिपोर्ट 1894-95, पृ. 84*
19. *मारवाड़ प्रशासनिक रिपोर्ट 1892-93, पृ. 56*
20. *वही, पृ. 57*
21. *मारवाड़ प्रशासनिक रिपोर्ट 1894-95, पृ. 85*
22. *मारवाड़ प्रशासनिक रिपोर्ट 1892-93, पृ. 160*
23. *वही, पृ. 61*
24. *मारवाड़ प्रशासनिक रिपोर्ट 1894-95, पृ. 89*
25. *मारवाड़ प्रशासनिक रिपोर्ट 1892-93, पृ. 61-62*

शेखावाटी के ठिकानेदारों के जयपुर राज्य के साथ सम्बन्ध : एक अध्ययन

डॉ. रश्मि मीना

जयपुर राज्य का राजपूताना के इतिहास में विशिष्ट स्थान रहा है, जो कि 1727 ई. में जयपुर की स्थापना से पूर्व 'आम्बेर रियासत' के नाम से जाना जाता था। आम्बेर नगर की स्थापना 1200 ई. के लगभग कछवाहा शासक काकिलदेव द्वारा की गई थी जो कि पूर्व में 'ढूंढाड़' क्षेत्र के नाम से जाना जाता था। महाभारत के समय यह क्षेत्र मत्स्य प्रदेश का एक भाग था, जिसकी राजधानी बैराठ थी। कछवाहा राजपूत आयोध्या के सूर्यवंशी राजा रामचन्द्र के पुत्र 'कुश' के वंशज माने जाते हैं। दुलहराय ने ढूंढाड़ क्षेत्र में कछवाहा राज्य की स्थापना की थी। इस समय दौसा राज्य के आधे भाग पर चौहानों तथा शेष आधे भाग पर बड़गूजरों का अधिकार था तथा इनके बीच निरन्तर संघर्ष होता रहता था। चौहान शासक सालारसिंह ने अपनी पुत्री का विवाह दुलहराय से करके उन्हें अपना राज्य सौंप दिया। इस प्रकार दुलहराय का दौसा पर अधिकार स्थापित हुआ, जो कि ढूंढ़ाड क्षेत्र में कछवाहों की प्रथम राजधानी बना। तत्पश्चात् दुलहराय ने मांची के मीणा राजाओं को पराजित कर, उन पर अपना अधिकार स्थापित किया तथा अपने पूर्वज श्रीराम के नाम पर इसका नाम रामगढ़ रखा। यहां पर उन्होंने 'रामगढ़ का किला' तथा 'जमवाय माता' का मंदिर बनवाया।[1] इसके उपरान्त उन्होंने आम्बेर की तलहटी के तीन ठिकानों - खोह, गैटोर तथा झोटवाड़ा के मीणा शासकों को पराजित कर इन क्षेत्र पर अपना अधिकार स्थापित किया। यहां पर उसने एक मजबूत किले का निर्माण करवाया। इनके उत्तराधिकारी काकिलदेव ने चाकसू तथा लवाण जीतकर तथा सुसावत मीणों के मुखिया भन्तों से आम्बेर को जीता तथा इसे अपनी राजधानी बनाया। इन्होंने यादव राजपूतों से मेड़ व बैराठ परगने छीन लिये। इनके पुत्र व उत्तराधिकारी जान्हडदेव ने भूटवाड़ा के चौहानों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये, जिन्होंने मीणा उपद्रवों का दमन करने में इनकी सहायता की तथा ढूंढ़ाड़ से मीणाओं का आतंक सदैव के लिए समाप्त हो गया। इस प्रकार नवस्थापित कछवाहा राजवंश की नींव आम्बेर रियासत में मजबूती से स्थापित हो गई।[2] राजा मानसिंह (ईस्वी सन् 1589-1614) ने आम्बेर रियासत को मुगल बादशाह से 'वतन जागीर' के रूप में प्राप्त कर शेष भू-भाग इजारे पर ले लिया तथा आम्बेर राज्य का क्षेत्र विस्तार किया। सवाई जयसिंह (ईस्वी सन् 1699-1743) कछवाहा वंश के

सर्वाधिक प्रसिद्ध शासक हुए, जिन्होंने 25 नवम्बर, 1727 ई. को जयपुर नगर की नींव रखी। इन्होंने जयपुर, वाराणसी, उज्जैन, मथुरा तथा दिल्ली में नक्षत्रों की गति का अध्ययन करने के लिए वैधशालाओं की स्थापना करवाई।[3] इनके समय की एक महत्वपूर्ण घटना 'मराठों के राजस्थान आगमन की शुरूआत होना है।' 22 अप्रैल, 1734 ई. में बूंदी की राजगद्दी के उत्तराधिकार के विवाद को लेकर प्रथम बार मराठा सरदार मल्हारराव होल्कर तथा राधोजी सिन्धिया ने हस्तक्षेप किया।[4] इसके बाद राजपूताने पर मराठा आक्रमण निरन्तर बढ़ते गए तथा इनकी अन्तिम परिणती राजपूताना की रियासतों द्वारा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ सन 1818 ई. में की गई 'मैत्री सन्धियों' के रूप में हुई, क्योंकि राजपूताना की रियासतों के शासक निरन्तर हो रहे इन मराठा आक्रमणों का सामना करने तथा इनकी बढ़ती हुई धन की मांग को पूरा करने में पूरी तरह असमर्थ थे तथा इन्होंने शीघ्रतापूर्वक अंग्रेजी संरक्षण स्वीकार कर अपनी स्वतंत्रता तथा गरिमा का स्वंय ही परित्याग कर दिया । मराठा आक्रान्त का एक सशक्त उदाहरण अगस्त, 1748 ई. को, मराठों को धन देने का वायदा पूरा न कर पाने के कारण, जयपुर के महाराजा ईश्वरी सिंह द्वारा आत्महत्या करने की घटना से स्वत: ही स्पष्ट हो जाता है।[5] मुगल-राजपूत मैत्री सम्बन्ध, मराठा आक्रमण तथा 1818 ई. में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ मैत्री सन्धि, इन प्रमुख घटनाओं ने राजपूताना के राजपूत शासकों तथा उनके सामन्तों के साथ उनके सम्बन्ध निर्धारण पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाला। क्योंकि मुगलों एवं उनके पश्चात् अंग्रेजों के साथ मित्रता स्थापित करने के पीछे इन शासकों का एक मन्तव्य अपने निरकुंश/स्वच्छंद सामन्तों पर अपना प्रभाव बनाए रखना भी था।

जयपुर राज्य के संक्षिप्त इतिहास के अध्ययन के पश्चात् यहां के शासकों के इस राज्य के ठिकानेदारों के साथ सम्बन्धों का अध्ययन भी महत्वपूर्ण है। वस्तुत: राजस्थान में सामन्तवाद 'भाई-बन्धु' अथवा 'भाई-बन्ट' की परम्परा के रूप में विकसित हुआ। जयपुर राज्य में प्रचलित सामन्तवाद भी पूर्णतया 'कुल' अथवा 'रक्त सम्बन्धों' पर आधारित था।[6] अर्थात अगर कुल प्रमुख के चार पुत्र हैं, तो उसकी जागीर का विभाजन उन्हीं में होगा, जिसमें ज्येष्ठ पुत्र राज्य का स्वामी होगा, बाकी छोटे पुत्र 'छुटभाई' या 'छुटभैया' अथवा उनके हिस्से में आने वाली जागीर के स्वामी होंगे। परन्तु यहां के शेखावाटी ठिकाना क्षेत्र में जागीरदारों के पुत्रों में भूमि का समान विभाजन किए जाने की परम्परा प्रचलित थी।[7] जयपुर रियासत के ठिकानेदारों की जागीरें मुख्य रूप से-शेखावाटी, सीकर, खेतड़ी, नवलगढ़, खण्डेला, खाचरियावास, डूंडलौद, मण्डावा, बिसाऊ, उनियारा, डिग्गी, चौमूं, मनोहरपुर, खाटू, सामोद, कानोता, नायला, कामां, दूदू, झलाई, दूनी, बागरू, अचरोल, बंसखा, धूला, ईसरहा, गीजगढ़, सेओरा, नैला, संथा, पाटन, सेवार, बीचूं, करणसर, जोबनेर, कनोटा, इत्यादि थीं।[8]

जयपुर राज्य में दूलहराय से प्रारम्भ होकर रामसिंह द्वितीय तक, जितने भी कछवाहा शासक हुए हैं, उनसे कछवाहों की 53 तड़ें (शाखाएं) प्रारम्भ हुईं, जो कि आपस में भाई-बन्धु थे तथा अपने-अपने स्तर के अनुरूप जागीरें तथा सम्मान पाते थे।[9] जयपुर रियासत में 'राजावत' ठिकाना राजघराने के सबसे निकट सम्बन्धी होने के कारण उच्चतम सम्मान प्राप्त करते थे। इनके पश्चात् आम्बेर रियासत के महाराजा पृथ्वीसिंह (सन् 1503-1527 ई.) के 19 पुत्रों में से 12 पुत्रों के नाम पर 'बारह कोटड़ियों' की स्थापना की गई। ये 'बारह कोटडियां'-'कुम्भाणी', कुम्भावत, नाथावत, खंगारोत, सुल्तानोत, पूरणमलोत, शिवब्रहापोता, चतुर्भुजोत, बलभद्रोत, कल्याणोत, पिच्याणोत इत्यादि थीं। इनमें से 'कुम्भाणी' व 'कुम्भावत' कोटड़ियां महाराजा पृथ्वीराज से पूर्व के शासकों से प्रारम्भ हुई। इनके अलावा शेखावतों, नरूकों, बांकावतों, गोगावहों की कोटड़ियां भी महत्वपूर्ण थी।[10] जयपुर रियासत में जागीरदार 'ठाकुर' कहलाते थे। कुछ लोगों को राव, राजा , रावल, रावराजा आदि नाम से सम्बोधित किया जाता था। कछवाहा राजवंश से सम्बन्धित जागीरदारों की दो श्रेणियां थीं - 'ताजीमी' तथा 'खासाचौकी'। 'ताजीमी' सरदार जब दरबार में महाराजा को 'नज़र' पेश करते थे, तब महाराज स्वयं खड़े होकर 'नज़र' लेते थे। इन सरदारों को पैर में सोना पहनने का अधिकार होता था।[11] इस श्रेणी में कछवाहा, राठौड़, भाटी, तंवर, सिसोदिया आदि वंशों के सरदार सम्मिलित थे। इन्हें विशेष संदेश भिजवाकर कभी भी दरबार में बुलाया जा सकता था तथा 'सिरोपाव' देकर विदा किया जाता था। इन्हें न्यायालय में उपस्थित न होने की छूट थी तथा राज्य के सामान्य दण्ड न्यायालयों में दरबार से स्वीकृति लेने के पश्चात् ही इन पर मुकदमा चलाया जा सकता था। इस प्रकार इन्हें कुछ विशेषाधिकार प्राप्त होते थे। परन्तु इन विशेषाधिकारों के साथ-साथ इनके कुछ कर्त्तव्य, यथा- समय-समय पर कुल प्रमुख को नज़र, पेशकश, सैनिक चाकरी एवं अन्य प्रकार के कर देना, इत्यादि भी होते थे। जयपुर रियासत के लगभग 1000 ठिकानों का विवरण मिलता है, जिन्हें 'ताजिमी' (71), 'खासाचौकी' (525), मामलागुजार, (218), कछवाहा ठिकानेदार (814, समान शाखा के), गिनयात (134, निकट संम्बन्धी) एवं अन्य (56) में वर्गीकृत किया गया है।[12] जयपुर दरबार द्वारा इन ठिकानेदारों को 'पट्टा' (आधिकारिक दस्तावेज) दिया जाता था, जिसमें इनके अधिकारों, कर्त्तव्यों तथा इनसे प्राप्त होने वाली 'रेख' (राजस्व) एवं 'चाकरी' (सेवाएं) आदि का सम्पूर्ण विवरण लिखा रहता था।

शेखावाटी जयपुर रियासत का महत्वपूर्ण ठिकाना था। यह क्षेत्र जयपुर रियासत के उत्तर में स्थित था (वर्तमान सीकर व झुंझुनु जिले)। इसका कुल क्षेत्रफल 3580 वर्गमील था। इसके मुख्य नगर-सीकर, फतेहपुर, नवलगढ़, झुंझुनु, रामगढ़, लक्ष्मणगढ़ तथा उदयपुरवाटी थे। इसका 'शेखावाटी' नाम आम्बेर नरेश उदयकरण के पौत्र तथा

मोकल के पुत्र शेखा के नाम पर पड़ा। इससे पूर्व यह क्षेत्र 'नगरचाल' के नाम से प्रसिद्ध था। शेखावत सरदार कछवाहा राजवंश से ही सम्बन्धित थे तथा इन्हें 'रावराजा' तथा 'राजा' कहा जाता था। इन्हें अपनी जागीर के भीतर खास-खास ढंग के 'अदालती' अधिकार भी प्राप्त थे। शेखावाटी क्षेत्र कछवाहा शासक सवाई जयसिंह (सन् 1699-1743 ई.) द्वारा मुगल बादशाह से इज़ारे पर प्राप्त किया गया था। 1726 ई. में स्थानीय जागीरदार इस्लाम खां से झुंझुनु परगना इज़ारे पर लिया गया। 1730 ई. में नवाब सैयद मुजफर अली खान से पांच मुगल महलों झुंझुनु, नरहर, गौनरी, बबई तथा उदयपुर को इजारे पर लिया गया तथा इन्हें तीन साल के लिए मोहनसिंह नाथावत, हरिसिंह छाबड़ा तथा शार्दूलसिंह शेखावत को 'उपइजारे' पर दे दिया गया।[13] शार्दूलसिंह उदयपुरवाटी का प्रमुख जमींदार था, जहां उसके पास 8.5 गांव तथा झुंझुनूं परगना के इज़ारे पर प्राप्त 15.5 गांव थे।[14] 1742 ई. में शार्दुलसिंह की मृत्योपरान्त (उस पर इजारा राशि बकाया होने के कारण) यह क्षेत्र खालसा प्रशासन के अन्तर्गत ले लिया गया। 1744 ई. में शार्दुलसिंह के पांच पुत्रों - अखयसिंह, किशनसिंह, केसरीसिंह, नवलसिंह, जोरावरसिंह (पंचपाना सरदार) ने बकाया इजारा राशि चुकाकर इस क्षेत्र का इज़ारा प्राप्त कर लिया। इस उपविभाजन से 1744 ई. में 'पंचपाना' की स्थापना हुई।[15] 1745 ईस्वी में अखयसिंह की मृत्यु हो जाने पर उसका ठिकाना अन्य चार भाईयों में बांट दिया गया था। शेखावाटी के ठिकानों तथा उनके विशेषाधिकारों का विवरण निम्नलिखित सारणियों (सारणी 1 एवं 2) से समझा जा सकता है-

सारणी - 1

शेखावाटी के ठिकानों का विवरण[16]

क्र.सं.	क्षेत्र	ठिकाना	कुल गांवों की संख्या	राजस्व आकलन Assessment	टिप्पणी
1.	सीकर	सीकर	429	झाड़शाही रुपये 42,459-11-6	-
2.	पंचपाना सिंघाना	खेतड़ी	212	31,257-5-0	
		बबई	27	44,000-0-0	किशनसिंहजी
		बदनगढ़	6	माधोपुरी रुपये 1,706-4-0	का पाना
		अलसीसर	6	1,706-4-0	
		हिरवा	4	853-2-0	
		सिंगरा	2	853-2-0	

		अरूका	5	1,706-4-3	
		बिसाऊ	38	9,067-12-6	केसरीसिंहजी
		सूरजगढ़	38	8,595-15-9	का पाना
		डूंडलोद	23	6,585-9-9	
		नवलगढ़	45	10,224-11-3	नवलसिंहजी
		मंडावा	30	10,629-12-0	का पाना
		जखोरा	4	2,061-13-6	
		पारसरामपुर	5	1,861-2-0	
		कोलीनाड़ा	2	930-9-0	
		इस्माइलपुर		687-3-0	
		दौरासर	5	687-6-0	
		कुम्भावास		687-4-6	
		महेन्सर	9	2,061-7-6	
		गंगियासर	6	1,970-5-6	ज़ोरावर सिंह
		डाबड़ी	6	1,970-0-3	जी का पाना
		टेन	6	1,317-8-6	
		मंडरेला	8	2,559-9-3	
		मलसीसर	13	3,008-7-0	
		डूमड़ा	11	498-14-0	
		सुल्ताना	7	2,005-0-9	
3.	खंडेला	बड़ा पाना	79	झाड़शाही रुपये	
				37,877-13-6	
		छोटा पाना	52	25,626-14-6	
4.	उदयपुरवाटी	उदयपुर पाना	6	माधोपुरी रुपये	
		गज़सिंह		643-8-0	
		उदयपुर पाना	1	1,099-13-6	
		किशोर सिंह			
		उदयपुर पाना	1	1,082-11-0	
		मोहन सिंह			
		किशोर पुरा	1	289-6-3	
		खिरोत	2	1,437-6-6	

		गुढ़ा	4	1,208-1-6
		नागल	1	1,031-4-6
		नेवरी	1	424-9-6
		चिराना	3	2,826-2-0
		चोरना	1	723-12-0
		चींचरोली	1	184-7-0
		चओसारी	1	373-9-0
		जोधपुरा	2	348-12-3
		झांझर	1	863-8-6
		दिप्पुरा	1	218-2-0
		घमोरा	1	1,084-8-0
		पंचलांगी	7	2,530-10-6
		पोंक	1	1,009-5-0
		पोसाना	1	180-6-6
		पपड़ा	2	556-13-6
		(झाजू सिंह)		
		पपड़ा	1	491-0-0
		(हुकम सिंह)		
		बाराऊ	2	1,519-1-0
		बागोली	1	802-8-9
		बाघोरा	2	794-12-9
		भोजगढ़	3 गाँवों में बंटा हुआ	250-1-6
		मानकसन्स	1	578-0-6
		माड़ावारा	2	2,551-4-0
		रसूलपुर	4	406-7-3
		सेफ्रगुड	1	296-4-9
		इंदरपुरा	1	860-14-0
5.	पाटन	पाटन	54	7,473-11-0
6.	उनियारा	उनियारा	171	38-447-6-6

सारणी – 2

ठिकानों के विशेषाधिकार[17]

क्र.सं.	ठिकाना	Outside States Custom Cordon	आबकारी अधिकार For Liquor	For Drugs	आपराधिक व न्यायिक अधिकार	ठिकाना पुलिस	आपातकाल सेना	Major Mineral	Minor Mineral
1	सीकर	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ	–	हाँ
2	खेतड़ी व अन्य पंचपाना सिंघाना ठिकाने	हाँ	हाँ	हाँ	–	–	–	–	हाँ
3	खंडेला	हाँ	हाँ	हाँ	–	–	–	–	–
4	उदयपुर वाटी	हाँ	हाँ	हाँ	–	–	–	–	हाँ
5	पाटन	हाँ	हाँ	–	–	–	–	–	हाँ
6	उनियारा	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ	–	–	हाँ

उपरोक्त सारणी से स्पष्ट है कि शेखावाटी क्षेत्र के ठिकानेदार जयपुर दरबार को एक निश्चित 'ट्रिब्यूट' तथा सैनिक सेवाएं देने के बदले में विशेष न्यायिक, सेना, पुलिस, कस्टम एवं ड्यूटी, आबकारी तथा कीमती खनिजों के उपयोग आदि सुविधाएं प्राप्त करते थे तथा स्वतंत्र/अर्द्धस्वतंत्र रूप से अपनी जागीरों में शासन कर रहे थे। अवसर पाकर इनमें से कुछ ठिकानेदारों ने अपनी स्थिति अपने ठिकानों में बहुत मजबूत कर ली थी।[18] 1925 ई. से सैनिक सेवाओं की आवश्यकता समाप्त हो जाने के कारण अब इन ठिकानेदारों से नकद राशि लेने का प्रावधान लागू कर दिया गया।

शेखावाटी के ठिकानेदारों ने मराठा आक्रमणों से सुरक्षित रहने के लिए जयपुर राज्य का इज़ारेदार बना रहना स्वीकार कर लिया था। शार्दुलसिंह व शिवसिंह ने सवाई जयसिंह को वार्षिक खिराज देना तथा जयपुर राज्य की सैनिक सहायता करना व लगान वसूली में सहायता देना स्वीकार कर लिया। इसलिए इन ठिकानेदारों को लम्बी अवधि के लिए इज़ारेदारी के अधिकार प्राप्त हो गये, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलते रहे।[19] शेखावाटी तथा जयपुर राज्य के मध्य एक समझौता हुआ, जिसके अनुसार शेखावतों ने भविष्य में जयपुर के साथ अपने सम्बन्धों की शर्तों को तय किया। इस समझौते में निम्नलिखित प्रावधान थे[20]–

(1) शेखावत खुशी से जो खिराज दें, उससे अधिक लेने के रियासत के अधिकार को

अदालत स्वीकार कर दे,

(2) जयपुर महाराजा की सेना 'शेखावाटी संघ' की सीमा में प्रवेश नहीं करेगी,

(3) शेखावतों को फौज़ी नौकरी देने से मना किया गया है, सिर्फ उन मौकों को छोड़कर, जबकि उन्हें नौकरी की तनख्वाहें न मिलती हों ।

(4) ठिकानों के कार्यों में अतिरिक्त हस्तक्षेप नहीं होगा, जब तक कि शेखावत नियमित खिराज देते रहें ।

गगवाना के युद्ध (8 जून, 1741 ई., जयपुर शासक सवाई जयसिंह तथा जोधपुर शासक अभयसिंह व बख्तसिंह के मध्य) में झुंझुनु के शार्दुलसिंह व सीकर के शिवसिंह ने सवाई जयसिंह की सहायता की। खेतड़ी के पास मावंडा नामक स्थान पर जयपुर नरेश माधोसिंह व भरतपुर नरेश राजा जवाहरसिंह के मध्य हुए युद्ध में भी शेखावाटी के ठिकानेदारों ने जयपुर नरेश की सहायता की।[21] कृष्णा कुमारी (मेवाड़ की राजकुमारी) के विवाद पर जयपुर व जोधपुर के मध्य लड़े गए युद्ध में भी शेखावतों ने जयपुर राज्य की सहायता की तथा 'खेडा' नामक स्थान पर जयपुर के प्रतिनिधियों व शेखावतो के मध्य एक सन्धि हुई जिसमें निम्नलिखित प्रावधान रखे गए[22]–

(1) जयपुर राज्य, शेखावतों के मुखिया- खण्डेला के दोनों राजाओं (वृन्दावनदास व नरसिंहदास) को मुक्ति दे देंगे।

(2) जब तक शेखावत जयपुर को नियत कर अदा करते रहेंगे उनके आन्तरिक प्रशासन में कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाएगा।

(3) जो शेखावत युद्ध में जयपुर राज्य की मदद के लिए जाएंगे, उनका खर्चा जयपुर राज्य देगा।

जयपुर महाराजा जगतसिंह ने इस संधि पर हस्ताक्षर कर दिये। स्पष्ट है कि कई अवसरों पर शेखावाटी के ठिकानेदारों ने कई युद्धों में जयपुर राज्य को अभूतपूर्व सहयोग दिया। 1818 ई. में जयपुर के महाराजा सवाई जगतसिंह तथा अंग्रेजों के मध्य मैत्री सन्धि हुई, जिसके अुनसार शेखावाटी के ठिकानों पर जयपुर दरबार का पूर्ण आधिपत्य स्वीकार किया गया तथा ठिकानेदारों के साथ विवाद की स्थिति में अंग्रेजों की मध्यस्थता को स्वीकार कर लिया गया।[23] अब शेखावाटी का क्षेत्र, जयपुर राज्य तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के दोहरे शासन के अन्तर्गत आ गया तथा यहां की जनता तिहरे शासन के अन्तर्गत आ गई। जयपुर की केन्द्रीय शक्ति के ह्रास के परिणामस्वरूप शेखावाटी के ठिकानेदार अब आपस में लड़ने लगे तथा जयपुर राज्य को नज़राने व पेशकश की रकमें अदा करने में आनाकानी करने लगे। इस क्षेत्र में अराजकता एवं अशांति का वातावरण बनने लगा।

शेखावाटी क्षेत्र में चोरी-लूटपाट की घटनाओं में निरन्तर हो रही वृद्धि को देखते हुए कर्नल लॉकेट की रिपोर्ट के आधार पर 1834 ई. में कर्नल हेनरी फोरेस्टर के नेतृत्व में नसीराबाद छावनी से एक तोपखाना व घुड़सवारों सहित ब्रिटिश सेना की ब्रिगेड शेखावाटी भेजी गई, जिसे 'शेखावाटी ब्रिगेड' कहा गया।[24] इसका मुख्यालय झुंझुनु में रखा गया। 1836-37 ई. को 'शेखावाटी ब्रिगेड' को जयपुर राज्य के अधीन कर, उसके मेजर फोरेस्टर को लेफ्टीनेंट की पदवी के साथ शेखावाटी के भीतर मजिस्ट्रेट के अधिकार दे दिए गए। फोरेस्टर ने चोरों व डाकुओं को शरण देने वाले ठाकुरों के गढ़ और किले नष्ट कर दिए तथा इस ब्रिगेड का खर्चा भी शेखावाटी सरदारों से वसूल किया।[25] मजिस्ट्रेटी अधिकार होने से जयपुर रीजेन्सी तथा शेखावत सरदारों का फोरेस्टर से झगड़ा चलता रहा। अत: 1843 ई. में शेखावाटी ब्रिगेड तोड़ दी गई तथा एक पैदल सिपाहियों की रेजीमेन्ट यहां रखी गई और उसका खर्चा भी अंग्रेज सरकार ने अपने ऊपर ले लिया।[26] 1843 ई.में मेजर थोर्सबी (अंग्रेज रेजीडेन्ट) ने शेखावाटी के ठिकानेदारों के न्यायिक अधिकार सीमित कर दिए थे।

शेखावाटी के ठिकानेदारों की जागीरें उनके वंशजों में निरन्तर बंटते हुए बहुत छोटी-छोटी रह गई थीं तथा बड़े ठिकानों में उत्तराधिकार सम्बन्धी विवाद भी बढ़ने लगे थे, जिससे जयपुर राज्य को इन ठिकानों के उत्तराधिकार सम्बन्धी झगड़े तय करने का अवसर मिलता रहा, बल्कि अल्पवयस्क उत्तराधिकारी होने पर जयपुर राज्य द्वारा उन ठिकानो में 'मुसाहिब' भी नियुक्त किये जाने लगे। जयपुर सरकार की अवज्ञा करने पर उनकी जागीरें भी जब्त कर ली जाती थी तथा उन पर जुर्माना भी कर दिया जाता था।[27] इस प्रकार जयपुर रियासत का अंकुश शेखावाटी के ठिकानों पर निरन्तर बढ़ता गया। अपने उत्तराधिकारियों में बंटते-बंटते अधिकाशं ठिकाने बहुत छोटे होते गये तथा इनमें इतनी क्षमता नहीं रह गई थी कि ये अपने ठिकानों का प्रशासन संचालित कर सकें तथा चोर-डाकुओं पर नियंत्रण स्थापित कर शान्ति-व्यवस्था कायम कर सकें। ऐसी स्थिति में, खेतड़ी को छोड़कर, पंचपाना ठिकानों के फौज़दारी , दीवानी तथा पुलिस आदि अधिकार जयपुर महाराजा द्वारा अपने अधिकार क्षेत्र में ले लिए गए तथा इस हेतु 1868 ई. में झुंझुनु में 'निजामत' कायम कर दी गई।[28] 26 जुलाई, 1882 ई. के जयपुर दरबार के एक आदेशानुसार अब शेखावाटी के ठिकानेदारों को 'रोज-नामचा' (डायरी) लिखने के आदेश दिये गये, जिसमें प्रतिदिन इनके क्षेत्रों में घटित होने वाली आपराधिक घटनाओं का विवरण लिखना एवं उसे जयपुर दरबार को प्रेषित करना अनिवार्य कर दिया गया।[29]

'निजामत' का सबसे बड़ा अफसर 'नाजिम' होता था, जिसे जयपुर महाराजा द्वारा नियुक्त किया जाता था। 'दीवानी' तथा 'फौजदारी' महकमे 'निजामत' के अन्तर्गत आते थे। प्रत्येक बड़े ठिकाने का 'वकील' तथा छोटे ठिकानों व जागीरदारों का

प्रतिनिधि एक ही वकील निजामत में रहता था। ठिकानों के सभी मामलें झुंझुनुं निजामत में पेश किए जाता थे तथा जिन मामलों का समाधान यहां नहीं हो पाता था, उन्हें जयपुर न्यायालय में भेजा जाता था। सीकर व खेतड़ी ठिकानों को छोड़कर, शेखावाटी क्षेत्र में शान्ति व व्यवस्था कायम करने हेतु जयपुर राज्य द्वारा जगह-जगह पुलिस थाने भी स्थापित किए गए थे। शेखावाटी के ठिकानेदारों ने दिनांक 13 सितम्बर, 1882 ई. को जयपुर रेजीडेंट को पत्र लिखकर इस निर्णय का विरोध किया तथा पुरानी व्यवस्था पुन: कायम करने का अनुरोध किया।[30] जयपुर रियासत द्वारा इस क्षेत्र से कर संग्रह हेतु 'नागा साधुओं' (दादूपंथी) की सेना रहती थी, जो बहुत क्रूरतापूर्वक किसानों से लगान वसूली करती थी। इस क्षेत्र से प्राप्त आय निजामत झुंझुनुं में जमा होती थी। इस निजामत में जयपुर रियासत की दो सैनिक टुकड़ियां रहती थी, जो जेल व खजाने के प्रहरी भी होते थे। झुंझुनुं में जयपुर रियासत की ओर से एक अच्छा 'रिसाला' भी रहता था, जिसमें चौमू, सामोद, शाहपुरा आदि के अच्छे घुड़सवार रहते थे। 'रिसाले' के मुखिया को 'रिसालेदार' कहा जाता था।[31] स्पष्ट है कि समय के साथ शेखावाटी के ठिकानेदारों पर जयपुर राज्य का मजबूत नियंत्रण स्थापित हो गया था। सीकर व खेतड़ी ठिकाना की अपनी स्वयं की न्याय, पुलिस व सेना होती थी। इस प्रकार शेखावाटी का क्षेत्र दोहरे शासन के अन्तर्गत बना रहा। एक तरफ जयपुर की शासन सत्ता थी और दूसरी तरफ शेखावाटी के सरदारों का निरंकुश नियंत्रण। आगे चलकर शेखावाटी के सरदारों व जयपुर दरबार के बीच 'जकात' (Costum duty) को लेकर विवाद उत्पन्न हो गया तथा इस विवाद ने कानूनी रूप ले लिया। जयपुर राज्य ने जयपुर असाधारण गजट संख्या 4605 (18 नवम्बर, 1933) द्वारा मिस्टर सी.यू. विल्स (C.I.E., I.C.S., Retired) के निर्देशन में एक कमेटी गठित की, जिसे जयपुर दरबार एवं शेखावाटी के पांच ठिकानों - पंचपाना-सिंघाना, खेतड़ी, सीकर, खंडेला, उदयपुरवाटी, पाटन एवं उनियारा के सम्बन्धों एवं अधिकारों के विषय में पुनरावलोकन कर रिपोर्ट प्रस्तुत करने का उत्तरदायित्व दिया गया।[32] मिस्टर विल्स ने स्पष्ट कर दिया कि ठिकानेदार कभी भी शेखावाटी पर काबिज नहीं रहे थे। ठिकानेदारों द्वारा इस रिपोर्ट का विरोध किया गया तथा यह विवाद अनिर्णित ही रहा।[33]

शेखावाटी में रहने वाली किसान जातियों में जाट, गूजर, अहीर, माली व क्यामखानी मुख्य थे, जिनमें अधिक संख्या जाट किसानों की थी (लगभग 2,500,000)। इसलिए अधिक लगान, लागबाग, बेगार आदि का भार उन पर सबसे अधिक था। इनके अतिरिक्त ठिकानेदारों ने उदक,ईनाम, मिलक, भौम आदि के रूप में अपने कर्मचारियों तथा ब्राहाणों को करमुक्त भूमि (बाढ/माफी) भी दे रखी थी। परिणामस्वरूप शेखावाटी में - माफीदार, बाढ़दार, उदीकी, भौमिया आदि का एक नया वर्ग विकसित हुआ जो किसानों का सर्वाधिक शोषक वर्ग साबित हुआ तथा इन पर जयपुर सरकार का नियंत्रण

भी नगण्य ही था । 1914 ई. के प्रथम विश्व युद्ध में शेखावाटी के बहुत से व्यक्ति सेना में भर्ती हुए तथा युद्धोपरान्त जब वे पुन: अपने गावों में लौटे तो धन एवं बाहरी ज्ञान/चेतना भी अपने साथ लेकर आए। इस वर्ग की समाज सेवा तथा जाति उत्थान हेतु पूर्ण सहयोग किया। 1921 ई. में जब महात्मा गांधी एक राजनीतिक सम्मेलन में भाग लेने भिवानी आए तब शेखावाटी से लोगों का एक दल भी भिवानी गया था।[34] वापस आकर इन्होंने 'तिलक सेवा समिति' स्थापित की तथा शेखावाटी क्षेत्र में रचनात्मक कार्यक्रमों की शुरूआत की। अक्टूबर, 1925 ई. में पुष्कर में 'अखिल भारतीय जाट महासभा' का वार्षिक अधिवेशन, भरतपुर के जाट शासक 'कृष्णसिंह' के नेतृत्व में हुआ, जिसमें शेखावाटी के जाट किसानों ने बढ़-चढ़कर भाग लिया। धीरे-धीरे यहां के किसानों में राजनैतिक जागृति आने लगी तथा उन्होंने जागीरदारों द्वारा किए जा रहे शोषण, अत्याचारों, बेगार, लाग-बाग आदि के विरुद्ध आवाज उठाना प्रारम्भ कर दिया। समय के साथ ये किसान आन्दोलन तीव्र होते गए तथा अब शेखावाटी के लगभग सभी क्षेत्रों के किसान जागीरदारों के विरुद्ध आवाज उठाने लगे थे। इस जनजागरण में 'राजस्थान सेवा संघ', 'जाट सभा', आर्य समाज (मण्डावा), 'अखिल भारतीय जाट महासभा', इत्यादि राजनीतिक संस्थाओं तथा इनके कार्यकर्त्ताओं ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। साथ ही यहां के घनाढ्य घरानों - बिड़ला, पोद्दार, कानोडिया, रूइया और सोमानी इत्यादि ने यहां बड़े स्तर पर शिक्षण संस्थान स्थापित कर शिक्षा का प्रसार किया।

जयपुर राज्य तथा अंग्रेज अधिकारी सर बीचम (उपाध्यक्ष, स्टेट कौंसिल, जयपुर), एफ.एस.यंग (आई.जी.पी., जयपुर) ने शेखावाटी के जागीरदारों को हतोत्साहित करने के लिए जाट किसान नेताओं को अप्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहित किया, क्योंकि ये जागीरदार जयपुर सरकार की अवहेलना करते थे तथा उनके आदेशों का पालन नहीं करते थे। परन्तु 1939 ई. में जब शेखावाटी किसान संघर्ष, जयपुर राज्य प्रजामण्डल के साथ जुड़ गया तब जयपुर सरकार की सहानुभूति शेखावाटी के किसान आन्दोलनों से हट गई तथा वह अब इन आन्दोलनों का दमन करने लगी।[35] जयपुर राज्य ने शेखावाटी के किसानों के साथ पूरा न्याय नही किया तथा किसानों को न्याय पाने के लिए बार-बार आन्दोलन करने पड़े । कभी लगान में कमी करवाने के लिए , तो कभी जोहड़ों, पेड़ों तथा लूंग पाले पर अधिकार के लिए किसानों को बार-बार जयपुर दरबार से न्याय करने की मांग की गई। परन्तु जयपुर दरबार द्वारा सदैव ही जागीरदारों के पक्ष निर्णय लिए गए तथा जागीरदार निरन्तर किसानों का शोषण करते रहे। जयपुर सरकार द्वारा, किसान आन्दोलनों के दबाव में, शेखावाटी क्षेत्र में भूमि बन्दोबस्त की स्थायी दरें निर्धारित करने हेतु सेटलमेंट कमीशन भी नियुक्त किए गए तथा इन क्षेत्रों में भूमि की पैमाइश भी करवाई गई। परन्तु यहां के जागीरदारों ने जयपुर दरबार के आदेशों की पूर्ण अवहेलना की तथा पूर्ववत्

किसानों का शोषण करना जारी रखा। 27 अगस्त, 1943 ई. को 'शेखावाटी-तोरावाटी राजपूत सभा' (जागीरदारों की सभा) ने जयपुर दरबार के प्रधानमंत्री को पत्र लिखा, कि[36]-

(1) जयपुर सरकार को शेखावाटी में लगान तय करने का अधिकार नहीं है। शेखावाटी के सरदारों को भूमि सम्बन्धी सब अधिकार हैं। पुरानी परम्परा तथा अधिकार के अनुसार तथा मेजर थोर्सबी के 1843 ई. के निर्णयानुसार शेखावाटी के सरदारों को उपज का आधा हिस्सा किसानों से लेने का अधिकार है। अत: उनके अधिकारों में सरकार हस्तक्षेप न करे।

(2) सभी प्रकार के वृक्षों पर जागीरदारों का अधिकार है तथा किसान बिना उनकी अनुमति के वृक्ष नहीं काट सकते।

(3) वे जोहड़, जिनका उपयोग आम लोग करते हैं, किसान भी अपने पशुओं को पानी पिलाने तथा उन्हें चराने के लिए काम में ले सकते है। लेकिन जो जोहड़ घोड़ों तथा ठिकाने के पशुओं को चराने के लिए सुरक्षित रखे गए हैं, वहां से घास तथा अन्य पैदावार लेने का ठिकानेदारों का अधिकार है।

(4) छोटे जागीरदारों, जिनकी भूमि 1000 बीघा तक है, उनका बन्दोबस्त नहीं होना चाहिए और वे भूमि जागीरदारों के 'खुदकाश्त' में दर्ज होनी चाहिए।

साथ ही इन जागीरदारों ने एक कमेटी नियुक्त करने की मांग भी की, जिसमें 'शेखावाटी-तोरावाटी राजपूत सभा' के प्रतिनिधि तथा सरकारी सदस्य हो, जो उनकी बन्दोबस्त सम्बन्धी शिकायतों को सुन सके। सितम्बर, 1943 ई. में शेखावाटी तथा उदयपुरवाटी के भौमियों ने इकट्ठा होकर भूड़की नामक स्थान पर सशस्त्र प्रदर्शन किया तथा तहसील नाजिम व पुलिस अधिकारियों का मुकाबला किया। इनका मुकाबला करने के लिए जयपुर सरकार द्वारा तोपें व फौज़ी रिसाले भेजे गए तथा अतिरिक्त पुलिस तैनात की गई। 3 दिसम्बर, 1943 ई. को ठाकुर दुल्हसिंह को शेखावाटी का स्पेशल सेटलमेंट कमीश्नर नियुक्त किया गया। 13 जनवरी, 1944 ई. को एक स्पेशल कमेटी जयपुर सरकार द्वारा नियुक्त की गई, जिसमें चेयरमैन प्रधानमंत्री के अलावा रेवेन्यू मिनिस्टर, आर्मी मिनिस्टर, रेवेन्यू बोर्ड के सदस्य तथा 'शेखावाटी-तोरावाटी राजपूत सभा' के सात प्रतिनिधि सम्मिलित थे।[37]

जयपुर सरकार ने इस बार भी शेखावाटी के ठिकानेदारों का पक्ष लिय तथा कृषकों को पूरी तरह उनकी दया पर निर्भर छोड़ दिया। इस स्पेशल कमेटी ने 7 जून, 1944 ई. को अपनी रिपोर्ट जयपुर सरकार के समक्ष प्रस्तुत की, जिसमें - चाही जमीन पर लगान बढ़ाने, बन्दोबस्त हो जाने के बावजूद ठिकानेदारों की भूमि सम्बन्धी शिकायतें

सुनने, पेड़ों पर जागीरदारों का अधिकार होने, पानचराई व खूंटाबन्दी की लागें वसूल करने, प्राकृतिक उपज पर लगान लेने, गांवों के नजदीक के अलावा बाकी जोहड़ पर ठिकानों का अधिकार होने सम्बन्धी सिफारिशें थीं।[38]

ये सभी सिफारिशें जागरिदारों के पक्ष में थी, क्योंकि इसमें किसानों का कोई प्रतिनिधि सम्मिलित नहीं था। जयपुर सरकार ने 8 जून, 1945 ई. को एक आदेश जारी कर उक्त सिफारिशों को मान लिया तथा जागीरदारों के हाथ और मजबूत कर दिया। इन आदेशों के पश्चात् जागीरदार किसानों को उनकी जोतों से बेदखल करने लगे तथा जयपुर सरकार ने 'बेदखली अधिकारी' (Ejectment Officer) नियुक्त कर दिया। जयपुर राज्य प्रजामंडल के निर्देशन मे शेखावाटी के किसानों ने करबंदी आन्दोलन तेज कर दिया तथा ठिकानेदारों व जयपुर दरबार को खुली चुनौती दी।[39] जागीरदारों का व्यवहार किसानों के प्रति निरन्तर कठोर होता जा रहा था, तथा किसानों को भी न्याय मिलने की कोई उम्मीद नहीं थी। 15 मार्च, 1946 ई. को केबिनेट मिशन नियुक्त करने की घोषणा के उपरान्त अब किसान जागीरदारी व्यवस्था को समाप्त करने का आन्दोलन करने लगे। केबिनेट मिशन ने ब्रिटिश भारत की आजादी तथा देशी रियासतों के आत्मनिर्णय के अधिकार को मंजूरी दी।[40] अत: 'राजतंत्र एवं सामन्तवाद की समाप्ति कर प्रजातांत्रिक सरकार की स्थापना' इन किसान आन्दोलनों का लक्ष्य बन गया।

30 दिसम्बर, 1946 ई. को जयपुर महाराजा ने प्रजामंडल के साथ समझौता कर लिया तथा जयपुर राज्य प्रजामंडल ने जयपुर महाराजा की छत्रछाया में 1 जनवरी, 1947 ई. को 'उत्तरदायी सरकार' का गठन किया। हीरालाल शास्त्री जी इस सरकार के मुख्यमंत्री तथा टीकाराम पालीवाल जी राजस्व मंत्री नियुक्त हुए। इन्होंने शेखावाटी सहित सम्पूर्ण जयपुर राज्य की जागीरों में शीघ्रातिशीघ्र भूमि-बन्दोबस्त करने आदेश दिये। जयपुर सरकार ने 25 जनवरी, 1947 ई. को 'जागीर भूमि किराया अधिनियम' (Jaipur Jagir Land Tenancy Act, 1947) पारित किया तथा जागीर क्षेत्र के किसानों को भूमि अधिकार प्रदान किये गये।[41] 15 अगस्त, 1947 ई. को भारत स्वतंत्र हुआ तथा 30 मार्च, 1949 ई. को जयपुर राज्य का विलय 'संयुक्त राजस्थान' में कर दिया गया। 6 जून, 1949 ई. को राजस्थान सरकार ने 'राजस्थान किसान सुरक्षा अधिनियम' पारित किया। 20 अगस्त, 1949 ई. को भारत सरकार ने श्री गोविन्द वल्लभ पंत की अध्यक्षता में 'राजस्थान-मध्य भारत जागीर जांच समिति' का गठन किया, जिसने दिसम्बर, 1949 ई. को प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में जागीरदारी व्यवस्था समाप्त किये जाने का प्रस्ताव रखा। 1952 ई. में राजस्थान सरकार ने 'राजस्थान भूमि सुधार एवं जागीरदारी अधिग्रहण अधिनियम' पारित किया, जिसके साथ ही जागीरदारी व्यवस्था सदैव के लिए समाप्त हो गई। 1955 ई. में 'राजस्थान भूमि किराया अधिनियम' पारित हुआ, जिससे किसानों को

भूमि अधिकार प्राप्त हुए[42] तथा लम्बे किसान संघर्ष के पश्चात् किसानों को स्वतंत्र रूप से खेती करने एवं सम्मानजनक रूप से जीवनयापन के अधिकार प्राप्त हुए।

अन्तत: कहा जा सकता है कि जयपुर दरबार एवं शेखावाटी के ठिकानेदारों के सम्बन्धों के निर्धारण में आम्बेर-मुगल मैत्री सम्बन्धों, मराठा आक्रमणों, ईस्ट इंडिया कम्पनी के साथ की गई सहायक संधियों तथा किसान एवं प्रजामंडल आन्दोलनों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। जहां जयपुर दरबार निरंतर इन ठिकानों पर अपना नियंत्रण बनाये रखने के लिए प्रयासरत रहा, वहीं शेखावाटी के ठिकानेदार अपना स्वच्छंद व्यवहार करने का प्रयास करते रहे। परन्तु परिस्थितिवश दोनों ही पक्षों को एक दूसरे का सहयोग करते रहना पड़ा तथा इस नीति का सर्वाधिक दुष्प्रभाव शेखावाटी क्षेत्र की आम जनता एवं किसानों पर पड़ा।

सन्दर्भ

1. *गुप्ता सावित्री, राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गैजेटियर, जयपुर, 1987, पृ. 26*
2. *वही, पृ. 26*
3. *रत्नावत, डॉ. श्याम सिंह, राजपूत नोबेलिटी (विद स्पेशल रेफरेन्स टू दी कछवाहा नोबिलिटी ऑफ जयपुर, ड्यूरिंग 1700-1858 ए.डी.), पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 1989, पृ. 31*
4. *डॉ. विनीता परिहार, राजस्थान में प्रजामंडल आन्दोलन, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2008, पृ. 2*
5. *एम.एल. शर्मा, हिस्ट्री ऑफ दी जयपुर स्टेट, इन्स्टीट्यूट ऑफ हिस्टोरिकल रिसर्च, जयपुर, 1969, पृ. 170-171*
6. *जी.एस. शर्मा, जयपुर के देशी नरेश, बनारस, 1942, पृ. 31, रा.रा.अ., बीकानेर (ऑनलाईन पोर्टल)*
7. *जी.एस. शर्मा, जयपुर के देशी नरेश, बनारस, 1942, पृ. 33, रा.रा.अ., बीकानेर (ऑनलाईन पोर्टल)*
8. *वही, पृ. 35*
9. *रत्नावत, डॉ. श्यामसिंह, राजपूत नोबिलिटी , पृ. 31*
10. *पूर्वोक्त, जी.एस. शर्मा, जयपुर के देशी नरेश, पृ. 32*
11. *वही, पृ. 31*
12. *रत्नावत , डॉ. श्याम सिंह, ठिकाना डॉक्यूमेंटस ऑफ जयपुर स्टेट (शोध पत्र), 'दी हिस्टोरियन एण्ड सोर्सेज ऑफ दी हिस्ट्री ऑफ राजस्थान', सेंटर फॉर राजस्थान स्टडी, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर , 1992, पृ. 175*
13. *सी.यू. विल्स, ए रिपोर्ट ऑन दी लैण्ड - टैन्योर्स एण्ड स्पेशल पॉवर्स ऑफ सर्टेन ठिकानेदार्स ऑफ दी जयपुर स्टेट (18 नवम्बर, 1833), जयपुर, पृ. 45, रा.रा. अ., बीकानेर (ऑनलाईन पोर्टल)*
14. *विल्स रिपोर्ट, पूर्वोक्त, पृ. 46*

15. *विल्स रिपोर्ट, पूर्वोक्त, पृ. 47*
16. *विल्स रिपोर्ट, पूर्वोक्त, पृ. 133, 134, 135*
17. *विल्स रिपोर्ट, पूर्वोक्त, पृ. 136*
18. *फॉरेन एण्ड पॉलिटिकल डिपार्टमेंट, फाईल नं. 332 (2)- G/32,1932, राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली, पृ. 2*
19. *हरफूल सिंह आर्य, शेखावाटी के ठिकानों का इतिहास एवं योगदान, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 1987, पृ. 107*
20. *वही, पृ. 107, 108*
21. *विल्स रिपोर्ट, पूर्वोक्त, पृ. 32*
22. *हरफूल सिंह आर्य, शेखावाटी के ठिकानों का इतिहास एवं योगदान, पृ. 111*
23. *विल्स रिपोर्ट, पूर्वोक्त, पृ. 131*
24. *डॉ. पेमाराम, शेखावाटी के किसान आन्दोलन का इतिहास, श्री गणेश सेवा समिति, नागौर, 1990, पृ. 7*
25. *विल्स रिपोर्ट, पूर्वोक्त, पृ. 66*
26. *डॉ. पेमाराम, शेखावाटी के किसान आन्दोलन का इतिहास, पृ. 8*
27. *वही, पृ. 8*
28. *विल्स रिपोर्ट, पूर्वोक्त, पृ. 42*
29. *फॉरेन डिपार्टमेंट, फाईल नं. 175 - G, October, 1882, राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली, पृ. 3*
30. *वही, पृ. 9*
31. *हरफूल सिंह आर्य, शेखावाटी के ठिकानों का इतिहास एवं योगदान, पृ. 128*
32. *विल्स रिपोर्ट, पूर्वोक्त, पृ. 1*
33. *हरफूल सिंह आर्य, शेखावाटी के ठिकानों का इतिहास एवं योगदान, पृ. 128*
34. *वही, पृ. 28-29*
35. *वही, पृ. 39*
36. *वही, पृ. 195*
37. *डॉ. पेमाराम, शेखावाटी के किसान आन्दोलन का इतिहास, पृ. 196*
38. *वही, पृ. 198*
39. *प्रो. बृजकिशोर शर्मा, सामन्तवाद एवं किसान संघर्ष, जयपुर, 1992, पृ. 150*
40. *वही, पृ. 155*
41. *वही, पृ. 156*
42. *वही, पृ. 156*

राजस्थान का जलियाँवाला बाग : मानगढ़ धाम

डॉ. उषा लामरोर

13 अप्रेल, 1919 को अंग्रेजों द्वारा पंजाब प्रांत में जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड को अंजाम दिया गया था। जिसकी देश भर में निंदा की गई और हमारे स्वतंत्रता सेनानियों द्वारा इसका कड़ा विरोध व भर्त्सना की गई थी। ब्रिटिश शासन काल में ऐसी अनेकों घटनाएँ हुई जिनकों न तो समसामयिक समाचार पत्रों में जगह मिली और न ही इतिहास में जलियाँवाला बाग जैसा स्थान मिल सका। ऐसी ही एक घटना राजस्थान के आदिवासी बहुल क्षेत्र वागड़ में हुई थी, जिसे मानगढ़ हत्याकांड के नाम से जाना जाता है। इस हत्याकाण्ड में सैकड़ों निर्दोष आदिवासी मारे गए थे।[1] इसलिए इसे राजस्थान का जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड के नाम से भी जाना जाता है। मानगढ़ की यह घटना मानगढ की पहाड़ी पर घटित हुई जो कि वर्तमान में राजस्थान के बाँसवाड़ा जिला मुख्यालय से 70 किलोमीटर दूर आनंदपुरी उप-खंड में राजस्थान व गुजरात की सीमा पर $23^0$20' से $23^0$22' अक्षांश तथा 70^0 से $74^0$21' देशान्तर पर स्थित है। मानगढ़ पहाड़ के उत्तर में कडाणा बाँध स्थित है। पहाड़ का क्षेत्रफल लगभग 10 वर्ग किमी. है। श्री गोविन्द गुरु के नेतृत्व में अपनी मांगों के लिए एकत्र हुए हजारों आदिवासियों पर अंग्रेजी सेना द्वारा की गई कार्यवाही में हताहतों की संख्या भी हजारों में रही थी।[2]

आदिवासी भीलों के मौखिक इतिहास व अभिलेखागारीय स्रोतों के अनुसार आदिवासी नेता व समाज सुधारक श्री गोविन्द गुरु ने भीलों के सशक्तिकरण के लिए संप सभा की स्थापना की और 'भगत आंदोलन' चलाया, जिसके तहत भीलों को मांसाहार छोड़कर शाकाहार को अपनाना व हर प्रकार के नशे से दूर रहना, शारीरिक सफाई पर ध्यान देना, प्रतिदिन हवन करना, अपने बच्चों का पढ़ाना इत्यादि सामान्य नियमों का पालन करना होता था।[3] गोविन्द गुरु से प्रभावित होकर भीलों ने अंग्रेजों की दमनकारी नीतियों का विरोध करते हुए बाँसवाड़ा, डूँगरपुर, कुशलगढ़ व संतरामपुर रियासतों द्वारा करवाई जाने वाली जबरन बंधुआ मजदूरी व बेगार के विरुद्ध विद्रोह कर दिया।[4]

गोविन्द गुरु ने आदिवासियों के बीच अपना आंदोलन 1890 के दशक में शुरू किया। अनुयायियों को अग्नि के समक्ष खड़े होकर पूजा व हवन करना होता था। गोविन्द गुरु ने 1903 ई. में अपनी पहली धूनी मानगढ़ पहाड़ी पर स्थापित की और अपनी

मांगे रखी। जिनमें मुख्य मांगें अंग्रेजों व रजवाड़ों द्वारा कराई जाने वाली बंधुआ मजदूरी, भारी लगान तथा आदिवासियों का उत्पीड़न शामिल थे। रजवाड़ों व अंग्रेजों ने ये मांगें मानने से मना कर दिया और भीलों के आंदोलन को कुचलने में लग गए।[5] अब गोविन्द गुरु के नेतृत्व में भीलों के संघर्ष ने एक निर्णायक मोड़ ले लिया।

बाबा गोविन्द गुरु के नेतृत्व में अब मानगढ़ की पहाड़ी पर हजारों की संख्या में भील आदिवासी महिलाओ व बच्चों सहित एकत्र होने लगे। इनके पास तलवारें, तीर, धनुष व बंदुकें थीं। बांसवाड़ा व सूंथ राज्य इसे अपने लिए एक बड़ा खतरा मान रहे थे। अत: अंग्रेजों के सहयोग से इस आंदोलन को यथाशीघ्र कुचलना चाहते थे। भीलों पर चारों ओर से पहाड़ी को खाली करने का दबाव बनाए जाने लगा। आदिवासियों की ओर से गुस्से की पहली घटना तब घटी जब सूंथ राज्य की ओर से मानगढ़ की पहाड़ी पर क्या हो रहा है? इसकी जानकारी के लिए भेजे गए दो सिपाहियों में से एक को मार दिया (गुल मोहम्मद) और दूसरे को कैद कर लिया गया।[6] एक नवंबर, 1913 को भीलों ने सूंथ रामपुर के किले पर धावा बोल दिया जहाँ पर 15 पुलिस सिपाही व एक थानेदार तैनात थे। इस हमले में एक भील मारा गया। इस हमले में भीलों द्वारा किले के दरवाजे को कुल्हाड़ियों से काटने की नाकाम कोशिश की गई। इसके बाद 3 नवंबर को भीलों ने भामंरी गांव को लूट लिया, लेकिन भामंरी गांव के मुखिया ने मानगढ़ के भीलों का साथ देने से इन्कार कर दिया।[7]

9 नवंम्बर, 1913 को रेवा कांठा के राजनीतिक एजेन्ट, कमिश्नर उत्तरी डिवीजन व बोम्बे तथा गोधरा के पुलिस अधीक्षक व एजेन्सी के 50 पुलिस जवानों के साथ प्रतापगढ़ किले की ओर रवाना हुए। इसी दिन पोलिटिकल एजेन्ट रेवा कांठा ने गोविन्द गुरु को एक पत्र लिखा जिसका असंतुष्ट जवाब दूसरे दिन 10 नवंबर को मिला।[8] तब कमिश्नर ने बड़ौदा में 104 वेलेजली रायफल्स को टेलिग्राफ भेजकर एक मशीनगन सहित एक सैनिक टुकड़ी सातवीं राजपूत रेजीमेंट अहमदाबाद से मंगवाई। 11 नवंबर को दक्षिणी राजपूताना के राजनीतिक एजेन्ट मेजर हेमिल्टन बांसवाड़ा के महाराजा पृथ्वीसिंह से आ मिले जो पहले से ही केप्टन स्टोकले व मेवाड़ भील कोर के साथ अग्रिम दस्ते में मानगढ़ में मौजूद थे। 12 नवंबर को केप्टन स्टोकले की मुलाकात मानगढ़ पहाड़ी के कुछ भीलों से हुई जिन्होंने देशी रियासतों के राजाओं के विरुद्ध बहुत सी शिकायतें की थी।[9] इसी दिन गोविन्द गुरु के हस्ताक्षर युक्त 33 सूत्री मांगपत्र रेवाकांठा के राजनीतिक एजेन्ट को मिला, जिसमें देशी रियासतों के विरुद्ध इन शिकायतों को दूर करने का निवेदन किया गया था।[10] केप्टन स्टोकले व रेवाकांठा के राजनीतिक एजेन्ट तथा भीलों की मांगों को लेकर बातचीत हुई परन्तु वे बिना किसी नतीजे के समाप्त हो गई।[11] इसी दौरान ब्रिटिश सरकार व रियासती सेनाओं की मानगढ़ में तैनाती के कारण भीलों का

आक्रोश व गुस्सा बढ़ रहा था। 13 नवंबर को यह अंग्रेजों को सूचना मिली कि भील प्रतापगढ़ के किले पर आक्रमण करने वाले है जहां पर कमीश्नर एवं रेवाकांठा के राजनीतिक एजेन्ट रूके हुए थे। 13 व 14 नवंबर को भीलों को पत्र लिखा गया कि वे मानगढ़ पहाड़ी को छोड़ दे तो उन्हें सुरक्षित निकलने व उनके साथ बातचीत का आश्वासन दिया गया। उन्हें चेतावनी दी गई कि 15 नवंबर तक मानगढ़ को खाली करा लिया जाएगा।[12]

मानगढ़ हत्याकांड के तीन दिन पूर्व 14 नवंबर को सचिव, राजनीतिक विभाग, बम्बई द्वारा विदेश विभाग भारत सरकार के सचिव को शिमला में टेलिग्राफ भेजकर कहा गया कि मानगढ़ पर गोविन्द गुरु के नेतृत्व में लगभग 4000 लोगों का हुजूम जमा है। यहां के हालात कानून व सुरक्षा के साथ-साथ राजनीतिक दृष्टि से भी शासन के प्रतिकूल है।[13]

15 नवंबर को मानगढ़ की पहाड़ी को खाली करवाने के आदेश दिए गए तथा अंग्रेजी व रियासती संयुक्त सेनाओं ने मानगढ़ की ओर चढ़ाई शुरू कर दी लेकिन इसी समय भारत सरकार की ओर से तार द्वारा आदेशित किया गया कि भीलों को बातचीत का एक अवसर और दिया जाए। इसी शाम भीलों ने बंदी पुलिस सिपाही युसुफ खान को भी रिहा कर दिया था। इन परिस्थितियों के कारण हमला एक दिन के लिए स्थगित कर दिया गया। 16 नवंबर को भीलों को एक बार फिर चेतावनी जारी की गई कि वे अगले दिन 17 नवंबर तक मानगढ़ को खाली कर दें, अन्यथा सेना द्वारा चढ़ाई की जाएगी। सैनिक कमाण्डरों को निर्देश दिए गए कि पहाड़ी पर कम से कम रक्तपात हो गोविन्द गुरु व उनके सहयोगी पूंजा सहित अधिक से अधिक लोगों को गिरफ्तार किया जाए और पहाड़ी को खाली करा लिया जाए।[14]

मेजर जी. बेली ने 16 नवंबर को ही आदेश जारी किए कि 17 नवंबर को सैनिक अभियान द्वारा मानगढ़ पहाड़ी को खाली कराया जाएगा। इस आदेश की पालना में 17 नवंबर को प्रात: 4.00 बजे 104 राइफल्स की एक कम्पनी तथा मेवाड़ भील कोर की दो कम्पनियाँ मानगढ़ पहाड़ की ढलान, जो कैम्प के दक्षिण में स्थित था की ओर प्रस्थान कर 5.00 बजे पहुँची। यहां पर वे रक्षक दल से मिले जो 6.00 बजे चला था। इस दल ने पहाड़ी की ढलान पर समान्तर मार्ग तक पहुंचने के लिए दो मील की दूरी तय की । सुबह 6.30 बजे मानगढ़ पहाड़ का दक्षिण हिस्सा जो कि लगभग 500 फीट ऊँचा था जिसका रास्ता काफी नीचा, संकरा व खतरनाक था, का सर्वेक्षण किया गया। सैनिक अभियान की व्यूह रचना इस प्रकार से बनाई गई[15] –

1. मानगढ़ पहाड़ी के दक्षिण पश्चिम में 40 हथियार बंद जवानों के साथ जिला पुलिस अधीक्षक होंगे।

2. बारिया का राजा अपने कुछ घुड़सवार सिपाहियों के साथ उत्तर-पश्चिम में मानगढ व दूसरे पहाड़ की ढ़लान में।
3. बांसवाड़ा के 100 पहाड़ी सिपाही जो मानगढ के उत्तरी तथा उत्तरी-पूर्वी भाग में तैनात किए गए थे।
4. सूंथ राज्य की पुलिस मानगढ़ की पश्चिम घाटी में प्रदर्शन करते हुए।

सेना को दो भागों में बांट कर प्रात: 7.40 बजे चढ़ाई शुरू की गई। एक भाग में कैप्टन स्टोकले कमान्डर मेवाड़ भील कोर व अन्य सिपाहियों के साथ पश्चिम से नुकीले रास्ते से आगे बढ़े जहां पहाड़ी पर 200 से 300 भील मोर्चा लिए थे। नाला गहरे वृक्षों से ढका हुआ था इसलिए उपर से भील देख नहीं पाए और इस सैनिक टुकड़ी ने नाले की तीन-चौथाई दूरी को पार कर लिया। मुख्य आक्रमण का नेतृत्व कैप्टन लेकी कर रहा था जिसकी कमाण्ड में 104 राइफल्स, आधी कम्पनी, एक कम्पनी मेवाड़ भील कोर जिसमें 30 राइफल्स कम थीं। इनको उत्तर की ओर संकड़े रास्ते से टीले व मानगढ़ पहाड़ के मिलन स्थान की ओर भेजा, जहां मानगढ़ पहाड़ी पर सैकड़ों भील मोर्चे पर थे।[16]

इस प्रकार अंग्रेजों व रियासतों की संयुक्त सेनाओं द्वारा आंदोलनकारी भील आदिवासियों को चारों तरफ सें घेर लिया था। घेरे से भयभीत आदिवासियों ने प्रात: 8.10 बजे सेना के मुख्य मोर्चे पर पहली फायरिंग की तो जवाब में राइफलों व मशीनगनों से गोलाबारी की गई जिसमें कई भील मारे गए और अब भील पहाड़ी के दक्षिण-पश्चिमी भाग से हटकर मुख्य भाग पर आ गए। इसी बीच कैप्टन स्टोकले सीधे पहाड़ी पर चढ़ने में सफल हो गए। भीलों ने उन पर गोलियां चलाई जिसमें फौज के एक सिपाही को गोली लगी। अब सेना का मुख्य दस्ता आगे बढ़ा और भीलों को पहाड़ के उपरी भाग की ओर हटा दिया। भीलों ने पहाड़ी की ढलान पर पत्थरों से दो बड़ी दीवारें बना रखी थीं जिनकी ऊँचाई 8 फीट थी। सेना के दोनों भाग मानगढ के दक्षिण छोर पर आकर मिल गए तथा भीलों को उत्तरी छोर की ओर खदेड़ दिया। इस दौरान भीलों ने दोनों दीवारों के सहारे फौज का मुकाबला करने का प्रयास किया लेकिन फौज की गोलियों के आगे भीलों की हिम्मत व प्रतिरोध दोनों समाप्त हो गए थे। सुबह 10.00 बज सेना ने फायरिंग को रोक दिया। इस प्रकार लगभग दो घण्टे चली सेना की इस गोलाबारी में लगभग 1500 आदिवासी भील मारे गए तथा 900 से अधिक लोगों को बंदी बनाया गया। बंदियों में गोविन्द गुरु व उनके सहयोगी पूंजा भील भी सम्मिलित थे। इन पर राज्य के विरुद्ध अपराध का दोष लगाकर मौत व आजीवन निर्वासन की सजाएं सुनाई गई।[17] भील आंदोलन के इतिहास में मानगढ़ हत्याकाण्ड उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के इतिहास में जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड। वागड़ के दबे-कुचले व

शोषित आदिवासियों ने गोविन्द गुरु के नेतृत्व रियासतों व में ब्रिटिश सरकार के सामने अपनी मांगें रखी। सरकारों द्वारा इन मांगों पर ध्यान नहीं दिये जाने पर आदिवासियों में आक्रोश फैला और इन मांगों ने आंदोलन का स्वरूप धारण कर लिया। जिसका प्रारम्भिक स्वरूप तो सामाजिक व धार्मिक सुधार आंदोलन था। लेकिन बाद में इस आंदोलन ने राजनीतिक स्वरूप ले लिया। देशी रियासतें तो सामाजिक व धार्मिक सुधारों के भी पक्ष में नहीं थी। अत: वे आदिवासियों की किसी भी प्रकार की राजनीति मांग मानने को तैयार नहीं थीं। देशी रियासतों ने आदिवासी नेतृत्व के साथ मिलकर आंदोलन के शांतिपूर्ण समापन के स्थान पर आंदोलन को कुचलने की योजना बनाई। कानून और व्यवस्था के बिगड़ने तथा भीलों द्वारा अलग राज्य बनाने का भय दिखाया और इस आंदोलन को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर ब्रिटिश सरकार के समक्ष पेश किया गया। जबकि भीलों का यह आंदोलन अंहिसात्मक था और वे किसी प्रकार की सत्ता नहीं हथियाना चाहते थे न ही उनसे ब्रिटिश सरकार को किसी प्रकार का खतरा था। देशी रियासतों ने अंग्रेजों के सहयोग से आदिवासी आंदोलन को कुचलने की योजना बनाई। अंग्रेजी सरकार ने तो बातचीत से हल निकालने की कुछ कोशिशें की, लेकिन स्थानीय रियासतों ने भीलों के प्रति कड़ा रुख अपनाकर आंदोलन को शक्ति के साथ दबाने की योजना बनाई गई। अंतत: देशी रियासतों व ब्रिटिश सरकार की संयुक्त कार्यवाही में मानगढ़ पहाड़ पर हजारों निर्दोष आदिवासी मारे गए और आदिवासी नेताओं को पकड़कर सजाएँ दी गई। मानगढ़ नरसंहार के बाद आदिवासी आंदोलन समाप्त हो गया। इस प्रकार यह आंदोलन अपने मूल उद्देश्य में तो सफल नहीं हुआ, लेकिन आदिवासियों में सामाजिक, धार्मिक व राजनीतिक जागृति फैलाने व एकता लाने का काम अवश्य किया, जिसने देश की आजादी के आंदोलन में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

संदर्भ

1. *कमला देवी (आयु 100 वर्ष से अधिक) पत्नी खींया महाराज, गांव चनावाला, तहसील सज्जनगढ़, बाँसवाड़ा तथा रामचंद्र भगत, मंहत, मानगढ़ धाम, आनंदपुरी, बाँसवाड़ा के अनुसार।*
2. *रतनपाल डोडियार का लेख, भारत के आदिवासी, चुनौतियाँ व संभावनाएँ, वाणी प्रकाशन-दिल्ली, पृ. 86*
3. *लालशंकर पारगी, गांव टिमुरवा, तहसील गढ़ी, बाँसवाड़ा से साक्षात्कार।*
4. *उदय महुरकर का लेख, इण्डिया टूडे, अंक-12 सितम्बर, 2012, पृ. 58*
5. *गौरीशंकर हीराचंद औझा, बाँसवाड़ा राज्य का इतिहास, राज. ग्रंथागार, जोधपुर, पृ. 206*
6. *गुल मोहम्मद घायल होने के कारण मर गया था जबकि दूसरे सिपाही युसुफ खान को आदिवासियों द्वारा कैद कर लिया गया जिसे 15 नवंबर,1913 को रिहा किया गया था।*
7. *रिपोर्ट ऑन द एडमिनिस्ट्रशन ऑफ बाँसवाड़ा स्टेट, राजपूताना, फॉर- 1913-14, राजस्थान*

राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, रिकॉर्ड्स, पृ. 41

8. *वही, पृ. 41*
9. *रिपोर्ट ऑन द एडमिनिस्ट्रशन ऑफ बाँसवाड़ा स्टेट, राजपूताना, फॉर- 1913-14, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, रिकॉर्ड्स, पृ. 41*
10. *'शहादत के 100 साल' मानगढ़ धाम, राजस्थान का जलियाँवाला बाग, जनजाति क्षेत्रीय विकास विभाग, उदयपुर, पृ. 65*
11. *के.के. सहगल, राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटिअर्स, बाँसवाड़ा, 1974, पृ. 34*
12. *रिपोर्ट ऑन द एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ बाँसवाड़ा स्टेट, राजपूताना, फॉर- 1913-14, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, रिकॉर्ड्स, पृ. 41*
13. *फॉरेन एण्ड पोलिटिकल डिपार्टमेंट, इन्टरनल- अ, प्रोसिडिंग्स अगस्त, 1914, न0. 18-22, गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया, राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली, पृ. 03*
14. *रिपोर्ट ऑन द एडमिनिस्ट्रशन ऑफ बाँसवाड़ा स्टेट, राजपूताना, फॉर- 1913-14, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, रिकॉर्ड्स, पृ. 42*
15. *फॉरेन एण्ड पोलिटिकल डिपार्टमेंट, इन्टरनल- अ, प्रोसिडिंग्स अगस्त, 1914, नं. 18-22, गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया, शिमला रिकॉर्ड्स-1, राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली, पृ. 13*
16. *फॉरेन एण्ड पोलिटिकल डिपार्टमेंट, इन्टरनल- अ, प्रोसिडिंग्स अगस्त, 1914, न0. 18-22, गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया, शिमला रिकॉर्ड्स-1, राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली, पृ. 13*
17. *डेली प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ मेजर जी. बेली, फॉरेन एण्ड पोलिटिकल डिपार्टमेंट, इन्टरनल-अ, प्रोसिडिंग्स अगस्त, 1914, नं. 18-22, गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया, शिमला रिकॉर्ड्स-1, राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली, पृ. 13-14*

विश्व युद्धों में अलवर रियासत की भूमिका-एक अध्ययन

डॉ. फूलसिंह सहारिया

राजस्थान की प्रमुख रियासतों में अलवर रियासत अपना प्रमुख स्थान रखती है। तत्कालीन परिस्थितियों में मराठा आदि बाह्य शक्तियों से रियासत की सुरक्षा को देखते हुए नवम्बर 1803 में अंग्रेजों से संधि की। इस संधि से अलवर रियासत अपनी प्रभुसत्ता खो चुकी थी। 1803 से लेकर 1948 तक अंग्रेजों से संधि की शर्तो के अनुसार अलवर रियासत ने ब्रिटिश सत्ता को पूर्ण सहयोग दिया। अलवर रियासत के इस रवैये से कुछ आंतरिक शक्तियों जैसे मेव आन्दोलनकारियों ने 1857 में अलवर नरेश और अंग्रेजों के खिलाफ मेवात में आंदोलन छेड़ा। 1932-33 के मेव किसान आन्दोलन ने तथा 1940 के बाद अलवर प्रजामंडल आंदोलनकारियों ने अलवर नरेश और अंग्रेजों का पूर्ण विरोध किया। तत्कालीन रियासती रिकॉर्ड्स, दस्तावेजों, समाचार पत्रों में विश्व के दो महायुद्धों में अलवर राज्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही, जिसको आधार बनाकर शोध पत्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

अलवर राज्य की स्थापना राव प्रतापसिंह द्वारा 25 नवम्बर 1775 में की।[1] अलवर रियासत एक महत्त्वपूर्ण रियासत थी जो जयपुर एवं दिल्ली के मध्य स्थित है। अंग्रेज अलवर रियासत के महत्त्व को जानते थे। मराठे और अंग्रेजों के मध्य संघर्ष चल रहा था। अलवर नरेश बख्तावर सिंह अपने राज्य को मराठों से सुरक्षित करना चाहता था। इसी समय मराठा सेना ने जम्बा जी ईगले के नेतृत्त्व में अलवर रियासत के कठूमर पर आक्रमण कर दिया था। बख्तावर सिंह द्वारा अंग्रेजों से सहायता मांगी गई।[2] अंग्रेजों ने मदद करके मराठों को खदेड़ दिया जो भागकर लासवाड़ी (वर्तमान में लसवारी गांव) नामक स्थान पर पड़ाव डाला।

1 नवम्बर 1803 को लासवाड़ी में अंग्रेजों और मराठों के मध्य युद्ध हुआ। अलवर नरेश बख्तावर सिंह ने अपनी सेना अहमद बख्स खां के नेतृत्व में अंग्रेजों को सहयोग देने भेजी।[3] युद्ध 8 नवम्बर को युद्ध समाप्त हुआ और मराठे परास्त होकर उत्तरी भारत से हमेशा के लिए चले गये।[4] राजपूताना में अंग्रेजों ने अलवर रियासत से सबसे पहले 14 नवम्बर 1803 को संधि की।[5] अलवर रियासत अंग्रेजों से सन्धि करके अपनी स्वतन्त्रता खो चुकी थी। इसके बाद अंग्रेजों ने राजस्थान की अन्य रियासतों जयपुर, जोधपुर आदि के साथ संधि की थी। इन संधियों के साथ ही अंग्रेजों का हस्तक्षेप

राजस्थान में बढ़ता चला गया। बख्तावर सिंह ने अपने समय में अंग्रेजों को हमेशा सहयोग दिया था।1857 में विनयसिंह द्वारा अंग्रेजी सेना का साथ दिया।[6] शिवदान सिंह के पश्चात अलवर की गद्दी पर मंगलसिंह बैठे, तत्पश्चात जयसिंह 1892 में अलवर नरेश बने थे जो 1937 तक रहे।

प्रथम विश्व युद्ध और अलवर रियासत (महाराज जयसिंह 1892-1937)

ब्रिटिश सरकार के निर्देशों पर 1898 में अलवर में इम्पीरियल सर्विस टूल्स की स्थापना हुई। इसके तहत रियासती सेना का पुनर्गठन कर आधुनिक पद्धति के युद्ध कौशल से प्रशिक्षित किया गया।[7] जय पल्टन और मंगल लान्सर्ज रियासत की मुख्य रेजीमेंट थी।[8]

रियासत इम्पीरियल सर्विस टूल्स पर अपनी आय का 6 प्रतिशत भाग खर्च करता था। इस पर 1888 से 1914 तक एवं 1914 से 1918 तक साधारण खर्च, 1,45,24, 341 रुपये हुआ। युद्ध ऋण 15,20,800 रूपये था। इस तरह रियासत ने कुल 1,60,45,141 रुपये खर्च किये।[9] साम्राज्यवादी नीतियों के पक्ष में महाराजा जयसिंह ने ब्रिटिश साम्राज्य की तन-मन-धन से सेवा की। सन 1900-1901 के चीन युद्ध में रियासती सेना ने यासिटलिव, चुनलियउन आदि युद्ध स्थलों पर विलक्षण युद्ध कौशल का प्रदर्शन किया।[10]

1914 में प्रथम युद्ध के समय राजपूताने की देशी रियासतों की भांति महाराजा जयसिंह भी युद्ध काल में अपने सम्पूर्ण सैनिक संगठन जिसमें मंगल लांसर्ज और जय पल्टन ने ब्रिटिश साम्राज्य को सेवा दी। सैनिक संगठन में 2000 जवान, 600 अफसर, 300 अश्व और 1000 ऊँट गाडियाँ इन्होंने पूर्ण अनुशासन में ब्रिटिश साम्राजय को सेवा दी।[11] जयपल्टन ने महायुद्ध के समय 23 नवम्बर 1914 से मार्च 1917 तक स्वेज नहर, मिश्र और सिनाई के मरुस्थल में ब्रिटिश सेना का साथ दिया। मार्च 1917 से अप्रेल 1918 की अवधि में फिलीस्तीन, गाजा और जेरूसेलम के युद्धों में तुर्की सेना के विरुद्ध युद्ध में भाग लिया।[12]

मंगल लांसर्ज ने 1916-17 में उत्तर-पश्चिमी भारतीय सीमा प्रान्त में 1914 से 1918 की अवधि में दूसरी पल्टन ने जोधपुर रिसाले के साथ फ्रांस में पश्चिमी सिवाने, पेलेस्टाइन की जोर्डन घाटी के युद्ध में भाग लिया। इस रेजीमेंट के रिसालेदार केसरी सिंह ने 3 सितम्बर 1918 को अद्‌भुत युद्ध कौशल का प्रदर्शन करते हुए शत्रु पक्ष के 12 अफसरों और 193 सैनिकों को बन्दी बनाकर तुर्कों की मुख्य छावनी पर अधिकार कर लिया।[13] अलवर रियासत ने युद्ध काल में ब्रिटिश साम्राज्य के लाभ-हानि से अपने आपको जोड़ा और साम्राज्य सुरक्षा में पूर्ण सहयोग दिया। यद्यपि इम्पीरियल सर्विस टूल्स पर रियासत ने 150 लाख रुपये खर्च किये जो उसके पांच साल के राजस्व के बराबर

थे।[14] युद्ध काल के पश्चात 27 जनवरी 1919 को जयपल्टन के रियासत में लौटने पर महाराजा जयसिंह ने उनका स्वागत किया और उन सैनिकों के साथ आये यद्यपि उस समय वर्षा हो रही थी।[15]

3 फरवरी 1919 को मंगल लांसर्ज के आगमन का भी इसी तरह स्वागत किया गया। 4 फरवरी को महाराजा ने दोनों पल्टनों को सम्बोधित करते हुए कहा कि ''यदि परमात्मा मुझे दूसरे जन्म में मनुष्य जाति की सेवा करने का सौभाग्य दे तो मैं अलवर के रहने वाले लोगों को छोड़ दूसरे मनुष्य और जयपल्टन तथा मंगल लांसर्ज को छोड़ दूसरी सेना नहीं चाहूँगा।''[16] ये पंक्तियाँ उनके सैन्य प्रेम को अभिव्यक्त करती है।[17] ब्रिटिश सरकार ने रियासत के उक्त सहयोग और सहायता से कृतज्ञ होकर सन् 1921 में महाराजा जयसिंह को 15 की जगह 17 तोपों की सलामी का अधिकार दिया।[18] साथ ही अलवर के 23 अफसरों को उनकी युद्धकालीन विशिष्ट सेवाओं के लिए सम्मानित किया।[19] 1921 ई. में जयसिंह ने अलवर रियासत की सेना का नवीनीकरण किया और उसका नाम 'रियासती सेना' रखा गया।[20]

द्वितीय विश्व युद्ध और अलवर रियासत (महाराजा तेजसिंह 1937-1948)

मीडिया अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम रहा है। मीडिया जिस समय और जिन परिस्थितियों में कार्य करता है उसका भी समाज पर प्रभाव पड़ता है। कुछ मीडिया सत्ताधीशों के अनुसार कार्य करता है तो कुछ स्वतन्त्र रूप से भी। 1938 से 1948 ई. के मध्य अलवर राज्य में कई समाचार पत्र निकलते थे। ये समाचार पत्र राजस्थान राज्य अभिलेखागार अलवर में संरक्षित हैं। इन समाचार पत्रों में अलवर रियासत की स्थानीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय, देश-दुनिया की खबरों के साथ-साथ शासक वर्ग द्वारा प्रजा पर अपना वर्चस्व बनाए रखने के लिए अपनाए जाने वाले तरह-तरह के दमनकारी हथकंडों के समाचार मुखर रूप से प्रकाशित किए गये। इन समाचारों में कुछ ऐसी खबरें भी थी, जिनका सीधा प्रभाव समाज पर पड़ता था। अलवर रियासत में छपने वाले समाचार पत्रों में युद्ध समाचार, स्वतन्त्र भारत, तेज प्रताप और अलवर पत्रिका प्रमुख थे। इन समाचार पत्रों में युद्ध समाचार साप्ताहिक पत्र जो अलवर रियासत से निकलता था जिसमें द्वितीय विश्व युद्ध की घटनाओं का उल्लेख है। इसमें अलवर रियासत के युद्ध में भाग लेने एवं उसकी भूमिका का उल्लेख है।

A. द्वितीय विश्व युद्ध की अर्न्तराष्ट्रीय घटनाएँ

अलवर राज्य में 'युद्ध समाचार' राष्ट्रीय साप्ताहिक पत्र निकलता था। इसमें मित्र राष्ट्रों एवं धुरी राष्ट्रों के मध्य होने वाले द्वितीय विश्व युद्ध की घटनाएँ प्रमुखता से प्रकाशित की गई थी। मित्र राष्ट्रों की फौज द्वारा जर्मन राजधानी बर्लिन पर प्रचंड हवाई

हमले की घटना का वर्णन किया है। बर्लिन के हृदय केन्द्र पर बम बरसाये गये। बैन्डनवर्ग गेट, अकेडेमी ऑफ आर्ट्स जो यूनाइटेड स्टेट्स अमरीका के दूतावास के निकट थी उसको निशाना बनाया गया।[21] ब्रिटिश विमानों ने उत्तरी जर्मनी के विविध भागों तथा बर्लिन के उत्तरी भागों पर बम बरसाये गये जिससे तेल गोदामों में आग लग गई। इस आग से तेल की पाइप लाइन तथा टंकियां नष्ट हो गई।[22] सिंगापुर से टाइम्स का संवाददाता लिखता है कि हांगकांग और सिंगापुर के शाही भारतीय तोपखानों ने अदन पर होने वाले हमलों में अनेक इटालियन हवाई जहाज गिरा लिए थे। जर्मनी की वायु सेना ने भी लंदन पर इटालियन हवाई जहाज गिरा लिए थे।[23] जर्मनी की वायु सेना ने भी लंदन पर भीषण हमला किया जिसमें 400 व्यक्ति मारे गये तथा 1400 के लगभग घायल हुए। इस हमले में दुश्मन (जर्मनी) के 99 हवाई जहाज नष्ट हुए, वही ब्रिटेन के 22 लड़ाकू जहाज लापता थे।[24] इस विश्व युद्ध में भारत ने युद्ध सामग्री तैयार करने में आश्चर्य जनक उन्नति की। जुलाई 1940 के शुरू में भारत ने बड़ी युद्ध सामग्री बाहर भेजी। 7,50,00,000 रौंद छोट गोला बारूद व हथियार, 2,00,000 सब प्रकार के गोले, 600 राइफल और 1,10,00,000 बोरियां भेजी, इनके अतिरिक्त 95,000 वेब इक्यूपिमेंट (web equipment) सैट, 39,00,000 कम्बल, 90,00,000 गज खाकी जीन, चद्दरें और 17,000 काठियाँ भेजी।[25] भारत वर्ष अपनी आवश्यकताओं का 90 प्रतिशत सामग्री तैयार कर लेता था।

अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध समाचारों में अलवर के 'युद्ध समाचार' पत्र के माध्यम से स्पष्ट होता है कि पार्लियामेंट के उद्घाटन भाषण में सम्राट जार्ज ने कहा कि मेरी प्रजा तथा मेरे मित्रों का यह दृढ़ निश्चय है कि वे आक्रमणकारी देशों के साथ तब तक लड़ते रहेंगे जब तक कि स्वाधीनता की रक्षा न हो जाती। उसी समय राष्ट्रों को विदेशी आक्रमण के भय से मुक्ति मिलेगी और न्याय सम्मत आजादी तथा सामाजिक स्वाधीनता के आधार पर वे जीवन बिता सकेंगे। लार्ड सभा में बादशाह के भाषण को लार्ड चांसलर ने पढ़कर सुनाया। कहा गया कि एक वर्ष से अधिक हो गया है कि मेरी जल, थल और वायु सेनाएँ आजादी की रक्षा कर रही हैं। हमारी प्रजा सर्वत्र ही साहस के साथ कठिनाइयाँ सहन कर रही है। जर्मनी ने बहुत से आजाद मुल्कों को पराजित कर दिया है। मुझे हर्ष है कि इन देशों की सशस्त्र सेनाएँ आज हमारी सेनाओं के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ रही हैं। कॉमन्स सभा में चर्चिल ने भूमध्य सागर में युद्ध की परिस्थति पर एक वक्तव्य दिया- इस इलाके में दो युद्ध हो रहे हैं। एक ओर तो कही अधिक शक्तिशाली शत्रु के मुकाबले में मिश्र और स्वेज नहर की रक्षा की समस्या है। कुछ महिने पहले इस इलाके की रक्षा करना बहुत कठिन प्रतीत होता था, परन्तु इस समय हमें विश्वास है कि हम अपनी शक्ति का अच्छा प्रदर्शन कर सकेंगे। बमों से नष्ट होने वाले घरों की हानि को पूरा करने के लिए कानून बनाने के इरादे को प्रकट करते हुए प्रधानमंत्री ने कहा कि जिनके घर टूटे

नहीं हैं उन्हें टूटे हुए घरवालों की सहायता करनी चाहिए।.....परन्तु भविष्य आशाप्रद है, क्योंकि अब हमारे शस्त्रास्त्र भी तैयार हैं। मैं उस दिन की प्रतिक्षा करता हूँ जबकि ब्रिटिश सैन्य साम्राज्य सामग्री के क्षेत्र में श्रेष्ठता प्राप्त कर लेगा, जिससे कि हमें विजय तथा मनुष्य को आजादी मिल सकेगी।[26] युद्ध समाचार पत्र के अलवर में प्रकाशित समाचार में लंदन 2 अक्टूबर के वाशिंगटन स्टार पोस्ट के माध्यम से बताया कि आगामी बसन्त तक अमेरिका भी विश्व युद्ध में मित्र राष्ट्रों की ओर से शामिल होगा।[27] इसी दौरान जर्मनी की आशाओं के विरुद्ध जापान के साथ एक्सिस संधि (axis alignment with Japan) हो चुकी थी। इसी में यह भी प्रकाशित किया कि हिटलर 1941 में रूस पर आक्रमण करने का विचार कर रहा है।[28]

युद्ध समाचार के अगले अंकों में भी अनेक समाचार प्रकाशित हुए, जिनमें बताया गया कि चार इटालियन डिविजनों का ग्रीक सेना द्वारा सफाया कर दिया गया तथा 7,000 इटालियनों को कैद कर लिया गया। नवम्बर में ब्रिटिश फौज ने 11 जर्मन हवाई जहाज नष्ट कर दिये। जर्मनी की एशिया माइनर पर चढाई करने की योजना का सोवियत रूस ने विरोध किया। इससे जर्मनी ने रूस द्वारा विरोध करने पर इस योजना को त्याग दिया।[29] मिश्र के पश्चिमी रेगिस्तान में हिन्दुस्तानी फौज के सिपाहियों में बड़ा जोश है। ये सिपाही अपने आचरण और व्यवहार से दूसरो को मुग्ध कर लेते हैं। इससे हिन्दुस्तान की कीर्ति बढ़ी है। यहाँ बहुत कम सिपाही मरे और जख्मी हुए हैं। इनके सामने इटालियन फौज फीकी पड़ती दिखाई देती है।[30] बुखारेस्ट से मिली एक खबर के अनुसार 27 नवम्बर 1940 को जिलावी स्थित फौजी जेल में 46 राजनैतिक कैदियों को आयरन गार्ड के सिपाहियों द्वारा गोलियों से उड़ा दिया गया जिनमें भूतपूर्व रूमानियाँ के प्रधानमंत्री जनरल आरगेसियानू और गृह राज्य मंत्री मारीनेस्कू आदि शामिल थे।[31]

दिल्ली से प्राप्त समाचार के अनुसार युद्ध प्रारम्भ होने से सितम्बर 1940 के अन्त तक सप्लाई डिपार्टमेंट के दो खरीद करने वाले विभागों द्वारा सिविल और मिलिट्री के लिए लगभग 56,50,00,000 रुपये के माल के ऑर्डर दिये जा चुके थे। यूनाइटेड किंगडम साम्राज्य के देशों तथा साम्राज्य से बाहर देशों के लिए ईराक, मिश्र तथा भारत की रक्षा करने वाली फौजों के लिए कुल मिलाकर युद्ध के प्रथम 14 महीने के अन्दर कोई 1,08,000 ठेके दिये जा चुके थे।[32] केन्द्रीय असैम्बली में डिफेंस सैक्रेटरी (रक्षा विभाग मंत्री) ने कहा कि हवाई जहाज उड़ाने की ट्रेनिंग तथा शिक्षा देने का पहला स्कूल रिसलपुर में खोला गया था, अब उसे बन्द कर दिया गया है। नम्बर एक उड़ाने की ट्रैनिंग का स्कूल अम्बाला छावनी में खोला गया है। ट्रैनिंग का सामान तथा शिक्षकों के स्टाफ का एक भाग का तबादला रिसलपुर से अम्बाला कर दिया गया। इसके अतिरिक्त अफसरों की ट्रेनिंग के लिए एक प्रारम्भिक स्कूल लाहौर में खोला गया। ये स्थान

रिसलपुर की अपेक्षा बेहतर समझे गये। 42 इण्डियन अफसर रिसलपुर में भर्ती किये गये थे जिनमें 9 मुसलमान थे। लाहौर के प्रारम्भिक ट्रेनिंग स्कूल में 74 भारतीय अफसर भर्ती किये गये जिनमें 15 मुसलमान थे।[33] केन्द्रीय असैम्बली में कांग्रेस सदस्यों ने बहस के दौरान कहा कि जर्मनी की हुकुमत कोई नहीं चाहता। जर्मनी और इटली आज उन चीजों को मिटाने पर तुले हुए हैं, जिन्हें हिन्दुस्तान सदा से आदर की दृष्टि से देखता है। यही कारण है कि आज भी असैम्बली में कांग्रेसी नेताओं ने जर्मनी के विरुद्ध अपनी दिल की बात कही है। बम्बई के प्रमुख व्यवसायी एच.पी.मोदी ने कहा कि लड़ाई अब हिन्दस्तान के करीब है। अगर इस लड़ाई में अंग्रेजों के हथियारों के ऊपर कोई मुसीबत आई तो हिन्दुस्तान सदा के लिए उस स्वतंत्रता को भी खो बैठेगा जो उसकी आंखों के सामने है। यह बात सबको मालुम है कि हिटलर और मुसोलिनी अपने अधीन देशों पर कितना जुल्म करते हैं। अगर हिन्दुस्तान कही जर्मनी के हाथ में गया तो आप समझ लिजिए कि हिन्दुस्तान की बड़ी बुरी हालत होगी।[34]

इसी समय यह भी बताया गया कि संसार का यह सबसे खर्चीला युद्ध था। जिसमें ब्रिटेन का खर्चा 21 करोड़ (1,60 लाख पौंड) प्रतिदिन हो रहा था।[35] 16 हजार इटालियन कैदी जिनमें अफसर भी भारत लाये गये।[36] रूसी फौजों ने जर्मनी की फौजों पर टेंकों से भारी बम वर्षा करते हुए बुखारेस्ट पर हमला कर प्रसिद्ध महान् जर्मन सेना नष्ट कर दी।[37]

यूगोस्लाविया की सरकार जो धुरी राष्ट्रों की मदद कर रही थी, को मित्र राष्ट्रों की फोजों ने तख्ता पलट कर वहां के प्रधान मंत्री स्वैकोविच को गिरफ्तार कर लिया तथा शासन सत्ता की बागडोर पीटर के हाथों में सौंप दी। ब्रिटिश सोमालीलैण्ड पूर्णतया ब्रिटिश कब्जे में आ गया था। यहां इटालियन फौजें नष्ट कर दी गई। इन घटनाओं से डर कर धुरी राष्ट्र सुलह के लिए उत्सुक होने लगे।[38] लंदन में जर्मन बम वर्षकों के आक्रमण से इमारतें मलबे में तब्दील हो चुकी थी जिनके मलबे को हटाने में भारतीय सैनिकों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया।[39]

युद्ध समाचार पत्र के अगले अंको में विश्व युद्ध की घटनाओं के समाचार लगातार प्रकाशित होते रहे थे। हंगरी के प्रधानमंत्री काउन्ट तेलेकी ने आत्महत्या कर ली जिसमें अपने आत्महत्या के पूर्व में लिखे पत्र में बताया कि मैं अपने कठिन और कर्तव्य की पूर्ति करने में असमर्थ हूँ।[40]

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान ब्रिटिश फौजों ने इरिटिया की राजधानी अस्समारा पर कब्जा कर लिया था। कहा गया कि ब्रिटिश फौजों के भय से 5000 इटालियन सैनिकों ने घुटने टेक दिये। हिटलर की शक्ति काफी बढ़ गई थी जबकि इटली कमजोर हो चुका था। अफ्रीका में हिन्दुस्तानी फौजें ब्रिटिश सैना के साथ लड़ रही थी।

हिन्दुस्तानी सिपाही बड़ी वीरता से लड़ रहे थे। वे दुश्मनों की चाल और नीति को समझ रहे थे कि इटालियन उनके दुश्मन हैं।[41] जापान के समुद्री जहाजों ने भारत के पूर्वी तट पर विशाखापटनम और कोकानाडा के बन्दरगाहों पर हमला किया जिसमें काफी लोग मारे गये और आर्थिक नुकसान भी हुआ।[42] मित्र राष्ट्रों के वायुयानों ने जर्मनी के कोलोन नगर पर हमला कर नष्ट कर दिया। जर्मनी पर यह हवाई हमला संसार के इतिहास में महत्वपूर्ण घटना थी।[43]

उपलब्ध युद्ध समाचार पत्रों में जो घटनाएँ घटी उन घटनाओं का भारतीय जनता पर गहरा प्रभाव पड़ा उनका भी उल्लेख करना आवश्यक है। एक ओर भारतीय फौजें ब्रिटिश फौजों के साथ विश्व युद्ध में लड़ रही थी वहीं भारतीय जनता के प्रत्येक तबके की सहानुभूति उनके साथ थी।

विश्व युद्ध के दौरान युद्ध में भाग लेने वाले देशों की जनता मानसिक रूप से परेशान थी वहीं युद्ध स्थलों पर महिलाओं पर हुए अत्याचार भी कम नहीं थे। हांगकांग में जापानियों के द्वारा महिलाओं पर अत्याचार करना मानवता को शर्मिदा करने वाली घटनाएँ थी। घटना का वर्णन एक भागी हुई महिला के द्वारा बयां किया गया है कि जापानियों ने स्वयं सेविका और नर्सो के साथ बलात्कार किये और बाद में उनकी हत्या कर दी गई। इन महिलाओं में ज्यादातर चीनी महिलाओं के साथ 7 यूरोपियन महिलाएँ भी थी।[44]

विश्व युद्ध में भाग लेने वाले हिन्दुस्तानी सैनिकों के प्रति भारतीय महिलाओं की विशेष हमदर्दी एवं सहायता करने की इच्छा उनमें कूट-कूट कर भरी थी। इसीलिए देश के विभिन्न भागों से महिला संगठनों ने बड़ी मात्रा में राशि एकत्रित कर वारफण्ड को दी। साथ ही भारतीय सिपाही जो विदेशों में लड़ रहे थे उनके लिए बीड़ी, सिगरेट, गर्म कपड़े, कंघे, स्टोव, ग्रामोफोन, तौलिए आदि सामान भेजा गया।[45]

1941 में भारतीय सैनिक ब्रिटिश फौजों के साथ विश्व के अन्य देशों में युद्ध कर रहे थे जिनकी मदद के लिए सम्पूर्ण भारत वर्ष से वार फण्ड (WAR FUND) इकट्ठा किया गया। दिल्ली वार फण्ड एसोशिएशन द्वारा 15000 रुपये दिल्ली कमीशन को दिये। मेरठ की 6 तहसीलों के लोगों ने 6000 रुपये यू.पी. के गवर्नर को दिये। हापुड़ म्यूनीसीपल द्वारा 1000 रुपये देने के साथ 1500 रुपये डूडलोत (जयपुर) के ठाकुर द्वारा वायसराय को वार फण्ड में दिये। इसी प्रकार हैदराबाद, कपूर्थला, अमृतसर, अवध, मद्रास द्वारा आर्थिक सहयोग दिया गया।[46]

पश्चिमी भारत की रियासत बीकानेर रियासत के राजा ने 5000 रुपये देने के साथ उनकी प्रजा ने 1000 रुपये दिये। रतलाम नरेश ने 1001 रुपये देकर आर्थिक सहायता भिजवायी।[47]

B. अलवर रियासत की द्वितीय विश्व युद्ध में भूमिका

अलवर स्टेट में 19 अक्टुबर 1940 के युद्ध समाचार पत्र अंक में बताया गया है कि दिनांक 9 जुलाई 1940 से युद्ध प्रारम्भ हुआ। इसके लिए युद्ध कमेटी दिग्दर्शन की बैठकों में युद्ध समाचार प्रकाशित होने एवं दरबार के आदेशानुसार वार फण्ड में जो द्रव्य एकत्रित हुआ। उसका विवरण प्रकाशित करने के साथ सहायता देने वाले व्यक्तियों का सम्मान करने का प्रयास किया गया। राजा की छत्र छाया में तीन माह दस दिवस में 2,36,096 रुपये एकत्रित हो चुके थे और 31 मार्च 1941 तक यह 3,50,157 पहुँचने की सम्भावना व्यक्त की गई।[48]

19 अक्टुबर 1940 को अलवर महाराज की अध्यक्षता में वार परपजेस कमेटी की जनरल मीटिगं हुई जिसमें 1,40,000 रुपये ग्रेट ब्रिटेन को लडाकू जहाज तैयार करने हेतु तथा भारत सरकार को Motor Transport के यूनिट के लिए धन देना तय हुआ था।[49]

इसी प्रकार अलवर नरेश द्वारा पत्र भेज कर वायसराय को लिखा गया कि इस द्रव्य को इस प्रकार व्यय करना चाहते हैं कि प्रथम हम एक परम घृणित शत्रु से लड़ना है। दूसरे इस द्रव्य का कुछ भाग भारत के युद्ध प्रयासों की सहायतार्थ भी देना चाहते हैं। हमारा इसलिए यह प्रस्ताव है कि इस रुपये का कुछ भाग हम ब्रिटिश फाइटर एयर क्राफ्ट के खरीदने के लिए अलग देना चाहते हैं। जिसकी कीमत मेरे विचार से 1,40,000 रुपये है। यदि श्रीमान इस पर सहमत हों तो इस हवाई जहाज पर 'अलवर' का नाम लिखा दिया जावे। आगे लिखते हैं कि रूपये हम गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया के अधिकार में देना चाहते हैं जिसके लिए उनसे पत्र व्यवहार हो रहा है। उनसे कहा है कि हम क्या इण्डियन आर्मी की एक मोटर ट्रांसपोर्ट यूनिट के लिए आदमी दे सकते हैं जिसके जवाब में बताया कि 106 आदमी की केवल 1 सेंक्शन दे सकते हैं। सैक्शन की सवारियों पर भी शायद अलवर नाम लिखाया जा सकेगा। यह विशेष चिन्ह न केवल हमें गौरव देगा बल्कि दूसरों को भी उत्तेजित करेगा।[50]

अलवर नरेश की चिट्ठी का जवाब वायसराय बहादुर द्वारा 11 नवम्बर 1940 को सवाई महाराज अलवरेन्द्र को भेजा और लिखा कि- 'आपकी 6 नवम्बर की चिट्ठी के लिए धन्यवाद! आपकी 'सेन्ट्रल अलवर वार परपजेज कमेटी' ने जो प्रशंसनीय द्रव्य एकत्रित किया है, उसे जानकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है। ढाई लाख रूपये की रकम और एक लाख रुपये के जिसके शीघ्र ही इकट्ठा होने की आशा है, भारत की लड़ाई के चन्दे में एक माकूल इजाफा है। आप जो लड़ाई के हवाई जहाजों के लिए रकम मुकरर कराना चाहते हैं, उसे मैं अवश्य ही प्राप्त होते ही मिनिस्ट्री ऑफ एयर प्रोडक्शन के पास भेज दूंगा। श्रीमान सम्राट की गवर्नमेंट को 5000 पौंड अर्पण करने वाले को एक हवाई

जहाज पर अपना नाम अंकित करवाने का गौरव प्राप्त है। इस तरह आप 1,40,000 रुपये तो दो हवाई जहाजों के लिए काफी होंगे। उन पर अलवर का नाम डाले जाने में कोई बाधा नहीं होगी। मैं आपकी तजबीज को कि आप द्वारा दी हुई रकम में से बचे हुए रूपये 'मोटर ट्रांसपोर्ट' सेना के लिए गाडियां खरीदने में खर्च किये जावें, महकम सम्बन्धी मैं भेज दूगाँ और मुझे आशा है कि वे लोग आपकी इच्छा पूरी करने के लिए जो कुछ सम्भव होगा करेंगे। पारस्परिक हित साधनार्थ भारत के युद्ध प्रयास में जो सहायता दे रहे हैं, उसकी मैं बहुत प्रशंसा करता हूँ।''[51]

1 सितम्बर 1939 से 31 जुलाई 1940 तक दिल्ली के रिक्रूटिंग ऑफिस ने अलवर राज्य से जो रंगूट भरती किये उनमें 9 जाट, 25 मुसलमान राजपूत, 4 राजपूत, 12 गूजर, 34 अहीर, 17 खानज़ादे, 44 मेव जिनकी कुल संख्या 145 थी। इनके साथ 42 रंगूट न लड़ने वाले भी भर्ती किये गये।[52]

अलवर राज्य द्वारा महायुद्ध में बढ़चढ़ कर हिस्सा लिया था। अलवरेन्द्र ने आबू में दिये 23 जून 1939 ई.के भाषण से युद्ध समाचार का श्री गणेश किया था। इस यूरोपीय महायुद्ध की देवासुर संग्राम से तुलना करते हुए कहा कि अन्त में धर्म पक्ष की विजय होगी, जिधर हमारी ब्रिटिश है। 1803 ई.के लासवाड़ी युद्ध में विजय के समय की गई। मित्रता महाराव राजा विनय सिंह के समय से चली आ रही है। इसी मित्रता के भाव को सन्मुख रखते हुए अलवरेन्द्र देव ने 16 अक्टूबर के युद्ध प्रयास के स्पेशल दरबार में 'जे न मित्र होहि दुखारी, तिन्हो बिलोकत पातक भारी' के सारगर्भित शब्द कहे। इसी के तहत अलवर नरेश ने जय पल्टन का फुल बटालियन भेजने के अतिरिक्त अलवर राज्य से 15000 रुपये लार्ड मेयर ऑफ लंदन के फंड में भेजे गए।[53]

अलवर वीमेन्स वार ऐंड एसोशियशन की ओर से ऊन से बना हुआ सामान भेजा गया। श्रीमती लेड़ी लिनलिथगो के 'सिल्वर ट्रिक्ट' फंड के लिए आभूषणों के साथ चाँदी का सामान एकत्रित कर दिया। अलवर राज्य ने 5 लाख रुपये डिफेन्स बोड्र्स में भी दिये। इन प्रयासों की प्रशंसा औनरेबिल मि. लोथियन रेजीडेन्ट राजपूताना ने अपने Banquet के भाषण में की कि ''अलवर स्टेट ने तीन लाख रूपये से अधिक वार फंड में जमा करके वह काम किया है जिससे बढ़के इसकी जितनी बड़ी कोई भी दूसरी स्टेट समस्त भारत वर्ष में न कर सकेगी।'' अमेरिका से प्राप्त समाचार से ज्ञात हुआ कि वहां कैलीफॉर्नियां के दो हवाई जहाज बनाने के कारखानों ने यह निश्चय किया है कि वे अपने फालतू समय में काम करके एक बोम्बर बनायेंगे, जिसको वे राष्ट्रीय एयर फोर्स को बड़े दिन की भेंट के रूप में देंगे। क्या यही अच्छा हो कि अलवर से दिये जाने वाले 1,40,000 रुपये के दो लड़ाकू हवाई जहाज भी इसी प्रकार 'अलवर न.1' बड़े दिन की और 'अलवर न.2' नये वर्ष 1941 की भेंट के रूप में महामान्य सम्राट की सरकार को

अलवर की ओर से भेजे जावें। यदि हो सके तो इन लड़ाकू जहाजों को अलवर से उड़ाकर दिल्ली ले जाकर भेंट किये जावें।[54]

अलवर की हिजहाइनेस गवर्नमेंट ने एक आदेश जारी किया जिसमें विश्वयुद्ध में जाने वाले मनुष्यों (सैनिकों) को लड़ाई जारी रहने तक अलवर स्टैम्प एक्ट 1933 के शडयूल 1 आर्टिकल 7 के तहत सक्शेशन सर्टिफिकेट पर बसूल तलव सक्शेसन फीस उन अशखासों पर लागू नहीं होगी।[55]

अलवर राज्य द्वारा महायुद्ध में बढ़चढ़ कर हिस्सा लिया गया था। इसके साथ रियासत की जनता में युद्ध समाचारों को फैलाने एवं राष्ट्रीय भावना पैदा करने के लिए अनेक प्रकार के कार्यों का उल्लेख समाचारपत्रों में प्राप्त होते हैं- गाँवों की आम जनता को युद्ध की घटनाओं से रूबरू कराने के लिए अध्यापकों का सहयोग लिया गया। 9 मार्च 1941 को ठा.सुलतान सिंह होम मिनिस्टर की अध्यक्षता में हार्वे मिडिल स्कूल में मीटिंग की जिसमें शिक्षा विभाग के अतिरिक्त डवलपमेंट ऑफिसर एवं पब्लिसिटी ऑफिसर आदि उपस्थित थे। इसमें भाग लेने वाले शिक्षकों को समझाया कि युद्ध सम्बंधी समाचारों से न केवल विद्यार्थियों को ही परिचित रखे बल्कि गांव की आम जनता को भी परिचित करावें। गांव की चौपालों पर एकत्रित लोगों को भी समाचारों से परिचित कराएँ।[56]

इसी के साथ वार पब्लिसिटी कमेटी ने अलवर, राजगढ़ और तिजारा के टाऊन हालों में वार लाइब्रेरी स्थापित करने का आयोजन किया जिससे आम आदमी युद्ध समाचारों से परिचित हो सके।[57]

सेन्ट्रल वार परपजेज कमेटी की मीटिंग में यह तय हुआ कि रेडियो, पब्लिसीटि मोटर वाहन, लाउडस्पीकर तथा मौखिक लाल्टेन स्लाइडों द्वारा युद्ध समाचारों का प्रचार किया जाये। इन सबका प्रोग्राम प्रत्येक सप्ताह युद्ध समाचार तथा अलवर राजकीय गजट में छापा जाये। वार फंड की सहायतार्थ क्रिकेट, टेनिस, फुटबाल तथा हॉकी के टूर्नामेंट कराएं जाएं।[58] वार फण्ड में धन इक्ट्ठा करने हेतु वर्नाकूलर मिडिल स्कूल बहरोड़ की ओर से 'मेवाड़ पतन' नामक नाटक को अध्यापक और छात्रों ने मंचन करके 251 रुपये वार फण्ड हेतु प्राप्त किये।[59]

इसी प्रकार अलवर के गर्ल्स स्कूल में वार फंड हेतु एक कार्यक्रम हुआ। इस कार्यक्रम में 18 गाने एवं डायलॉग बोले गये। इनको हिन्दी तथा उर्दू में छात्राओं द्वारा गाये गये। इसमें से- 'या रब रहे सलामत फरमा रबा हमारा' जर्मन भी मतवाले हैं.....तेरे अंदाज जग पर आदि गीत गाये गये। इस कार्यक्रम में 500 रुपये वॉर फंड में आये।[60]

इसी तरह राजर्षि कॉलेज में नाजिज्म, हिटलरिज्म, मुसोलिनिज्म व फासिज्म के

विरुद्ध तथा लोकतन्त्र के पक्ष में इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर ईश्वरी प्रसाद का शानदार भाषण हुआ जिससे छात्र लाभान्वित हुए।[61]

वायसराय द्वारा भेजी गई अमेरिका के प्रेसीडेंट मि.रूजवेल्ट की अपील के प्रति उत्तर में 14 जून 1942 को सभी मित्र राष्ट्रों द्वारा 'राष्ट्रों का दिवस' (United Nation Day) धूमधाम से मनाया गया। अलवर में भी अलवरेन्द्र द्वारा महल चौक (जलैव चौक) से तीन सजे हाथी जिन पर रूस,चीन, ब्रिटेन व अमेरिका के झंड़े सजे हुए चल रहे थे। यह जुलूस पुरजन बिहार पहुँचा। इसमें अलवरेन्द्र, चीफ मिनिस्टर एवं कर्नल अब्दुल रहमान आर्मी मिनिस्टर के साथ अलवर की जनता उपस्थित थी।[62]

1939-1942 तक की घटनाओं से स्पष्ट होता है कि द्वितीय विश्व युद्ध से पूरे संसार को तन, मन और धन की हानि हुई। सम्पूर्ण भारत वर्ष से विदेशों में लड़ रहे हिन्दुस्तानी सिपाहियों को सभी क्षेत्रों से वार फण्ड भेजा। सभी वर्गों की इसमें भागीदारी के उदाहरण समाचार पत्रों में प्रकाशित हुए हैं। यदि अलवर राज्य की बात करें तो यहां के राजा ने वार फंड के रूप में बड़ी राशि भेजी। अलवर की प्रजा ने पूरा सहयोग दिया। इस युद्ध विभीषिका में अलवर की सेना, महिला संगठन, प्रशासन ,स्कूल, कॉलेज के छात्र-छात्राओं, शिक्षकों ने पूरा सहयोग दिया। अलवर नरेश ने अलवर का नाम ऊँचा करने एवं देशहित में अलवर नाम के लड़ाकू विमान एवं मोटर पर नाम लिखने का जज्बा देशभक्ति को प्रदर्शित करता है।

निष्कर्ष तौर पर कहा जा सकता है कि अलवर रियासत के शासक बख्तावर सिंह व अंग्रेजों के मध्य हुई 14 नवम्बर 1803 की संधि की शर्तों को नियमानुसार निभाया। इसी कारण से 1914 से 1918 के प्रथम विश्व युद्ध में महाराजा जयसिंह द्वारा जय पल्टन और मंगल लांन्सर्स को विदेशों में भेजा जिसने अंग्रेजी सेना का साथ दिया। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान अलवर नरेश महाराजा तेजसिंह ने अपनी सेना को अंग्रेजों की सहायतार्थ विदेशी भूमि पर भेजा जिसने अलवर का परचम लहराया।

संदर्भ

1. *गहलोत सुखवीरसिंह, राजस्थान के इतिहास का तिथिक्रम, पृ. 71*
2. *हैण्डले टी. होल्वन, अलवर एण्ड इट्स आर्ट ट्रेजर (अनुभवमूलक अनिल जोशी), पृ. 7*
3. *श्यामलदास, वीर विनोद, पृ. 1379*
4. *वही*
5. *एचीसन, सी.यू. ट्रिटीज एंग्रजमेंट एण्ड्स सनद्स भाग 3, पृ. 401-402*
6. *पाऊलेट, पी. डब्ल्यू, गजेटियर ऑफ अलवर पृ. 23*
7. *गहलोत, जगदीशसिंह, कच्छवाहों का इतिहास, 2011, पृ. 358*
8. *प्राइवेट सेक्रेटरी रिकार्ड्स, अलवर स्टेट, फा.नं. 7ए/23, 1923-27, पृ. 7 रा.रा.अभि. अलवर*

9. गहलोत, जगदीश सिंह, कछुवाहों का इतिहास, 2011, पृ. 358
10. क्रमांक 601, बन्धांक 88 ग्रन्थांक 4, पृ. 50, राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर
11. जोशी, पं. पिनाकीलाल, अलवर राज्य का इतिहास, 1938, पृष्ठ 82-83
12. अलवर स्टेट, फा.नं. 7ए/23, 1923-27 अलवर एण्ड दी ग्रेटवार, 1914-18 पृ.10 रा.रा. अभिलेखागार, अलवर
13. वही, पृ. 11
14. वही, पृ. 8
15. सेना विभाग रिकार्ड, अलवर स्टेट फा. नं. 6319/1921, बस्ता नं. 5 क्रमांक 398, पृ. 13-14, रा.राज्य अभि. बीकानेर
16. वही, पृ. 15-16
17. सोनी हंसराज, शोध प्रबन्ध (पी.एच.डी.) महाराजा जयसिंह, आधुनिक भारत के निर्माता : एक ऐतिहासिक अध्ययन (1829 ई.-1937 ई.), पृ. 46
18. अलवर स्टेट गजट नं. 1, शनिवार, 1 जनवरी 1921, जिल्द 13, रा.रा. अभिलेखागार, अलवर
19. बस्ता नं. 191, क्रमांक 21, पृष्ठ 82-83, रा.रा. अभि. अलवर
20. गहलोत, जगदीश सिंह, कच्छवाहों का इतिहास, 2011 पृ. 358
21. बस्ता न. 417,फा. न. 4, युद्ध समाचार 15 सितम्बर 1940, पृ. 1, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, अलवर
22. वही
23. वही
24. वही
25. वही
26. बस्ता न. 417,फा. न. 4, युद्ध समाचार 24 नवम्बर 1940, पृ. 1, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, अलवर
27. बस्ता न. 417,फा. न. 4, युद्ध समाचार 6 अक्टूबर 1940, पृ. 4 , राजस्थान राज्य अभिलख,अलवर
28. वही
29. बस्ता न. 417,फा. न. 4, युद्ध समाचार 01 दिसम्बर 1940, पृ. 1 , राजस्थान राज्य अभिलेखागार, अलवर
30. वही
31. वही
32. वही
33. वही
34. वही
35. बस्ता न. 417,फा. न. 4, युद्ध समाचार 15 दिसम्बर 1940, पृ. 1, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, अलवर
36. बस्ता न. 417,फा. न. 4, युद्ध समाचार 23 फरवरी 1941, पृ. 4, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, अलवर

37. बस्ता न. 417, फा. न. 4, युद्ध समाचार 29 जून 1941, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, अलवर
38. बस्ता न. 417,फा. न. 4, युद्ध समाचार 25 मार्च 1941, पृ. 3 , राजस्थान राज्य अभिलेखागार, अलवर
39. बस्ता न. 417, फा. न. 4, युद्ध समाचार 30 मार्च 1941, पृ. 4, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, अलवर
40. बस्ता न. 417, फा. न. 4, युद्ध समाचार 06 अप्रेल 1941, पृ. 1, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, अलवर
41. बस्ता न. 417, फा. न. 4, युद्ध समाचार 01 दिसम्बर 1940, पृ. 2, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, अलवर
42. बस्ता न. 417, फा. न. 4, युद्ध समाचार 12 अप्रेल 1942, पृ. 1, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, अलवर
43. वही, पृ. 2, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, अलवर
44. बस्ता न. 417, फा.न. 4, युद्ध समाचार, 7 मई 1942, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, अलवर
45. बस्ता न. 417, फा. न. 1, युद्ध समाचार 18 मई 1941, राजस्थान राज्य अभिलेख अलवर
46. बस्ता न. 417, फा. न. 1, युद्ध समाचार 6 अप्रेल 1941, रा.रा.अभि.अलवर
47. बस्ता न. 417, फा. न. 1, युद्ध समाचार 15 सितम्बर 1940, पृ. 6, रा.रा.अभि. अलवर
48. बस्ता न. 417, फा. न. 1, युद्ध समाचार 27 अक्टूबर 1940, पृ. 3, रा.रा.अभि.अलवर
49. बस्ता न. 417, फा. न. 1, युद्ध समाचार 24 नवम्बर 1940, पृ. 3, रा.रा.अभि.अलवर
50. वही, पृ. 5, रा.रा.अभि.अलवर
51. वही
52. वही
53. बस्ता न. 417, फा. न. 4, युद्ध समाचार 1 दिसम्बर 1940, पृ. 2, रा.रा.अभि.अलवर
54. वही
55. बस्ता न. 417, फा. न. 4, युद्ध समाचार 16 मार्च 1941
56. बस्ता न. 417, फा. न. 1, युद्ध समाचार 30 मार्च 1941, पृ. 2, रा.रा.अभि.अलवर
57. बस्ता न. 417, फा. न. 1, युद्ध समाचार 30 मार्च 1941, पृ. 5, रा.रा.अभि.अलवर
58. बस्ता न. 417, फा. न. 4, युद्ध समाचार 27 अक्टूबर 1940, पृ. 4, रा.रा.अभि.अलवर
59. 36. बस्ता न. 417, फा. न. 4, युद्ध समाचार 1 दिसम्बर 1940, पृ. 3, रा.रा.अभि.अलवर
60. बस्ता न. 417, फा.न. 4, युद्ध समाचार 17 अक्टूबर 1940, पृ. 6, रा.रा.अभि.अलवर
61. बस्ता न. 417, फा. न. 1, युद्ध समाचार 15 दिसम्बर 1940, पृ. 3, रा.रा.अभि.अलवर
62. बस्ता न. 417, फा. न. 1, युद्ध समाचार 14 जून 1942, पृ. 4, रा.रा.अभि.अलवर

हाड़ौती के स्वतन्त्रता संघर्ष कालीन लोक गीतों में गाँधीवादी राष्ट्रीयता

डॉ. (श्रीमती) सज्जन पोसवाल

लोक साहित्य की परम्परा कदाचित् उतनी ही पुरानी है जितनी पुरानी मनुष्य जाति।[1] यूरोप तथा अमेरिका में उन्नीसवीं शताब्दी में लोक भाषा और लोक साहित्य के अध्ययन पर ध्यान दिया गया, लेकिन हमारे देश में हिन्दी में इस काम की शुरूआत रामनरेश त्रिपाठी के ग्रामगीतों के संकलन एवं प्रकाशन के साथ हुई। त्रिपाठी ने कहा था कि किसी भी समाज का शुद्ध प्रतिबिम्ब उसके गीतों में मिलता है।[2] दरअसल स्वत: उद्भूत होने के कारण वे ग्रामीण समाज के मनोभावों विचारों एवं चरित्र को उद्घाटित करते हैं इसलिये इन्हें आर्येतर सभ्यता के वेद कहा गया है।[3] शास्त्रीय नियमों की परवाह न करके सामान्य लोक व्यवहार के उपयोग में लाने के लिए मानव अपने आनन्द तरंग में जो छन्दोबद्ध वाणी सहज उद्भूत करता है, वही लोकगीत है।[4]

मनुष्य सुख में गाकर उलसित होता है और दुख में गाकर दुख को भूलता है। सूर्य के प्रखर ताप में हल चलाता हुआ किसान अपने गान से उसकी प्रखरता को भूलता है, ईंट और गारा ढोता हुआ मजदूर गान मे मस्त होकर जीवन की कठोरता को भूल जाता है।[5] इसी प्रकार आजादी के लिए गाँधीवादी पद्धति से संघर्ष करने वाली भारत की जनता ने अपनी अपनी भाषाओं और बोलियों में लोक गीतों की रचना कर अपने संघर्ष को लयात्मक अभिव्यक्ति दी। राजस्थान मे रियासती शासन के अधीन साम्राज्यवाद, राजतंत्र एवं सामन्ती शोषण का सामना करने वाली जनता ने शुरू से ही संघर्ष के लिए कई गीत रचे और गाये। जब बीसवीं सदी के दूसरे दशक में गाँधी युग के दौरान हिंसा का मुकाबला अहिंसा से करने का निश्चय किया गया तो इसकी गूँज साहित्य की अन्य विधाओं के साथ साथ लोक गीतों में भी सुनाई देने लगी।

संघर्ष एवं नव निर्माण की इस गाँधीवादी पद्धति को भारत में गाँधी से भी पहले राजस्थान में बिजोलिया सत्याग्रह के माध्यम से विजय सिंह पथिक ने अपनाया था। इसका असर राजस्थान के अन्य क्षेत्रों के साथ साथ हाड़ौती पर भी पड़ा। यहाँ के लोकगीतों में गाँधीवादी राष्ट्रीयता का अवलोकन करने से पहले इस क्षेत्र का भौगोलिक एवं भाषागत परिचय आवश्यक है। बूँदी (जो हाड़ौती का प्राचीनतम राज्य है) पहले

मीणों का गणराज्य था, लेकिन वि. सम्वत् 1398 (ई.सन् 1341) में यहाँ चौहन वंश की हाड़ा शाखा का अधिकार होने पर यह इलाका 'हाड़ावादी' (हाड़ावाटी) कहलाने लगा।[6] देश वाचक के रूप में हाड़ौती शब्द प्राचीनकाल से प्रयुक्त हो रहा था लेकिन बोली अथवा भाषावाचक रूप में यह कब प्रयुक्त होने लगा, इसकी जानकारी नहीं मिलती। उन्नीसवीं शताब्दी के हाड़ौती क्षेत्र के विद्वान सूर्यमल्ल मीसण के काव्य की भाषा साधारणतया डिंगल प्रतीत होता है अत: ऐसा लगता है कि यह बोलचाल में ही व्यवहार में लाई जाती होगी लेकिन भारतीय भाषाओं का पहली बार वैज्ञानिक अध्ययन करने वाले जॉर्ज ग्रियर्सन ने हाड़ौती के राज्यों एवं उनके आसपास इसे बोलने वाले की संख्या लगभग दस लाख बताते हुये इसे पूर्वी राजस्थानी समूह की एक उपभाषा बताया है।[7] बहरहाल, गाँधीवादी आन्दोलन के दौरान हाड़ौती आमजन की भाषा होने के कारण ही इसमें व्यापक रूप से लोकगीतों की रचना हुई।

बिजोलिया आन्दोलन के प्रभाव और प्रेरणा से हाड़ौती के बरड़ क्षेत्र में भी सामन्ती शोषण एवं लाग बागों के खिलाफ व्यापक आन्दोलन हुआ और इसके बाद भी क्षेत्र के राजनीतिक संघर्ष की मुख्यधारा गाँधीवादी मूल्यों पर संचालित हुई परिणाम स्वरूप अहिंसा, सत्याग्रह, आत्मबल, स्वदेशी, खादी, साम्प्रदायिक सद्भाव, छूआछूत विरोध जैसे गाँधीवादी राष्ट्रीय मूल्यों को हाड़ौती की जनता ने आत्मसात किया। इसी के परिणाम स्वरूप हाड़ौती के साहित्य में इनकी प्रतिध्वनियाँ सुनाई देने लगीं और वह लोकगीतों में ढलकर यहाँ की जनता का मुख्य गान बन गई। यहाँ हम लोकगीतों में अभिव्यक्ति गाँधीवादी राष्ट्रीयता के विभिन्न प्रतिमानों का वर्णन करेंगे।

कहा जाता है कि बरड़ आन्दोलन के दौरान जनजागृति के लिये राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत, मुर्दों में जान फूँकने वाले जोशीले गीत गाते हुये जुलूस निकलते तो लोगों में मरणोन्माद छा जाता था। सभाओं की सबसे बड़ी विशेषता यह होती थी कि इनके चारों ओर ग्रामीण महिलाओं का घेरा होता था। पुलिस का आक्रमण होता तो सबसे पहले महिलायें मोर्चा संभालती। जब कभी पुरुष हिम्मत हारने लगते तो संघर्ष करती महिलायें लानत मलानत के गीत गाकर पुरुषों को पुन: प्रोत्साहित करने के लिए जो गीत गाती वे गाँधीवादी साहस, आत्मबल एवं संघर्ष की प्रेरणा से भरे होते थे। यथा –

थें हाल सभा में चाल म्हारा ढोला जी
तू खाग्यो रे घर को माल म्हारा ढोला जी
कायर बणो तो स्यालू लो, थाँ की पांगा म्हाने दो
लो हाथ में तो चुड़लो घाल म्हारा ढोला जी।
माथा बाँधो राकड़ी, नाकों पहरो नथड़ी
नेणा में लो काजल घाल, म्हारा ढोला जी।

हाथाँ मेंदी राचणी, पग नेवरियाँ बाजणी,
थें चालो जनानी चाल म्हारा ढोला जी।
थाँकों नाम तो नाथी जी धड़के थाँकी छाती जी
थाने कोठा में दूँ घाल म्हारा ढोला जी।
हाथाँ पहराँ हथकड़ियाँ, पगां में पहरां बेड़ियाँ,
दुश्मन ने दिखा दाँ चाल म्हारा ढोला जी।
आवे अन्यायी फटकाराँ, कराँ न वाँ की बेगाराँ
चाहे म्हाकी करो दलाल म्हारा ढोला जी।
तोप बंदूकाँ म्हे झेलाँ, नीचों माथो नही मेहलाँ,
ले वंदेमातरम ढाल म्हारा ढोला जी।[8]

आन्दोलन का जोर और रियासत के जुल्मे सितम बढ़ते रहे। एक ओर ब्रिटिश भारत में गाँधी के नेतृत्व में असहयोग आन्दोलन था तो दूसरी ओर बूँदी में भी जुझारू जवान और किसान अहिंसात्मक सत्याग्रह में जान की बाजी लगा रहे थे। दिनांक 2 अप्रेल 1923 को डाबी में अपार जन समूह की सभा में नानक भील ने झण्डा हाथ में लिये मंच पर आकर गीत गाना शुरू किया–

गाढ़ा रीज्यौ रे मरदाओं थाँको दुख सब मिट जाय।
सभा मायने घुस जावैगी अन्यायां की फौज।
बन्दूकाँ तलवार चालसी, तो मत करज्यो सोच।। गाढ़ा.....
अन्यायी तो लूट पीट कर तोड़ेगा बसवास।
थाँको बाल न बाँको, होसी अन्यायाँ को नास।। गाढ़ा रीज्यो.....

इतना सुनते ही पुलिस अधिक्षक इकराम हुसैन का पारा सातवें आसमान पर चढ़ गया और गोली–लाठी के वार शुरू कर दिये। इसी गोली से नानक भील शहीद हो गये। भीड़ नानक भील की लाश को ले गई और उनका अंतिम संस्कार करते वक्त नयनूराम शर्मा द्वारा रचित निम्न लोकगीत गाया गया जो सामन्ती अत्याचार शोषण का सामना करने वाले बूंन्दी के किसानों की दारुण दशा के साथ साथ सत्याग्रह पर डटे रहने की उनकी दृढ़ता का संगीतमय दस्तावेज है। गीत के अनुसार, नानक भील स्वर्ग जा रहे हैं और पंच लोग उनके हाथों परमात्मा को अर्जी भेजते हैं–

लेता जाजो जी नानक जी भील पर्ची पंचा की। लेता जाजो जी .....
दीजो म्हारी अर्जी जाकर परम पिता के हाथ
बून्दी की दुखिया परजा की कीजो सारी बात
दुख्यो धरम पाप छायो छै नीत राज की खोटी
बालक बूढ़ा पंचाँ रात दिन फिर भी मिलै न रोटी

तन ढकवा सारू न चीथरा नान्या डोलै नांगी
फिर भी पापी म्हांके उपर गोल्या भर भर दागी
राजा जी दारू पी सूतो गोला लूट मचाई।
सब रैयत न लूट लूट मोटी हेल्यां बणवाई।
भुगती घणी दुखी म्हे रहयत अब तो कंठ तक डूबी।
मरबा सारूसत्याग्रह पर अब तो डट कर उबी।
अब तो दो में एक किनारा पर ही रहसी बात
कै तो यो अन्याय मिटेगो के म्हाका सिर साथ।[9]

इस प्रकार भरी सभा में नानक की शहादत से बरड़वासियों के हौंसले पस्त नहीं हुये बल्कि सत्याग्रह पर डटे रहने का संकल्प और मजबूती से लिया गया। बिजोलिया से शुरू हुये किसान आन्दोलन का असर बेंगू, पारासली, मावली, सिरोही, बरड़, सीकर आदि राजस्थान के कई इलाकों में फैल चुका था। सत्याग्रह आन्दोलन को गीतकारों ने बहुत मजबूती दी। वैसे तो कई गीतकारों ने आन्दोलन को गति दी लेकिन मेवाड़ के अंधे गायक भँवरलाल प्रज्ञाचक्षु के गीतों के असर से आततायी बूंदी सरकार भी विचलित हो उठी थी और गीत गाने के लिये ही प्रज्ञाचक्षु को कारावास भोगना पड़ा था। अन्य आन्दोलनकारियों के साथ उन्हें बूंदी राज्य ने 2 वर्ष का कारावास दंड दिया था।[10] सत्याग्रह सम्बन्धी उनके एक लोकप्रिय गीत के कुछ अंश इस प्रकार है–

सत्याग्रह की रेल
सत्याग्रह की रेल ऊपरमाल सूँ चली।
तीन बरस डूँगर पै घूमी हेरी गली गली।।
रावड़दा सूँ टक्कर खाकर बेंगूँ में मिली।। सत्याग्रह .....
आगे बढ़ कर जाबो चाही, देखी मावली।
जाटां ने तो पटरी तोड़ी बारवाँ हली।। सत्याग्रह .....
बस्सी हेर पालको हेर्‌यो बरड़ की नली।
पाछो ई को अंजन लौट्‌यो सादड़ी चली।।[11] *सत्याग्रह .....*

सत्याग्रह करने वालों पर संगीन जुर्मों के मिथ्यारोप लगा कर जब उन्हें हथकड़ियों और बेड़ियों में बाँध कर जेल में डाल दिया गया तो वहाँ भी ये मर्दाने सत्य के लिये जेल जाने और मौत को गले लगाने के लिये गा उठे –

हाँ ! रे सत की बेड़ियाँ को लंगर सरणाता बाजे रे।। सत की बेड़ियाँ का लंगर।
जेलां में जावाँ मौज्याँ उड़ावाँ, अन्यायाँ की तलवाराँ माथा पे नाचे रे।। सत ....
मरजावाँ पर सत नहीं छोड़ा, म्हाकी हिम्मत के ऊपर सुनहरी गाजे रे।[12] *सत...*

हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन की एक खूबसूरती यह थी कि सार्वजनिक कार्यकर्ता

एवं स्वतन्त्रता सेनानी अधिकांशत: अच्छे गायक अथवा कवि भी थे। वे संघर्ष का जो जीवन जी रहे थे, गाँधी के सपनों का जो भारत वे बनाना चाहते थे वह उनके मनोमस्तिष्क में इतना रचा बसा था कि वह गीत या कविता में ढल कर संघर्ष को मनोरम एवं सर्वव्यापक बनाता था। हाड़ौती क्षेत्र में बूंदी के अभयकुमार पाठक, कोटा के नयनूराम शर्मा, गौरी लाल गुप्त (हाड़ौती हृदय), कवि सुधीन्द्र, इन्द्रदत्त स्वाधीन, शम्भुदयाल सक्सेना, भैरव लाल काला बादल, रूद्रदत्त मिश्र, मदनलाल पंवार, तन सुख लाल मित्तल, झालावाड़ के राष्ट्रीय कवि गिरधर शर्मा आदि के नाम इसमें प्रमुखता से लिये जा सकते हैं। गाँधी के केवल राजनीतिक आन्दोलन ही नहीं, उनके रचनात्मक कार्यक्रम का संदेश देने वाले गौरी लाल गुप्त के गीत की कतिपय पंक्तियाँ इस प्रकार हैं –

सत्याग्रह सूँ लड़वो सीखो, गाँधी कहवै रै ।
घर घर में सब सूत कात कर दुखड़ो मेटो रै।।
देसी चीजाँ खाओ पीओ कपड़ो देसी रै।
अंगरेजाँ ने नास कर्‌या छै, धंधा देसी रै।। मरदाँ जागो रे।

एक गीत में गाँधी टोपी धारण करने वाले राष्ट्र नायकों के लिये हाड़ौती हृदय गा उठते है –

धीराँ बोलो जी, धीराँ धीराँ बाताँ प्यारी जी।
म्हानै आछा लागै ये सब टोपी धारी जी
खादी छै कपड़ा सारा, भोजन सादो जी।
आजादी लेबा की बाताँ म्हाने भावै जी। धीराँ बोलो जी .....
थाँके साथ लाड्‌ली थाँकी पत्नी प्यारी जी।
बेटा बेटी खादी धारी, जेलाँ प्यारी सी।।[13] *धीराँ बोलो जी .....*

कोटा के स्वतंत्रता सेनानी तनसुख लाल मित्तल ने सभाओं, जुलूसों, झंडाभिवादन एवं प्रभातफेरियों जैसी राष्ट्रीय गतिविधियों में व्यवस्थित गायन के लिये विभिन्न गीतों का 'राष्ट्रीय गायन' नाम से संकलन 1939 में प्रकाशित कराया था। कोटा में निम्न गीत हर आन्दोलनकारी की जबान पर रहता था, जिसे लोग अभी भी भूले नहीं हैं –

नहीं रखनी नहीं रखनी, नही रखनी सरकार, जालिम नहीं रखनी।
मुसलमान का मक्का खोया, मुसलमान का मक्का खोया
सिक्खों का दरबार, जालिम नहीं रखनी।।
जलियाँ वाले बाग के अंदर नि:शस्त्रों पर गोली चलाकर,
मारे कछूक हजार, जालिम नहीं रखनी।।
नेहरू जी को जेल बिठाया, पटेल जी को पकड़ बिठाया,

लाला जी पर लट्‌ठ चलाया, गाँधी जी को जेल बिठाया,
ऐसी है बदकार जालिम नहीं रखनी।।[14]

तनसुख लाल मित्तल की रचना की निम्न पंक्तियाँ लम्बे समय तक हाड़ौती के लोक कण्ठों की स्थायी सम्पत्ति बनी रही –

देसी कपड़ा की परतिज्ञा लेकर ऊने पालो रे।
परदेसी कपड़ा की अव तो होली बालो रे।।[15]

गाँधी के शराब बन्दी के कार्यक्रम का संदेश काला बादल ने हाड़ौती में इस प्रकार जन जन तक पहुँचाया–

दारू मत पिवो ढोला, करे छे लोग घणी निन्दा।
गोकल गाँधी यों कहें छै दारू पीबो खोटो।
सब जग तो दारूड़ियों कहवे, घर में नित को टोटो।[16]

भारत छोड़ो आन्दोलन के साथ अगस्त 1942 में कोटा में हुई रक्तहीन क्रान्ति को गाँधीवादी राष्ट्रीयता में राजस्थान का श्रेष्ठ योगदान कहा जा सकता है। उसका वर्णन करते हुये हाड़ौती जनार्दन ने लम्बा गीत लिखा था जिसकी कतिपय प्रासंगिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं –

अहिंसक ज्वालामुखी–प्रलय का रूप सा,
गूँजे ब्रम्हाण्ड में यो नारे असहयोग के।
कोतवाली कोटा की बनी राजधानी सी,
ऊपर लहर लहर लहराने तिरंगा लगा।
अहिंसक विप्लव का सफल प्रयास था,
गाँधी टोपी वालों का हुआ सब पर राज था।
सार्वभौम सत्ता का गाँधी टोपी ताज था,
निर्भय सुख शान्ति का पुनीत राम राज था।।[17]

हाड़ौती की कोटा एवं बूंदी की रियासतों के जन आन्दोलन जहाँ गाँधीवादी राष्ट्रीयता के अनुगामी बन कर सत्य अहिंसा का झंडा लहरा रहे थे, वहाँ झालावाड़ जैसी अपेक्षाकृत नयी और छोटी रियासत के एक पारम्परिक कथा वाचक बाबू लाल शर्मा ने जागृति के जो गीत लिखे उनमें गाँधी का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है–

(धुन– मोरे पिया चले परदेस लगा कर ठेस .....)
बढ़ चलो देस की लार मिलूर खार, अय जिन्दा बाजों
दो आजादी आवाजों।
गाँधी जी ने फरमान दिया, नेहरू जी ने ऐलान किया,
सब गोल बना नर संघ करो सरताजों।। दो आजादी आवाजों

मत मरने से दहलाओ तुम, झन्डे के नीचे आओ तुम,
एक साथ बजाओ अहिंसा सत्य के साजों।।
मत डरो सत्य संकल्प करो, संखनी फूट पर वार करो।
कह बापू अमर, फिर धमधमाट से गाजो।।[18]

हाड़ौती के कार्यकर्ताओं ने हर प्रकार के दमन एवं शोषण का प्रतिकार अहिंसा पर आधारित सत्याग्रह की पद्धति से किया और उनके गीतों में भी वह अभिव्यक्त हुई। गाँधी की राष्ट्रीयता का एक अभिन्न आर्थिक पहलू स्वदेशी था जिसकी आधारशिला खादी थी। यहाँ के सेनानियों ने राष्ट्रीय अस्मिता के रूप में खादी को अपनी एकमात्र वेशभूषा बनाया और वही खादी उनका गीत बन गई। गौरी लाल गुप्त ने खादी बुनने के लिये बनाई जाने वाली सूत की ढेरी (कूँकड़ली) पर गीत लिखा जो हाड़ौती का स्वाभिमान और आत्मविश्वास बन कर लोकप्रिय हुआ। 'राजस्थानी फूँकड़ली' नाम इस गीत में गाँधी का रचनात्मक कार्यक्रम इस प्रकार मुखर हो उठा था –

राजस्थानी कूँकड़ली (तर्ज बूंदी की भाँगड़ली)[19]
म्हाँ भी काताँगा अन्दाता भारत प्यारी कूँकड़ली ।। टेर।।
रेंट्यो मन में गयो समाय, मोहन हातां आप चलाय।
सत को सूत गले पहराय, दुख में सब के आड़ो आय।।
तकुवा छान गुणां की खान मँगा दो लाराँ पूनड़ली। म्हाँ भी .....
हाताँ ईं काताँ सुन्दर सूत जीं का वस्त्र बणै मजबूत।
ओढे भारत पूत सपूत, मेटे ऊँच नीच की छूत।।
राँखा आन दिखावाँ सान, मिटावाँ म्हाकी चूकड़ली। म्हाँ भी .....
होवे जींसू देष सुधार अरू दीनन को अति उपकार।
जावे पराधीनता हार रध सध पड़े चरणझकमार।।
कर कल गान बढ़ावाँ मान, भगावां घर की भूखड़ली। म्हाँ भी .....

गुप्त का एक अन्य गीत, राजस्थान की महिलाओं के माध्यम से गाँधी चिन्तन के अनेक आयामों को जन जन तक पहुँचाता हुआ–

राजस्थान जगावाँ री
चालो री सहेल्याँ आपण राजस्थान जगावाँ री।
वीराँ ने जगावाँ, सूता सिंह ने उठावाँ री।।1।।
मोटो खावाँ, मोटो पहराँ, पाछो सतयुग लावाँ री,
घर को घट्टी चाटे, पैला मौज करे समझावाँ री।।2।।
अन्यायाँ के आगे डर कर कदीयन षीष झुकावाँ री,
सत के ऊपर साँई ऊबो, अड़जावाँ मर जावाँ री।।3।।

नव युवकाँ मे नव जीवन को नव संचार करावाँ री।
छोटा बड़ा बराबर होवे, असी भावना भांवाँ री।।4।।
बेटा वीर शिरोमणि म्हाँका, फिर क्यों भूँख लजावाँ री।
स्वतंत्रता को जंग जुड्यो, पछडयाँ सूँ पछतावाँ री।।[20]

ऐसे ही एक गीत की रचना भैरवलाल काला बादल ने की जिसकी तर्ज हाड़ौती के लोकप्रिय गीत 'तावड़ा मदरो सो पड़जे' की तर्ज पर होने के कारण आम जन को सीधे आकर्षित करती थी। इस गीत की कतिपय पंक्तियाँ इस प्रकार हैं –

भँवर परनारी मत ताको जी, भँवर पर नारी मत तको।
घर की सुन्दर नार छोड़कर, डोल्याँ मत डाँको।।
कपड़ो पहरो हाथ को जी भारत माँ का पूत।
भँवर जी भारत माँ का पूत।
घर घर में चरखो चले जी, सब मिल काताँ सूत।।[21]

इस प्रकार के अनेकानेक लोक गीतों की रचना और लोकप्रियता से प्रमाणित होता है कि राजस्थान की रियासतों में भले ही गाँधी न आये हो, लम्बे समय तक गाँधी और कांग्रेस भले ही रियासती इलाकों में आन्दोलन के प्रति अहस्तक्षेप की नीति अपनाते रहे हों लेकिन यहाँ की जनता ने गाँधीवादी राष्ट्रीयता के विभिन्न सिद्धान्तों, तकनीकों और मूल्यों को अपनाकर भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ कदमताल करने की सार्थक कोशिश की। तत्कालीन दौर में रचे गये लोकगीत इसका सर्वाधिक सहज, प्रमाणित एवं देशज स्रोत है जिनका उपयोग कर हाड़ौती की जनता के गाँधीवादी राष्ट्रीय आन्दोलन में योगदान को बेहतर ढंग से समझा जा सकता है। यही नहीं सन् 1947 में भारत को आजादी मिलने के थोड़े दिन बाद ही जब गाँधी की हत्या कर दी गई और जब नये नेता गाँधीवादी राष्ट्रीय मूल्यों से दूर होने लगे तो इस विचलन को भी हाड़ौती की जनता ने लोकगीतों में ढाल कर साबित कर दिया कि उसकी निगाह से यह छुपा नहीं है। हाड़ौती के स्वतन्त्रता सेनानी, लोक प्रिय गीतकार और हाड़ौती के नेता भैरव लाल कालाबादल के कई गीतों में इस भटकाव को दर्ज किया गया। इसके कुछ उदाहरण इन बोलों में प्रकट हुये हैं–

1. *भोली भाली माछली ने, यह बगला भगत फँसाई।*
   करसाणा का बोट माँगबा, बहरूप्या बण आई।।
   गाँधी जी की मंशा छी, यहाँ करसाँ बणे प्रधान।
   जीं के नीचे नेहरू बैठे, करे देष का काम।।
2. *खेत बो गये गाँधी बाबा, फसल खड़ी लहरावै।*
   खड़ो रूखालो एक जवाहर बाड़उखेत ने खावै।।

3. *गाँधी का नाँव सूँ रे भली मचाई लूट।*
खूब लड़ावे घणा लड़े छ गुटबन्दी में फूट
डील पे छेदिखावटी रे, देषी खादी टाट।
कोठी में परदेषी गद्दा, पर्दा रेषम पाट।।[22]

इस प्रकार हाड़ौती के लोकगीतों में न केवल गाँधीवादी राष्ट्रीयता के लोक इतिहास का खजाना छुपा है बल्कि इसमें राजस्थानी भाषा की एक प्रमुख बोली 'हाड़ौती' की सम्पदा भी संग्रहीत है। इनके संग्रहण एवं अध्ययन द्वारा गाँधीवादी राष्ट्रीयता के लौकिक स्वरूप का इतिहास लेखन करने में उल्लेखनीय मदद मिल सकती है। इसके साथ ही हाड़ौती भाषा की शब्द, भाव सम्पदा एवं लोक धुनों को बचाया जा सकता है जो फिल्मी धुनों की बलिवेदी पर निरन्तर कुर्बान हो रही है।

सदर्भ

1. *धीरेन्द्र वर्मा, कृष्णदेव उपाध्याय कृत लोक साहित्य की भूमिका, साहित्य भवन, इलाहाबाद 1957, भूमिका में*
2. *रामनरेश त्रिपाठी, कविता- कौमुदी, पाँचवा भाग, ग्राम ग्रीत, हिन्दी मंदिर, प्रयाग, 1929 (सम्वत 1986), पृ. 41*
3. *चन्द्रशेखर भट्ट, हाड़ौती लोकगीत, कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर, 1966 पृ. 27*
4. *कन्हैयालाल शर्मा, हाड़ौती बोली और साहित्य, साहित्य अकादमी (संगम), पृ. 2*
5. *रामसिंह, सूर्यकरण पारीक, नरोत्तमदास स्वामी, राजस्थान के लोकगीत, 1938, राजस्थानी ग्रन्थागार, दूसरा संस्करण 2019, पृ. 23*
6. *जगदीशसिंह गहलोत, राजपूताने का इतिहास, द्वितीय भाग, हिन्दी साहित्य मंदिर, जोधपुर, सम्वत् 2017 (सन् 1960), पृ. 3*
7. *जॉर्ज ग्रियर्सन (अनुवादक आत्माराम जाजोदिया), भारत का भाषा सर्वेक्षण, जिल्द नवीं, भाग दूसरा, राजस्थान भाषा प्रचार सभा, जयपुर, 1924, पृ. 158*
8. *अभय कुमार पाठक, बूंदी का स्वातंत्र्य आन्दोलन, दैनिक नवज्योति, कोटा, 8 फरवरी,1986*
9. *अखबार राजस्थान, दिनांक 6अप्रैल1936 में प्रकाशित अर्जी की नकल, बूंदी रिकॉर्ड, बस्ता नम्बर 1, फाइल नम्बर 21, कांन्फिडेन्शियल, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर*
10. *राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, बूंदी रिकॉर्ड्स, फाइल नं. बी 11, 1924-25, पृ. 14*
11. *ऊपरमाल किसान भजनावली, राजस्थान प्रकाशन भवन, बिजोलिया, पृ. 11-12*
12. *अभय कुमार पाठक, स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी संस्मरण परियोजना, पृ. 16, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।*
13. *मनोहर प्रभाकर, आजादी का अलख, जनजीवन प्रकाशन, जयपुर, 1986, पृ. 118-119*
14. *तनसुख लाल मिततल (संकलनकर्ता), राष्ट्रीय गायन, प्रकाशक भँवर लाल विजय, मित्रमंडल कोटा, 1939, पृ. 10*
15. *शान्ति भारद्वाज राकेश, सम्पादकीय, हाड़ौती का स्वतन्त्रता संग्राम, हाड़ौती शोध संस्थान, कोटा, 1973, पृ. ब*
16. *रामनारायण मीणा हलधर, ओम नागर (सम्पादक) काला बादल रे, बोधि प्रकाशन, 2017, पृ. 199*
17. *श्री हाड़ौती जनार्दन, कोटा की रक्तहीन क्रान्ति, लोकसेवक, 31.12.1945, पृ. 9*
18. *रा.रा.अ. बीकानेर, विविध समाचार पत्र, बस्ता नम्बर 5, फाइल नं. 81, सन् 1923 से 1953*
19. *राजस्थानी कूँकड़ली, तरुण राजस्थान, 4 मई 1924, प्रेस कटिंग, बस्ता-2, फाइल नं. 6*
20. *राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, कोटा रिकॉर्ड्स, फाइल नं.40*
21. *रामनारायण मीणा हलधर, ओम नागर, पूर्वोक्त 206*
22. *वही, पृ. 1766 184*

सविनय अवज्ञा आन्दोलन और प्रांतीय कांग्रेस समिति-अजमेर (1930-31)

डॉ. विधि शर्मा

प्रांतीय कांग्रेस समिति, अजमेर के क्षेत्राधिकार में अजमेर मेरवाड़ा के अतिरिक्त राजपूताना तथा केन्द्रीय भारत के देशी राज्य सम्मिलित थे। अत: इसे 'राजपूताना (अजमेर मेरवाड़ा सहित) तथा केन्द्रीय भारत प्रांतीय कांग्रेस समिति' कहा जाता था। इसके क्षेत्राधिकार में सम्मिलित क्षेत्रों में अजमेर मेरवाड़ा का लघु प्रांत ही एक मात्र ब्रिटिश शासित क्षेत्र था, यही कारण है कि इस क्षेत्र में सविनय अवज्ञा आन्दोलन की गतिविधियाँ का तात्पर्य मुख्यत: अजमेर-मेरवाड़ा को गतिविधियों से था, क्योंकि इस समय तक कांग्रेस को देशी राज्यों में राजनीतिक कार्य करने की अनुमति नहीं थी। जयपुर, इन्दौर, उज्जैन, ग्वालियर तथा भोपाल जैसे देशी राज्यों में सृजनात्मक कार्य जारी थे, जो प्रत्यक्षत: सविनय अवज्ञा से संबद्ध नहीं थे।

दिसम्बर 1929 में जैसे ही प्रांतीय कांग्रेस समिति (पी.सी.सी.) के चुनाव सम्पन्न हुए इसने प्रचार कार्य संगठित करना प्रारंभ कर दिया। प्रस्ताव पारित किया गया कि ईस्टर की छुट्टियों में अजमेर में एक पॉलिटिकल कांन्फ्रेन्स का आयोजन किया जाए किन्तु जैसे ही स्वतन्त्रता दिवस का कार्यक्रम प्रान्तीय कांग्रेस समिति (पी.सी.सी.) के समक्ष आया, सारी ऊर्जा उसे सफल बनाने की दिशा में लगा दी गई।

स्वतन्त्रता दिवस (26 जनवरी 1930)

स्वतन्त्रता दिवस के आयोजन के संदर्भ में सभी जिला व कांग्रेस समितियों को प्रपत्र (सर्कुलर) जारी किए गए और जो प्रतिक्रिया प्राप्त हुई, वह अनपेक्षित थी। अजमेर, ब्यावर, नसीराबाद, केकड़ी, पुष्कर, हटूंडी के ब्रिटिश शासित क्षेत्र तथा भोपाल, इन्दौर, उज्जैन, रामगढ व अमरसर जैसे देशी राज्यों में बड़े उत्साह के साथ स्वतन्त्रता दिवस बनाया गया। अजमेर तथा ब्यावर में राष्ट्रीय ध्वज फहराया गया, जुलूस निकाले गए।[1] वहीं देशी राज्यों में सभाओं तथा खादी फेरियों का आयोजन किया गया। नीमच में मजिस्ट्रेट ने राष्ट्रीय ध्वज फहराने व स्वतन्त्रता प्रस्ताव पढ़ने पर प्रतिबन्ध लगा दिया फलत: वहाँ जुलूस निकाला गया जो अन्तत: सभा में बदल गया जहाँ खादी प्रयोग व अस्पृश्यता निवारण पर भाषण दिए गए। जयपुर में इस दिन सुधारक मण्डल द्वारा लोगों

 ISSN 2321-1288

से खादी फेरी में शामिल होने का आह्वान किया गया किन्तु मजिस्ट्रेट ने मण्डल के सचिव चिरन्जी लाल लुहाडिया को ऐसी किसी कार्यवाही से दूर रहने की चेतावनी दी। चूंकि कांग्रेस ने देशी राज्यों में सविनय अवज्ञा आन्दोलन का आह्वान नहीं किया था अत: नीमच तथा जयपुर में मजिस्ट्रेट के आदेशों का उल्लंघन नहीं किया गया। अजमेर तथा ब्यावर में व्यापक पुलिस व्यवस्था की गई थी।[2] वर्ष 1938 से पूर्व तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने देशी राज्यों में राजनैतिक कार्य करने से विलग रहने की नीति का अनुसरण किया।

सरकार की घबराहट

उत्साहपूर्ण माहौल में स्वाधीनता दिवस के आयोजन से राष्ट्रीय चेतना में आए उभार से स्थानीय सरकारी अधिकारियों को घबराहट होने लगी और इस नई शुरूआत के दमन के लिए त्वरित प्रयास प्रारंभ कर दिए गए। सरकारी कर्मचारियों को कांग्रेस से जुड़ने के खिलाफ चेतावनी दी गई। दयानन्द एंग्लों वैदिक (डी.ए.वी.) स्कूल के शिक्षक चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय के नेतृत्व में कुछ छात्रों ने स्वाधीनता दिवस के आयोजन में भाग लिया जिसके कारण सरकार ने डी.ए.वी. स्कूल को 'कारण बताओ' नोटिस जारी कर दिया। नसीराबाद के 'व्यौपारिक विद्यालय' के प्रधानाध्यापक बनवारी लाल को भी स्वाधीनता दिवस कार्यक्रम में भाग लेने के कारण बर्खास्त कर दिया गया। उपरोक्त दोनों के अलावा अजमेर के सरकारी उच्च विद्यालय में अस्थायी शिक्षक छुट्टन लाल मथूरिया व गवर्नमेन्ट कॉलेज के छात्र दामोदर दास माथुर को भी स्वाधीनता दिवस कार्यक्रम में भाग लेने की सजा भोगनी पड़ी। दिल्ली तथा अजमेर- मेरवाड़ा क्षेत्र के शिक्षा अधीक्षक ने आदेश जारी किया कि उपर्युक्त चारों को भविष्य में अजमेर-मेरवड़ा के किसी सरकारी अथवा सरकारी अनुदान प्राप्त विद्यालय में नियुक्त नहीं किया जाए।[3] इस भाँति केकड़ी के म्युनिसिपल विद्यालय के अध्यापक रघुनाथ प्रसाद को भी स्वाधीनता दिवस कार्यक्रम में भागीदारी के लिए बर्खास्तगी की सजा भुगतनी पड़ी।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन की तैयारी

लाहौर कांग्रेस द्वारा पारित प्रस्ताव (दिसम्बर 1929 के लाहौर अधिवेशन में कांग्रेस ने 'पूर्ण स्वराज' को अपना लक्ष्य घोषित किया तथा कांग्रेस कार्यकारिणी को सविनय अवज्ञा आन्दोलन छेड़ने का अधिकार प्रदान किया) की अनुपालना हेतु पी.सी.सी. ने प्रान्त में सविनय अवज्ञा आन्दोलन छेड़ने के लिए आधार तैयार करना प्रारम्भ कर दिया। समाचार पत्रों तथा पर्चो के माध्यम से चंदे की मांग की गई तथा कार्यकर्त्ताओं एवं स्वयंसेवकों को आगे आने के लिए आह्वान किया गया। किन्तु पहली प्रतिक्रिया निराशाजनक थी क्योंकि सन् 1921 के अपने अनुभव के आधार पर जनता ने भावी आन्दोलन को अविश्वास की दृष्टि से देखा। अत: पी.सी.सी. के जनरल सेक्रेट्री

हरिभाऊ उपाध्याय ने प्रचार के लिए प्रान्त का विस्तृत दौरा किया और कांग्रेस हेतु अच्छी मात्रा में चन्दा एकत्र किया तथा पर्याप्त मात्रा में स्वयंसवकों की भर्ती में भी सफल रहे।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन के संदर्भ में काम करने के लिए पी.सी.सी. ने प्रान्त में उन क्षेत्रों, जहाँ से सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ किया जा सकता था, का पता लगाने के लिए, एक उपसमिति गठित की तथा हरिभाऊ उपाध्याय को प्रथम प्रान्तीय डिक्टेटर चुना गया। प्रो. गोकुल लाल असावा, शोभालाल गुप्त, बैजनाथ महोदय, श्रीमती रमा जोशी, विनायक राव क्रमशः द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठम प्रान्तीय डिक्टेटर चुने गए।[4] कालान्तर में उपाध्याय की गिरफ्तारी के बाद पी.सी.सी.के प्रतिनिधियों ने निश्चित किया कि सारी शक्ति कार्यकारी समिति को सौंप दी जाए क्योंकि ऐसी आपात स्थिति में पी.सी.सी. के लिए जल्दी-जल्दी मिलना संभव नहीं हो पाएगा। डिक्टेटरशिप प्रणाली को भी समाप्त कर दिया गया।

राष्ट्रीय सप्ताह

राष्ट्रीय सप्ताह मनाने तथा महात्मा गाँधी की ऐतिहासिक यात्रा के सन्दर्भ में व्यापक व्यवस्था की गई। अजमेर व ब्यावर में कई स्थानों पर बड़ी सभायें हुई और जुलूस निकाले गये। अजमेर में राष्ट्रीय सप्ताह का उद्घाटन देवदास गाँधी (महात्मा गाँधी के पुत्र) जो पी.सी.सी. की विशेष विनती पर अजमेर आए थे, ने किया।[5]

नमक सत्याग्रह

इस समय तक प्रान्त की जनता ने कांग्रेस की गतिविधियों में रुचि दिखाना प्रारम्भ कर दिया और व्यग्रता से यहाँ नमक कानून के उल्लंघन की प्रतीक्षा करने लगी। राष्ट्रीय सप्ताह के दौरान जनसभाओं में प्रत्यक्ष प्रदर्शन तथा कांग्रेस बुलेटिन के माध्यम से नमक उत्पादन की प्रक्रिया को जनता को समझाया गया। 20 अप्रेल को पी.सी.सी. द्वारा प्रान्त में नमक कानून तोड़कर नमक सत्यागृह प्रारंभ करने के लिए कार्यक्रम निर्धारित किया था किन्तु जनता इतनी अधीर हो रही थी, विशेषतः ब्यावर में, कि निजी तौर पर प्रतिबंधित नमक का उत्पादन 20 अप्रेल से पूर्व ही कर लिया गया। ब्यावर में हिन्दुस्तान सेवा दल द्वारा 6 अप्रेल को हजारो लोगों की उपस्थिति में नमक कानून तोडा गया।[6] 11 अप्रेल को नगरा में आयोजित जनसभा में जिला कांग्रेस समिति के सचिव नृसिंहदास अग्रवाल तथा विजय सिंह पथिक ने सम्बोधित किया और जनता को नमक कानून तोड़ने के लिए प्रेरित किया।[7]

अजमेर में रामगंज मैदान में अप्रत्याशित जनउत्साह के मध्य 20 अप्रेल को हरभिाऊ उपाध्याय के नेतृत्व में सिविल नाफरमानों (Civil Resisters) के एक जत्थे द्वारा नमक कानून तोड़ा गया। नमक का उत्पादन कर उसी निलामी की गई। 22 अप्रेल

को नित्यानन्द नागर घीसूलाल की बगीची में नमक कानून तोड़ते हुए गिरफ्तार किए गए।[8] पूरे एक माह 6 अप्रेल से 5 मई तक अजमेर तथा ब्यावर में कई बार तथा नसीराबाद में एक बार नमक कानून तोड़ा गया।[9] नसीराबाद के निकट रामसर में, जहाँ परम्परागत रूप से नमक उत्पादन से जुडा 'खरवाल' वर्ग बहुसंख्या में निवास करता था, एक लघु नमक कारखाना स्थापित किया गया। स्थानीय अधिकारियों ने नमक कानून तोड़ने की गतिविधियों के प्रति सजग किन्तु उदासीन दृष्टि रखी और अजमेर तथा ब्यावर में मात्र एक बार नमक उत्पादन को रोकने के लिए बल प्रयोग किया गया। 20 मई को 25 पुलिस कान्स्टेबलों के दल ने रामसर के नमक कारखाने पर छापा मारकर नमक बनाने के उपकरण तथा तीन सेर नमक बरामद किया। यह कार्यवाही सुबह-सुबह की गई जबकि अधिकांश कार्यकर्ता कैम्प से बाहर थे, वहाँ उपस्थित तीन कार्यकर्ताओं द्वारा असफल प्रतिरोध भी किया गया।[10]

विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार

मई माह में कांग्रेस स्वयंसवकों जिनमें महिलाए प्रमुख थी, द्वारा विदेशी वस्त्रों की दुकानों पर धरना देना प्रारम्भ कर दिया गया। अजमेर, ब्यावर, नसीराबाद में धरने तभी समाप्त हुए जब वस्त्र व्यापारियों ने कांग्रेस स्वयंसेवकों की निम्न शर्तो को स्वीकार कर लिया, कि-

(अ) वे विदेशी वस्त्रों का वर्तमान में उपलब्ध स्टॉक ही बेचेंगें।

(ब) आगामी दिवाली तक विदेशी वस्त्र खरीदने के लिए नया आर्डर नहीं देगें।

केकड़ी में धरने की कार्यवाही के बिना ही वस्त्र विक्रेताओं ने उपर्युक्त शर्तों को मान लिया। विदेशी वस्त्रों की दुकानों पर कांग्रेस स्वयंसेवकों के धरने वर्षपर्यन्त चलते रहे। जब जब वस्त्र व्यापारियों द्वारा उपरोक्त शर्तों का उल्लंघन किया गया, तब तक धरने पुनः प्रारम्भ कर दिए गए। दुकानदारों पर इन धरनों का व्यापक प्रभाव पड़ता था। उदाहरणार्थ नवम्बर माह में New Weaving and Trading Company Mill व अजमेर स्थित उसकी दुकानों पर धरना दिया गया जिसके परिणाम स्वरूप अन्ततः 16 नवम्बर को मिल ने अपने स्टॉक पर कांग्रेस की मुहर लगवाई।[11]

नवम्बर 1930 से से फरवरी 1931 के मध्य विदेशी वस्त्रों की दुकानों पर धरना देने की कार्यवाहियों में अधिक जुझारूपन दिखाई देता है। इस समय दुकानदारों ने इन धरनों के प्रति हिंसक प्रतिक्रिया व्यक्त करना प्रारंभ कर दिया था। दिसम्बर 1930 से अजमेर के घसीटी बाजार, नया बाजार व नला बाजार में विदेशी वस्त्र केन्द्रों पर धरने दिए गए। घसीटी बाजार में वस्त्रों की कुछ दुकाने मुसलमानों की थी, जब उन पर धरना दिया तो धरनार्थियों को क्रूरतापूर्वक पीटा गया व अपमानित किया गया किन्तु इसके बावजूद

भी जब धरने जारी रहे तो मुस्लिम दुकानदारों व ग्राहकों द्वारा धरनार्थियों को पीटा जाना रोज की घटना हो गई। एक धरनार्थी स्वयंसेवक प्यारचन्द को पीटा गया तथा कमरे में बन्द कर दिया गया। नया बाजार की हिन्दू दुकानों पर भी धरना देने वालों को पीटा गया। विदेशी वस्त्र खरीदने तथा धरनार्थियों को पीटने के लिए पुलिस द्वारा भी कुछ एजेन्ट भेजे गए। एक अवसर पर तो, ऐसे एजेन्टस को विदेशी वस्त्र खरीदने से रोकने वाले 6 धरनार्थियों को IPC की धारा 147 के तहत गिरतार कर लिया गया। तब से नया बाजार में लाठियों से लैस पुलिस दल नियुक्त कर दिया गया, किन्तु तब भी धरने जारी रहे लेकिन सन्तोषजनक परिणाम नहीं मिले, सिवाय इसके कि छोटे दुकानदारों ने स्टॉक सील करवा लिए। ब्यावर में कुछ ही धरनों के बाद विदेशी वस्त्र स्टॉक सील कर दिया गया।[12]

जनवरी-फरवरी 1931 में भी धरनें तथा धरनार्थियों के साथ दुर्व्यवहार की घटनाएँ जारी रही। नया बाजार में एक व्यापारी बालकिशन की दुकान पर धरना दे रहे दो स्वयंसेवकों के साथ मारपीट की गई,उन्हें गम्भीर चोटे आई। इस घटना के विरोध स्वरूप तथा व्यापारियों को विदेशी वस्त्र स्टॉक को मुहरबन्द (सील) करवाने के लिए बाध्य करने हेतु 14 जनवरी 1931 को 6 स्वयंसेवकों ने भूख हड़ताल प्रारम्भ कर दी। दबाव में आए दुकानदारों ने एक निश्चित समझौता होने तक अपनी दुकाने बन्द रखने का निर्णय लिया फलत: भूख हड़ताल समाप्त कर दी गयी, किन्तु तत्काल बाद दूसरे स्वयंसेवकों ने अन्य सात दुकानों के समक्ष भूख हड़ताल करने का निश्चय किया। घबराए हुए व्यापारियों ने एक सप्ताह की हड़ताल करने का निश्चय किया। 17 से 23 जनवरी तक उनकी दुकाने बन्द रही। 28 जनवरी को जब दुकाने खोली गई तो पुन: धरने प्रारम्भ हो गए। अन्तत: व्यापारियों ने हार मान ली और अपने विदेशी वस्त्र स्टॉक को सील करवा लिया। नया बाजार व घसीटी बाजार के बाद केसरगंज में धरने दिए गए, पाँच दिन के धरने के बाद व्यापारियों ने अपने स्टॉक को सील करवा लिया इस प्रकार मध्य फरवरी तक लगभग सभी हिन्दू वस्त्र व्यापारियों को अपने विदेशी वस्त्र भण्डार पर कांग्रेस की मुहर लगवानी पड़ी। तत्पश्चात् धरनार्थियों ने मुस्लिम वस्त्र व्यापारियों की दुकानों पर ध्यान केन्द्रित किया, पहले ही दिन धरना देने वाले स्वयंसेवकों को क्रूरतापूर्वक पीटा गया किन्तु स्वयंसेवक अपने ध्येय के प्रति दृढ़ थे। इस झड़प में तीन स्वयंसेवकों को गम्भीर चोटें आई, जिनमें प्रान्तीय डिक्टेटर के.वी.दान्ते भी शामिल थे। 10 फरवरी को भी स्वयंसेवकों को जूतों से बुरी तरह पीटा गया जिसमें स्वामी आत्मानन्द तथा प्यारचन्द को गम्भीर चोटें आई। 23 फरवरी तक मुस्लिम दुकानों पर धरने व धरनार्थियों को पीटने की ये घटनाएँ जारी रही, मुस्लिम दुकानदारों ने इस उद्देश्य से कुछ पठानों को भी नियुक्त किया। मुस्लिम दुकानदार अपने विदेशी वस्त्र भण्डार को सील करवाने के प्रति

अनिच्छुक थे फिर भी आन्दोलन की समाप्ति तक धरने जारी रहे।[13]

खादी एवं स्वदेशी

पी.सी.सी. ने खादी तथा स्वदेशी वस्तुओं के पक्ष में प्रचार पर भी ध्यान दिया, जो कि देशी राज्यों में कांग्रेस कार्यक्रम का प्रधान अंग था। कांग्रेस प्रचार के परिणामस्वरूप विदेशी विशेषत: ब्रिटिश वस्तुओं के प्रति स्वाभाविक विरक्ति की सामान्य भावना जनता में फैलने लगी। अजमेर तथा ब्यावर की बार कौंसिल के सदस्यों ने सर्वसम्मति से स्वदेशी वस्त्र प्रयोग, यथासंभव खद्दर प्रयोग और यथासंभव स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग की शपथ ली। जयपुर तथा ग्वालियर खादी निर्माण के प्रमुख केन्द्र थे। खादी की माँग अप्रत्याशित रूप से बढ़ी। ब्यावर में लगभग सभी जाति पंचायतों ने अपने सदस्यों को स्वदेशी वस्त्र प्रयोग के निर्देश दिए। अजमेर तथा ब्यावर में उत्साही युवकों ने धरने तथा अन्य माध्यमों से कुछ मन्दिर अधिकारियों को इस बात के लिए तैयार किया कि वे केवल स्वदेशी वस्त्र पहनने वालों को ही मन्दिर में प्रवेश दे। महिला स्वयंसवकों द्वारा घर-घर प्रचार के फलस्वरूप बहुसंख्यक स्त्री-पुरुषों ने भविष्य में विदेशी वस्त्र तथा ब्रिटिश वस्तुए नहीं खरीदने की शपथ ली। कांग्रेस के प्रयासों से स्वदेशीवाद अभूतपूर्व रूप से फैला।[14]

शराब का बहिष्कार

शराब विक्रेताओं को पूर्व नोटिस देकर स्वयंसेवकों ने 21 मई से अजमेर की छ: तथा ब्यावर की तीन शराब की दुकानों पर लगातार एक माह तक धरना दिया। ब्यावर के निकट राजियावास गांव की शराब की दुकान पर भी धरना दिया गया। इन सबसे उल्लेखनीय जनसहानुभूति उत्पन्न हुई तथा नियमित बिक्री पर 25 प्रतिशत तक की कमी आई। कुछ लोगों ने पूर्ण नशामुक्ति हेतु अपना पंजीकरण भी कराया।[15] किन्तु स्वयंसेवकों की कमी के तथा स्थानीय जनता के सहयोग के अभाव के कारण शराब की दुकानों के धरने रोकने पड़े। चौबीस घण्टे धरने देना संभव नहीं था, जो कि शराब के बहिष्कार को सफल बनाने के लिए अनिवार्य था, क्योंकि सरकार की शह पर पंजीकृत शराब केन्द्रों व बिक्री हेतु निश्चित घंटों की सीमा के बाहर खुले आम शराब बेची जाती थी।

शिक्षण संस्थानों के धरने

सर्वप्रथम मार्च 1930 में, स्वाधीनता दिवस कार्यक्रम में भाग लेने वाले अध्यापक चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय को बर्खास्त कर देने के विरोध स्वरूप डी.ए.वी.स्कूल पर धरना दिया गया। 31 जुलाई 1930 को अजमेर के सरकारी उच्च विद्यालय तथा गवर्नमेंट कॉलेज पर धरना दिया गया, जिससे उपस्थिति में 75 प्रतिशत तक की कमी आई। धरना दे रहे इक्यावन पुरुषों, सोलह महिलाओं व इक्कीस छात्रों को गिरफ्तार कर लिया गया।[16] धरने

में भाग लेने के कारण गवर्नमेंट कॉलेज के कुछ छात्रों को निष्कासित कर दिया गया फलत: धरना देने वालों की संख्या में वृद्धि हुई।[17] 16 व 24 जुलाई को कृष्णा देवी तथा गोपीलाल के नेतृत्व में ब्यापर में सनातन धर्म हाई स्कूल में धरना दिया गया, दोनों नेताओं को गिरफ्तार कर दिया गया किन्तु धरना जारी रहा। फलत: विद्यालय को कुछ समय के लिए बन्द करना पड़ा।[18] अगस्त में स्कूल अधिकारियों द्वारा स्थानीय कांग्रेस कमेटी से समझौता कर लेने के बाद ही धरना समाप्त हुआ।[19]

जनसभाएं व जुलूस

आन्दोलन के प्रारम्भ के साथ ही नियमित प्रभात फेरियां तथा कांग्रेस की सभाए प्रारम्भ हो गई। इन सभाओं में पुरुषों की उपस्थिति संख्या में उतार चढ़ाव व महिलाओं की संख्या में प्राय: वृद्धि की प्रवृति रही। अजमेर व ब्यावर में प्राय: जुलूस निकाले जाते थे। स्थानीय सरकार द्वारा जनसभाओं और जुलूसों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया किन्तु कई बार सभाओं व जुलूसों में विघ्न उत्पन्न करने का प्रयोग किया गया। सभाओं और जुलूसों ने बड़ी संख्या में लोगों को आकर्षित किया तथा प्रचार का मूल्यवान साधन सिद्ध हुई। अजमेर में पुलिस सिपाहियों का जत्था प्राय: हर सभा में, भले ही वह छोटी या कम महत्वपूर्ण ही क्यों न हो, में अपनी लाठियों के साथ उपस्थित रहता था।

साइमन कमीशन रिपोर्ट की शवयात्रा के रूप में निकाला जाने वाला जुलूस इस आन्दोलन का एक प्रमुख कार्यक्रम था। 29 जून 1930 को 200 लोगों ने कांग्रेस कार्यालय में साइमन कमीशन रिपोर्ट की शवयात्रा निकाली गई, केसरगंज पहुंचकर इसे विदेशी वस्त्रों के साथ जला दिया गया, 1000 लोग इसके साक्षी बने।[20] 2 जुलाई 1930 को ब्यावर कांग्रेस कार्यालय से बिचलरी चौक तक 400 लोगों ने जुलूस ने ऐसी ही शवयात्रा आयोजित की। पुष्कर में रामदत्त के नेतृत्व में एक छोटा जुलूस निकाला गया। जिसमें एक अंग्रेज का पुतला ठेले पर ले जाया गया, उस पर लगातार जूते मारे गए फिर उसे बस्ती खुर्द श्मशान में जला दिया गया।[21] 8 अक्टूबर को सजा की अवधि से पूर्व रिहा हुए सत्रह लोगों के सम्मान में अजमेर में जुलूस निकाला गया। 24 अक्टूबर को स्वयंसवकों ने एक छोटे दस्ते ने पुष्कर में एक जुलूस निकाला।[22]

जवाहर दिवस (14 नवम्बर) के दिन सभा व जुलूस का आयोजन किया गया। 26 जनवरी 1931 को स्वाधीनता दिवस के उपलक्ष में अजमेर के गाँधी चौक में ध्वजारोहण हुआ। दोपहर को एक बड़ा जुलूस निकाला गया जो गाँधी चौक पहुंचकर सभा में बदल गया जहाँ प्रान्तीय डिक्टेटर के.वी. दान्ते द्वारा स्वतन्त्रता की शपथ तथा स्मृति संकल्प पढ़ा गया तथा जनता ने उसे अक्षरश: दोहराया। मोती लाल नेहरू की मृत्यु का समाचार 6 फरवरी 1931 की रात को अजमेर पहुंचा। 7 फरवरी को शहर के हिन्दू

समुदाय ने पूर्ण हड़ताल की, मुसलमानों ने हड़ताल में भाग नहीं लिया। दोपहर को लोगों ने नंगे सिर एक जुलूस निकाला तथा गाँधी चौक में हुई एक सभा में सान्त्वना प्रस्ताव पारित किया गया।[23]

सभाओं के सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि 15 सितम्बर 1930 को स्थानीय कांग्रेस समिति को अवैधानिक घोषित कर देने तथा सभाओं में शामिल होने वाले गैर कांग्रेसियां की गिरफ्तारियों तथा उन्हें प्रताड़ित करने की घटनाओं के बाद सभाओं में उपस्थिति में गिरावट आई। उल्लेखनीय है कि केवल हिन्दू और विशेषत: सरकारी नौकरी करने वाले हिन्दूओं को ही सभाओं में भाग लेने पर प्रताड़ित किया जाता था। मुसलमानों के साथ 'फूट डालो राज करो' की नीति के तहत, दुर्व्यवहार नहीं किया जाता था।

हड़तालों का दौर

6 मई 1930 को गाँधी की गिरफ्तारी के विरोध में, अजमेर, ब्यावर, ग्वालियर, इन्दौर, उज्जैन, भूरवा तथा विजयनगर में पूर्ण हड़ताल का सफल आयोजन किया गया। उसके बाद हड़ताले अजमेर तथा ब्यावर में एक सामान्य कार्यक्रम बन गई। ब्यावर में नियमित रूप से स्वैच्छिक हड़ताले होती थी, जिनमें मजदूर भी भाग लेते थे, जबकि अजमेर में प्रारम्भ में लोगों से दुकानों को बन्द कराने में स्वयंसेवकों को कठिनाई का सामना करना पड़ा, किन्तु शनै-शनै: यह विरोध सहयोग में बदलने लगा तथा दुकानदार, तांगेवाले आदि सभी कांग्रेस के निर्देशों का स्वाभाविक रूप से पालन करने लगे।

सरकारी कानूनों का उल्लंघन

सरकारी कानूनों को सार्वजनिक रूप से तोड़ना आन्दोलन का प्रधान कार्यक्रम था। प्रतिबंधित साहित्य को खुले आम पढ़ना, उसका प्रचार व वितरण करना स्वयंसेवकों की प्रमुख गतिविधियों में शामिल था। "India in Boandage" 'भारत में अंग्रेज राज्य' आदि प्रतिबंधित पुस्तकों के अंश अजमेर तथा ब्यावर में हुई जनसभाओं में पढ़े गए, पर सरकार द्वारा इन कृत्यों की उपेक्षा की गई। जून 1930 में पुलिस तथा भारतीय सेवा को प्रभावित करने वाले प्रतिबंधित कांग्रेस प्रस्ताव की प्रतियाँ नसीराबाद के सिपाहियों में वितरित करने का प्रयास कर रहे दो कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार कर लिया गया।[25]

फरवरी 1931 में अजमेर तथा ब्यावर में चल रहे जनगणना अभियान का भी बहिष्कार किया गया। 26 फरवरी को जनगणना दिवस के दिन जन-आह्वान किया गया कि लोग जनगणना करने वालों को अपना नाम इत्यादि न दे और जैसे कि सरकार का आदेश है कि लोग शाम 7 बजे के बाद अपने घर पर रहे इस आदेश का उल्लंघन किया जाए। इस दिन शाम 7 से रात 11 बजे तक सारे शहर में जुलूस निकाला गया।[26]

सरकारी दमन

क्रूर सरकारी दमन सविनय अवज्ञा आन्दोलन की प्रमुख विशेषता थी और प्रान्तीय कांग्रेस समिति को अजमेर मेरवाड़ा में गिरफ्तारियों व सजाओं, जेलों में दुव्यर्वहार, कांग्रेस संगठनों को अवैधानिक घोषित करना जैसे कई माध्यमों व कई रूपों में सरकारी दमन का सामना करना पड़ा।

(i) गिरफ्तारियाँ व सजाएं

6 अप्रेल 1930 से 20 सितम्बर 1930 तक प्रान्त में हुई गिरफ्तारियों की संख्या 70 तक पहुंच चुकी थी। ये गिरफ्तारियाँ IPC की 117 व 131, नमक कानून की धारा 9, CPC की धारा 108 और 1930 के विशेष आदेश IV की धारा 4 के तहत हुई और इन प्रावधानों के तहत गिरतार लोगों को दो माह से तीन वर्ष के कठोर कारावास तक की सजाए सुनाई गई। सितम्बर से दिसम्बर तक के तीन माह की अवधि में गिरफ्तारियाँ तो बहुत हुई किन्तु सजाएं कम सुनाई गई। जनवरी-फरवरी 1931 में मुख्यत: जनगणना तथा वार्षिक पुष्प प्रदर्शनी के बहिष्कार को लेकर गिरफ्तारियाँ हुई।[27]

गिरफ्तारियों के सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि सरकार ने मुख्यत: नेतृत्वकर्त्ताओं को गिरफ्तार कर सजाएं सुनाई। स्थानीय व प्रान्तीय नेताओं की गिरफ्तारी के बाद आन्दोलन ऐसे लोगों के हाथ में चला गया जिन पर 'राजनीतिक नेता' होने की मुहर नहीं लगी हुई थी, किन्तु जिनकी प्रतिबद्धता पर सन्देह नहीं किया जा सकता था। एक अन्य तथ्य भी उल्लेखनीय है कि प्राय: सभी गिरफ्तारियाँ सुबह के समय हुई तथा उनकी सुनवाई बिना किसी पूर्व नोटिस के नसीराबाद छावनी (कैन्टोनमेन्ट) में हुई, यह कदम स्पष्टत: किसी विरोध प्रदर्शन से बचने के लिए उठाया गया था।

नवम्बर 1930 में पुष्कर मेले के समय किसी भी प्रकार की कांग्रेस गतिवधि से बचने के लिए हुई थोक गिरफ्तारी भी उल्लेखनीय है। नवम्बर की सुबह, 60 लोग, जो स्थानीय कांग्रेस की कुल शक्ति थे, बिना किसी न्यायिक कार्यवाही के, एक साथ गिरफ्तार कर लिये गए, इनमें प्रान्तीय डिक्टेटर मोती सिंह कोठारी भी शामिल थे। इन्हें दस दिन की कैद के बाद मेला समाप्त होने पर रिहा कर दिया गया।[28]

(ii) राजनीतिक कैदियों के साथ दुर्व्यवहार

प्रान्त के सभी राजनीतिक कैदियों को स्थानाभाव के बावजूद अजमेर केन्द्रीय जेल में ठूस दिया गया। मई माह के अन्त तक उनके साथ आपराधिक कैदियों की भाँति व्यवहार किया जाता था। यद्यपि अजमेर-मेरवाड़ा केन्द्र सरकार के प्रत्यक्ष नियंत्रण में था तथापि यहाँ नए जेल नियम लागू नहीं किए गए थे फलत: राजनैतिक कैदियों को जेल में कई कठिनाईयों का सामना करना पड़ता था। स्वयं के प्रति सद्व्यवहार की मांग को

लेकर राजनैतिक कैदियों को कई बार प्रतिरोध करना पड़ा, जिसकी सजा उन्हें 1 सितम्बर को क्रूर लाठी व हन्टर प्रहारों के रूप में मिली। फलत: कैदियों ने 1 से 15 सितम्बर तक भूख हड़ताल की जिसके परिणाम स्वरूप उन्हें कुछ सुविधाएँ मुहैया करवाई गई। अक्टूबर के अन्त में कैदियों का एक नया वर्ग 'C' श्रेणी बनाया गया। अर्जुन लाल सेठी को छोड़कर, अक्टूबर के बाद गिरफ्तार सभी अन्य कैदी, इसी श्रेणी में रखे गये। 'C' श्रेणी के कैदियों के साथ होने वाले दुर्व्यवहार का कैदियों ने विरोध किया फिर 'A' श्रेणी के कैदियों के एक समूह को 'C' श्रेणी में स्थानान्तरित कर दिया गया। दुर्व्यवहार को लेकर ये राजनैतिक कैदी पुन: भूख हड़ताल पर चले गए, इनके साथ मारपीट की गई व उन्हें अकेले कोठरियों में बन्द कर दिया गया। उल्लेखनीय है कि कैदियों के लिए 'B' श्रेणी का प्रावधान नहीं था, जीतमल लुणिया, जो प्रान्तीय डिक्टेटर थे, को भी 'C' श्रेणी में रखा गया। जनवरी 1931 में डॉ. रामदीन सिंह नामक राजनैतिक कैदी ने जेल में होने वाली कैदियों की परेड में भाग लेने से इन्कार कर दिया और 11 दिन तक भूख हड़ताल की। अन्तत: इस सम्बन्ध में जेल अधिकारियों व राजनीतिक बन्दियों के मध्य समझौता हो गया। 'C' श्रेणी के छ: राजनैतिक कैदियों ने अपने प्रति जेलर के दुर्व्यवहार के विरुद्ध कुछ दिन भूख हड़ताल की। इस प्रकार के कड़े प्रतिरोध के बाद ही राजनैतिक कैदी अनिवार्य सुविधाएँ प्राप्त करने में सफल हो सके।[29]

(iii) कांग्रेस समितियों को अवैधानिक घोषित करना

सरकारी दमन के तहत 15 सितम्बर के अजमेर-मेरवाड़ा गजट में Criminal Law Amendment Act की धारा 16 के तहत अग्रांकित कांग्रेस संगठनों को अवैधानिक घोषित कर दिया-

1. राजपूताना तथा मध्य भारत प्रान्तीय कांग्रेस समिति
2. अजमेर जिला कांग्रेस समिति
3. ब्यावर जिला कांग्रेस समिति
4. जिला कांग्रेस समिति, नसीराबाद

इस घोषणा के तत्काल बाद पी.सी.सी. कार्यालय पर 17 सितम्बर की सुबह पुलिस ने छापा मारकर यहाँ उपलब्ध कागजातों व वस्तुओं को जब्त कर लिया। कांग्रेस कार्यालय पर छापे के साथ ही पी.सी.सी. कोषाध्यक्ष रामचन्द्र शर्मा के निवास, गाँधी छावनी, बालकृष्ण कौल के कार्यालय तथा फूल निवास भवन की छानबीन की गई तथा तलाशी के बाद अग्रांकित कार्यकर्त्ताओं को Cr.L.A. Act की धारा 17 के तहत गिरफ्तार कर लिया गया-

1. लादूराम जोशी (पी.सी.सी. के जनरल सेक्रेट्री)

2. वैद्य रामचन्द्र शर्मा (पी.सी.सी. कोषाध्यक्ष)

3. बालकृष्ण कौल (पी.सी.सी. कार्यकारिणी समिति के सदस्य)

4. इन्द्रभान भार्गव

इन्द्रभान भार्गव जो कांग्रेस सदस्य नहीं थे, को अवैधानिक संगठन को आश्रय प्रदान करने के अपराध में गिरफ्तार किया गया था, क्योंकि कांग्रेस कार्यालय उनकी पारिवारिक धर्मशाला में कार्यरत था। 17 सितम्बर को ब्यावर जिला कांग्रेस समिति कार्यालय की भी तलाशी ली गई।

(iv) प्रेस अध्यादेश

प्रेस अध्यादेश लागू कर कांग्रेस के राष्ट्रवादी प्रचार को असंभव बना दिया गया। जैसे ही प्रेस अध्यादेश लागू हुआ, प्रान्तीय कांग्रेस समिति के अर्द्धसाप्ताहिक बुलेटिन 'प्रकाश' तथा 'राजस्थान सन्देश' (विजय सिंह पथिक का हिन्दी राष्ट्रवादी पत्र) का प्रकाशन रोक दिया गया। सरकार द्वारा जमानत की माँग करने के कारण ब्यावर का साप्ताहिक पत्र 'तरूण-राजस्थान', सस्ता साहित्य मण्डल द्वारा प्रकाशित हिन्दी पत्रिका 'त्याग भूमि' और अजमेर आर्य प्रतिनिधि सभा के पत्र 'आर्य मार्तण्ड' का प्रकाशन रुक गया।

प्रेस अध्यादेश के कारण कांग्रेस के लिए प्रचार कार्य को जारी रखना मुश्किल हो गया। कोई भी प्रेस कांग्रेस के लिए कुछ भी छापने को तैयार नहीं थी। सभाओं के नोटिस प्रकाशित करवाने में भी कठिनाई आ रही थी। कांग्रेस को Duplicating Machine पूर्ण क्षमता के साथ कार्यरत थी,इस मशीन का स्थान या तत्संबंधी कोई भी सूचना उपलब्ध करवाने के लिए सरकार द्वारा ईनाम की घोषणा की गई थी। 20 अक्टूबर को रेल्वे में कार्यरत ताराचन्द के घर पर इस मशीन को जब्त कर लिया गया। ताराचन्द को Criminal Law Amendment Act के तहत छः माह की सजा हुई।

इन सबके अलावा स्थानीय प्रशासन ने निजी तथा प्रेस को टेलीग्राफ से मिलने वाली सूचनाओं पर रोक लगा दी, यहाँ तक कि निजी पत्रों की भी जांच पड़ताल की जाती थी। इन परिस्थितियों में प्रचार कार्य प्रायः असंभव हो गया।

आन्दोलन की सामान्य प्रगति

प्रान्तीय कांग्रेस समिति की गतिविधियों से सविनय अवज्ञा आन्दोलन ने प्रान्त में शनैः-शनैः शक्ति प्राप्त की और जनमानस को उद्वेलित किया। नेतृत्वकर्त्ताओं द्वारा देशहित में पीड़ा भोगने तथा आत्म बलिदान करने जैसे उत्कृष्ट भावनाओं का प्रत्यक्ष प्रदर्शन करने से जन उत्साह में भारी वृद्धि हुई। कांग्रेस की अपील पर आगे आए कार्यकर्ता समय काटने वाले गम्भीरताहीन व्यक्ति नही थे वरन देशभक्ति की भावना से

अभिभूत उच्च नैतिक चरित्र वाले व्यक्ति थे जैसा कि विदेशी वस्त्रों की दुकानों के समक्ष धरनों के दौरान उनके द्वारा प्रदर्शित दृढसंकल्प और जुझारूपन से भी स्पष्ट होता है। सरकार के क्रूर दमन के बावजूद राष्ट्रवाद का उभरना कुछ सीमा तक पी.सी.सी. के प्रयासों और उसके नेताओं व कार्यकर्त्ताओं द्वारा आत्मबलिदान के उदाहरण प्रस्तुत का स्वयं परिणाम है। इसके अलावा सरकार ने बर्बर दमन व आंतक का प्रदर्शन कर स्वयं कांग्रेस के प्रचार कार्य में मदद की, सरकारी दमनात्मक कृत्यों की आलोचना चर्चा का विषय बन गई, कोई भी चर्चा इसके बिना अधूरी होती थी। अन्ततः जनता समझने लगी कि कांग्रेस उनके अधिकारों के लिए संघर्षरत है। असन्तोष हवा में फैल गया और कानून व्यवस्था के नाम पर रोज के सरकारी अत्याचारों से यह बढ़ने लगा। पुलिस तथा जेल जाने का भय भी समाप्त होने लगा था। किन्तु इन सबके बावजूद कई परिस्थितियों के संयोग से यह प्रान्त आन्दोलन के दौरान देश के अन्य भागों में हुई आश्चर्यजनक जागृति के साथ कदम मिलाने में प्रायः असफल ही रहा।

प्रथमतः शेष ब्रिटिश भारत की भाँति यहाँ भी आन्दोलन के प्रति मुसलमानों की विरक्ति आन्दोलन की प्रमुख दुर्बलता रही। 11 मई 1930 को प्रभावशाली मुसलमानों के नेतृत्व में एक बड़ी सभा हुई, जिसमें बहुमत के साथ निर्णय लिया गया कि ''वर्तमान आन्दोलन में कांग्रेस को कोई सहयोग नहीं दिया जाए'' और इस निर्णय को यहाँ के मुसलमानों ने दृढ़तापूर्वक क्रियान्वित भी किया। किसी हड़ताल, किसी प्रदर्शन में मुसलमानों में कोई भाग नहीं लिया। पूरे आन्दोलनकाल में जुम्मे की नमाजों के समय भी मुसलमानों को कांग्रेस आन्दोलन से दूर रहने की सलाह दी जाती थी। सारे देश में आन्दोलन के प्रति मुसलमानों का विलगाव एक स्थापित तथ्य था, किन्तु अजमेर मेरवाड़ा स्थानीय कांग्रेस तथा सरकार के कुछ कृत्यों ने इस तथ्य को और अधिक पुष्टि प्रदान की। चुनावों में दुर्व्यवहार के आधार पर अर्जुन लाल सेठी समेत अजमेर के सभी प्रमुख मुस्लिम राष्ट्रवादियों को कांग्रेस में निर्वाचित पदों के लिए अयोग्य करार दिए जाने के बाद यहाँ मुसलमानों ने सामान्य रूप से स्वयं को आन्दोलन में भागीदारी से पूर्णतः पृथक कर लिया।[30] दूसरी और सरकार ने अपवाद स्वरूप सभाओं से जुड़े मुसलमानों के प्रति जानबूझकर उपेक्षा भाव दर्शाया, कांग्रेस की सभाओं में भाग लेने के कारण हिन्दुओं को क्रूर दमन का सामना करना पड़ा व मुस्लिमों को स्पष्ट कारणों से छोड़ दिया गया, फलतः अत्यल्प मुस्लिम भागीदारी का प्रचार भी नहीं हो पाया जो सम्भवतः कुछ आशाजनक परिणाम उत्पन्न कर सकती थी। इसके अलावा मुसलमान दुकानदारों को प्रत्यक्ष व परोक्ष सहायता उपलब्ध करवा कर उन्हें कांग्रेस स्वयंसेवकों के धरनों के समक्ष झुकने तथा विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार में शामिल होने से भी रोक लिया।

द्वितीय - सरकार की त्वरित व कठोर दमनात्मक नीति ने भी यहाँ आन्दोलन को

कमजोर बनाया। एक तो अजमेर की अधिसंख्यक हिन्दू जनसंख्या अपनी जीविका के लिए सरकारी नौकरियों विशेषत: रेल्वे की नौकरियों पर आश्रित थी, जो प्राय: आन्दोलन से दूर रहने की प्रवृति रखती थी। दूसरे, सरकार द्वारा कांग्रेस गतिविधियों, यहाँ तक कि सभाओं में भाग लेने पर भी हिन्दुओं और विशेषत: सरकारी नौकरियों में लगे हुए हिन्दुओं को गिरफ्तार करने का नियम बनाया हुआ था जिसके कारण जनभागीदारी कम रही।[31] इसके अलावा भी दमन के कुछ अन्य रूपों ने भी जनसहभागिता को क्षीण किया। उदाहरणार्थ जून 1930 में ब्यावर में गिरफ्तार अमालेक चन्द व स्वामी मोहन राम को जब अजमेर केन्द्रीय जेल ले जाया जा रहा था तब विरोधस्वरूप मार्ग में 800 लोगों ने रास्ता रोका प्रदर्शनकारियों व पुलिस के मध्य झड़प हुई, कुछ गिरफ्तारियाँ भी हुई। इस सन्दर्भ में पुलिस की जाँच पड़ताल इतनी सख्त रही कि ब्यावर में आन्दोलन के प्रति सद्भावना रखने वाले 60 प्रतिशत लोगों ने गाँधी टोपी तथा खदद्र को छोड़ दिया।[32] इसके अलावा ब्यावर के स्थानीय आन्दोलनकर्त्ता, जिन्हें जुर्माने या कैद की सजा हुई थी, की सम्पत्ति को कुर्क करने जैसे प्रतिक्रियावादी कदमों ने भी जनभागीदारी को ठेंस पहुँचाई।[33]

तृतीय – प्रान्त के कार्यकर्त्ताओं के मध्य प्राय: उठ खड़े होने वाले दुर्भाग्यपूर्ण मतभेदों ने भी कांग्रेस को जनमानस पर सशक्त प्रभाव डालने से रोक दिया। उदाहरणार्थ 10 जून को उज्जैन से आए एक स्वयंसेवक जमनालाल ने लब्ध प्रतिष्ठ स्थानीय नेता रामनारायण चौधरी के प्रति दुर्व्यवहार किया, मारपीट की। पी.सी.सी. को जमनालाल के विरुद्ध अनुशानात्मक कार्यवाही करनी पड़ी। ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण घटनाएँ प्रान्त में कांग्रेस संगठन व कांग्रेस आन्दोलन, दोनों के लिए आत्मघातक थी।

चतुर्थ – गांवों में पर्याप्त रचनात्मक कार्यों के अभाव में इस क्षेत्र की ग्रामीण जनता राष्ट्रवादी आन्दोलन से अछूती ही रही। इसी प्रकार कांग्रेस यहाँ महिलाओं को भी आन्दोलन में नहीं जोड़ पाई, महिला स्वयंसेवकों की संख्या अत्यल्प ही रही और ये महिला स्वयंसेवक भी नेतृत्वकर्त्ताओं के परिवारों से थी, जनसाधारण से नहीं।

उपरोक्त सभी कारणों से इस प्रान्त में आन्दोलन सशक्त नहीं हो पाया। स्वयंसेवकों की कमी निरन्तर बनी रही, यहाँ तक कि प्रान्तीय कांग्रेस समिति, के मंत्री को 9 जून 1930 को अजमेर की जनता से अपील करनी पड़ी कि ''यदि अजमेर के नवयुवक आगे नही आए तो विवश होकर 15 जून से धरना देने का काम बन्द करना पड़ेगा'' यद्यपि इस अपील के बाद स्वयंसेवकों की संख्या में वृद्धि हुई थी।[34] फिर अक्टूबर 1930 तक जेल में होने वाले दुर्व्यवहार के परिणामस्वरूप, जेल से लौटे कार्यकर्त्ताओं में भी, कुछ अपवादों को छोड़कर आन्दोलन में पुन: सक्रिय भागीदारी के प्रति विरक्ति के लक्षण दिखाई देने लगे।[35]

इस प्रकार सविनय अवज्ञा आन्दोलन के प्रथम चरण में राजपूताना तथा मध्य

भारत कांग्रेस समिति की गतिविधियों के आधार पर उसकी सफलता या असफलता की बात की जाए तो वास्तविकता इन दोनों श्रेणियों के मध्य स्थित प्रतीत होती है क्योंकि यहाँ आन्दोलन शेष ब्रिटिश भारत जितना सशक्त तो नहीं था किन्तु इस आन्दोलन के तहत प्रान्तीय कांग्रेस समिति के मार्गदर्शन में इस प्रान्त ने अपनी पहले से बेहतर उपस्थिति दर्ज करायी, यह भी एक तथ्य है।

सन्दर्भ

1. *वार्ष्णेय चन्द्रगुप्त (सम्पा.) हरिभाऊ उपाध्याय अभिनन्दन ग्रन्थ, जयपुर 1993 पृ. 73–76*
2. *General report of the Satyagraha Activities of the Rajputana & Central Indian Provincial Congress Committee, Ajmer AICC Papers-24/1930, Nehru Memorial Museum & Library (NMML)*
3. *Letter No. 630, Dated Delhi 18.06.1930 From Superintendent of Education, Delhi and Ajmer- Merwara to the Head Masters of all Govt. and Govt. Aided and Recognised Secondary Schools in Ajmer Merwara, Private Collection of Shri Chandra Gupta Varsney*
4. *Report from the Privinces, AICC Papers, G-5, P-1/1932 NMML.*
5. *पूर्वोक्त, AICC Papers 24/1930, NMML*
6. *पूर्वोक्त, Home AICC Papers-G-161/1930, NMML*
7. *Home Political- 18/X/1930, Fortnightly Report on the Internal Situation in Rajputana and Ajmer Merwara for the Second Half of April 1930 National Archive of Indian, New Delhi (NAI)*
8. *राजस्थान संदेश, 26 अप्रेल 1930, पृ. 2 पथिक संग्रह, फाईल संख्या 12, NAI Jaipur Centre*
9. *Home Political- 18/X/1930 & 18/X/1930, Fortnightly Reports on the Internal Situation of Ajmer- Merwara for the First & Second Half of April & May 1930, NAI.*
10. *पूर्वोक्त, AICC Papers-24/1930. NMML*
11. *Home Political- 18/X/1930 & 18/X/1930, Fortnightly Reports on the Internal Situation of Ajmer- Merwara and Rajputana for the months of May to December 1930, NAI.*
12. *पूर्वोक्त, AICC Papers-24/1930, NMML*
13. *पूर्वोक्त*
14. *पूर्वोक्त*
15. *पूर्वोक्त, Home Political- 18/VI/1930 to 18/XIII/1930, NAI.*
16. *Home Political- 18/IX/1930, Fortnightly Report .... for the First Half of August, 1930, NAI.*
17. *Home Political- 18/X/1930, Fortnightly Report.... for the First Half of Setember, 1930, NAI.*
18. *Home Political- 18/VIII/1930, Fortnightly Report.... for the First &*

Second Half of July, 1930, NAI.
19. *Home Political- 18/IX/1930, Fortnightly Report.... for the Second Half of August, 1930, NAI.*
20. *Home Political- 18/VIII/1930, Fortnightly Report.... for the First Half of July, 1930, NAI.*
21. *पूर्वोक्त*
22. *Home Political- 18/XI/1930, Fortnightly Report.... for the First & Second Half of October, 1930, NAI.*
23. *पूर्वोक्त, AICC Papers-24/1930, NMML*
24. *पूर्वोक्त, Home Political- 18/VI/1930 to 18/XIII/1930, NAI*
25. *Home Political- 18/VII/1930, Fortnightly Report.... for the Second Half of July, 1930, NAI.*
26. *पूर्वोक्त, AICC Papers-24/1930, NMML*
27. *पूर्वोक्त,*
28. *Home Political- 18/XII/1930, Fortnightly Report.... for the First Half of November, 1930, NAI.*
29. *पूर्वोक्त, AICC Papers 24/1930, NMML*
30. *पूर्वोक्त, AICC Papers-G/161/1930, NMML*
31. *पूर्वोक्त, AICC Papers 24/1930, NMML*
32. *Home Political- 18/VII/1930, Fortnightly Report.... for the Second Half of June, 1930, NAI.*
33-. *Home Political- 18/IX/1930, Fortnightly Report.... for the First Half of August, 1930, NAI.*
34. *पूर्वोक्त, AICC Papers 161/1930, NMML*
35. *पूर्वोक्त, AICC Papers 24/1930, NMML*

सूफी संत सदाराम जी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

गणपत राम

भारत की पश्चिमी सीमा पर थार मरुस्थल में अवस्थित जैसलमेर की मरुधरा प्राचीन काल से ही धर्म व दर्शन का केन्द्र रही है। उत्तरी पश्चिमी सीमा से होने वाले विदेशी आक्रमणों एवं प्राकृतिक आपदाओं ने इस क्षेत्र को प्रभावित किया लेकिन यह क्षेत्र अपनी धार्मिक आस्था व विश्वास में पीछे नहीं हटा।[1] यहां हिन्दू–मुस्लिम संस्कृति के समन्वय के रूप में सूफी एंव भक्ति आंदोलन प्रभाव में थे वहीं इस सीमांत प्रदेश में हिन्दू धर्म को मानने वाले गणेश, सूर्य, विष्णु, शिव की पूजा–अर्चना करते थे। लोगों का धार्मिक जीवन सरल, आडम्बरहीन तथा सद्भावना युक्त था।[2] विष्णु, गणेश, शिव की उपासना समाज में प्रचलन में थी वहीं शक्ति रूप में देवी की पूजा की जाती थी। ग्रामीण क्षेत्रों में लोग अभी भी धार्मिक अंधविश्वासों जादूटोनों, पितृपूजन, कर्मकाण्डों के सहारे जीवन यापन कर रहे थे। जैसलमेर क्षेत्र की मरूधरा में मठ, मंदिर, पूजा–स्थल जनसाधारण की मानसिक शांति के प्रतीक थे सभी और सभी धर्मो का आदर सत्कार किया जाता था।[3] जैसलमेर राज्य के महारावलों का राजतिलक भी तपस्वी योगियो व ज्ञानी पुरुषों द्वारा संपन्न किया जाता था। इस्लाम धर्म के अनुयायियों के साथ धार्मिक आधार पर भेदभाव नहीं किया जाता था।[4]

श्री सादुल साहेब का जन्म संवत

।। छपय।।

संवत अठारै सौ, वर्षस तेष्ठो सुवते।
मास चैत के एसैहु बीज उजरते।।
जिवणों जोपितु, मातृ कुख इतु मंझारा।
सादुल साहेब संत, अवनी लिए अवतारा।।
कर करूणा कुल अंतज अति, राम पधारे अवनि अति।
गर्ग वशोप्तन्न महा ज्ञानी, दामोदर नित वन्दनकर
बालापन में बौध, काव्य कला धिष्णा कुशल।
पढ़ लिख भया प्रवीण जाणहु मति अति उज्जवल।।
पूर्व जन्म के पूण्र्य, उदय भया है आए
भगती को उर भाव, ब्रहै वैराग बसाए।।

दीपक सारी रात दीप्यौ, कीनो कैसे काम है।
पूछै मात प्रात प्रश्न मन, जाग्यौ चारे जाम है।।[5]

संत सदाराम जी के समय पश्चिमी राजस्थान दूर-दूर रेत के टीलों में विशेषकर जैसलमेर क्षेत्र दुर्गम एवं विकट परिस्थितियों वाला क्षेत्र था, जहां त्रिकालों का संकट हमेशा बना रहता था। उस समय लोगों के पास रोजगार के रूप में कोई साधन उपलब्ध नहीं था, अकाल पड़ते ही अपने जीवकोपार्जन हेतु सिंध क्षेत्र के ऊपजाऊ क्षेत्र में जाते थे। इसका उल्लेख राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर में जैसलमेर रियासत से संबंधित पत्रावलियों एवं रेकर्ड महकमा खास में मिलता है।[6]

संत सदाराम जी महाराज भी रोजगार हेतु अपने बड़े भाई गोविंदराम के साथ सिंध चले गए, वहां उन्होंने शाह सांई भिंटाई साहब की बैंतो की झनकार, एक कीर्तन मण्डली में सुनी तो उनके मन में भी साज व सुर की धुन बजने लगी क्योंकि वे स्वयं एक उच्चकोटि के शायर एवं कवि थे। इश्क समुण्ड की रचना उसी झनकार में सुर मिलाने से रचित कृति है।[7] इनके भाई गोविन्दराम जी को शाह सांई की संगत ने इतना प्रभावित किया कि वो वहां बैठकर बड़े तन्मय से संगत का आंनद लेते हुए नींद में ही भिंट के दाहिने तरफ सो गए। इस प्रकार संत सदाराम जी महाराज पर सिंध प्रांत के कण्ढड़ी के फकीर रोहल व साओ सांई का सूफीयाना प्रभाव था।[8]

सूफी संत सदाराम जी का जीवन परिचय

राजस्थान की वीर-प्रसूता भूमि में अनेक वीर सपूतों, संतों, कवियों, वीरांगनाओं एवं महापुरुषों ने जन्म लेकर अपनी अलौकिक शक्ति एवं नेक कार्यों से मानवता का कल्याण किया हैं। ऐसे ही सूफी संत एवं महापुरूषों में पीर-पिथौरा, बाबा रामदेव जी, शाह सांई भिटाई साहब तथा संत सदाराम जी का प्रमुख स्थान है।[9]

संत सदाराम जी का जन्म पश्चिमी राजस्थान के सरहदी जैसलमेर रियासत के ग्राम गूहड़ा में संवत सन् 1863 में चैत्र मास की द्वितीया को हुआ था, इनके पिता का नाम जीवणराम तथा माता का नाम इतुबाई, इनकी नुख हेमचन्द थी, तथा ससुराल गांव जोगीदास (जैसलमेर) में था। बचपन से ही इनके ऊपर अपने माता-पिता के आदर्शों का प्रभाव पड़ना शुरू हो गया था।[10] संत सदाराम जी का जीवन सादा व उच्च आदर्शों से परिपूर्ण था। बाल्यावस्था से ही इन्हें शायरी व कविता करने का बहुत शौक था। तत्कालीन समय में कवि को सम्मानजनक स्थान प्राप्त था, इन्होंने कविता रचना को अपनी जीवकोपार्जन का साधन बना दिया था। इन्होंने हजारों भजन, काफियां, बैंत एवं वायूं इत्यादि लिखी जिनका उल्लेख कुदरत का इसरार ए आशिक के अन्दर मिलता है।[11]

एक रात को सदाराम जी कविता रचना हेतु पूरी रात दीपक के ऊजाले में काम

करते हुए गुजार दी, उनकी ममतामयी माता ने अपने पुत्र से पूछा की, तुमने सारी रात जागकर क्या किया, सदाराम जी ने जवाब दिया कि मैं कविता लिख रहा था, ताकि इसे सुनाकर अपने पेट को पाल सकूं। उनकी माता को यह बात निम्न स्तर की लगी इन्होंने कहा कि मोह-माया त्यागकर ईश्वर के गुणगान कर तथा मेरे गुरू सेवाराम जी से प्रेमकर, रात-दिन भजन कीर्तन कर तभी तुम्हारा जीवन सफल हो पाएगा।[12] संत सदाराम ने हाथ जोड़कर अपनी माता की आज्ञा का पालन करते हुए भाखरानी गांव के सतगुरू सेवाराम जी की शरण में गए तथा उनसे अपना शिष्य बनाने हेतु आग्रह किया लेकिन गुरु ने कहा कि बेटा अभी तुम्हारी परीक्षा होगी अगर उसमें सफल हो गया तो तुम्हें अपना शिष्य बनाऊंगा। गुरु सेवाराम जी ने उनकी कुछ समय तक परीक्षा लेने के बाद कहा कि अब तुम्हारे अंदर कवि व विद्वान होने का कोई अभिमान नहीं रहा, इस कारण मेरा शिष्य बन सकता है।[13]

संत सदाराम जी महाराज के गुरु सेवाराम जी सांई साहू (रूहल फकीर के फर्जन्द) के तालिब थे। सूफी रोहल फकीर का जन्म 1734 रोहड़ी पाकिस्तान में हुआ था यह संत कवि, रहस्यवादी, परिष्कारवादी दर्शन के ज्ञाता थे, सिंध प्रांत में इन्हें संत कवि कबीर पुनर्जन्म के रूप में प्रसिद्ध है।[14]

संत सदाराम जी के समय पीपरला गांव जो तेमड़ेराय मंदिर के उत्तर व भू गांव के दक्षिण में स्थित था, जहां भूत-प्रेत आत्माओं का अधिक प्रभाव होने के कारण यह गांव पूर्ण रूप से खाली हो गया था। रात्रि को कोई भी व्यक्ति इस दिशा में नहीं जाता था। तत्कालीन जैसलमेर रियासत के शासक राजा केशरीसिंह ने सदाराम जी महाराज से निवेदन किया कि महाराज में आपको पीपरला गांव दान में देता हूँ आप वहां जाकर सत्संग करे व वहां के लोगों को उपदेश देकर वापस इस गांव को बसाये। तभी सदाराम जी ने पीपरला गांव आकर धूँणा स्थापित कर वहाँ पर भजन एवं तप करने लगे उनको निम्न पंक्तियों में अभिव्यक्त किया गया है।[15]

सादुल मेलो संत को, मेले में मजबूत
राम दुहाई राम की, भड़क गए सब भूत[16]

इस प्रकार संत की कृपा से पीपरलवा ग्राम के सभी भूत-प्रेत समाप्त हो गए तथा लोग आराम से स्थायी रूप से वहां निवास करने लगे। वर्तमान में धूणे पर सदाराम जी का छोटा सा मंदिर बना हुआ है, जहां ज्योति जलती रहती है तथा ऐसी मान्यता है कि वहां सफेद खरगोश के दर्शन होते है।[17]

जालौर के सांचौर गांव जाखल में रामगरजी महाराज निवास करते थे। जो उस समय के सिद्ध पुरुष थे जो हवा में उड़ते रहते थे तथा संन्यासी की वेशभूषा में रहते थे। एक दिन वो संत सदाराम जी से मिलने चले गए दोनो में वार्ता एवं सत्संग हुआ, जब

रामगर जी महाराज वापस जाने के लिए उड़ने लगे तो उड़ नहीं सके, तभी सदाराम जी ने कहा महाराज ये पाखण्ड है इसको मत करो, आप भगवान का भजन करो, तभी आपका उद्धार होगा।[18] तभी रामगर जी महाराज ने सदाराम जी को अपना गुरु बनाया तथा उनकी सेवा करने लगे तथा अपनी जटा को काटकर सदाराम जी को मंदिर के उत्तर में एक बोरड़ी वृक्ष में टांग कर बोध भक्ति करने लगे, उनको दिव्यज्ञान प्राप्त हुआ। उसी स्थान पर महाराज रामगर की समाधि जाखल ग्राम में है, वहां पर कार्तिक अमावस्या को विशाल मेला भरता है जहां रामगर जी के साथ सदाराम जी महाराज की भी पूजा होती है।[19]

संत सदाराम जी महाराज ने केवल जैसलमेर क्षेत्र के लोगों को अपने चमत्कार से प्रभावित नहीं किया बल्कि इन्होंने सिन्ध क्षेत्र में निवास करने वाले अपने भक्तों को भी अपनी शक्ति से परिचित करवाया। सिन्ध क्षेत्र का एक व्यक्ति संत सदाराम जी के दर्शन एंव अपने कार्य सिद्धि होने पर पांच रुपये की भेंट करने हेतु ग्राम गुहड़ा आ रहा था।[20] सिन्ध से रवाना होने की कुछ दूरी पर उसका पानी समाप्त हो गया, वह प्यास के मारे व्याकुल होकर एक कैर के वृक्ष के नीचे बैठ गया और अपने अंतर्मन से सदाराम जी का ध्यान करते हुए कहने लगा कि बाबा यहां आस-पास 50 कोस में पानी की एक भी बूंद नहीं है, आप मुझे बचाओ तभी उसे केर की झाड़ी में एक बड़ा मतीरा पड़ा मिला वह खुश हुआ उसने मतीरे का मीठा पानी पीकर अपनी प्यास बुझाई तथा दर्शन हेतु गुहड़ा ग्राम रवाना हुआ।[21] जब गाँव आया तो उसने सोचा मैंने पांच रूपये की मन्नत बोली थी, लेकिन इसका बाबा को पता नहीं है, उसने 2 रुपये निकाल कर संत सदाराम जी के चरणों में रख दिये तभी बाबा बोले बेटा तुमने पांच रुपये की मन्नत मांगी थी व दो रूपये चढ़ा रहे हो, रूपये नहीं है तेरे पास तो ये भी लो, तभी उसे आत्मग्लानि प्रकट करते हुए माफी मांगी तथा कहा कि आप तो अन्तर्यामी है, मुझसे गलती हो गई, माफ कर दो।[22]

संत सदाराम जी ने अपने जीवन दर्शन में सभी प्रकार के जाति के लोगों को बिना किसी भेदभाव के चमत्कार दिये। गुहड़ा से उत्तर-पश्चिम में ग्राम खारिया में सोढ़ा जाति के लोग निवास करते थे, उनमें से मोड़सिंह सोढ़ा सदाराम जी के अनन्य भक्त थे। एक समय संत सदाराम जी ग्राम भ्रमण करते-करते मोड़सिंह के पास पहुँचे तथा उनकी कुशलक्षेम पूछी, तो उन्होंने कहा महाराज मेरी उम्र 60 वर्ष से भी ऊपर हो गई है। मेरी शादी नहीं हुई है, मेरा वंश तो ऐसे ही समाप्त हो जाएगा आपसे विनती है कि मेरा कल्याण करे। तभी सदाराम जी ने उन्हें आशीर्वाद देते हुए कहा कि आप उदास मत हो, आपको पांच पुत्र रत्न प्राप्त होगें जो बड़े योग्य होंगे। मोड़सिंह की सगाई सदाराम जी ने ही करवायी तथा उनके पांच पुत्र भी हुए तथा वे 100 वर्ष की उम्र में स्वर्ग को गमन कर गए।[23]

कोहरा ग्राम में गैनसिंह राजपूत संत सदाराम जी का परम भक्त था। एक बार गांव के कुंए से पानी खींचते समय वह 400 फुट गहरे कुंए में गिर गया, गिरते समय उसने सदाराम जी महाराज का नाम स्मरण किया, वहाँ खड़े सब लोग रोने लगे कि अब वो बच नहीं पाएंगे, सब लोगो ने मिलकर गैनसिंह को बाहर निकालने का प्रयास किया तभी कुएं के अंदर से आवाज आई कि मैं सकुशल हूँ, आप कोई रस्सी कुंए के अंदर डाले, मैं उसे पकड़कर बाहर आ जाऊंगा।[24] जब गैनसिंह जी बाहर आए तो उन्होंने संत सदाराम जी महाराज के चमत्कार को बताते हुए कहा कि जब मैं कुंए में गिरा तभी महाराज ने मेरी बांह पकड़ ली तो मैं धीरे-धीरे कुंए में गिरा मुझे कोई चोट नहीं लगी, इस प्रकार गैनसिंह अपने जीवनकाल में स्वस्थ व दीर्घायु रहे। इनकी समाधि कोहरा गांव में सदाराम की तपस्या स्थली पर बने मंदिर के पास स्थित है।[25]

संत सदाराम जी महाराज ने जैसलमेर के भाटी राजा केसरीसिंह को निमंत्रण देकर अपने दरबार में बुलाया, कुछ समय सत्संग हुआ पर उन्हें घमंड था जो कि अमुख साधु भक्तिवाला है या नहीं, साधु गर्ग जाति का है इसे गुरु करना चाहिए या नहीं। संत सदाराम जी महाराज तो अन्तर्यामी थे उन्हें जब यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने राजा से कहा कि मेरी पुस्तकें गुहड़ा ग्राम में रखी हुई है, आप किसी विश्वासपात्र व्यक्ति से भेजकर वह पुस्तकें मंगवा देवे ताकि मैं आपको ज्ञान देकर समझा सकूं। राजा ने अपने विश्वासपात्र व्यक्ति ईसरीसिंह को ऊंट पर सवार करके भेज दिया। ईसरीसिंह ने जब उनके ग्राम पहुंचकर आवाज लगाई तो स्वयं सदाराम जी महाराज साधु वेश में उनके समक्ष आए, ये देखकर उनको आश्चर्य हुआ, वो पुस्तकें लेकर दरबार में वापस लौट आए तथा पूरा वृतांत महारावल केसरीसिंह को सुनाया। इस प्रकार राजा ने सदाराम जी की शक्ति एवं ज्ञान से प्रभावित होकर नजराने के तौर पर माल, सामान, घोड़े, तंबू दिये तथा पीपलिया गांव भेंट किया।[26]

सूफी संत सदाराम जी का जीवन दर्शन

जैसलमेर के दक्षिण भाग बसिया क्षेत्र में संत सदाराम जी महाराज का उद्भव हुआ, जिन्होंने समाज में भेदभाव, छुआछूत से परे अपने तपोबल व सिद्धियों से तत्कालीन लोक जीवन में सांस्कृतिक सद्भाव एवं एकता का परिचय दिया।[27] सूफी संत सदाराम जी महाराज ने आत्मज्ञान प्राप्ति के पश्चात् अपना जीवन मानव कल्याण एवं जीवों की सेवा में लगा दिया तथा ईश्वर को प्राप्त करने के लिए गुरु को इसका माध्यम बताकर प्रेम द्वारा ब्रह्मरूपी ईश्वर को प्राप्त करने का मार्ग बताया।[28] सदाराम जी महाराज ने भारत-पाक एक होने के समय अपना अधिकतर समय वर्तमान सिंध प्रांत में अपने शिष्यों के साथ व्यतीत किया। सिंध में सूफी पंथ रोहल साहब के घूणों पर तपस्या के साथ भक्ति प्रारंभ की चूंकि सदाराम जी के गुरु महाराज सेवाराम जी सूफी पंथ रोहल साहब को अपना

दादा गुरु मानते थे। इस कारण इनका संबंध सिंध क्षेत्र के सूफी फकीरों के सानिध्य में रहा।[29]

संत सदाराम जी ने अपने प्रमुख स्थान गुहड़ा ग्राम में बारह वर्ष कठोर तपस्या की तथा कई सिद्धियाँ प्राप्त की।

सूफी संत सदाराम जी महाराज ने अपनी युवावस्था में अपने तपोबल व ज्ञान से सभी प्रकार के रोगियों यथा सांप का काटा हुआ, आंखों से अंधा, शरीर पर कोढ़ के निशान तथा बिना संतान वाले सभी प्रकार के इंसानों को अपनी दिव्य शक्ति से प्रसन्न किया तथा उनके दु:ख दर्द को दूर कर अपने आध्यात्मिक जीवन का परिचय दिया।[30] संत सदाराम जी महाराज ने अपने भजनों, काफियों, बैत व वायु इत्यादि के साथ शायरी रचना भी की इनके माध्यम से इन्होंने समाज में व्याप्त बुराइयों एवं सामाजिक कुरीतियों को दूर कर जनजागृति लाने का प्रयास किया।[31] अपने जीवनकाल में इन्होंने कई चमत्कार एवं परचे दिये जो इस प्रकार है–

एक समय बाबा सदाराम जी कोहरा ग्राम में तपस्या कर रहे थे, वहां हमेशा सत्संग एवं भजन होते थे जिसमें उनके भक्त एवं शिष्यगण आते थे। एक दिन इन्होंने पूछा कि आप लोग गांव में तो बहुत ज्यादा संख्या में रहते हो पर सत्संग में बहुत कम क्यों आते हो, तभी वहां उपस्थित लोगों ने कहा कि महाराज, कोहरा गांव के चारों तरफ मगरा (पहाड़) है जिसमें बिच्छू रात को बहुत अधिक निकलते है तथा बिच्छू जहरीले और खतरनाक होते हैं,[32] इस कारण इन बिच्छुओं के डर से रात को आपके पास सत्संग में कम आते है। तभी सदाराम जी महाराज ने राम का नाम लेकर आस-पास देखा तो एक बिच्छू आ रहा था, इन्होंने उसकी पूंछ पकड़कर कहा कि बिच्छू अब तू इस गांव में मत आना यहां से दूर चले जाओ। तब से कोहरा गांव में एक भी बिच्छू नहीं है। इस चमत्कार के उपरांत सभी लोग सत्संग में बड़ी संख्या में आते थे।[33]

सूफी संत सदाराम जी और सूफी मत

मध्यकालीन भारतीय समाज से भक्ति परम्परा के समानान्तर सूफी परम्परा का भी प्रचलन हुआ। हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति के परस्पर समन्वय व भाई-चारे में सूफी संतों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। राजस्थान की पश्चिमी सीमा पाकिस्तान के सिंध प्रांत से लगती है, जो भारत के आजाद होने से पूर्व हिन्द व सिन्ध की संस्कृति को आपस में जोड़ने का कार्य करती थी।[34]

सूफी संत सदाराम जी महाराज के जीवन का प्रधान लक्ष्य परमात्मा के साथ विलीन हो जाना है, जब तक वह अपने मालिक (परमात्मा) से नहीं मिलता उसके हृदय में विरह वेदना बनी रहती है। इनका मत था खुदा या ईश्वर को समझ, उसके साथ

माधुर्य भाव से प्रेम करो, ईश्वर रूपी ज्ञान का मार्ग गुरु ही बता सकता है यानि गुरु की सहायता के बिना परमात्मा को पहचानना व वहां तक पहुंचना असंभव है।[35] इनके द्वारा रचित ग्रंथ इश्क-समुण्ड नामक पुस्तक गुरु की महिमा को निम्न पंक्तियों में उद्धृत किया गया है–

सादुल, सेवाराम संत, सतगुरू मेरा सोई
सन्मुख दे सत सबुद्ध, हम सम्पूर्ण होई
सादुल सेवाराम सत, सतगुरू मेरा संत
पल-पल पूर्ण होई, ज्ञान गता अवगत[36]

सूफी संत सदाराम जी ने अपने गुरु परम्परा का विस्तृत परिचय दिया जिसका उल्लेख उन्होंने अपने भजनों, बाणियों में किया। भजनों का सारगर्भित रूप से अध्ययन करने पर इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वे सांख्य, योग व वेदांत के सुप्रसिद्ध ज्ञाता थे। इनकी वाणियों में सरलतम मारवाड़ी से लेकर संस्कृत, सिंधी व फारसी के शब्द मिलते है। इन्होंने अपनी कठोर साधना योग व तप के बल पर सिद्धियां प्राप्त की, जिनका एक भजन में इस प्रकार उल्लेख है–

आदु युग आद हंसा कहिये, गुहड़ा गांव बसाया
गुहड़ा गांव अविचल नगरी, सूफी में जा समाया
जीवो कारज आया संत सादुल नाम धराया
सेवाराम सतगुरू कृपा किनी, अमर नाम सुणाया
सार्दुल शूर उगो चहुंदिश, खण्ड ब्रह्म समाया।।[37]

जैसलमेर रियासत की धार्मिक, लौकिक एवं सामाजिक मान्यताओं का समाज में महत्वपूर्ण स्थान था, व्यक्ति के लोक व्यवहार, आचार-विचार, तथा अनुभवों से समाज में संस्कारों का विकास होता है। तत्कालीन समाज के लोग अपने भाग्य में विश्वास कर मानव जीवन को पूर्ण करने के लिए अच्छे कर्म करने में विश्वास रखते थे। यहां के लोगों में धर्म एवं सामाजिक व्यवहार में सद्भावना के साथ सूफी-संतों, देवी-देवताओं के प्रति आस्था थी।[38] तत्कालीन समाज में देवी-देवताओं, कुलदेवी, पितरो की पूजा, भौमियां पूजन के साथ सती पूजा का प्रचलन था। रियासत काल में प्राचीन राजवंश, शासन व्यवस्था में राज्यारोहण, विवाह, पुत्र जन्मोत्सव, पदभार ग्रहण करते समय नवसंचार व प्रेरणा हेतु कुलदेवी की पूजा-अर्चना करना आवश्यक माना जाता था। इनकी स्तुति के बिना कोई भी शुभ कार्य पूर्ण नहीं हो पाया था। वहीं भारतीय संस्कृति में प्राचीनकाल से ही पितरों के प्रति श्रद्धा प्रकट करने के लिए श्राद्धो-तर्पण भी किया जाता था।[39] इसके अलावा पीर-फकीरो, औलियों, दरवेशों एवं संतों की आराधना की जाती थी। स्थानीय समाज के लोगों में साधु-संतों के पूजन की परम्परा विद्यमान थी, क्योंकि साधु संतों के

मुख से निकली वाणी मधुर होती थी तथा उनके मुख से निकले वचन सत्य होते थे। ऐसे ही सूफी संत तत्कालीन समाज में सदाराम जी महाराज का प्रमुख स्थान था। इन्होंने अपनी मधुर वाणी, भजनों, काफियों एवं उपदेशों से लोगों का भलाई का उपदेश दिया।[40] तत्कालीन जैसलमेर रियासत में जादू-टोना, अंधविश्वास, सामाजिक कुरीतियों भेदभाव एवं वैमनस्यता का चारों ओर बोलबाला था, इसी समय संत सदाराम जी ने अपनी बांणियों, उपदेशों से समाज के गरीब, असहाय लोगो का उद्धार कर, आपसी प्रेमभाव का संदेश दिया; इसके लिए उन्होंने कर्मकाण्ड के स्थान पर केवल गुरू की महिमा को समझकर उनके उपदेश जीवन में लाने पर बल दिया। इन्होंने कोढ़ ग्रस्त, असाध्य बिमारी, नि:संतान लोगों का अपने तपोबल एवं ज्ञान से उपचार किया। वहीं नशा मुक्ति विचारधारा से मनुष्य को स्वस्थ जीवन जीने का आहान किया पर्यावरण को शुद्ध एवं निर्मल बनाने के लिए वृक्षारोपण पर बल दिया तथा गौ सेवा रक्षा एवं गौपालन का पुरजोर समर्थन किया।[41] जैसलमेर राज्य में अनेक सूफी संतों, लोक साहित्यकारों, विद्वानों तथा विदुषी महिलाओं ने जन्म लिया था। इन्होंने अपने प्रवचनों, सद्वचनों एवं अलौकिक शक्ति से यहां के समाज में प्रचलित कुरीतियों को दूर कर समाज को नैतिकता का संदेश दिया। इन्हीं सतों में से एक संत श्री सदाराम जी का जन्म ब्राह्मण गांव गूहड़ा (जैसलमेर रियासत) में संवत् 1863 में चैत्रमास की द्वितीया को हुआ था। इनकी माता के आदर्शों के प्रभाव के चलते ये सादा-सरल एवं ऊँचे आदर्श व्यक्ति के घनी थे।[42]

दूसरे दिन एक बार महारावल, महाराज को अपने घर ले गए तब राजा को सदाराम जी महाराज ने कहा कि आप आंखें बंद करके देखें आपको क्या नजर आ रहा है। राजा ने प्रत्युत्तर दिया आपकी शक्ल के दो मनुष्य दिख रहे हैं, यहां पर महारावल का भ्रम मिट गया तथा उन्होंने सदाराम जी को अपना गुरु बना दिया। इसके बदले महारावल ने उन्हें नजराने के तौर पर सामान, घोड़े, तंबू तथा उनकी मड़ी का खर्चा चलाने के लिए पीपलिया ग्राम नजराने के तौर पर दिया[43] जिसका उल्लेख एक पट्टे का उल्लेख तवारीख जैसलमेर में इस प्रकार उल्लेखित है-

।। श्री लिषमीनाथ जी।।

।। अद्य श्री महाराजधिराज महारावल श्री बेरीसाल जी लिखवंत गां पीपरलो जो थान

तेमड़े रे धरूवाद में है जो गुरड़ा सदाराम गूहड़ा वाले को भेंट कीनो

विक्रम संवत् 1923 काती सुदी 10 (दशम)

।। सही मेहता नथमल की है[44]

संत सदाराम जी के अलौकिक चमत्कारों एवं महारावल जैसलमेर के केसरीसिंह भाटी द्वारा प्रभावित होने का प्रभाव स्थानीय प्रजा एवं जनमानस पर भी पड़ा तथा गुरू

महिमा का पालन करते हुए गुरू करने की व्यवस्था आरम्भ हुई।

सन्दर्भ

1. *एम.आर. गढ़वीर, जैसलमेर राज्य का सामाजिक इतिहास, पृ. 28*
2. *वही, पृ. 30*
3. *हरिवल्लभ माहेश्वरी, जैसलमेर का इतिहास, पृ. 110*
4. *वही, पृ. 112*
5. *प्राचीन ग्रंथ, राम महाराज रामस्नेही सम्प्रदाय से संकलित, पृ. 6*
6. *डॉ. अशोक गाड़ी, जैसलमेर का रियासतकालीन इतिहास, पृ. 12*
7. *महाराज मजनाराम, इश्क समुण्ड ग्रंथ, पृ. 5*
8. *वही, पृ. 6*
9. *महाराज मजनाराम, इश्क समुण्ड ग्रंथ, पृ. 2*
10. *महाराज मजनाराम, इश्क समुण्ड ग्रंथ, पृ. 12*
11. *वही, पृ. 15*
12. *ओमप्रकाश श्री पुराराम, रामसागर गीता, पृ. 22*
13. *वही, पृ. 26*
14. *डॉ. अशोक, जैसलमेर का रियासतकालीन इतिहास, पृ. 136*
15. *महाराज मजनाराम, पूर्वोक्त, पृ. 20*
16. *वही, पृ. 21*
17. *ओमप्रकाश श्री पुराराम, पूर्वोक्त, पृ. 28*
18. *राम मघराज रामस्नेही सम्प्रदाय, ग्रंथमाला, पृ. 22*
19. *वही, पृ. 28*
20. *महाराज मजनाराम, पूर्वोक्त, पृ. 110*
21. *वही*
22. *वही, पृ. 118*
23. *वही, पृ. 119*
24. *ओमप्रकाश श्री पुराराम, पूर्वोक्त, पृ. 120*
25. *वही, पृ. 121*
26. *वही, पृ. 128*
27. *गुहड़ा ग्राम में बहती है आज भी भक्ति धारा, दीपक आचार्य का आलेख, पृ 20*
28. *वही, पृ 3*
29. *वही, पृ 2*
30. *महाराज मजनाराम, पूर्वोक्त, पृ. 120*
31. *वही*

32. ओमप्रकाश श्री पूराराम, पूर्वोक्त, पृ. 110
33. वही, पृ. 120
34. राजस्थान की संत परम्परा, डॉ. रितेश जैन का आलेख, पृ. 11
35. वही, पृ. 12
36. महाराज मजनाराम, पूर्वोक्त, पृ. 80
37. वही, पृ. 82
38. डॉ. एम.आर. गढ़वीर, पूर्वोक्त, पृ. 83
39. वही, पृ. 84
40. डॉ. अशोक, पूर्वोक्त, पृ. 112
41. ग्राम गुहड़ा में संत सदाराम जी के मेले में भ्रमण से प्राप्त जानकारी एवं प्रत्यक्ष अनुभव
42. महाराज ओमप्रकाश गर्ग से साक्षात्कार, दि. 13.02.2018
43. जैसलमेर रियासत के राजस्व पट्टे पर उल्लेखित लेख
44. लखमीचंद, जैसलमेर की तवारीख, पृ. 19

राजस्थान के स्वतंत्रता संघर्ष के साहित्यिक पाथेय : डॉ. सुधीन्द्र (सन् 1917-1954 ई.)

डॉ. प्रणव देव

जिस प्रकार फ्रांस में नये विचार, सामाजिक असंतोष राजनैतिक शिकायतों और साहित्यिक प्रचार ने क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त किया था, उसी प्रकार राजस्थान का स्वतंत्रता संघर्ष विभिन्न सोपानों से गुजरता हुआ अपने लक्ष्य तक साहित्य, कला, पत्रकारिता, आदि वैविध्यपूर्ण पाथेय के माध्यम से सामाजिक जागरण की अलख जगाता हुआ गतिमान रहा है। मानव मुक्ति के संघर्ष के तथ्य एवं कथ्य, साहित्य और स्वतंत्रता संघर्ष, एक दूसरे को प्रदान करते हुए आलोकित कर रहे थे। साहित्य के अनेक सारथी स्वतंत्रता संघर्ष से इस प्रकार जुड़े थे कि उनकी अनेक रचनाएं न केवल राजनीतिक और सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलनों से सीधे संबद्ध थी, अपितु उनके ओज और तेज के प्रवाह से विदेशियों के साथ साथ कई बार तो उनके सहयोगी भी घबराते थे, जिन्हें यह सहज ही लगता था कि इन रचनाओं के प्रचार-प्रसार के बाद हमारे इस रचनाकार सहयोगी को सरकार सजा अवश्य देगी। ऐसे ही राष्ट्रवादी साहित्यकारों में डॉ. सुधीन्द्र का नाम सर्वथा स्मरणीय है। जिनके बहुआयामी काव्य, एकांकी नाट्य साहित्य ने स्वतंत्रता संघर्ष को साहित्यिक पाथेय के रूप में संजीवनी प्रदान की। रियासती और ब्रिटिश, दोनों प्रकार का राजस्थान ब्रितानी, राजा महाराजाओं और सामंतों के तिहरे शासन और सामन्तवादी सामाजिक संरचना के कारण राजनैतिक गतिविधियों से लगभग अछूता रहा। देश के अन्य क्षेत्रों में गतिमान अनेक आंदोलन यहां की जनता के बीच नहीं आ सके। बीसवीं सदी के दूसरे-तीसरे दशकों में, जब राजस्थान में आजादी की अलख, सामाजिक जागरण के विभिन्न व्यष्टिभावी घटनाक्रमों के माध्यम से स्थापित होने लगी, तब यहां स्वतंत्रता आंदोलन सामाजिक जागरण के रूप में मुखरित होने लगा था। उस समय अनेक ज्ञात-अज्ञात, ख्याति-अनतिख्यात प्राप्त स्वनामधन्य साहित्यकारों ने अपने बहुआयामी लेखन के माध्यम से संघर्ष को मूल आधार प्रदान किया। ऐसे साहित्यकारों में कोटा के डॉ. सुधीन्द्र का मूर्धन्य स्थान है। आधुनिक शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ जिस साहित्यिक पाथेय के माध्यम से स्वतंत्रता संघर्ष की लोकप्रियता राजस्थान में बढ़ी, उससे डॉ. सुधीन्द्र के ओजपूर्ण साहित्यिक लेखन की महती भूमिका रही। प्रस्तुत शोधपत्र में डॉ. सुधीन्द्र के व्यक्तित्व के साथ-साथ उनके साहित्यिक लेखन का विश्लेषण कर उन

तत्वों की पहचान करने का प्रयास किया गया है, जो स्वतंत्रता संघर्ष का पाथेय रहे हैं।

डॉ. सुधीन्द्र के व्यक्तित्व और विचारों के निर्माण में तत्कालीन परिस्थितियों ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया था। स्वतंत्रता संघर्ष के साहित्यिक पाथेय के रूप में सुधीन्द्र के कृतित्व का विश्लेषण करने से पूर्व हमें यह अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि उनका जन्म प्रथम विश्व युद्ध की विभीषिका के दौरान हुआ था। उन्होंने विश्व की महान् मंदी, हिटलर के उग्र राष्ट्रीयता के दौर में जीवन बोध ग्रहण करना प्रारंभ किया था। गांधीयुगीन राजस्थान के क्रान्तिधर्मा साहित्यकार डॉ. सुधीन्द्र के व्यक्तित्व में शांतिवादी अहिंसा के दर्शन अवश्य होते थे, किन्तु वे निष्क्रिय अहिंसा के समर्थक कभी नहीं थे। स्वतंत्रता संघर्ष के सशक्त साहित्यिक हस्ताक्षर डॉ. सुधीन्द्र प्रखर राष्ट्र भाव के पोषक थे। उनकी रचनाओं के शीर्षक ही इसके साक्षी हैं। उदाहरणार्थ- शंखनाद, प्रलयवीणा, जौहर, खून की होली उनके भावबोध का स्पष्ट संकेत देते हैं। डॉ. दयाकृष्ण विजय उन्हें हाड़ौती क्षेत्र के स्वतंत्रता संघर्ष तथा हिन्दी साहित्य के विकास के दूसरे चरण का प्रतिनिधि कवि मानते हैं। वे लिखते हैं कि ''जिस राष्ट्रीय यात्रा का साहित्यिक श्रीगणेश स्वनामधन्य पंडित गिरधर शर्मा नवरत्न ने किया था, उसे पूर्णता तक डॉ. सुधीन्द्र ने पहुंचाया।''[1] डॉ. रामचरण महेन्द्र ने अपने एक 'लेख हाड़ौती काव्य में स्वातंत्र्य चेतना' में डॉ. सुधीन्द्र का मूल्यांकन इन शब्दों में किया है- डॉ. ब्रह्मदत्त सुधीन्द्र उस युग की उपज हैं जिसमें भारत स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ रहा था। विदेशी परतंत्रता की बेड़ियां तोड़ भारत में स्वतंत्रता के स्वागत का उत्साह था। देश राजनैतिक उठापटक से परेशान हो साहित्य की ओर देख रहा था। चारों ओर से आजादी का बिगुल बज रहा था। स्वतंत्र भारत की प्रभात-किरणें राजनीति के क्षितिज पर खिल उठी थी। उन दिनों कोटा क्षेत्र में साहित्य का नेतृत्व रामगंजमंडी के ओजस्वी राष्ट्रीय कवि ब्रह्मदत्त 'सुधीन्द्र' के हाथ आया।[2]

डॉ. सुधीन्द्र को देशज संस्कार परिवार तथा पूर्वजों से विरासत में मिले थे। उनके पिता कान्यकुब्ज ब्राह्मण श्री गोकुल प्रसाद मिश्र फर्रूखाबाद उत्तरप्रदेश से तत्कालीन कोटा रियासत के खैराबाद कस्बे में कानूनगो बनकर आये थे, जबकि माता श्रीमती चम्पादेवी, शिक्षा के माध्यम से महिला सशक्तिकरण कर राष्ट्रीय आंदोलन के साथ साथ सामाजिक जागरण के लिए समर्पित थी। इस पुनीत उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने स्त्रियों में साक्षरता के लिए पाठशालाएं चलायीं और प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र खोले। इस संदर्भ में डॉ. सुधीन्द्र के छोटे भाई इन्द्रदत्त स्वाधीन ने अपने संस्मरण में श्री नन्द चतुर्वेदी को बताया- ''उनकी मां अगणित कष्ट सहती हुई राष्ट्रसेवा में लगी रही। मां ने समझ लिया था कि निरक्षरता अभिशाप है। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि केवल पुरुषों के पढ़ने लिखने से ही काम चलने वाला नहीं है, स्त्रियों को भी निरक्षरता के कलंक से मुक्त

करना होगा।''[3] खद्दरधारी राष्ट्रवादी विचारों के पोषक पिता के द्वितीय पुत्र सुधीन्द्र का जन्म 15 मार्च 1917 को हुआ। डॉ. सुधीन्द्र कुल पांच भाई-बहिन थे- रुद्रदत्त, ब्रह्मदत्त, इन्द्रदत्त, रमेश और एक बहिन-शारदा। इनमें से ब्रह्मदत्त मिश्र ही 'सुधीन्द्र' थे, जिनकी प्रारंभिक शिक्षा खैराबाद में ही हुई और बाद में वे कोटा आ गए। इनके छोटे भाई इन्द्रदत्त 'स्वाधीन' के नाम से स्वतंत्रता संघर्ष में जाना पहचाना नाम है। डॉ. सुधीन्द्र ने अर्थाभाव के कारण पुलिस विभाग में स्टेनो टाइपिस्ट, हटूंडी, वनस्थली विद्यापीठ, और श्री अभिन्नहरि के निजी सचिव के रूप में सेवारत रहे। तत्पश्चात् वे राजकीय महाविद्यालय अजमेर में हिन्दी विभागाध्यक्ष के रूप में कार्यरत रहे।

सुधीन्द्र के साहित्यिक-व्यक्तित्व का निर्माण, संघर्ष के संक्रमणकाल में व्यापक राजनीतिक, सामाजिक-सांस्कृतिक उथल-पुथल के बीच हुआ था। इसलिए उनमें सामाजिक बुराईयों से अलग होने और अपने लिए नयी स्वतंत्र एवं समर्थ भावभूमि तलाश लेने का अद्भुत सामर्थ्य था। इनकी पूर्वार्द्ध की कविताओं में उग्र राष्ट्रीयता का स्वर जो प्रधान है, वह स्वतंत्रता संघर्ष को गतिशील रहने की अद्भुत उर्जा प्रदान करता है। उत्तरार्द्ध की कविताओं में केवल रस और रुझान या प्रेम और सौन्दर्य रह गया है, जो उनके युवा होते मन की उद्दाम भावनाओं के ज्वार को व्यक्त करता है। स्वतंत्रता संघर्ष के संदर्भ में उनका प्रारंभिक काव्य 'जौहर' जिसका रचनाकाल सन् 1935-36 रहा है, उल्लेखनीय है। यह काव्य अपने रचनाकाल के पूरे 6 वर्ष बाद बड़ी विपरीत परिस्थितियों में प्रकाशित हो सका था। यह उनके सम्पुष्ट साहस का परिणाम है कि महात्मा गांधी की अहिंसा की परिभाषा से अपनी असहमति जताते हुए उन्होंने जौहर के निवेदन में लिखा है कि ''महात्मा गांधी ने जब भूषण की 'शिवाबावनी' को भारत के राष्ट्रीय वातावरण में हिंसा का विष फैलाने वाली कृति घोषित करके उसे विद्यालयों के पाठ्यक्रमों से निर्वासित करा दिया, तब से अनेक क्षेत्रों में उसकी गूंजी फैली और उसी का प्रभाव था कि जब जौहर के प्रकाशन की बात श्रद्धेय पंडित हरिभाऊजी उपाध्याय से छिड़ी तो उन्होंने उसके प्रकाशन को युग विरोधी और असमीचीन बताया। उन्हें लगा कि इसके प्रकाशन से भारतीय अहिंसा को, राष्ट्रीय आत्मा को आघात पहुंचेगा। उनके मत से अहिंसा में जौहर में वर्णित युद्ध को कोई स्थान न था। मेरी आत्मा, किन्तु, इस विचार से विद्रोह करती रही अन्यथा आज यह कृति पाठकों के हाथों में न होकर दीमकों का भोज्य बन चुकी होती।''[4] इस भावभूमि के माध्यम से उनके वैचारिक संघर्ष को समझा जा सकता है। उन्होंने अपने समय और समाज के स्वतंत्रता संघर्ष को अपने ओजस्वी साहित्य के माध्यम से पाथेय प्रदान किया। उनकी दृष्टि में जौहर का कथ्य और उद्देश्य इस प्रकार है- ''जौहर को हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य का अस्वस्थ वातावरण बनाने वाला नहीं, वरन् शुद्ध स्वदेश-प्रेम, स्वाभिमान, जीवन, जागृति, बल, बलिदान और मानव प्रेम की

अहिंसक भावना का पोषक मानता आया है। जिस दिन उसे यह विश्वास हो जायेगा कि जौहर राष्ट्रीयता की भावना का घातक है उस दिन उसे जौहर के पन्नों को आग में झोक देने में ही शांति मिलेगी।''[5] डॉ. सुधीन्द्र ने जौहर के निवेदन में इतिहास और साहित्य के संबंध पर भी अपना चिन्तन इस प्रकार प्रस्तुत किया है-''ऐतिहासिक आधार भूमि पर मैंने जौहर का एक रूपक प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इतिहास के तथ्यों को ओझल करने में असमर्थ होने के कारण मुझे यद्यपि हिन्दू-मुसलिम संघर्ष को लेकर चलना पड़ा, किन्तु यह कौन नहीं जानता कि भारत-सम्राट अलाउद्दीन खिलजी और मेवाड़ नरेश राणा रत्नसिंह का वह युद्ध मुसलिम-हिन्दू संघर्ष नहीं था? क्या सम्राट की सेना सब मुसलमान थी? क्या उसमें हिन्दू न थे? एक दुर्जय राज्यलिप्सा और अदम्य विलास-लालसा इस विग्रह के मूल में थी। फिर मेरे निकट तो हिन्दू-मुसलिम संघर्ष का वही अर्थ है जो हिन्दू-हिन्दू या मुसलिम-मुसलिम संघर्ष को हो सकता है। मेरे लिए तो अलाउद्दीन-रत्नसिंह का यह संघर्ष कौरव-पांडवों के 'महाभारत' से कम न था। हमें संघर्ष के अन्तरंग में जाना है युद्ध मानव का सनातन कर्म रहा है। शास्वत धर्म हम चाहे न कहे। मानव और दानव (या पाशव) वृत्तियों के निरंतर संघर्ष, अंतरद्वन्द्व से ही जीवन की सत्ता है। सत् और असत्, धर्म और अधर्म, न्याय और अन्याय का संघर्ष शाश्वत है।''[6] समासतः 'जौहर' में उन्होंने जौहर के प्रख्यात ऐतिहासिक वृत्तांत को तत्कालीन आंदोलनरत भारतीय जनसाधारण के लिए प्रेरक और अर्थपूर्ण सिद्ध करने की कोशिश की थी, तथापि यह काव्य राजस्थान की जीवन-ज्योति वनस्थली विद्यापीठ की वीरबालाओं को समर्पित है।

उन्होंने अपने प्रथम काव्य संग्रह 'शंखनाद' का समर्पण स्वाधीनता और स्वाभिमान के अमर पुजारी राणा प्रताप को इस प्रकार किया था—

भरा प्राणों में जिसका प्राण, प्राण में गूंजा जिसका गान,
गान में गूंजा जिसका प्राण, भरा था कानों में जिसका गान,
प्राण जिसका है यह वरदान, नाद का है जो प्राणाधार,
समर्पित 'शंखनाद' साभार, उसी को जिसका यह वरदान।

इस संदेश के साथ उसका समर्पण किया गया है—

देश-दशा को देख-रेख अब हे भारत संतान जगो!
पतित दलित पीड़ित स्वदेश के अहो अजर वरदान जगो!
मा को रोता देख आज भारत के हत अभिमान जगो!
शंखनाद सुन-सुन कर अब तो नत-हत-मृत! निष्प्राण! जगो!!

श्री इन्द्रदत्त स्वाधीन ने अपने संस्मरण में इनके इस काव्य शंखनाद के बारे में उल्लेखनीय बात लिखी है-''कोटा में सन् 1936 ई. में नाथूलाल जैन, राजेन्द्र कुमार अजय, निर्मल जी और मैंने एक कविता की पुस्तक प्रकाशित कराई। जिसके लेखक मेरे

भाई सुधीन्द्र जी थे। जब पुस्तक प्रकाशित हुई और बाजार में आयी, तो उसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। कोटा रियासत वालों ने हमारी प्रेस की तलाशी ली, हमारी दुकानों की तलाशी ली और वह पुस्तक जब्त कर ली। पुस्तक का नाम 'शंखनाद' है। उसके बाद पुलिस ने हमारा पीछा किया। जब हम अजमेर एक जलसे में गए, तो वहाँ उस पुस्तक के संस्मरण सुना गए। वहाँ पर पुलिस ने हमारे सब साथियों के विरुद्ध शिकायत कर दी।''[8] सन् 1937 में प्रकाशित इस काव्य संकलन में सन् 1934 से 1937 के बीच लिखी गई 26 रचनाओं को शामिल किया गया है, जिसकी भूमिका सुप्रसिद्ध कवि रामनाथ सुमन ने लिखी थी।[9] इस संकलन में राणाप्रताप को संबोधित एक कविता है जिसमें वे राणाप्रताप से सुसुप्त और दासता से त्रस्त जनता को प्रेरित कर, स्वतंत्रता संघर्ष के लिए सक्षम बनाने का अनुरोध करते हैं। 'शंखनाद' की कविताओं में जो इतिहास प्रेम है, वह स्वतंत्रता संघर्ष के साहित्यिक पाथेय के अनुरूप है।

प्रलयवीणा काव्य का प्रकाशन मार्च 1941 ई. में हुआ, जिसका समर्पण काव्यमय है। संगीत समारंभ के पूर्व शीर्षक से सुधीन्द्र ने काव्य के कथ्य पर प्रकाश डाला है, उन्होंने लिखा है कि ''प्रलयवीणा में प्रलय का आव्हान है। क्रान्ति और प्रलय के स्वरूपों की मेरी कल्पना वीणा की अनेक संतृतियों में मुखरित हुई है। उसे अप्रत्याशित विध्वंस, अकाण्ड ताण्डव, सर्वनाश के रूप में नहीं, वरन् सत्-चित्-शिव के सन्देश का ही अग्रदूत के रूप में ही मैंने ग्रहण किया है..... एक विराट परिवर्तन और कायाकल्प की कल्पना ही इन गीतों में मूर्त्त हुई है और यह तो प्रत्यक्ष है कि हम संक्रांतिकाल में है और प्रलय हमारी शिराओं में स्पंदित, कंठों में ध्वनित और क्रियाकलाप में मूर्त है। वीणा में मैंने अपने जीवन और प्राणों का अमृत ढालने का आयोजन किया है।..... इन गीतों में विद्रोह की ज्वाला, ओजस की चिन्गारियाँ, प्रलय की प्रेरणा, क्रांति की अराधना, विस्फोट का गर्जन, राष्ट्रीयता का वैभव, मानवता का दर्शन और प्रेम का अमृत आप ही आप संचित हो गए हैं।''

प्रलयवीणा में मंगला चरण सहित कुछ 42 काव्य रचनाएं झंकृत हुई है। जबकि आमुख श्री सोहनलाल द्विवेदी ने लिखा है। इसमें सुधीन्द्र के बारे में उन्होंने लिखा है कि ''सुधीन्द्र एक युवक एम.ए., साहित्यरत्न छात्र जीवन में प्रथम श्रेणी के विद्यार्थी, फिर देशी राज्य की दमननीति के विद्रोही बनकर भाई हरिभाऊ जी के आश्रम में लोकसेवी कार्यकर्ता, अब 'जीवन-साहित्य' के सहकारी संपादक।''[10] प्रलयवीणा में परिवर्तन की हुंकार है-

अरे ओ जलियाँवाले बाग! छेड़ कुछ ऐसा विप्लव-राग
चल पड़े सोये हुए शहीद, चित्त में ले प्राणों का त्याग
फूल तुम धधक उठो विकराल, पंखड़ियों से निकले वह ज्वाल

भस्म हो जाये जिसमें आप, शृंखलाओं का दुर्भर जाल,
तुम्हारा लोहू-सिंचा पराग, वीरवाला का बने सुहाग
भड़क उठ जलियाँवाले बाग! धधक उठ जलियाँवाले बाग[11]

'प्रलयवीणा' काजी नजरूलइस्लाम की 'अग्निवीणा' की याद दिला रही है।

खून की होली, राखी, नया वर्श : नया संदेश, संगम, रेवा का राजमुकुट, रामरहमान नाटक संकलन है जिनका रचनाकाल सन् 1940 से 1948 ई. तक नाटककार सुधीन्द्र ने बताया है तथा अपने सहयोगी भाईजी श्री प्रोफेसर मिट्ठनलाल माथुर को समर्पित किया है। 1 अगस्त 1948 को वे इस नाट्य संकलन की प्रस्तावना में वे लिखते है-''इन नाटकों में एक राजनैतिक राष्ट्रीय आदर्शवाद की श्रृंखला है। जिस युग में यह लिखे गये हैं उसकी पूरी छाप इन पर होनी चाहिए थी। इनसे यदि अब भी कोई संदेश मिले, अच्छा ही है।'' इस नाट्य संकलन की उत्कृष्ट विशेषता यह है कि इसमें सुधीन्द्र ने इन नाटकों का अभिनय करने वाली वनस्थली विद्यापीठ की छात्रा अभिनेताओं के नाम भी दिये है उदाहरणार्थ खून की होली नाटक में राज नारायण का अभिनय कुमारी मनोरमा, आनन्दी का अभिनय कुमारी कमला, चन्द्रा का अभिनय शकुन्तला द्विवेदी, अशोक कुमारी यशोदा माहेश्वरी, अरूण कुमारी सावित्री शर्मा आदि के नाम दिये गये है।

स्वतंत्रता संघर्ष के अन्तिम दशक में जहां एक ओर राष्ट्रीय आंदोलन की गतिविधियां अपने चरम पर थी वही दूसरी ओर पाकिस्तान की मांग भी जोर पकड़ रही थी। इस द्वन्द्व पूर्ण वातावरण का प्रभाव उनके जौहर जैसे काव्य के लेखन पर अवश्य पड़ा। उन्हें इस देश के राष्ट्रीय आंदोलन से तो गहरी सहानुभूति थी किन्तु पाकिस्तान की अवधारणा से पूर्ण असहमति थी। उन्होंने अपनी राष्ट्रवादी सोच के चलते पुलिस की नौकरी छोड़ दी। तत्पश्चात् वे राजस्थान में राष्ट्रीय आंदोलन के अग्रणी नेताओं- हरिभाऊ उपाध्याय और हीरालाल शास्त्री के संपर्क में आए। हरिभाऊ उपाध्याय की प्रेरणा से उन्होंने जवाहरलाल नेहरू की 'मेरी कहानी' के हिन्दी में अनुवाद में भी सहयोग किया। राजस्थान के इतिहास के सिरमौर स्वातंत्र्यप्रेमी संघर्षशील महाराणा प्रताप के शौर्य, देशप्रेम और उत्सर्गमय जीवन से प्रभूत प्रभावित थे। जिसका प्रभाव उनके रचनाकर्म पर भी पड़ा।

स्वतंत्रता संघर्ष के अंतिम दशक में उनकी 'शंखनाद', 'प्रलयवीणा', मेरे गीत, 'जौहर' और खून की होली जैसी रचनाओं ने सम्पूर्ण राजस्थान में जनजागरण की दिशा में अनोखा कार्य किया। स्वतंत्रता के बाद उन्होंने अपने साहित्यिक भावावेगों को 'अमृतवीणा' और 'प्रेयस' में जिस प्रकार अभिव्यक्त किया, उससे उनके समकालीन साहित्यकारों को प्रेरणा प्राप्त हुई। अपनी प्रिय रचना टैगोर की 'गीतांजलि' का उन्होंने हिन्दी में अनुवाद

किया, जो भारतेन्दु साहित्य समिति, कोटा ने श्री हरिबल्लभ जी के सम्पादन में प्रकाशित किया। 'हिन्दी कविता में युगांतर' शीर्षक से उनका शोधप्रबंध भी प्रकाशित हुआ, जिसको साहित्यकारों ने उनकी काव्य दृष्टि को स्पष्ट करने में सफल बताया है।[12] सुधीन्द्र की अनेक कविताएं तत्कालीन सभी महत्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाओं- 'प्रजासेवक', 'स्वराज्य', 'प्रताप', 'वीर अर्जुन', 'नवजीवन', 'रियासती', 'राजस्थान', 'नवयुग', 'मीरा', 'कर्मवीर' तथा 'अमरज्योति' आदि में प्रकाशित हुई। जिनमें से कुछ कविताएं कालान्तर में जे.के. जैन सम्पादित 'स्वाधीनता के गीत'[13] संग्रह में शामिल की गई। जिनसे पाठकों को स्वातंत्र्यभावबोध प्राप्त हुआ।

सुधीन्द्र के काव्य जीवन का पूर्वार्द्ध स्वतंत्रता संघर्ष के सामूहिक भावावेगों को व्यक्त करने का काव्य है। जौहर के दो संस्करण दो वर्ष के अंतराल में प्रकाशित होना (प्रथम संस्करण सम्वत् 2000 वि. में, जबकि द्वितीय संस्करण 2002 वि. में), इसकी लोकप्रियता का सबल साक्ष्य है। सम्पूर्ण प्रबन्ध 6 ज्वालाओं में विभक्त है जिसका अनुक्रम विचारणीय है क्रमशः (स्व) प्रथम ज्वाला (बीज), (अ) द्वितीय ज्वाला (संघर्ष), (भि) तृतीय ज्वाला (संधि) (मा) चतुर्थ ज्वाला (दर्शन) (नि) पंचम ज्वाला (प्रत्यावर्तन) (नी) षष्ठ ज्वाला (उत्सर्ग)।[14] बीज के प्रारंभ में कवि लिखता है-

स्वतन्त्रते! लो आज बिराजो, कवि की वाणी पर आओ!
कल्याणी वाणी! वीणा में, कला-कलित स्वर भर गाओ!
मेरे कवि! तुम स्वाभिमानमय, भाव-भरा अन्तर लाओ!
लेखिनि! अपनी अमर मसी ले, अमर कथा लिखती जाओ![15]

प्रबन्धकाव्य जौहर अपने प्रत्येक पद में राजस्थान की संस्कृति को स्मरण करता हुआ स्वतंत्रतासंघर्ष के लिए प्रेरित करता प्रतीत होता है—

मर-मरकर भी अमर बने जो, हैं प्रणम्य वे वीर व्रती;
वीरांगना वन्दनीया हैं, वे पातिव्रतपरा सती।
अपनी निपट विवषता पर अब, हम जब-जब अपमान सहें,
उनका पुण्य-स्मरण कर करते, प्राणों का उत्थान रहें।[16]

नये युग का आव्हान करता हुआ कवि स्वतंत्रता संघर्ष को अमूल्य पाथेय प्रदान करता है—

युग पलटा, परिवर्तन छाया, भू ने नव शासन पाया!
फिर स्वराज-भोगी भारत के, शिर पर दुःशासन छाया;
जिसने कहीं अनय बरसाया, विकट कहीं संकट ढाया।
कहीं अनर्गल छल-कौशल की, फैलायी अपनी माया।[17]

मानवीयप्रेम डॉ. सुधीन्द्र के लिए सर्वोपरि है, वे मनुष्य होने की शर्त मानवप्रेम मानते हैं। सम्पूर्ण सुख में समाज के लिए मिलजुल कर विकास का रास्ता बनाने के लिए प्रेरित करते हैं–

मानव–मानव का विरोध यदि, तो कब दोनों हैं मानव?
है संगर–संघर्ष तभी जब, यह मानव हो, वह दानव!
मानव–मानव तो मिल जुलकर, ला देते भू पर सुरपुर।
हो जाता शाश्वत–सुख सिंचित, यह भव–जीवन क्षणभंगुर!![18]

अतीत के काव्य में विष्लेशण के आत्यांतिक भावों में बुराई से लड़ने की प्रेरणा स्वतंत्रता संघर्ष को पोषण प्रदान करती है–

नर के प्रति क्या प्रीति कभी थी, रही न अनतर में नर के?
तो फिर क्यों भाई–भाई में, कांड हुए ये संगर के?
द्वेषानल न 'महाभारत' था, कोई भाई–भाई का;
वह तो था संघर्ष बुराई, से अनिवार्य भलाई का।[19]

जिस प्रकार महात्मा गांधी के जीवन पर बचपन में राजा हरिश्चंद्र का नाटक देखने पर सत्य के आग्रह का गहरा संस्कार पड़ा था, उसी प्रकार डॉ. सुधीन्द्र के जीवन पर माँ द्वारा सुनाई गई देशप्रेम और बलिदान की कहानियों का गहरा प्रभाव पड़ा था। उन्होंने बचपन में प्रताप नाटक में पृथ्वीराज का अभिनय भी किया था। देशप्रेम और शौर्य की कुछ राजस्थानी रचनाओं के हिन्दी अनुवाद भी शैशव अवस्था में ही सुधीन्द्र ने किए। यही कारण है कि जब सुधीन्द्र ने कवि–कर्म की शुरुआत की तो यह राष्ट्र प्रेम ही उनकी आरंभिक कविताओं का खादपानी बना। उन्होंने अपने समकालीन नंद चतुर्वेदी से एक बार कहा भी था कि 'किशोर और तरुण होने के बहुत से दिनों में मेरा चित्त राष्ट्र की कविताओं में लगा रहा।'[20]

समासत: सुधीन्द्र साहित्य ने सदियों से पददलित और हत गौरव भारतीय जन–साधारण में संघर्ष और स्वाभिमान की भावनाएं उत्पन्न की थी। राष्ट्रीय आंदोलन के भीतर ही सामाजिक–सांस्कृतिक जागरण के आंदोलन भी सक्रिय थे और उसके अग्रदूत सभी प्रकार की संकीर्णताओं से मुक्त समाज बनाने के लिए संकल्पित और प्रयत्नशील थे। 'शंखनाद' में तदनुसार ऐसी कविताएं भी हैं जो सभी प्रकार की सामाजिक और धार्मिक संकीर्णताओं की निंदा करती हैं। वंचित और पीड़ित के प्रति सहानुभूति का भाव भी राष्ट्रप्रेम का ही रूप है इसलिए 'शंखनाद' में ऐसी ही कविताएं– अछूत, सवर्ण–शूद्र, कामना आदि भी हैं, जिनमें अमानवीय सामाजिक विभाजन, अन्याय, शोषण आदि की आलोचना और विरोध है। 'कामना' में कवि दलितों की आंख से ढलने वाली आंसू की बूंद बनने की इच्छा करता है–

मुझे माँ, दलितों के दृग से ढलती, आंसू की बूंद बना।

समाचार पत्र 'प्रजासेवक', दिनांक 12 नवंबर 1940 ई. को प्रकाशित कविता 'अरि ओ मर मिटने की प्यास!' उल्लेखनीय है–

अरि ओ मर मिटने का प्यास! आज भड़क उठ
इन पागल प्राणों में री! सविलास।।
आज अनोखा शंख बजा है, रण के हेतु अनीक सजा है।
देख गगन का चुम्बन करती, फहराती उत्तुंग ध्वजा है।[21]

सुधीन्द्र के साहित्य का राजस्थान के स्वतंत्रता संघर्ष के साहित्यिक पाथेय के रूप में सर्वोपरि महत्व है। उन्होंने जहाँ एक ओर साहित्य को स्वतंत्रता संघर्ष का बहुआयामी फलक प्रदान किया वही दूसरी ओर अपनी रचनाओं के माध्यम से स्वतंत्रता संघर्ष को साहित्यिक पाथेय प्रदान किया। सुधीन्द्र का परिवार देश के उस सांस्कृतिक संतरण का आदर्श उदाहरण है, जो प्रांत की सीमाओं को त्यागकर स्वतंत्रता संघर्ष में संलग्न रहा। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती कृष्णा और पुत्र अमिताभ भी राष्ट्रीय विचारों के बीच रहे यह अवश्य विचारणीय है कि श्री विजयसिंह पथिक की भांति ही डॉ. सुधीन्द्र भी अपने अंतिम दिनों में आगरा उत्तरप्रदेश क्यों चले गये? यह उल्लेखनीय है कि आगरा में ही एपेन्डिक्स की बीमारी के चलते 15 जून 1954 ई. को कुल 37 वर्ष की आयु में उनका निधन हुआ। डॉ. सुधीन्द्र की रचनाओं के माध्यम से निश्चय ही राजस्थान में स्वतंत्रता संघर्ष में त्वरण के साथ–साथ साहित्यिक सक्रियता का भी विस्तार हुआ।

सन्दर्भ

1. *डॉ. दयाकृष्ण विजय, आमुख, हमारे पुरोधा–8, सुधीन्द्र, नंद चतुर्वेदी, राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर, 1992*
2. *हाड़ौती स्वतंत्र्याय जयंतिका, 1997 ई. कोटा जिला प्रशासन, पृ. 17*
3. *डॉ. नंद चतुर्वेदी की इन्द्रदत्त स्वाधीन से दिनांक 12.10.1987 को बातचीत का एक अंश, हमारे पुरोधा–8, सुधीन्द्र : नंद चतुर्वेदी, राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर, 1992, पृ. 21*
4. *सुधीन्द्र, जौहर, विद्यामंदिर लिमिटेड नई दिल्ली, मुद्रक गोंडल्स प्रेस नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण सम्वत् 2002 वि. निवेदन पृ. क*
5. *वही*
6. *वही*
7. *डॉ. नंद चतुर्वेदी, हमारे पुरोधा–8, सुधीन्द्र : नन्द चतुर्वेदी, राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर, 1992, पृ. 60*
8. *डॉ. महेन्द्र सिंह खड़गावत (प्र.सं.), राजस्थान स्वाधीनता संग्राम के साक्षी (स्वतंत्रता सेनानियों के संस्मरणों पर आधारित) जन आन्दोलन ग्रन्थ माला : चतुर्थ पुष्प ग्रंथांक–44, राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर, 2007, पृ. 57*

9. डॉ. सुधीन्द्र के इस प्रथम काव्य संकलन के प्रकाशन का वर्ष 1937 सही है, जबकि स्वाधीन ने अपने संस्मरण में इसके प्रकाशन का वर्ष 1936 बताया है। यह कहा जाता है कि यह सुधीन्द्र की प्रथम काव्य रचना थी जबकि सत्य यह है कि गणेश शंकर विद्यार्थी द्वारा सम्पादित एवं कानपुर से प्रकाशित होने वाले प्रताप समाचार पत्र में इनकी पहली रचना प्रकाशित हुई थी। डॉ. नंद चतुर्वेदी, हमारे पुरोधा-8, सुधीन्द्र, राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर, 1992, पृ. 22
10. सुधीन्द्र, प्रलयवीणा प्रकाशक मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री सस्ता साहित्य मण्डल (सोल ऐजेन्सी विभाग), नई दिल्ली मुद्रक देवीप्रसाद ष्शर्मा, हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस, नई दिल्ली संस्करण मार्च 1941, आमुख पृ. 11
11. वही, आमुख पृ. 15
12. डॉ. बजरंगलाल (सं.), हाड़ौती री गाथा, स्मारिका वर्ष 2011-2012, हाड़ौती उत्सव आयोजन समिति कोटा अकलंक विद्यालय परिसर, बसन्त विहार कोटा, पृ. 38
13. जे.के. जैन (सं.) स्वाधीनता के गीत, राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर, सन् 1987 ई.
14. सुधीन्द्र, जौहर, विद्यामंदिर लिमिटेड नई दिल्ली, मुद्रक गोंडल्स प्रेस नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण सम्वत् 2002 वि. निवेदन पृ. (ङ)
15. वही, पृ. 1
16. वही, पृ. 2
17. वही, पृ. 4
18. वही, पृ. 5
19. वही, पृ. 5
20. लक्ष्मीचन्द गुप्त, कन्हैयालाल कोचर, सीताराम झालानी (सं.), राजस्थान के प्रकाश स्तंभ, खण्ड 7, राजस्थान स्वर्ण जयंती समारोह समिति, जयपुर, 2003 के पृ. 139 पर डॉ. माधव हाड़ा का लेख
21. जे.के. जैन (सं), स्वाधीनता के गीत, राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर, 1987 पृ. 17 पर 'अरि ओ मर मिटने की प्यास!' सन् 1940 ई.

किसानी संघर्ष के प्रेरक : श्री शिवदयाल राजावत और उनका किसान संदेश

डॉ. अर्चना द्विवेदी

हाड़ौती क्षेत्र में किसान संघर्ष,[1] राजस्थान के स्वतंत्रता संघर्ष एवं सामाजिक जागरण का अनोखा अध्याय है। शिवदयाल राजावत कोटा के उन स्वतंत्रता सेनानियों में हैं, जिन्होंने न सिर्फ प्रजामंडल आंदोलन में भाग लिया, अपितु अपनी दीर्घकालीन पत्रकारिता के केन्द्र बिन्दु में किसान एवं गांव की समस्याओं को ही रखा क्योंकि हाड़ौती क्षेत्र में भी किसानों की हालत अच्छी नहीं थी। स्वतंत्रता संघर्षकालीन कवि सुधीन्द्र अपनी कविता गांव की ओर[2] में किसानों का चित्र इस प्रकार देते हैं-

जहां पर छप्पर सिर पर धरे खड़ी है मिट्टी की दीवार
कंटीले झालों ने ही जहां बनाया है घर-घर का द्वार
इन्हीं में रहती मानव देह, इन्ही में करता दैन्य विहार
इन्हीं के कोनों में है यहीं कहीं पड़ सो रहता परिवार
खुले रहते है घर दिन-रात नहीं आते पर डाकू-चोर
चलोगे उन गांवों की ओर?
देह उनकी है नंग-धड़ंग वस्त्र उनको कहना है भूल
जीर्ण-जर्जर हो जिनका हाय, रहा हो धागा-धागा झूल
देह है नहीं, खाल में बांध हड्डियों को लिया बटोर
चलोगे उन गांवो की ओर?

श्री शिवदयाल राजावत का सामन्तवाद विरोधी सामाजिक जागरण अभियान कोटा तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु उन्होंने समूचे राजस्थान की रियासतों में व्याप्त सामन्ती शोषण और किसानों के दमन का खुलकर विरोध किया। वे किसानी संघर्ष के प्रेरक व्यक्तित्व के रूप में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखते थे। श्री राजावत कोटा रियासत के इन्द्रगढ़ ठिकाने के बाबई गांव के मूल निवासी थे। प्रारंभ में उन्होंने कोटा के हरबर्ट हाईस्कूल से मिडिल तक की शिक्षा ग्रहण की। तदुपरांत कोटा राज्य में ही पटवारी के पद पर कार्यभार ग्रहण कर लिया। तत्कालीन सामंती समय में राजपूत जाति में पैदा होना ही इसके लिए पर्याप्त था, क्योंकि उस समय शिक्षित राजपूतों को प्राथमिकता से राज्य सेवा में लिया जाता था। पटवारी की नौकरी करते हुये श्री राजावत ने ग्रामीण समाज में गरीबी के कारण अभिशापस्वरूप फैली अनेक बुराइयों का प्रत्यक्ष अनुभव किया और वे

किसानों के निकट सम्पर्क में आये। किसानों की दुर्दशा से उनका संवेदनशील मन द्रवित हो उठा। उस समय तथा समाज में जागीरदारों द्वारा किसानों पर अनेक बर्बर अत्याचार किये जाते थे। किसानों का बेगार के साथ ही विभिन्न तरीकों से शोषण व दमन किया जाता था, जिसका चित्रण सुधीन्द्र के साथ-साथ कालाबादल ने भी इस प्रकार किया है-

जागीरी में जीबा सूँ तो भलो कुआ में पड़बो।
जागीरी का गाँव सूँ तो भलो नरक में सड़बो।।[3]

\+ + +

बैल बिक गया नाज बिक गयो, ओर बिक्यो घर बार।
छोरा बिकग्या, छोरियां बिकगी, अब कांई बेचूं नार।।[4]

\+ + +

धरम धन धरती लूटे रे जागीरदार जी।
बहन बेटी रूप की ने ताके यह सरदार।
आधो जोबन नौकर मांगे, आधो जागीरदार।।
आंख दिखाबे डाटे, उपटे ललकारे फटकारे।
रोवां तो रोबा भी न दे, ठाकर ठोकर मारे।।[5]

सामंती अत्याचार से त्रस्त किसानों की दशा देखकर श्री शिवदयालजी ने पटवारी की नौकरी छोड़कर किसानों के उत्थान हेतु प्रजामण्डल की सदस्यता ग्रहण कर ली। यह उनकी अति विकसित मानवीय अन्तर्चेतना का ही परिणाम था कि वे सुविधा प्राप्त वर्ग से संबंध रखने के बावजूद सुविधा विपन्न वर्गों के समर्थन में खड़े हुए। इनके कोटा और झालावाड़ के राज परिवारों के साथ निकट के संबंध होने के उपरांत भी उन्होंने शोषित किसानों की आवाज बुलन्द करने के खतरे की परवाह नहीं की। मार्च, 1942 कोटा के पोलीटिकल एजेन्ट ने कोटा रियासत का दौरा किया। उस समय श्री राजावत ने बेगार के विरुद्ध विभिन्न जातियों के लोगों जैसे तेली, चमार, खटीक, माली, कुम्हार इत्यादि से प्रार्थना पत्र प्रस्तुत करवा कर कोटा राज्य से पुन: बेगार विरोधी आंदोलन का माहौल उत्पन्न कर दिया। अन्य स्वतंत्रता सेनानियों की तरह श्री राजावत भी भारत छोड़ो आंदोलन में सम्मिलित रहे, किंतु वे पुलिस की गिरफ्तारी से बचे रहे। 1946 में श्री राजावत कोटा राज्य प्रजामंडल के प्रतिनिधि चुने गये तथा उन्होंने उदयपुर में आयोजित अखिल भारतीय देशी राज्य प्रजा परिषद् के सम्मेलन में प्रजामंडल के प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया जिसकी अध्यक्षता पं. जवाहरलाल नेहरू ने की। श्री हीरालाल जैन अपने संस्मरणों[6] में श्री शिवदयाल राजावत जी को याद करते हुए बताते हैं-''किसानों को संगठित करने के लिए कोटा राज्य किसान सभा एवं मजदूरों के लिए कोटा राज्य मजदूर सभा बनायी। मैं मजदूर संघ का अध्यक्ष था और उसके सचिव शिवदयाल राजावत थे। मजदूर महासंघ एवं हिन्दुस्तान मजदूर सेवक संघ अहमदाबाद से संबंधित था।'' जिससे यह संघ जुड़ा हुआ था। सन् 1945 ई. में इंदौर में इस महासंघ की सभा में श्री शिवदयाल

राजावत और श्री हीरालाल जैन ने भाग लिया था। किसान सम्मेलन सारथल का प्रथम अधिवेशन 16 जुलाई सन् 1947 को गणगोर के बाग में 'किसान संगठन जिंदाबाद', 'जागीरी प्रथा का नाश हो' आदि नारों के साथ प्रारंभ हुआ। जिसमें आपने शिक्षा के महत्व को समझाते हुए भाषण दिया।[7] श्री शिवदयाल राजावत ने 6 जनवरी 1947 को किसान पंचायत के माध्यम से ठिकाना फूसोद के किसानों से खड़ी फसल पर महसूल जकात अधिक लेने के लिए ष्शिकायत पत्र भरकर देने की अपील कोटा राज्य किसान संघ के माध्यम से की।[8]

सन् 1958 से पूर्व कोटा में भारतीय राष्ट्रीय मजदूर संघ नहीं था। तब कोटा-बैराज की नींव लगाई जा रही थी। 'डी-वाटरिंग' का कार्य जोरों पर था। मेहनतकश लोग लगन से जुटे हुए थे। तब उन्हें भ्रष्ट अधिकारियों और ठेकेदारों के शोषण से बचाने वाली कोई ऐजेन्सी नहीं थी। त्यौहार तो क्या रविवार के अवकाश भी नहीं दिये जाते थे। निधारित समय से भी अधिक काम लिया जाता था। ऐसी परिस्थितियों में मकर संक्रान्ति के दिन 14 जनवरी सन् 1958 को श्री राजावत के प्रयत्नों से 'चम्बल कामगार संघ' का गठन किया गया और श्री चन्द्रभान श्रीवास्तव उसके प्रथम अध्यक्ष बने। राष्ट्रीय मजदूर कांग्रेस से इस संघ का संबंध स्थापित किया गया।[9]

श्री राजावत किसानों की दुर्दशा को आमजन तक पहुंचाने के लिए पत्रकारिता के क्षेत्र में उतरे। प्रारंभ में वे कोटा के बाहर से प्रकाशित होने वाले समाचार पत्रों में लेख लिखने व संवाद भेजने का कार्य करते थे, किंतु 1942 में कोटा से प्रकाशित 'लोकसेवक' साप्ताहिक पत्र में नियमित रूप से लिखने लगे। जीवन पर्यन्त वे किसानी संघर्ष से जुड़े रहे, जहां एक ओर उनका एक करारा लेख 23 अप्रेल, 1942 को 'लोकसेवक' में 'हाड़ौती की बेगार प्रथा' पर प्रकाशित हुआ जिससे पूरे क्षेत्र में तहलका मच गया। वहीं दूसरी ओर सन् 1987 में प्रकाशित विजय सिंह पथिक स्मृति ग्रन्थ में वे 'किसानों की विजय' नाम से एक लघु लेख लिखते हैं। इन दोनों लेखों के सार की चर्चा करना मैं समीचीन समझती हूँ- 'हाड़ौती की बेगार प्रथा' लेख में आपने विस्तारपूर्वक यह बताया कि ग्रामीण क्षेत्रों की किन-किन जातियों से क्या-क्या बेगार ली जाती थी। उनका वह लेख तो बहुत बड़ा है, किंतु उसका कुछ प्रारंभिक अंश उल्लेखनीय है-[10] ''किसी समय रियासत कोटा में बेगार बहुत जोरों से चलती थी। लोगों का खाना-पीना हराम था। बेगार में जाने वाले मनुष्यों, औरतों और बच्चों को सब काम छोड़कर जाना ही पड़ता था चाहे घर में बीमार हो, खेत की रखवाली, शादी विवाह हो या गमी हो, ओसरे पर कार्य करना ही पड़ता था। गालियों की बौछार और झिड़कियाँ इनको हर समय मिलती रहती थीं। गर्भवती स्त्रियों, छोटे बच्चों और बूढ़ों तक से बेगार लेने में जरा भी हिचकिचाहट नहीं होती थी। डंडेधारी पुलिस और हलकारों के नाम से बेगार करने वाली जातियाँ थर-थर कांपा करती थीं। समय आया और कोटा राज्य ने इस पर विचार किया। हमारे स्वर्गीय

दरबार बहादुर की पूर्णकृपा ने इस कलंक को दूर करने की नींव डाली। इसके लिए 'कानून रोक बेगार' बनाया गया और बेगार लिया जाना कानूनन दण्डनीय ठहराया गया, परंतु इस कानून से केवल हुक्कामान और अहलकारान दीगर महकमे की रोक हट गयी, परंतु पुलिस और माल का बेगार दिया जाना कानूनन जायज रखकर उसकी एवज में योमिया या वासिक कुछ दिया जाता है.....इसी ही तरह खुद मुख्तयार ठिकानों में जो कोटरियात के नाम से मशहूर हैं, बेगार का बोलबाला है। इन ठिकानों में आज भी 16वीं सदी का सा आतंकमय शासन मौजूद है...।'' इसी प्रकार 'किसानों की विजय लेख'[11] में आपने बिजौलिया आंदोलन में किसानों ने किस प्रकार से विजय सिंह पथिक के नेतृत्व में सामंतवादी मेवाड़ सरकार और जागीरदार को झुकना पड़ा, उल्लेखनीय है। बिजौलिया आंदोलन स्व. श्री विजयसिंह पथिक के नेतृत्व में आरंभ हुआ। बिजौलिया के ऊपरमाल में जन-क्रान्ति की लहर दौड़ गई। सामन्तवादी जागीरदार ने उक्त आंदोलन को कुचलने में जिस प्रकार के हथकण्डे अपनाये उनको सुनकर ही रोंगटे खड़े हो जाते थे, घबराहट पैदा हो जाती थी। महिलाओं को कोड़े मारना, बल्लम चलाना, निहत्थी भीड़ पर घोड़े दौड़ाना और गोली चलाना साधारण बात थी। अनेक मूक किसान मौत के घाट उतर गये, अनेक बहनों की लाज लुट गई। बिजौलिया के महलों के सामने किसानों को खीड़े में, बेड़ियों में डाला गया। खड़े किसानों पर लाठियां बरसायी गई, लेकिन स्वतंत्रता का पुजारी किसान आतताई के सामने नहीं झुका, वह निश्चय कर चुका था कि सामन्तवाद की कमर सदैव के लिए तोड़कर ही जीवित रह सकता है, अन्यथा नहीं। किसानों का नारा था कि 'पथिक के पसीने की बूंद जहां गिरेगी, वहां किसान अपना खून बहा देंगे।' महिलाएं अपने पतियों को गा गा कर कहती थीं- 'कायर बणो तो स्यालू लो, थांकी पागां म्हाने दो। लो हाथों में चुड़लो घाल, म्हारा ढोलाजी।।' इस प्रकार आंदोलन तीव्र गति से चला और अन्त में सामन्तवादी मेवाड़ सरकार और उसके लाड़ले बिजौलिया के जागीरदार को झुकना पड़ा, किसानों की मांगें स्वीकृत हुई।

श्री राजावत ने सामंतवाद पर अपनी लेखनी से कस कर प्रहार किया तथा किसानों को सामंती शोषण से मुक्ति का रास्ता दिखलाया, वहीं अपने पत्रकारिता के धर्म को भी बखूबी निभाया, जिसका एक उदाहरण यहां द्रष्टव्य है- ''विचार प्रकाशन की स्वतंत्रता हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है और जब तक हमारे संविधान में इसकी गारन्टी नहीं कर दी जाएगी तब तक धन नहीं लेगें.....। अखिल भारतीय समाचार पत्र सम्पादक सम्मेलन ने 12 जुलाई को पत्रों की आम हड़ताल रखने की अपील की थी। तदनुसार किसान संदश ने अपने पिछले अंक का प्रकाशन स्थगित रखा है।''[12] श्री राजावत पत्रकारिता व प्रजामंडल के माध्यम से कोटा राज्य में उत्तरदायी शासन की स्थापना के संघर्ष में लगे रहे। उन्होंने 'धारा सभा की क्यों आवश्यकता है?' शीर्षक से एक बड़ा लेख भी लिखा। 1948 में कोटा राज्य के राजस्थान में विलय के बाद भी राजावत किसान, मजदूरों के लिए संघर्ष करते रहे। श्री राजावत ने अपने पत्रकारिता के लम्बे

जीवन में मूल ध्यान गांवों की एवं किसानों की समस्याओं पर ही केन्द्रित रखा। उनका सामंत व साम्राज्यवाद विरोधी अभियान केवल कोटा तक ही सीमित नहीं था, बल्कि उन्होंने राजस्थान की सभी रियासतों में व्याप्त सामन्ती शोषण और दमन का खुलकर विरोध अपनी पत्रकारिता एवं अपने पत्र किसान संदेश से किया।

आजादी के द्वार पर खड़े देश के स्वतंत्रता संघर्ष को क्षेत्रीय पत्रकारिता नित नई-नई ऊँचाइयों की ओर बढ़ाती जा रही थी। हाड़ौती भी इससे अछूता नहीं था। यहाँ के पत्रकार भी अपनी लेखनी एवं सम्पादकत्व के माध्यम से देश के साथ-साथ क्षेत्र की आवाज को जोश और उत्साह के साथ उठा रहे थे। किसानी संघर्ष के प्रेरक पत्रकार श्री शिवदयाल राजावत ने किसानों के स्वातंत्र्य संघर्ष को अपनी पत्रकारिता के माध्यम से संपूर्ण देश में गुंजायमान करने का प्रयास किया। स्वतंत्रता संघर्ष के प्रत्येक सेनानी ने विभिन्न उपादानों के माध्यम से संघर्ष में अपना योगदान दिया है। श्री शिवदयाल राजावत ने किसानी संघर्ष को जन-जन तक पहुँचाने के लिए सन् 1946 ई. में कोटा से 'किसान संदेश' नामक समाचार पत्र प्रकाशित करना प्रारम्भ किया।[13] राजस्थान स्वर्ण जयन्ती समारोह समिति, जयपुर द्वारा प्रकाशित राजस्थान के प्रकाश-स्तम्भ, खण्ड-4, में प्रो. (डॉ.) बृजकिशोर शर्मा ने भी इसका प्रकाशन वर्ष सन् 1946 ई. बताया है, जबकि डॉ. विष्णु पंकज द्वारा संपादित 'भाषाई पत्रकारिता और जनसंचार' नामक पुस्तक में रामस्वरूप जोशी ने 'हाड़ौती क्षेत्र में पत्रकारिता' नामक लेख में इसका प्रकाशन वर्ष 1942-43 ई. बताया है। जबकि भारतीय पत्रकारिता कोश में सन् 1971 ई. में इसकी रजत जयंती मनाने की जानकारी प्राप्त होती है। इन सभी विचारों एवं तिथियों का विभिन्न समाचार पत्रों के कालक्रम अथवा प्रकाशित घटनाओं के संदर्भ में तुलनात्मक विश्लेषण करने पर 'किसान संदेश' का प्रकाशन वर्ष सन् 1946 ई. ही सही प्रतीत होता है।

राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर में प्रेस कटिंग की विभिन्न फाइलों से प्राप्त 'किसान संदेश' के अनेक अंको के अध्ययन, मनन एवं चिंतन से यही प्रकाश पड़ता है कि वास्तव में यह पत्र किसानी संघर्ष की मुक्ति का हथियार बन गया था। इसके विभन्न अंकों में किसानी समाचार दृष्टव्य है -'अंता में किसानों की बर्बादी होगी'।[14] बारां - किसानों का झूठा नेतृत्व[15], शिक्षा विभाग बोखला उठा दमन एवं कुचक्री चालें।[16] प्रस्ताव-'किसान सन्देश सारथल' 15 अगस्त का ऐतिहासिक दिन, क्या हम तैयार है (ले. गौरीलाल गुप्त), बून्दी में अद्‌भुत राजनीति, जागीरी गुण्डों का हमला, काश्तकार लगान न देंगे[17], मिल मजदूर परेशानी में, कोटा सांगोद गर्ल्स हाई स्कूल में योग्य अध्यापिका न होने से स्कूल के टूट जाने का डर 64 लड़कियाँ पढ़ रही है हर दिन स्कूल छोड़ती जा रही है।[18] 'किसान परेशान हैं'[19] नामक लेख में किसानों की समस्याओं को उजागर किया गया- ''आज भारत की ग्रामीण जनता को चारों ओर अंधकार ही दृष्टिगोचर.....। मैं निज स्वार्थियों पदलोलुप.....।'' किसान संदेश

के एक और अन्य अंक में 'जागीरदारी प्रथा के विरोध में किसानों का मोर्चा'[20] नामक लेख में राजस्थान के किसानों का सर्वप्रथम अत्याचारी और अनाचारी जागीरदारी शासन के विरुद्ध मोर्चा को बड़े ही मार्मिक और तार्किक ढंग से रेखांकित किया गया है।

स्वतंत्रता संघर्ष से पूर्व जहाँ श्री राजावत, जागीरदारों और राजा-महाराजाओं के विभिन्न विधि विधानों से संघर्ष करते रहे, वहीं स्वतंत्रता के पश्चात् पूंजीपतियों, भ्रष्ट अधिकारियों, ठेकेदारों तथा तथाकथित जननेताओं के विरुद्ध संघर्ष करते रहे। वे केवल राजनीतिक स्वतंत्रता ही नहीं, अपितु सामाजिक स्वतंत्रता के भी प्रबल पक्षधर थे। उन्होंने तत्कालीन राजस्थान के राजपूत समाज को अनेक सामाजिक बुराइयों, रूढ़ियों व बंधनों की जकड़न से मुक्त करने के लिए किसान संदेश के माध्यम से जागृत करने का प्रयास किया। प्रकारान्तर से इस सामाजिक जागरण के माध्यम से सामन्ती राजपूत समाज के बीच संघर्षरत किसान एवं मजदूरों के जागरण का मार्ग प्रशस्त हुआ। राजपूतों में प्रचलित दहेज-प्रथा व कन्यावध के खिलाफ उन्होंने पुरजोर आवाज उठाई। इन कुप्रथाओं में भी दलित आदिवासी मजदूर एवं किसानों का जीवन भी बुरी तरह प्रभावित होता था, क्योंकि राजपूत समाज इन सबके लिए प्रेरक सामन्त वर्ग ही रहा है। कोटा में सर्वप्रथम हरिजन पाठशाला के संचालन का श्रेय भी आपको ही जाता है।[21] वे अखिल भारतीय राजपूत महासभा के अध्यक्ष भी रहे, जिसके माध्यम से उन्होंने सामाजिक जागरण के अपने लक्ष्य को पूरा करने का प्रयास किया। आप बी.बी. एण्ड सी.आई. रेलवे की कर्मचारी यूनियन से भी मजदूरों एवं कार्मिकों की आवाज उठाते रहे। समासतः श्री शिवदयाल राजावत स्वतंत्रता संघर्ष के उन अधीनस्थ स्वतंत्रता सेनानियों के रूप में स्मरणीय रहेंगे, जिसकी पहली पंक्ति में श्री विजय सिंह पथिक, मोतीलाल तेजावत, रामनारायण चौधरी, नयनूराम शर्मा, अभिन्नहरि, ऋषिदत्त मेहता जैसे स्वतंत्रता सेनानी किसानी संघर्ष के प्रेरक पुरोधा के रूप में खड़े हैं। इसी प्रकार श्री शिवदयाल राजावत की पत्रकारिता और उनका किसान संदेश उस आदर्श पत्रकारिता का प्रतिनिधि रहा है, जिसका बीज प्रताप, तरुण राजस्थान जैसे स्वतंत्रता संघर्षकालीन पत्रों ने बोया था। किसानी समाज के संघर्ष में जीवन की नित-प्रति झांकी को पूर्ण ओज के साथ रूपायित करता किसान संदेश तत्कालीन समय के संघर्ष को बहुविध प्रकार से पोषित करता रहा, जो आज स्वतंत्रता आंदोलन के विभिन्न आयामों का अध्ययन करने वाले शोधार्थियों का पथ नाना प्रकार से आलोकित करता है।

संदर्भ

1. *स्वतंत्रता संघर्षकालीन हाड़ौती के कवि सुधीन्द्र ने अपने काव्य प्रलयवीणा में किसान नाम से जो कविता प्रस्तुत की वस्तुतः वह किसान संघर्ष के प्रभाव के परिणामस्वरूप है। सुधीन्द्र, प्रलयवीणा, प्रकाशक मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल, (सोल ऐजेन्सी विभाग) नई दिल्ली, मार्च 1941, मुद्रक देवीप्रसाद शर्मा, हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस, नई दिल्ली, पृ. 88-89*

2. *प्रलयवीणा काव्य संग्रह में पर गांव की ओर कविता, पूर्वोक्त पृ. 90-91*
3. *रामनारायण मीणा हलधर, ओम नागर (सं.), कालाबादल रे, बोधि प्रकाशन जयपुर, 2017 पृ. 171-172*
4. *जे.के. जैन (सं), स्वाधीनता के गीत, राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर, 1987 पृ. 84 पर गाँव की पुकार सन् 1941 ई.*
5. *किसान संदेश, 9 मई 1951, अंक 20, राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर*
6. *राजस्थान स्वाधीनता संग्राम के साक्षी, जनआंदोलन ग्रन्थमाला, चतुर्थ पुष्प, ग्रन्थांक 44, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, 2007, पृ. 37*
7. *विविध समाचारपत्र (सन् 1927-1989), बस्ता नं. 3, पृ. 3-5, राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर*
8. *विविध समाचार पत्र (सन् 1927-1989), बस्ता नं. 3, पृ. 8, राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर*
9. *शांति भारद्वाज 'राकेश' (सं.), हाड़ौती का स्वतंत्रता आन्दोलन, राजस्थान विद्यापीठ हाड़ौती शोध प्रतिष्ठान, मालारोड़, कोटा 2, राजस्थान प्रथम संस्करण 1973, पृ. 220*
10. *लक्ष्मीचन्द गुप्त, कन्हैयालाल कोचर, सीताराम झालानी (सं.), राजस्थान के प्रकाश स्तंभ, खण्ड 4, राजस्थान स्वर्ण जयंती समारोह समिति, जयपुर, 2003 के पृ. 60-62 पर डॉ. बृजकिशोर शर्मा का लेख द्रष्टव्य*
11. *विष्णु पंकज (सं.), विजय सिंह पथिक स्मृति ग्रन्थ, हंसा प्रकाशन जयपुर, 1987*
12. *किसान संदेश, 18 जुलाई 1951, अंक 2, वर्श 5, राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर*
13. *विजयदत्त श्रीधर, भारतीय पत्रकारिता कोश, खण्ड दो, वाणी प्रकाष्शन, नई दिल्ली, 2010, पृ. 1102*
14. *किसान संदेश, 28 अप्रैल 1947 ई., अंक 4, पृ. 1 बस्ता- 2 (अखबार) राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर*
15. *किसान संदेश, 12 मई 1947 ई., अंक - 6, पृ. 1 राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर16. किसान संदेश, 2 जून 1947 ई., अंक - 9, पृ. 1 राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर*
17. *किसान संदेष्श, 21 जुलाई 1947 ई., अंक 14, पृ. 1-4 राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर*
18. *किसान संदेश, 28 जुलाई 1947 ई., अंक 15, पृ. 1 राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर*
19. *किसान संदेश, 21 मार्च 1951 ई., अंक 14, राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर*
20. *किसान संदेश, 28 मार्च 1951 ई., अंक 15, राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर*
21. *शांति भारद्वाज 'राकेष' (सं.), हाड़ौती का स्वतंत्रता आन्दोलन, राजस्थान विद्यापीठ हाड़ौती शोध प्रतिष्ठान, मालारोड़, कोटा 2, राजस्थान प्रथम संस्करण 1973, पृ. 221*

शहीद शिरोमणि कुंवर प्रताप सिंह बारहठ : भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का योद्धा

डॉ. दिनेश कुमार चारण एवं डॉ. सुदर्शना बारैठ

शहीद शिरोमणि कुं. प्रताप सिंह बारहठ के पिता ठा. केसरी सिंह बारहठ एक महान राष्ट्रभक्त थे, यद्यपि उनको व्यक्तिगत रूप से तनिक मात्र भी परेशानी नहीं थी और राजसी ठाठ से रहते थे परन्तु अंग्रेजों की गुलामी पसन्द नहीं थी। वे हमेशा माँ भारती की स्वतंत्रता के लिए चिन्तनरत एवं प्रयासरत रहते थे। बारहठ जी सशस्त्र क्रांति के पक्षधर थे। इसके लिए वे हमेशा युवाओं और विशेषकर क्षत्रिय युवाओं को प्रोत्साहित करते थे। आप यूरोपीय देश इटली के राजनेता मैजिनी से अत्यधिक प्रभावित थे और युवा शक्ति पर अटूट विश्वास रखते थे। इसीलिए उन्होंने अपने भाई, पुत्र और जामाता को भी इस खतरनाक कार्य के लिए मातृभूमि के चरणों में प्रस्तुत कर दिया था। यह जानकर ही भारत में सशस्त्र क्रांति के जनक श्री रासबिहारी बोस ने अमीरचन्द से कहा था- दुनिया में ऐसे उदाहरण तो मिल जाएंगे कि किसी व्यक्ति ने अपने पुत्रों को देश की रक्षा व आजादी के लिए प्रस्तुत कर दिया हो परन्तु अपने जामाता को भी स्वतंत्रता युद्ध के लिए प्रस्तुत करने का एक मात्र उदाहरण ठा. केसरी सिंह बारहठ का ही है। कुं. प्रताप सिंह बारहठ अपने पिता से प्रेरित होकर भारत के स्वतंत्रता युद्ध में कूद पड़े। छोटी सी आयु में आपने अंग्रेजों को भयभीत कर दिया, परन्तु एक गद्दार भारतीय के कारण आप पकड़े गये। जेल में अंग्रेजों ने प्रलोभन दिए - अत्याचार किए। अंग्रेज जख्मों पर नमक लगाते रहे.... प्राण त्याग दिए, साथियों के नाम नहीं बताए।

मेरे शोधपत्र का उद्देश्य यह है कि एक राजसी परिवार में जन्मे, पले-बढ़े सुकुमार द्वारा देश की स्वतंत्रता के लिए सब कुछ त्याग कर अंग्रेजों को भयभीत कर उन्हें भारत से बाहर निकालने के प्रयत्न को आलोकित करना है। 22 वर्ष की आयु में वो पकड़े गए तो अंग्रेजी प्रलोभन व अत्याचार भी उन्हें विचलित नहीं कर सके, जेल में अंग्रेजों के हन्टर टूट गए मगर भूखे-प्यासे घायल प्रताप ने साथियों के नाम नहीं बताए और कष्ट सहते-सहते मातृभूमि के लिए प्राण न्योछावर कर दिए। आपके त्याग और बलिदान से भगत सिंह, अशफाक व सुभाष चन्द्र बोस जैसे हजारों-लाखों युवाओं को प्रेरणा मिली और देश आजाद हुआ। ऐसे महान राष्ट्रभक्त कुं. प्रताप सिंह बारहठ को वर्तमान पीढ़ी जाने यही मेरी कामना है।

ठा. केसरी सिंह बारहठ का रासबिहारी बोस से निकट सम्पर्क था। राजस्थान के एक बड़े क्रांतिकारी श्री अर्जुन लाल सेठी से भी आपकी गहनता थी। सेठी जी ने 1907 में जयपुर में एक विद्यालय की स्थापना की, जिसका उद्देश्य भारतीय संस्कृति की शिक्षा तथा गुप्त रूप से क्रांतिकारी विचारों का प्रसार एवं हथियारों का प्रशिक्षण देना था।[1] केसरी सिंह जी ने इसी विद्यालय में अपने पुत्र कु. प्रताप सिंह व जामाता श्री ईश्वर दान जी आशिया को भर्ती करवा दिया था ताकि ये परिवार के युवा देश की आजादी के लिए प्रशिक्षित हो सके।[2] भाई जोरावर सिंह जी भी क्रांतिकारी अर्जुनलाल सेठी के साथ आ चुके थे। कु. प्रताप सिंह में पिता ठा. केसरी सिंह बारहठ व माता माणिक कंवर के संस्कार और वंश परम्परा का गौरव कूट-कूट कर भरा था, इसीलिए छोटी सी अवस्था में आप वो कर गए जो किसी भी राष्ट्रभक्त का स्वप्न हो सकता है।

कु. प्रताप का जन्म 1893 में 24 मई को राजस्थान के उदयपुर में कविराजा श्यामलदास जी की हवेली में हुआ था।[3] माता-पिता ने बच्चे का नाम भारत के गौरव व मेवाड़ की आन-बान-शान स्वतंत्रता प्रेमी महाराणा प्रताप से प्रभावित होकर प्रताप सिंह रखा। बालक की प्रारम्भिक शिक्षा कोटा व अजमेर में हुई। इसके बाद कु. प्रताप को जयपुर में श्री अर्जुन लाल सेठी के स्कूल में भेज दिया, जहाँ मानकचंद, मोतीचंद व जयचंद आदि नवयुवक भी शिक्षण-प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे थे। जयपुर में प्रताप सिंह व अन्य देशभक्त छात्रों को क्रांतिकारी कार्यों व हथियारों के प्रशिक्षण का कार्य रासबिहारी बोस कर रहे थे। रास बिहारी बोस बंगाल के निवासी थे। स्कूली दिनों से ही वह क्रांतिकारी गतिविधियों की ओर आकर्षित हो गए थे। बहुत ही कम आयु में उन्होंने बम बनाना सीख लिया था। 1905 के बंग-भंग ने उनको अत्यधिक आक्रोषित कर दिया, इसके लिए उन्होंने युवाओं को प्रशिक्षित करने का कार्य प्रारम्भ किया, इसी कारण आपने अर्जुन लाल सेठी के छात्रों को हथियारों के प्रशिक्षण देने का दायित्व संभाला था।[4] वो कु. प्रताप सिंह से बहुत प्रभावित थे। रासबिहारी बोस ने अपने एक पत्र में लिखा था कि ''प्रताप को देखा तो लगा कि उसकी आँखों से आग निकल रही है, वह प्रकृति से सिंह है।''[5]

कु. प्रताप सिंह आशा के अनुरूप अपने उद्देश्य की ओर बढ़ रहे थे और क्रांतिकारी गतिविधियों में भाग लेने लग गए थे। ठा. केसरी सिंह 1903 से ही अंग्रेजों को खटक रहे थे। 1905 में अंग्रेजों ने बंगाल को दो भागों में विभक्त कर दिया। कारण स्पष्ट करते हुए बताया कि यह प्रशासनिक दृष्टि से किया गया है चूंकि बंगाल की जनसंख्या ब्रिटेन और फ्रांस के कुल योग से भी अधिक थी। जबकि यह विभाजन भारत के दो बड़े सम्प्रदायों में फूट डालने के लिए किया गया था, जिसका सम्पूर्ण देश में जबरदस्त विरोध हुआ। क्रांतिकारियों को जेल में ठूस दिया। वर्षों बाद अलग-अलग

प्रकरणों में राजस्थान में ठा. केसरी सिंह बारहठ, अर्जुन लाल सेठी और गोपाल सिंह राव को भी बन्दी बना लिया। एक बार के लिए राजस्थान नेतृत्व विहीन हो गया, परन्तु तुरन्त ही लोग जान गए थे कि क्रांति का नेतृत्व प्रताप सिंह बारहठ, बृजमोहन और छोटेलाल आदि ने वहन कर लिया है।

डॉ. के. एस. सक्सेना लिखते हैं कि प्रताप सिंह बारहठ एक उत्साही क्रांतिकारी था और उसने एक बार फिर भारतीय सेना से मिलकर सशस्त्र क्रांति करने की योजना बनाई। आवश्यक सहयोग एवं अस्त्र-शस्त्र की प्राप्ति के लिए पिंगले को मेरठ भेजा गया। साथ ही यह भी निश्चय किया गया कि क्रांति आरम्भ करने के संकेत के रूप में भारत सरकार के गृह सदस्य सर रेगीनाल्ड क्रेडोक की हत्या कर दी जाय। क्रेडोक की हत्या करने की जिम्मेदारी जयचन्द नामक एक क्रांतिकारी को सौंपी गई जो हरिद्वार में बाबा काली कमली वाला के आश्रम में ठहरा हुआ था। अत: एक अन्य क्रांतिकारी रामनारायण चौधरी को हरिद्वार भेजा गया जिससे कि वह जयचन्द को साथ ला सके। पुलिस की कड़ी व्यवस्था के बावजूद रामनारायण चौधरी सफलतापूर्वक हरिद्वार पहुँच गए परन्तु जयचन्द ने वहाँ से चलने में असमर्थता व्यक्त की क्योंकि उस समय वह एक डकैती डालने में व्यस्त था।[6] परिणामत: रामनारायण चौधरी को खाली हाथ वापस लौटना पड़ा। अब क्रांतिकारियों ने क्रेडोक की हत्या करने की जिम्मेदारी प्रताप सिंह बारहठ को सौंपी, परन्तु क्रेडोक निश्चित समय पर नहीं पहुँचा और इस प्रकार उसकी हत्या नहीं हो सकी।[7] दूसरी ओर मेरठ में पिंगले को उस समय गिरफ्तार कर लिया गया जब वह अस्त्र-शस्त्रों के साथ वहाँ से रवाना होने ही वाला था, और इस प्रकार क्रान्ति की समस्त योजना छिन्न-भिन्न हो गयी।

सन् 1911 में अंग्रेजों ने अपनी राजधानी कलकत्ता से दिल्ली परिवर्तित कर दी तो भारतीयों में पुन: एक शोक की लहर दौड़ गई, चूंकि इससे अंग्रेजी तांडव में वृद्धि की आशंका थी। रासबिहारी बोस जैसे क्रांतिकारियों ने इसका जवाब देने का विचार किया। रासबिहारी को सूचना मिली गर्वनर जनरल दिसम्बर, 1912 को दिल्ली में जुलूस निकालने वाला है। गवर्नर जनरल ब्रिटिश भारत का सबसे महत्त्वपूर्ण पद होता था। उस समय लार्ड हार्डिंग्ज गवर्नर जनरल था। रासबिहारी बोस ने हार्डिंग्ज को बम से उड़ाने की योजना बनाई, ताकि अंग्रेज यह जान भयभीत हो सके कि क्रांतिकारी गवर्नर जनरल तक भी पहुँच सकते हैं तो सामान्य अंग्रेज कहाँ सुरक्षित रहेंगे। रासबिहारी ने इसके लिए किसी निर्भीक, फुर्तीले, बुद्धिमान और जांबाज युवक की खोज प्रारम्भ की तो चाचा-भतीजा (ठा. जोरावर सिंह बारहठ-कु. प्रताप सिंह बारहठ) पर आकर रुकी। स्वयं रासबिहारी का शरीर भारी था, अत: वे इस कार्य के लिए अनुपयुक्त थे।

ठा. केसरी सिंह बारहठ की पौत्री श्रीमती राजलक्ष्मी जी साधना के शब्दों में[8]

(जैसा कि स्वयं जोरावर सिंह जी ने उन्हें बताया था) -

''रासबिहारी बोस के नेतृत्व में क्रांतिकारी दल ने दिल्ली में यमुना के उस पार एक जगह शस्त्र और बम बनाने का केन्द्र बना रखा था। इस बात की योजना पूर्व निर्धारित हो चुकी थी कि दिल्ली को राजधानी बनाने के समय वायसराय लार्ड हार्डिंग पर बम फेंक कर यह प्रकट किया जाए कि अंग्रेजों के इस कार्य से भारतीय नाखुश है। इस क्रांतिदल ने पहले यह कार्य कुं. प्रताप सिंह जी को सौंपा और उन्होंने कई महीने निशाना लगाने का अभ्यास किया। जब समय निकट आया तो विचार किया गया कि प्रताप मंझले कद के है, कहीं बीच में भीड़ आ जाए तो चूक हो सकती है। अत: यह कार्य जोरावर सिंह जी को सौंपा गया। निश्चित समय पर वे लोग यमुना पार दिल्ली पहुँचे। दोनों ने कुछ गोटा-किनारी के कपड़े खरीद उनमें बम छुपा लिया, जब वे कपड़ों की पोटली को गोद में रख नाव में सवार हुए तो किसी ने कहा कि पोटली को नीचे रख दो। तब जोरावर सिंह जी ने कहा कि 'भाई हम माहेरा (भात) भरने जा रहे हैं, कपड़े गीले हो जाएँगे।' नाव से उतर कर चाचा-भतीजा चाँदनी चौक पहुँच गए। वायसराय की सवारी के इन्तजार में प्रताप नीचे खड़े रहे तो जोरावर सिंह जी बुर्का पहन बम लिए ऊपर महिलाओं के बीच खड़े हो गए। ज्योंही वायसराय का हाथी सामने आया, महिलाओं में खलबली सी मच गई और बम फेंकते समय किसी महिला की कोहनी का धक्का लगने से निशाना थोड़ा सा चूक गया। बम वायसराय के पीछे गिरा, जिससे उनके पीछे सोने का छत्र लिए बैठा एक अंग्रेज भक्त भारतीय वहीं लुढ़क गया। वायसराय और उनकी पत्नी घायल हो गए। दिल्ली में खलबली मच गई। सब इधर-उधर भागने लगे। प्रताप वहाँ से भाग कर यमुना के पुल के नीचे नदी में कूद पड़े और 48 घंटे तक भूखे-प्यासे पुल से लटके रहे, इसके बाद उनके हाथ छूट गए और बेहोशी की हालत में पानी में बह गए। पानी के थपेड़ों से वे दूर जाकर एक किनारे ठहर गए। पुलिस खोजती हुई पहुँची तो उन्हें मुर्दा समझ कर बाहर निकाला, लेकिन मालूम चला कि जीवित है तो वे लोग प्रताप को उठाकर चलने लगे। उसी समय ठा. जोरावर सिंह खोजते हुए वहाँ पहुँचे तो उन्हें अनहोनी का अंदेशा हुआ और क्रोध में सिपाहियों को गोली से उड़ा दिया तथा प्रताप को कंधे पर उठाकर सुरक्षित स्थान पर ले गए। कुछ घंटों के उपचार के बाद प्रताप को होश आया और उनके प्राण बच सके।

श्री शचीन्द्र सान्याल[9] लिखते हैं कि ''राजपूताना के जिस युवक के साथ मैं दिल्ली गया उसका नाम था प्रताप सिंह। ये राजपूताना के चारण वंश के थे। चारण लोग राजपूतों में पूज्य माने जाते हैं। प्रताप के पिता का नाम था सरदार केसरी सिंह। वे उदयपुर के महाराणा के विशेष प्रिय थे और उनके पिता या दादा महाराणा के मंत्री थे। उनकी जागीर मेवाड़ राज्य के अन्तर्गत शाहपुरा में थी। यह परिवार राजपूताना के गण्य-मान्य

समृद्ध परिवारों में गिना जाता था, किंतु स्वेदश-प्रीति और तेजस्विता की खातिर उन्हें अपना घर-बार बरबाद करना पड़ा।''

सान्याल[10] आगे लिखते हैं कि 1912 के दिल्ली बम कांड के मामले में प्रताप और प्रताप के बहनोई (श्री ईश्वर दान आशिया) पकड़े गए। किंतु उनके विरुद्ध कोई विशेष प्रमाण न मिलने के कारण इस बार उनका छुटकारा हो गया। इसके कुछ दिन बाद कोटा में एक अन्य राजनीतिक मामले में प्रताप के पिता सरदार केसरी सिंह को आजन्म काले पानी की सजा मिली (ज्ञात रहे कि काले पानी की सजा के लिए आयु सीमा 40 वर्ष थी और केसरी सिंह जी उस समय पर 40 वर्ष के हो चुके थे, अत: उन्हें काले पानी न भेजकर हजारी बाग जेल में 20 वर्ष के लिए भेजा गया था)। प्रताप के सगे चाचा (ठा. जोरावर सिंह) के नाम भी वारन्ट निकला, जो पकड़े नहीं जा सके थे। इस मामले में प्रताप के पिता और चाचा की सम्पूर्ण सम्पत्ति जब्त हो गई। इस तरह से समृद्ध-सम्पन्न जमींदार एकदम से रास्ते पर आ गए। प्रताप की माता के दु:खों की कोई सीमा नहीं थी, सम्बंधियों के घर भटकती रही। अंत में अपने पिता के घर जाकर किसी तरह दिन काटे, जिनकी स्थिति भी विशेष नहीं थी। इतनी विपत्ति को जानकर भी प्रताप विप्लव दल के लिए कार्य करते रहे।

दिल्ली षड़यंत्र केस में तो प्रताप सिंह बच गए थे, लेकिन बनारस षड़यंत्र में अंग्रेज उनके पीछे पड़ गए। इससे बचने के लिए कु. प्रताप वेश बदलकर छुपते बचते हुए पश्चिम में सिन्ध प्रांत के हैदराबाद पहुँच गए। इस यात्रा में उनका एक सहयोगी गणेश दान चारण भी था। ज्ञात रहे कि श्री रामनारायण चौधरी ने स्वयं लिखा है कि उदयपुर, जोधपुर और बीकानेर में केसरी सिंह जी का बहुत प्रभाव था - चारणों में तो उन्होंने अनेक क्रांतिकारी तैयार कर दिए थे।[11] हैदराबाद में आजीविका के लिए आपने कंपाउंडर का कार्य किया, साथ ही राजनीतिक चेतना जागरण में भी लगे रहे। पीछे से पुलिस परिवार को टॉर्चर किए जा रही थी, फलस्वरूप परिजनों को हैदराबाद का पता बताना पड़ा, लेकिन पश्चिम न बताकर दक्षिण की ओर संकेत किया। फलस्वरूप अंग्रेज सिपाही उन्हें दक्षिण भारत के हैदराबाद में खोजने निकल पड़े।

श्री श्यामराम भटनागर ने कुं. प्रताप सिंह के विषय में लिखा है कि - कभी बंगाल, कभी पंजाब, कभी उत्तर प्रदेश, कभी राजस्थान तो कभी सिंध में, कहीं मारवाड़ी के रूप में, कहीं बंगाली के रूप में, कहीं भैय्या के रूप में और कहीं कम्पाउण्डर के रूप में प्रताप दबी पड़ी विप्लव की चिंगारी बटोर कर उन्हें यज्ञ की अग्नि के रूप में प्रज्वलित करने को प्रयासरत था।[12]

रामनारायण चौधरी जो कि प्रताप के निकट सहयोगी थे, प्रताप को सूचना देने व सुरक्षित स्थान पहुँचाने के लिए सिन्ध रवाना हुए। दोनों ने हैदराबाद से जोधपुर की ट्रेन

पकड़ी और अलग-अलग डिब्बों में सवार हो गए परन्तु प्रताप सिंह जोधपुर से पहले आशानाड़ा स्टेशन पर उतर गए। आशानाड़ा का स्टेशन मास्टर उनका पुराना सहयोगी था, सोचा कि पुराने मित्र के समाचार जान लेते हैं। परन्तु मित्र ने धोखा किया, उसने कुं. प्रताप को नहलाया-खिलाया-पिलाया और कहा कमरे में आराम से सो जाओ, जिसे मैं बाहर से बन्द कर देता हूँ। कुं. प्रताप सिंह थके हुए थे, अत: उन्होंने बात मान ली, वहीं उस स्टेशन मास्टर ने अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर पुलिस को सूचित कर दिया। अंग्रेज सिपाहियों ने कमरा खोला और बन्दूकें तान दी। प्रताप थे तो सिंह (जैसा एक बार रासबिहारी बोस ने कहा था) परन्तु निहत्थे और चारपाई पर लेटे थे। कुं. प्रताप सिंह बंदी बना लिए गए और बनारस केस में पाँच वर्ष के कारावास की सजा में उन्हें बरेली जेल भेज दिया गया। बरेली जेल में कुं. प्रताप सिंह के कष्टप्रद दिनों में उनके सर्वाधिक करीबी रहे श्री शचीन्द्र सान्याल[13] ने अंग्रेजी व्यवहार और अत्याचारों के बारे में विस्तार से लिखा है -

''प्रताप के पकड़े जाने पर पुलिस बहुत दिन तक अनेक प्रकार के प्रलोभन दिखाकर उन्हें सब गुप्त बातें प्रकट कर देने के लिए विशेष तंग करती रही। पुलिस कहती थी सब गुप्त बातें कह देने पर केवल प्रताप को ही नहीं वरन् उसके पिता को भी छोड़ दिया जाएगा; यही नहीं उसके चाचा से भी मुकदमा उठा लिया जाएगा, उसकी सब सम्पत्ति लौटा दी जाएगी, और इस सबके अलावा और भी पुरस्कार दिए जाएंगे। पुलिस प्रताप को चतुराई से समझाती थी कि तुम्हारी माँ बेहद कष्ट में है, उसके लिए यह सब घटनाक्रम असहनीय है और तुम्हें दण्डित करने का आघात वो कैसे सह पाएगी! पुलिस की सब बातें निर्मूल नहीं थी। पहले तो वह पुलिस से ज्यादा देर ठीक तरह से बात ही नहीं करता था। कुछ दिनों बाद प्रताप को उनसे बात करना भला लगने लगा। एक दिन प्रताप की पुलिस से तीन-चार घंटे बात हुई। हम सब पास की निर्जन कोठरी में बैठे जमीन-आसमान की बातें सोच रहे थे। संदेह हुआ कि अबकी बार प्रताप फूट पड़ेगा।''

मुकदमा आरंभ होने पर जब हम सबको प्राय: दिनभर इकट्ठा रहने का सुयोग्य अवसर मिला तब मालूम चला कि सच ही प्रताप का मन बहुत विचलित हो गया था। यहाँ तक कि अंत में एक दिन प्रताप ने, पुलिस से कह दिया था कि वे एक दिन और सब बातों पर विचार कर लें, फिर जो कहना होगा कह देंगे। किंतु अगले दिन पुलिस प्रताप से मिलने आई, तो प्रताप बोले[14]-

''बहुत सोचा-विचारा अंत में तय किया है कि कोई भेद नहीं खोलूँगा। अभी तक तो केवल मेरी ही माता कष्ट पा रही है, किंतु यदि मैं गुप्त बातें प्रकट कर दूँ तो और भी कितने लोगों की माताएँ, ठीक मेरी माता के समान दु:ख पाएँगी, एक माँ के बदले और कितनी माताओं को तब हाहाकार करना होगा।''

अंगेजों की सभी चाले असफल हो गई तो अन्त में पिता-पुत्र को एक-दूसरे के सामने प्रस्तुत करने की योजना बनाई, उनका अनुमान था कि पिता की स्थिति देखकर प्रताप द्रवित हो जाएगा और साथियों के नाम बता देगा। पिता केसरी सिंह के सामने पुत्र को लाया गया तो केसरी सिंह जी को लगा कि कहीं पुत्र अपने पथ से विचलित ना हो जाए। लेकिन कु. प्रताप ने कहा 'दाता मैं आपका पुत्र हूँ, मुँह नहीं खोलूँगा।' यह सुन ठाकुर साहब को सुकून मिला और अंग्रेजों की यह चाल भी असफल रही।

कु. प्रताप सिंह बारहठ को जेल की काल-कोठरी में डाल दिया। अंग्रेज हंटर से खेलने लगे, जख्मों पर नमक लगाया जाने लगा...। भोजन और पानी न्यूनतम कर दिया गया। कु. प्रताप पर रोज कहर बरसने लगा..... लेकिन उन्होंने मुँह नहीं खोला।

तत्कालीन ब्रिटिश भारत के डायरेक्टर ऑफ सी.आई.डी. सर चार्ल्स क्लीवलैंड ने जेल की डायरी में लिखा था[15] - ''हमने आज तक प्रताप जैसा वीर और विलक्षण बुद्धि का बालक नहीं देखा। उसे तरह-तरह से सताए जाने में कोई कसर नहीं रखी गई, परन्तु वाह रे धीर..... वह टस से मस नहीं हुआ। गजब का सहने वाला था। हम सब हार गए उसकी दृढ़ता अटल थी।''

यद्यपि कु. प्रताप सिंह का आत्मबल हिमालय सा था, परन्तु शरीर तो नश्वर है, उसने 1918 की 27 मई (वैषाखी पूर्णिमा) को 25 वर्ष की अवस्था में आत्मा का साथ छोड़ दिया। कु. प्रताप सिंह बारहठ के निकट सहयोगी रहे श्री रामनारायण चौधरी ने 1948 में अपनी एक पुस्तक 'वर्तमान राजस्थान' प्रकाशित की, जिसमें आपके संस्मरण थे। वे लिखते हैं[16] कि - ''जितने भी विप्लववादी देशभक्तों से मेरा परिचय हुआ उनमें प्रताप की छाप मुझ पर सबसे अच्छी पड़ी थी। वे बड़े कोमल स्वभाव के, निहायत शिष्ट और सदा खुश रहने वाले जीव थे। गीता को जिस रूप में उन्होंने समझा था उसी के अनुसार उनकी सारी चेष्टायें होती थी। धन और स्त्री की इच्छा को उन्होंने खूब जीता था। शरीर इतना सधा हुआ था कि जयपुर में जब वे मेरे पास रहे थे तो एक बार 72 घंटे जागते रहे और बिना खाये पीये बराबर काम करते रहे, और फिर सोये तो तीन दिन तक उठने का नाम नहीं लिया। गलता के कुंड में घंटों तैरते भी उन्हें देखा। सच तो यह है कि महात्मा गांधी को छोड़कर और किसी पर मेरी इतनी श्रद्धा नहीं थी। वे देश की खातिर हिंसा के पक्षधर जरूर थे, लेकिन दूसरा सारा व्यवहार किसी अहिंसावादी से कम नहीं था। वे जहाँ भी रहते वहीं का वातावरण सरलता, प्रेम और पवित्रता से भर देते थे। मेरा विश्वास है कि वे जिंदा रहते तो गांधी जी के एक खास साथी होते।''

श्री शचीन्द्र सान्याल[17] के कथनानुसार - ''नहीं मालूम, आज भारत में कितने ऐसे पिता है, जो पिता केसरी सिंह की तरह सब जान-बूझकर अपने को और अपनी संतान को देश के लिए बलि दे सकेंगे। भारत का दुर्भाग्य है कि प्रताप सा युवक आज

इस जगत में नहीं है।'' प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. आर. सी. मजूमदार[18] के मतानुसार ''इन युवा कार्यकर्ताओं में अत्यंत प्रसिद्ध था प्रताप सिंह बारहठ, केसरी सिंह का पुत्र, जिसने रासबिहारी बोस द्वारा संगठित अनेक षड्यत्रों में प्रमुख रूप से भाग लिया था, उसने अदम्य साहस, आदर्श और धैर्य दिखाकर एक शहीद की मृत्यु पाई।''

कु. प्रताप सिंह बारहठ की शहादत से अंग्रेज सरकार के हाथ-पाँव फूल गए। उनकी मृत्यु के समाचार को जेल की चारदीवारी से बाहर जाने नहीं दिया। भरसक प्रयासों के बाद भी समाचार लीक हो गया। लोग जेल के चारों ओर इकट्ठा हो गए। दूर-दूर गाँवों से लोग बरेली की तरफ निकल पड़े। अंग्रेज उनके पार्थिक शरीर को ना तो उनके घरवालों को सौंपना चाहते थे और ना ही श्मशान भूमि ले जाने की हिम्मत थी। इसका कारण यह था कि उनके शरीर पर अंग्रेजों की अमानवीयता और उनके अत्याचारों की कहानी लिखी थी। दाह संस्कार का भी सोचा, परन्तु डर था कि जेल से धुँआ उठता देखकर कहीं लोग जेल पर आक्रमण ना कर दे। उनके शरीर के साथ क्या किया, किसी को जानकारी नहीं मिली। क्योंकि उस समय उपस्थित जनसमूह को न तो जेल से आग की लपटें उठती दिखाई दी और न ही धुँआ! संभवतया कुं. प्रताप सिंह को जेल में ही दफन किया गया।

शहीद प्रताप सिंह के शहादत की दिनांक में अन्तर है, कहीं 1918 की 24 मई तो कहीं 27 मई; भिन्न साक्ष्यों में भिन्न है। यह भिन्नता इसलिए आई कि जब अथाह पीड़ा के बाद उनका शरीर शान्त हो गया तो जेल प्रशासन घबरा गया और समाचार को गोपनीय रखा। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी शहादत या 24 या 25 मई को हुई और दफनाया गया 27 मई, 1918 को। चूंकि उनका जन्म दिवस 1893 की 24 मई को है, अत: अधिकांश भारतीयों ने 24 मई को ही उनकी शहादत तिथि मान ली।

जब शहीद शिरोमणि कु. प्रताप सिंह बारहठ की कष्ट झेलती-तड़पती देह ने आत्मा को छोड़ा तो पूरा देश उद्वेलित हो उठा। उस समय भगत सिंह 11 वर्ष के थे और देश की गतिविधियों की जानकारी भी रखते थे, जो बालक जलियावाला कांड के बारे में सुनकर 12 मील पैदल चलकर घटना स्थल पर पहुँचता है तो स्वाभाविक रूप से वो बालक प्रताप सिंह की शहादत से अवश्य प्रेरित हुआ था। कु. प्रताप की शहादत से ही भगतसिंह जैसे देश के हजारों तरुणों-युवाओं को आत्मोत्सर्ग की प्रेरणा मिली। फलस्वरूप शहादत का यह सिलसिला अंग्रेजों के भारत छोड़ने तक जारी रहा।

सन्दर्भ

1. *सक्सेना, के. एस., राजस्थान में राजनैतिक जन-जागरण, पृ. 43 राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2012*
2. *व्यास, आर.पी., आधुनिक राजस्थान का वृहद इतिहास (2), पृ. 43 राजस्थान हिन्दी ग्रंथ*

अकादमी, जयपुर, 2014

3. *लखावत, ओंकार सिंह, स्वातंत्र्य राजसूय यज्ञ में बारहठ परिवार की महान आहूति, पृ. 73, तीर्थ पैलेस प्रकाशन, जयपुर, 2012*
4. *गुप्ता, डॉ. मोहन लाल, क्रान्तिकारी बारहठ केसरी सिंह, पृ. 22, राजस्थानी ग्रंस्थागार, जोधपुर, 2013*
5. *लखावत, ओंकार सिंह, स्वातंत्र्य राजसूय यज्ञ में बारहठ परिवार की महान आहूति, पृ. 74, तीर्थ पैलेस प्रकाशन, जयपुर, 2012*
6. *सक्सेना, के. एस., राजस्थान में राजनैतिक जन-जागरण, पृ. 47, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2012*
7. *चौधरी, रामनारायण, वर्तमान राजस्थान, प. 32 राजस्थान प्रकाशन मंडल, अजमेर, 1948*
8. *धमोरा, सवाई सिंह, राजस्थान केसरी ठाकुर केसरीसिंह बारहठ (सम्पादित), पृ. 85, बारहठ केसरी सिंह स्मारक समिति, शाहपुरा (भीलवाड़ा), राजस्थान*
9. *सान्याल, सचीन्द्र, बन्दी जीवन, प. 114 साक्षी पेपरबैक्स, दिल्ली, 2017*
10. *वही , पृ. 115*
11. *चौधरी, रामनारायण, वर्तमान राजस्थान, पृ. 27 राजस्थान प्रकाशन मंडल, अजमेर, 1948*
12. *धमोरा, सवाई सिंह, राजस्थान केसरी ठाकुर केसरीसिंह बारहठ (सम्पादित), पृ. 71बारहठ केसरी सिंह स्मारक समिति, शाहपुरा (भीलवाड़ा), राजस्थान*
13. *सान्याल, सचीन्द्र, बन्दी जीवन, पृ. 116 साक्षी पेपरबैक्स, दिल्ली, 2017*
14. *वही, पृ. 117*
15. *लखावत, ओंकार सिंह, स्वातंत्र्य राजसूय यज्ञ में बारहठ परिवार की महान आहूति, पृ. 82 तीर्थ पैलेस प्रकाशन, जयपुर, 2012*
16. *चौधरी, रामनारायण, वर्तमान राजस्थान, पृ. 35 राजस्थान प्रकाशन मंडल, अजमेर, 1948*
17. *सान्याल, सचीन्द, बन्दी जीवन, पृ. 117 साक्षी पेपरबैक्स, दिल्ली, 2017*
18. *मजूमदार, आर.सी., हिस्ट्री आफ दी फ्रीडम मूवमेंट इन इंडिया, पृ. 313, साऊथ एशिया बुक्स, नई दिल्ली, 1988*

शेखावटी किसान आन्दोलन एवं जन जागरण के प्रणेता : चौधरी ताराचंद झारोड़ा

देवेन्द्र कुल्हार

शोत्र पत्र 'शेखावटी किसान आन्दोलन एवं जन जागरण के प्रणेता चौधरी ताराचन्द झारोड़ा' को बनाने में मैंने प्राथमिक एवं द्वितीयक दोनों प्रकार के स्रोतों को काम में लिया है। प्राथमिक स्रोतों में ताराचन्द जी द्वारा हस्तलिखित डायरी, उनके पत्र तथा उनके 'जेल जीवन' नामक पत्रों को शामिल किया है। इसके अलावा राजस्थान राज्य अभिलेखगार बीकानेर से जयपुर शाखा के रिकॉर्डस और राजस्थान राज्य अभिलेखागार की जयपुर ब्रांच के रेवेन्यू रिकॉर्डस की भी सहायता ली है। द्वितीयक स्रोतों में बृजकिशोर शर्मा की कृतियाँ राजस्थान का आर्थिक इतिहास व सांमतवाद और संघर्ष व पेमाराम जी की कृति शेखावाटी किसान आन्दोलन का इतिहास व स्वतंत्रता सेनानी चौधरी ताराचन्द शिक्षा विकास सहकारी समिति लिमिटेड द्वारा उनके 93वें जन्म दिवस पर प्रकाशित 'स्मारिका' व पम्पलेट की सहायता ली है। मैं विशेष रूप से धन्यवाद देना चाहूँगा श्री ताराचन्द जी के सुपुत्र श्री ओमप्रकाश बलवदा[1] को जिन्होंने मुझे ताराचन्द जी के संबंधित सभी प्रकार के प्राथमिक स्त्रोत उपलब्ध करवाये।

शेखावाटी किसान आन्दोलन का एक लम्बा इतिहास[2] वहाँ के जागीरदारों द्वारा किसानों के कष्टों का निवारण न करने पर समय-समय पर अपनी मांगों को जयपुर सरकार के सामने रखने, उनके लिये आन्दोलन करने, समझौते होने, समझौते को लागू करवाने हेतु फिर आन्दोलन करने आदि का रहा है। आन्दोलन को दबाने हेतु किसानों की पंचायतों को अवैधानिक संगठन घोषित करना, किसान नेताओं को जयपुर राज्य से निर्वासित करना, लगानबन्दी प्रतिबंधक कानून बनाना, भूमि बन्दोबस्त को बार-बार बदलना, किसानों को भूमि से बेदखल करना, किसान प्रेरक शक्तियों[3] को काल कोठरियों में डालना आदि का रहा है।[4] शेखावाटी के किसान आन्दोलन की पूर्णाहूति के साथ एक नवीन सूर्योदय हुआ तो दूसरी तरफ सदियों से चली आ रही शोषणकारी एवं अत्याचारी जागीरदारी प्रथा का सूर्यास्त हो गया।

शेखावाटी किसान आन्दोलन व जन जागरण में चौधरी ताराचन्द जी[5] के योगदान को हम दो बिन्दुओं के माध्यम से समझने का प्रयास करेंगे। प्रथम - शेखावाटी किसान

आन्दोलन और चौधरी ताराचन्द झारोड़ा व द्वितीय - शेखावाटी जन जागरण व चौधरी ताराचन्द झारोड़ा।

शेखावाटी किसान आन्दोलन तथा चौधरी ताराचन्द झारोड़ा

चौधरी ताराचन्द झारोड़ा के पिता श्री मामराज अपने साथियों सहित 1925 ई. पुष्कर में आयोजित 'अखिल भारतीय जाट महासभा'[6] के वार्षिक जलसे में गये। इस जलसे में शेखावाटी का जाट समुदाय केसरिया बाना धारण कर पहुँचा था। मण्डावा के ठिकानेदार ने मामराज सहित उसके साथियों पर 50-50 रूपये का जुर्माना लगा दिया।[7] पुष्कर जलसा शेखावाटी किसान आन्दोलन के लिये मील का पत्थर साबित हुआ।

इस अधिवेशन से उत्साहित जाट समुदाय ने 'शेखावाटी जाट सभा' का गठन किया जिसने मण्डावा, डूँडलोद, नवलगढ़, बिसाऊ ठिकानों में किसान की मांग जैसे लाग-बाग कम करवाना, बेंगार समाप्ति, स्वास्थ्य व शिक्षा संबंधित अपनी मांगों के माध्यम से किसान वर्ग में जन-जागृति उत्पन्न की।[8] शेखावाटी जाट सभा के कारण ही डालमियाँ और बिड़ला ट्रस्ट ने कुहाड़वास में स्कूल खोला।[9] श्री मामराज ने ठिकानेदार की परवाह किये बिना पुत्र ताराचन्द का दाखिला स्कूल में करवाया। ताराचन्द जी को जब पढ़ाई समाप्ति के बाद खेतड़ी पुलिस में थानेदार पद के लिये चुना गया तो उन्होंने यह पद ठुकरा दिया और अपना जीवन किसान आन्दोलन व जन जागरण को समर्पित कर दिया। 1925 ई. से 1932 ई तक 'सांगासी'[10] शेखावाटी की गतिविधियों का 'पावर हाउस' था। 1932 ई. के बाद 'गौरिर'[11], हनुमानपुरा[12] व झारोड़ा[13] शेखावटी के किसानों की 'आशा के केन्द्र' बन गये थे।

अखिल भारतीय जाट महासभा का 23वां अधिवेशन 11-13 फरवरी 1932 ई. में झुंझुनू[14] में आयोजित हुआ। ताराचन्द जी अपने क्षेत्र के तमाम सहयोगियों व किसानों को लेकर झुंझुनू पहुँचे। लगभग 60 हजार किसानों ने आकाश को नारों से गुंजा दिया। यह गुंज जागीरदारी हुकुमत के कानों को बंद करने की आगाज थी। जुलुस के बाद गठित 'जाट पंचायत' में ताराचन्द जी प्रमुख कार्यकर्ता बनाये गये। जाट पंचायत थोड़े समय बाद किसान पंचायत में बदल गयी।[15] ताराचन्द जी गाँव-गाँव जाकर किसान सभा करते और किसान पंचायत की योजना बतलाते और कहते कि पान चराई[16], पूछी मलबा[17], लाव घसाई, कंवर कलेवा[18], बाई जी का हाथ[19] आदि लाग-बाग नहीं देनी है और किसानों को ज्यादा से ज्यादा किसान पंचायत के सदस्य बनने पर जोर देते। जागीरदारों के कारकून, भेमियाँ, बाढ़दार, दारोगा आदि की फौज उनके पीछे-पीछे रहती थी परन्तु वे कभी भी अपने मार्ग से विचलित नहीं हुये।

सन् 1934 ई. में ठाकुर भौलासिंह व हुकम सिंह (भरतपुर) झारोड़ा आये और किसान आन्दोलन के बारे में बताया। आस-पास के सभी गांवों के किसानों ने ताराचन्द

जी को अपना प्रतिनिधि बनाया। किसान सभा ने शेखावाटी में काम के अनुसार अलग-अलग भागों जैसे उत्तर-पश्चित क्षेत्र में श्री आशाराम ककड़ेऊ, दक्षिण पूर्वी क्षेत्र में चौधरी नेतराम सिंह गौरिर, उत्तरी क्षेत्र में चौधरी घासीराम व पूर्वी क्षेत्र में श्री ताराचन्द जी को नियुक्त किया। ताराचन्द जी ने जागीरदारों द्वारा किये जा रहे अत्याचार जैसे खाट पर नहीं बैठने देना, जेवर नहीं पहनने देना, जागीरदार की मृत्यु पर जबरदस्ती बाल व मूँछ काट देना, आदि के संबंध में रोजाना 15-20 कोस की दूरी तय करते व किसानों को जागृत व संगठित करते।[20]

इसी समय जब वे बलौदा गाँव में किसान सभा को संबोधित करके वापस लौट रहे थे, तभी बलौदा गाँव के जागीरदार राजपूतों ने ताराचन्द जी को घेरकर लाठियों, लातों, घूसों से बुरी तरह पिटाई की और दुबारा आने पर जान से मारने की धमकी दी। इस घटना के बाद आस-पास के किसानों में भारी आक्रोश आ गया और वो बलौदा गाँव को आग लगाने की बात कही। ताराचन्द जी ने संवैधानिक तथा अंहिसात्मक रास्ते अपनाते हुये हीरालाल शास्त्री जी की सलाह पर बलौदा गाँव में एक सभा बुलाई व फौजदारी मुकदमा दर्ज करवाया। सभा में लगभग पाँच हजार किसानों ने भाग लिया और पं. ताड़केश्वर, स्वामी मिश्रानन्द व ताराचन्द जी ने स्वयं ओजस्वी भाषण दिया। जागीरदारों ने गाँव के बीच में महात्मा गाँधी जी की जय बोली तो ताराचन्द ने अपना फौजदारी केस वापस ले लिया।[21] यह घटना शेखावाटी किसान आन्दोलन में 'बलौदा सत्याग्रह' (24 जनवरी, 1939) नाम से प्रसिद्ध है।

शेखावाटी के अन्य ठिकानों के किसानों ने भी प्रजामण्डल के सहयोग से जुलाई 1939 ई. में सत्याग्रह शुरू हुये। किसानों को जेलों में ठूँसा गया। आन्दोलन बढ़ता देख शेखावाटी के सभी किसान नेताओं को रिहा कर दिया गया।[22] इसी समय ताराचन्द जी कि प्रथम गिरफ्तारी हुई थी।[23] वर्ष 1939 ई. में शेखावटी में अकाल पड़ा तो जयपुर सरकार ने लगान वसूली स्थगित[24] कर दी परन्तु ठिकानेदारों ने यह आदेश नहीं माना। शेखावाटी किसान जाट पंचायत के प्रधानमंत्री प. ताड़केश्वर ने कहा ''लाग-बाग हमारे लिय अभिशाप और कलंक है..... अब हमें आन्दोलन गुप्त रूप से संचालन करना है।[25]

ताराचन्द जी ने गाँव-गाँव जाकर जकात विरोधी सभाएँ की। जयपुर सरकार ने 'डिफेन्स ऑफ इण्डिया एक्ट' लगाकर सर्वप्रथम ताराचन्द जी को 6 जनवरी, 1940 ई. को गिरतार कर लिया।[26] 25 जनवरी 1940 ई. को ताराचन्द जी को न्यायालय में पेश किया तो ताराचन्द जी ने जज के सामने निडर होकर कहा ''तारासिंह उर्फ ताराचन्द, कौम जाट, सिकने-झारोड़ा सूरजगढ़ सेवा में मुलजिम अपना दावा पेश करता हूँ..... किसान पंचायत शेखावाटी का कार्यकर्ता हूँ। शेखावाटी जाट किसान पंचायत का उद्देश्य किसानों की उन्नति करना है और ठिकानेदारों के उन पर होने वाले अत्याचारों को रोकना

है। किसान पंचायत ने शान्त, अंहिसामय और कानूनी उपायों को अविलम्ब से करती है। ठिकानेदारों में यह उन्नति बर्दाशत करने कि सत्ता नहीं है। ठिकानेदार शेखावाटी के कार्यकर्ताओं से चिड़े रहते हैं और उनको झूठों मुकदमों में फंसाने की कोशिश करते है।''[27]

7 फरवरी, 1941 ई. को विभिन्न धाराओं के तहत ताराचन्द जी को 9 वर्ष 6 माह की सजा सुनाकर जयपुर सेन्ट्रल जेल भेज दिया। जेल में मानवाधिकार मांग[28] रखने के कारण जेल में ही उनको सात माह तक काल-कोठरी में गुजारना पड़ा। जेल में रोजाना अठारह सैर जैपुरी चक्की पीसना, पन्द्रह घंटे तंदुर पर कार्य करवाना, सर्दियों में दो कम्बल देना और न जाने कैसी-कैसी यातनाओं का सामना किया। सन् 1942 ई. में जयपुर महाराजा सवाई मानसिंह ने प्रजामण्डल व किसान सभा के मध्य समझौता करवाया था। इसी समझौते के तहत दो वर्ष सात माह की जेल काटने के बाद पं. ताड़केश्वर व ताराचन्द को रिहा कर दिया गया। रिहा होने के बाद वनस्थली, झुंझुनू, मोहनपुरा, लोदीपुरा, रायपुर-जाटान व झारोड़ा समेत दर्जनों गाँवों में ताराचन्द का भव्य स्वागत किया गया।[29] जेल वापसी के बाद उन्होंने अपने क्षेत्र में लगानबन्दी आन्दोलन प्रारंभ किया क्योंकि जयपुर प्रजामण्डल के मुख्य नेता हीरालाल शास्त्री, लादुराम जोशी, नरोत्तमलाल, हरलाल सिंह, लादुराम जाट ने झुंझुनू में रहकर लगानबंदी आन्दोलन को सफल बनाने के निर्देश दे रहे थे। लगानबन्दी आन्दोलन को सफल बनाने के लिये ताराचन्द जी ने झारोड़ा, कुहाड़वास, भूरीवास, ईस्माइलपुर, नानवास, पचेरी, डूमोली खुर्द व कलां, रायपुर-जाटान, घरड़ाना खुर्द व कलां, पालौता, श्यामपुरा, मैनाना, बुहाना आदि समेत दर्जनों गाँवों में घूम-घूमकर लगान न देने की सभाएँ की। ताराचन्द जी का प्रभाव था कि मण्डावा ठाकुर को प्रधानमंत्री सर मिर्जा इस्माइल के नाम पत्र[30] लिखना पड़ा कि किसान लगान नहीं दे रहे है। डिप्टी कमिश्नर झुंझुनू ने जयपुर सरकार को रिपोर्ट[31] भेजी कि किसानों ने लगान देना बन्द कर दिया है।

आजादी के बाद शेखावाटी क्षेत्र में भूमि बन्दोबस्त हुआ। सभी ठिकानों में खतोनियाँ पर्चे वितरित किये गय। जब नम्बरदार समुदाय ने खतोनियाँ पर्चे केवल जाट समाज के लोगों को देने की बात कही तो अन्य जाति के लोगों ने ताराचन्द जी से अपनी पीड़ा बताई। ताराचन्द ने कहा जब तक आप लोगों को खतोनियाँ पर्चे नहीं मिलेंगे मैं स्वयं भी खतोनी नहीं लूँगा। अन्त: नम्बरदार को झुकना पड़ा और सभी जातियों को खतोनी पर्चे दिये।

शेखावाटी जन जागरण तथा चौधरी ताराचन्द झारोड़ा

ताराचन्द झारोड़ा बचपन से ही आर्य समाजी भजनोपदेशक व भाषण सुना करते थे। यही वही दौर था जब 1927 ई. से 1935 ई. तक प्रकाश स्तम्भ के भांति आर्य समाज

शेखावाटी के सैकड़ो गाँवों को प्रकाश पहुँचाता रहा। ताराचन्द जी ने आर्य समाज के रचनात्मक कार्यक्रम जैसे मूर्ति पूजा, ऊँच-नीच, छुआछूत, दहेज प्रथा, बाल-विवाह जैसी कुप्रथाओं को समाप्त करने का प्रयास किया।

आन्दोलनों के समय नम्बरदारों, जागीरदारों की गवाही और लगान लेने में सहयोग करने वाले व्यक्तियों का जातिगत बहिष्कार, हुक्का-पानी बंद तथा किसी भी प्रकार का सहयोग न देने का कार्यक्रम पूरे जिले में चलाया तो सभी समाज के लोगों ने संगठित होकर इस कार्यक्रम को सफल बनाया। यही वो छोटे-छोटे प्रयोग थे जो शेखावाटी में जन-जागरण की रीढ़ की हड्डी बने।

ताराचन्द जी अपने क्षेत्र में किसानों तथा आमजन को जागृत करने के लिये एक महिने में 25 दिन घर से बाहर रहते थे। जब ठिकानेदारों ने जबरदस्ती लगान वसूली का कार्यक्रम बनाया तो जहाँ-जहाँ कारकून जाते वहाँ ताराचन्द जत्थे सहित पहुँच जाता और गाँव वालों को समझाता आप इनको खाने का सामान, खाट, बिस्तर आदि मत दो अब इनको कोई अधिकार नहीं है। अब कानून बन गया है। 'जमीन किसकी, जौते उसकी'[32]। आजादी के समय जब देश में हिन्दू-मुस्लिम दंगे भड़क गये तो ताराचन्द के गाँव के मुस्लिम उनके पास आये। ताराचन्द ने धर्म को दरकिनार रखते हुये मानवता के खातिर सभी मुस्लिम परिवारों को अपने गाँव में सुरक्षित रखा।[33] यह कार्य आने वाली पीढ़ियों के लिए एक मिसाल होगा।

ताराचन्द के जन-जागरण का प्रभाव था कि उनके क्षेत्र शिक्षा के केन्द्र खुले, सामाजिक समरस्ता आई। सामाजिक कुरीतियों व आचरण में सुधार हेतु ताराचन्द जी पंचायतों का आयोजन श्रेष्ठ मानते थे। जब खतौनी जातिगत आधार पर बाँटने की बात आई तो उन्होंने स्वयं खतौनी लेने से इंकार किया। वे जातिगत निर्णयों के विरोधी थे। उन्होंने स्वतंत्रत भारत में समाज को जागृत करने के लिये अपना जीवन समाज को समर्पित कर दिया। ताराचन्द जी ने दिल्ली, हरियाणा, पंजाब, उत्तरप्रदेश व राजस्थान की दर्जनों समाज पंचायतों में प्रभावी भूमिका निभाई। बेरी, बावल, रोहतक, गौहाना, सिरोही, नांगल, गुलकनी, भैसावता, काकौड़ा, सिंघाना, बुहाना, चिड़ावा, चारावास आदि प्रमुख स्थान थे जहाँ ताराचन्द जी ने पंचायतों में भाग लिया था।[34]

ताराचन्द जी को शेखावाटी किसान आन्दोलन के साथ-साथ शेखावाटी के जन जागरण में अतुल्य योगदान दिया। वे किसानों को सभाओं में ही सामाजिक समरसता का पाठ पढ़ाया करते थे। लगभग दो दर्जन गाँवों में आन्दोलन व जन-जागृति का संपूर्ण दायित्व अपने ऊपर ले रखा था। उनकी लोकप्रियता का प्रमाण है कि ताराचन्द स्वतंत्र भारत में 28 वर्ष संरपच पद को सुशोभित किया। ताराचन्द जी सच्चे, दृढ़ विचारों वाले, संघर्षशील, त्यागी, राष्ट्रभक्त, कर्मयोगी व समाज सुधारक के रूप में शेखावाटी आन्दोलन

व जनजागरण में उनका बलिदान सदैव समाज को प्रेरणा देता रहेगा।

संदर्भ

1. *ताराचन्द जी के आठ सन्तान है जिसमें सात पुत्र व एक पुत्री है। श्री ओमप्रकाश जी कृषि अधिकारी है। साक्षात्कार, सरपंच कामराज, कुहाड़वास।*
2. *पेमाराम जी अपनी कृति 'शेखावटी किसान आन्दोलन का इतिहास' में पाँच चरणों में किसान आन्दोलन को बताया है। प्रथम चरण 1922–1926 ई., द्वितीय चरण 1926–1933 ई, तृतीय चरण 1934–1936 ई. चतुर्थ चरण 1936–1946 ई., पंचम चरण 1946–1954 ई.*
3. *प्रमुख प्रेरक शक्ति ठाकुर देशराज, राम नारायण चौधरी, कुँवर रतन सिंह, पन्ने सिंह कुहाड़ देवरोड़, सरदार हरलाल सिंह, नेतराम सिंह गोरीर, चौधरी घासीराम, पं. ताड़केश्वर, चौधरी ताराचन्द झारोड़ा।*
4. *पेमाराम, शेखावटी किसान आन्दोलन का इतिहास, मिर्नवा पब्लिकेशन, जोधपुर 2017, पृ.सं. 224*
5. *ताराचन्द का जन्म मार्गशीर्ष बदी 10 संवत 1968 (15 दिसम्बर 1911 ई.) में श्रीमती ख्यातकौर की कोख में श्री मामराज के घर, झारोड़ा में हुआ था। झारोड़ा उस समय मण्डावा ठिकाने के अन्तर्गत था।*
6. *पेमाराम, शेखावाटी के किसान आन्दोलन का इतिहास, मिर्नवा पब्लिकेशन, जोधपुर 2017 ई. पृ.सं. 31*
7. *ताराचन्द हस्तलिखित संस्मरण, पृ. 5*
8. *राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, जयपुर रिकॉर्डस, फाइल नं. जे–2549 भाग–6, बस्ता नं. 70*
9. *ताराचन्द हस्तलिखित संस्मरण, पृ.स 5*
10. *किसान नेता चिमनाराम का जन्म स्थल–सांगासी*
11. *किसान नेता नेतराम सिंह जन्म स्थल–गौरिर*
12. *किसान नेता सरदार हरलाल का जन्म स्थल – हनुमानपुरा*
13. *किसान नेता ताराचन्द जी का जन्मस्थल – झारोड़ा*
14. *ठाकुर देशराज, शेखावाटी के जन जागरण एवं किसान आन्दोलन के चार दशक, जयपुर 1961 ई, पृ. 13*
15. *ताराचन्द हस्तलिखित संस्मरण, पृ. 8–9*
16. *पान चराई – भेड़ बकरियों पर लगाने वाला कर*
17. *पूछी मलबा – लगान के अलावा लगान उगाही के समय वसूल की जाने वाली यह लाग थी जो ठिकाने के सवारों, कारिन्दो और ऊँट–घोड़ो की खुराक में उस गाँव में रहने के दिनों में खर्च होती थी।*

18. *कुँवर कलेवा – कुँवर साहब के जेब खर्च वसूली जाती थी।*
19. *बाई जी का हाथ – ठिकानेदार की लड़की के जन्म से विवाह तक का खर्च प्रति किसान से एक रुपया प्रति वर्ष वसूल किया जाता था।*
20. *नन्दकिशोर शर्मा, 'स्मारिका', स्वतंत्रता सेनानी चौधरी ताराचन्द झारोड़ा, स्वतंत्रता सेनानी चौधरी ताराचन्द शिक्षा विकास सहकारी समिति लिमिटेड, झारोड़ा (झुंझुनू), 2004 ई. पृ. 20*
21. *ताराचन्द हस्तलिखित संस्मरण, पृ. 14–16*
22. *बृजकिशोर शर्मा, आधुनिक राजस्थान का आर्थिक इतिहास, पब्लिकेशन स्कीम, जयपुर 1993 ई. पृ.सं. 258*
23. *ताराचन्द हस्तलिखित संस्मरण, पृ. 18*
24. *रेवेन्यू रिकॉर्ड जयपुर, आर–6 जागीर, फाईल नं. 3854, रा.रा.अ., ब्रांच, जयपुर*
25. *पंचायत पत्रिका, प्रधानमंत्री, शेखावाटी किसान जाट पंचायत, झुंझुनू, जून 1939 ई.*
26. *पत्र, दिनांक 13 जनवरी, 1940 ई., नरोत्तमलाल जोशी से पण्डित हीरालाल को, शास्त्री संग्रहालय, वनस्थली*
27. *राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, जयपुर रिकॉर्डस, फाईल नं. J2-5525 भाग–II, 1940 पृ.सं. 249–250*
28. *मानवाधिकार मांगे – पढ़ने के लिये पुस्तक नहीं देना, साथियों से मिलने नहीं देना, सर्दियों में तीसरी कम्बल नहीं देना, आठ घण्टे से ज्यादा ड्यूटी आदि*
29. *ताराचन्द हस्तलिखित संस्मरण, पृ. 20–27*
30. *डी.ओ. पत्र नं. 718, 31 जनवरी, 1946 ई., ठाकुर मण्डावा से प्रधानमंत्री, जयपुर सरकार*
31. *गोपनीय पत्र नं. 1802, दिनांक 23 मार्च, 1946 ई., डिप्टी कमिशनर झुंझुनू से राजस्व सचिव, जयपुर सरकार।*
32. *ताराचन्द हस्तलिखित संस्मरण, पृ. 29–30*
33. *ताराचन्द हस्तलिखित संस्मरण, पृ. 32–33*
34. *नन्दकिशोर शर्मा, 'स्मारिका', स्वतंत्रता सेनानी चौधरी ताराचन्द झारोड़ा, स्वतंत्रता सेनानी चौधरी ताराचन्द शिक्षा विकास सहकारी समिति लिमिटेड, झारोड़ा (झुंझुनू) 2004 ई., पृ. 24–25*

शेरे राजस्थान लोकनायक श्री जयनारायण जी व्यास का बीकानेर रियासत में भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन में योगदान

डॉ. महेन्द्र पुरोहित

पनरै सौ पैंताले सुद वैसाख सुमेर।
थावर बीज थरपियो बीकै बीकानेर।।

बीकानेर रियासत की स्थापना 12 अप्रैल 1433 ई. को मारवाड़ शासक राव जोधा के सुपुत्र राव बीका ने की। मध्यकाल में राजपूताने की अन्य रियासतों की भांति इसने भी मुगलों की शरण ली तथा कालान्तर में ब्रिटिश शासन की गोद ग्रहण कर ली। अत्यन्त शर्म की बात है कि 1857 ई. के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में पूरे राजपूताने में से केवल यहीं का शासक सरदारसिंह अंग्रेजों का परम मित्र बनकर उनकी सहायतार्थ क्रांतिकारियों के दमनार्थ अपनी राजधानी छोड़कर उनके पीछे सिरसा वर्तमान के हरियाणा राज्य तक गया और ब्रिटिश शासन से 14291 रु. राजस्व वाले 41 गांव तथा खिल्लत प्राप्त की। फिर एक बारगी शेष राजपूताने की भांति यहां भी चुप्पी छा गई।

1907 ई. में बीकानेर रियासत के चुरू कस्बे (वर्तमान में जिला मुख्यालय) में चैत्र शुक्ला नवमी (रामनवमी) संवत् 1964 को पं. कन्हैयालाल ढण्ढ द्वारा एक संस्था सर्वहितकारिणी सभा स्थापित की गई। कालान्तर में कील बाबू मुक्ता प्रसाद द्वारा 1821 में असहयोग आन्दोलन के समय बीकानेर में कार्यक्रम का आयोजन (विदेशी वस्त्रों की होली जलाकर) कर रियासत में राजनीतिक गतिविधियां चालू की गई।

कांग्रेस के 1929 में 44वें ऐतिहासिक लाहौर अधिवेशन में कांग्रेस अध्यक्ष पं. जवाहरलाल नेहरू ने पूर्ण स्वराज्य की मांग की तथा भारत वर्ष में प्रतिवर्ष 26 जनवरी के दिन को स्वतंत्रता दिवस के रूप में मनाने की घोषणा की।[1] इस अधिवेशन में गांधीजी ने ध्वजोतोलन संदेश देते हुए 1 जनरी 1930 ई. को कहा कि जब तक हमें पूर्ण स्वतंत्रता नहीं मिल जाती हम चैन से नहीं बैठेंगे।[2] इन घोषणाओं से पूरे देश में हलचल हुई तथा 26 जनवरी 1930 को तिरंगा फहराने के कार्यक्रमों की योजना बनने लगी। इसी क्रम में बीकानेर रियासत के चुरू कस्बे में धर्मस्तूप पर तिरंगा झण्डा फहराया तथा राष्ट्रीय गीत गाए।[3] इस तिरंगे को फहराने में शामिल तत्कालीन चूरू नगरपालिका के तीन सदस्यों पं.

चन्दनमल बहड़, वैद्य शांत शर्मा एवं वैद्य भालचन्द शर्मा को सदस्यता से पृथक् करते हुए फिर कभी भी सदस्य न बनने की पाबंदी लगा दी।[4] यह बात पं. मदनमोहन मालवीय जी तक पहुंची तो उन्होंने कहा ''आप लोगों ने सर गंगासिंह के राज्य में झण्डा फहरा कर गजब का काम किया। यह तो सोये शेर की पूंछ पर पांव रखने जैसा कार्य है।''[5] इस बारे में पं. मदनमोहन मालवीय जी ने बीकानेर रियासत के प्र.मं. सर मन्नु भाई नंदशंकर मेहता को पत्र लिखा।

इस झण्डा कांड की रियासत में प्रतिक्रिया का आकलन इस बात से किया जाता है कि रियासत के प्रधानमंत्री मन्नु भाई नंदशंकर मेहता जब बैशाख सुदी नवमी संवत 1987 को चूरू में 'इन्द्रमणि पार्क' का शिलारोपण करने आये तो उक्त तीनों व्यक्तियों की नगरपालिका की सदस्यता पुनः बहाल करते हुए उन पर कभी भी सदस्य न बन सकने की पाबंदी हटा दी।[6] चूरू में स्वतंत्रता दिवस मनाने का इतना जोश था कि नवयुवकों के नगर की दीवारों पर अनेक नारे लिख दिये थे जिनमें सबसे उल्लेखनीय है 'खरोरूपियो चांदी को स्वराज्य महात्मा गांधी को'। इस तिरंगा झण्डा कांड से रियासत में एक नई ऊर्जा एवं उत्तेजना का संचार हुआ।

इस समय बीकानेर रियासत के शासक महाराजा सर गंगासिंह (1887–1943 ई.) थे। महाराजा गंगासिंह भारतीय नरेशों के हितों की रक्षा के लिए जितने संवेदनशील थे, प्रजाजनों के अधिकारों के लिए वे उतने ही क्रूर पाये गये। जनाधिकारों की मांग तो दूर, उनकी बात तक करना राजद्रोह माना जाता था।[8]

प्रसिद्ध इतिहासकार एवं पूर्व निदेशक राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर प्रो. नाथूराम जी खड़गावत के अनुसार – ''उनके इस लम्बे शासनकाल में जनमत निर्मित हो नहीं सका, सार्वजनिक संस्थाएं पनप नहीं पाई, राजनैतिक संस्थानों की स्थापना तो दूर, सांस्कृतिक और सामाजिक संस्थाओं तक को पनपने का अवसर नहीं दिया गया। निरंकुश शासन के उस कठोर नियंत्रण की छाया में सार्वजनिक संस्थाएं अपने ही आंसुओं में डूब गई।''[9] रियासत में महाराजा गंगासिंह की क्रूरता और उग्रता के लिए उक्ति प्रसिद्ध थी कि उनकी सांस से घास जलती है।[10]

बीकानेर दमन पर पं. नेहरू

बीकानेर रियासत में हर क्षेत्र में इतना दमन था कि उदयपुर में अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद् के उदयपुर में हुए अधिवेशन के अंतिम दिन 1 जनवरी 1946 को खुले अधिवेशन में रियासतों में होने वाले दमन संबंधी प्रस्ताव में पं. जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि ''जब से मैं जेल से छूटकर आया हूं, बीकानेर के बारे में मेरे पास सब से ज्यादा शिकायतें आ रही है। बीकानेर सरकार की तरफ से घटनाओं को गलत ढंग से छिपाने की कोशिश की गई है। मुझे निश्चय है कि बीकानेर रियासत बिल्कुल गलत

रास्ते पर है। वहां जाकर जानकारी करने वालों को रोका गया है। मैंने रियासत के प्राइम मिनिस्टर श्री पण्णिकर को एक पत्र लिखा था, जिसका जवाब नहीं मिला। मैंने दूसरा पत्र लिखा, जिसका आज तक कोई जवाब नहीं आया। जहां शादी की कुमकुम पत्रिकाएं राज्य से सेंसर करानी पड़ती हो, जहां पर्दे की ओट में जनता पर भीषण अत्याचार किये जाते हों और उनके प्रतिवाद में मनगढन्त दलीलें दी जाती हों, उस राज्य के शासक इन्सान नहीं हैवान है। आखिर ये जुल्म-ज्यादती कब तक चलायेंगे?''

शेरे राजस्थान लोकनायक श्री जयनारायण जी व्यास

शेरे राजस्थान लोकनायक जयनारायण जी व्यास का जन्म 18 मार्च 1929 से जोधपुर में श्री सेवाराम जी व्यास के घर हुआ। युग पुरुष वे ही कहलाते हैं जो समय की धारा को मोड़कर जन सामान्य के लिए भविष्य का सुगम मार्ग प्रशस्त करने में समर्थ होते हैं। शेरे राजस्थान व्यास जी ऐसे ही स्वप्नदृष्टा, धुन के धनी और साहसिक योद्धा थे। जिन्होंने राजपूताने की रियासत मारवाड़ जोधपुर की जनता को राजशाही और सामन्तशाही के जुल्मों से मुक्ति दिलाने के साथ ही देश के स्वतंत्रता संग्राम में अविस्मरणीय योगदान किया तथा राजस्थान के स्वप्न को साकार रूप देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

बीकानेर रियासत में स्वतंत्रता आन्दोलन और शेरे व्यास जी

वैसे तो जयनारायण जी व्यास का कार्यस्थल मारवाड़ रियासत अर्थात् जोधपुर था लेकिन अपने व्यक्तित्व कार्यशैली से वे पूरे भारतवर्ष के हो गये। बीकानेर से आपका रिश्ता उस समय जुड़ा जब 1927 में जोधपुर रियासत द्वारा आपको बहुत तंग किया गया तब आप बीकानेर में प्रसिद्ध मोहता घराना के शिवरतन जी मोहता, जिनका कराची में उच्च स्तर का व्यापार था, के यहां शिक्षक के रूप में कार्य किया।[11] इसी प्रकार रियासत के भाादरा के निवासी खूबराम सर्राफ भी आपके अभिन्न मित्र थे।[12]

बीकानेर राजनीतिक एवं षडयंत्र केस 1932

जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है कि बीकानेर रियासत में 1930 तक आते-आते काफी राजनीतिक जागृति आ गई थी। बीकानेर के अनेक राजनीतिक कार्यकर्ता शेरे व्यास जी से जुड़े थे।[13] रियासत में हो रहे दमन के बारे में ये कार्यकर्ता व्यासजी को लगातार बताते रहते थे जिसे व्यासजी अपनी लेखनी द्वारा तत्कालीन समाचार पत्रों द्वारा सारे भारत वर्ष में भेजते रहे।[13अ] महाराजा गंगासिंह को बीकानेर का नीरो कहते हुए प्रिंसली इण्डिया में 'बीकानेर लैटर' के नाम से 30 सितम्बर 1931, 7 अक्टूबर 1931 तथा 14 अक्टूबर 1931 को छपे थे।[14]

श्री व्यासजी के द्वारा द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में बीकानेर शासन के जुल्मों का भण्डाफोड़

बीकानेर के शासक महाराजा गंगासिंह बड़े कठोर एवं निरंकुश प्रशासक थे। उन्हें अपने राज्य में अपनी मर्जी के बिना पत्ते का हिलना भी बर्दाश्त नहीं था। उनके चारों ओर काकस मण्डल जनता के जागरूक लोगों के प्रति उनके कान भरता रहा था। ऐसे समय में पं. चन्दनमल, सत्यनारायण सर्राफ आदि, जो जयनारायण जी व्यास के सम्पर्क में थे[15] के कार्य भी राज्य के लिए महाराजा को उनके द्वारा राज्य के हित में उठाये जाने वाले कदमों के विरुद्ध उत्तेजित करते थे। फलस्वरूप महाराजा गंगासिंह सकारात्मक की जगह दमनात्मक कदम उठाते थे।

द्वितीय गोलमेज सम्मेलन लन्दन 1932 में महाराजा गंगासिंह देशी राज्यों के प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित थे। अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद के प्रतिनिधि मण्डल जिसके सदस्य सौराष्ट्र के बैरिस्टर चूडगर, जन्म भूमि समाचार पत्र के सम्पादक अमृतलाल सेठ तथा पूना के प्रो. अभ्यंकर थे। अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद् प्रतिनिधि मंडल ने बीकानेर तथा भोपाल रियासतों की राजनीतिक स्थिति पर पैम्फलेट बनाए थे,[16] लेकिन गांधी जी की सलाह पर भोपाल का पैम्फलेट नहीं छापा लेकिन बीकानेर का पैम्फलेट जो श्री जयनारायण व्यास के आह्वान पर वकील सत्यनारायण सर्राफ, पं. चन्दनमल बहड़ आदि ने सामग्री इकट्ठी कर उससे 18 पृष्ठों की एक पुस्तिका साइक्लोस्टाइल करवा ली[17] जिसका नाम रखा गया 'बीकानेर एक दिग्दर्शन' जिसे प्रतिनिधि मंडल अपने साथ ले गया था। सम्मेलन में ठीक उसी समय प्रत्येक सदस्य के हाथ में पहुंचा जब बीकानेर महाराजा निजाम हैदराबाद के दीवान सर अकबर हैदरी के खिलाफ जोशीला भाषण दे रहे थे तथा अपने राज्य में प्रजातंत्र के लिए आवश्यक सारी संस्थाओं के तारीफ के पुल बांध रहे थे।[18] सम्मेलन के अध्यक्ष लॉर्ड सैंकी ने उक्त पुस्तिका महाराजा गंगासिंह के हाथ में देने से पहले उस पर 'बीकानेर महाराजा को इसका भी जवाब देना चाहिए' ऐसा नोट लिख दिया।[19] उस पुस्तिका को थोड़ा पढ़ते ही अपने प्रशासन का छिद्रान्वेषण देखकर महाराजा गंगासिंह आपे से बाहर हो गये[20] और तबीयत खराब हो जाने का बहाना बनाकर भाषण वहीं समाप्त कर तत्काल देश में आने के लिए स्टीमर पर सवार हो गये। देश आते हुए रास्ते में ही ऐसा दुस्साहस करने वाले को कड़ी सजा देने का निश्चय कर लिया। बीकानेर आने तक उन्होंने अपने दिमाग में 'बीकानेर राजद्रोह एवं षड्यंत्र केस' की रूपरेखा तैयार कर ली।

श्री जयनारायण जी व्यास के आह्वान पर स्वामी गोपाल दास, पं. चन्दनमल बहड़, वकील सत्यनारायण सर्राफ तथा खूबराम सर्राफ ने रियासत भर में अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद् के सदस्य बनाये थे और अखिल भारतीय कांग्रेस

कमेटी को परिषद् द्वारा दिये गये उस मेमोरियल पर लोगों के हस्ताक्षर कराये के जिसमें सब देशी रियासतों के संघ में शामिल होने की स्थिति में उनका अर्थात् जनता का क्या दर्जा रहे और रियासतों के प्रतिनिधि जनता में से चुने जाए आदि मुद्दे उठाये गये थे। इस मेमोरियल में यह भी मांग की गई थी कि रियासतों में नागरिक स्वतंत्रता प्रदान की जाए अन्यथा रियासतों का संघ में शामिल होना एक मखौल मात्र होगा।[20अ]

महाराजा गंगासिंह द्वितीय गोल मेज सम्मेलन से क्रोधित अवस्था में बीकानेर पहुंचे उसी समय रियासत में पंजाब से आने वाले गेहूं की जकात में भारी वृद्धि पर जनता[21] जोधपुर राज्य की तर्ज पर हड़ताल की सोचने लगी। इस जकात वृद्धि के विरोध में बीकानेर में 11 जनवरी 1932 को कोटगेट के पास स्थित गुण प्रकाश सज्जनालय, जो वाचनालय था तथा वर्तमान में भी है, में लोगों ने इकट्ठा होकर ज्ञापन देने का ऐलान किया। बीकानेर नगर के व्यापारियों रामकृष्ण अग्रवाल, रामकृष्ण माहेश्वरी और रामचन्द्र बैद ने जकात वृद्धि के विरोध में माल गोदाम से अपना माल उठाने से मना कर दिया।[22]

इसी जकात के क्रम में चूरू में भी 11 जनवरी 1932 को एक सार्वजनिक सभा हुई जिसकी अध्यक्षता राज्य की लेजिस्लेटिव असेम्बली कौंसिल के सदस्य सेठ भालचन्द कोठारी ने की।[23] इसी सभा में सर्वसम्मति की गई और इस संबंध में महाराजा से जकात माफ करने और इस बारे में एक डेपुटेशन से मिलने की आज्ञा मांगी गई। प्रस्ताव की प्रति गंगासिंह की सेवा में तार से भेज दी। इस तार को एल.एम.बी. हाई स्कूल चूरू के प्रधानाध्यापक ने लिखा था तथा चूरू के ही सरदार विद्यालय के प्रधानाध्यापक सोहनलाल सेवग तथा एक अध्यापक प्यारेलाल ने सभा की कार्यवाही गोपालदास स्वामी के भाषण सहित 'प्रिंसली इण्डिया' समाचार पत्र में छापने के लिए भेज दी।[24] तार मिलते ही गंगासिंह अत्यधिक क्रोधित हुए और उन्होंने बीकानेर राजद्रोह और षडयंत्र केस को अमली जामा पहना दिया।

13 जनवरी 1932 को स्वामी गोपालदास, महन्त गणपति दास, वैद्य शान्त शर्मा व मास्टर ज्ञानचन्द को गिरफ्तार कर बीकानेर ले जाया गया।[25] 13 जनवरी के ही वकील सत्यनारायण को रतनगढ़ (जहां उनकी वकालात थी) में खूब राम सर्राफ को आदरा में, बद्रीप्रसाद सरावगी और लक्ष्मीचन्द सुराणा को राजगढ़ में गिरफ्तार किया गया। सरदार विद्यालय में अध्यापक प्यारेलाल तथा प्रधानाध्यापक को 29 फरवरी 1932 तथा 1 मार्च 1932 को गिरफ्तार किया गया। इन सभी लोगों को बीकानेर में गुप्त स्थानों पर रखा गया।[26] इन उपर्युक्त लोगों का पुलिस तीन माह तक रिमाण्ड लेती रही और इस्तगासा पेश नहीं किया। इस दौरान पुलिस उन्हें असहनीय शारीरिक एवं मानसिक कष्ट देती रही

जिनका वर्णन पं. चन्दनमल बहड द्वारा 27 मई तथा 18 जून 1932 को दी गई दो अर्जियों[27] में ज्ञात होते हैं। 18 जून 1932 को द ट्रिब्यून, द हिन्दुस्तान टाइम्स, अर्जुन, राजस्थान संदेश तथा लोकमान्य पत्रों के अनुसार महाराजा के तौर तरीके काफी संगीन थे।[28] इन तीन महीनों पुलिस उन्हें अमानुषिक कष्ट देती रही[29] और अपने मुकदमे की पूरी तैयारी करती रही जबकि उपर्युक्त लोगों को किसी बाहरी वकील से सहायता लेने की अनुमति नहीं दी गई। चूंकि स्थानीय वकीलों में ऐसा नैतिक साहस नहीं था कि वे महाराजा गंगासिंह की सरकार द्वारा दायर मुकदमे में तथाकथित अभियुक्तों की पैरवी कर सके।

13 अप्रैल 1932 को जिला जज श्री बृलकिशोर चतुर्वेदी की अदालत में मुकदमा शुरू हुआ। जिसमें 8 मुलजिमान के खिलाफ इस्तगासा पेश किया गया। ये 8 थे – स्वामी गोपालदास, पं. चन्दनमल बहड, हैडमास्टर सोहनलाल तथा मास्टर प्यारेलाल सभी चूरू, खूबराम सर्राफ, वकील सत्यनारायण सर्राफ दोनों भादरा, बद्रीप्रसाद सरावगी, लक्ष्मीचंद सुराणा दोनों राजगढ़ इन पर दण्ड संहिता (बी.पी.सी.) की धारा 124(ए) (राजद्रोह), 120(बी) षड्यंत्र रचना और बीकानेर सेफ्टी एक्ट की धारा 377(सी) के तहत मुकदमा चलाया गया।[30] शुरू में कुछ दिनों तक मुकदमे की सुनवाई आम कचहरी में होती रही लेकिन बाद में इसे बीकानेर की सेण्ट्रल जेल के शो-रूम में सुनवाई के आदेश दे दिये गये। चूंकि सरकार इस कार्यवाही को गुप्त रखना चाहती थी। इस दौरान बाबू मुक्ता प्रसाद खूबराम सर्राफ की ओर से तथा बाबू रघुबरदयाल गोयल श्री सत्यनारायण की ओर से पैरवी करने को तैयार हुए इन्हें भी सामन्ती शासन ने कार्य नहीं करने दिया व इनके कार्य में बाधाएं डाली। इन्हें डराया धमकाया जाता था, इन वकीलों के परिवार के सदस्यों को भी तंग किया जाता था। यद्यपि राज्य के कानून की धारा 340(4) के अनुसार बाहर से भी वकील बुलाये जा सकते थे तथा ऐसा कई बार हो चुका था। लेकिन इन अभियुक्तों द्वारा कई बार प्रार्थना पत्र देने पर भी इन्हें सरकार ने आज्ञा नहीं दी।[31] उल्टे सरकार के प्रधानमंत्री ने आदेश दिया कि बाबू मुक्ताप्रसाद अभियुक्तों की ओर से वकील बन चुके हैं। अत: किसी और वकील की आवश्यकता नहीं है[32] जबकि बाबू मुक्ता प्रसाद सिर्फ खूबराम सर्राफ के ही वकील थे।

इस मुकदमे की ओर पूरे देश का ध्यान आकर्षित हो गया, समाचार पत्रों ने बीकानेर रियासत द्वारा अभियुक्तों के विरुद्ध की जा रही ज्यादतियों को लेकर आक्रोश पूर्ण समाचारों का प्रकाशन किया।[33] जब सभी व्यक्तिगत प्रयास बंदियों की रिहाई के लिये असफल हो गये तो 24 अगस्त 1933 को बम्बई में बीकानेर पॉलिटिकल केस कमेटी[34] का गठन किया।

पं. नेहरू का पत्र

3 नवम्बर 1933 को पं. जवाहरलाल नेहरू ने बीकानेर षड्यन्त्र केस के मामले में बीकानेर राजनैतिक केस कमेटी के पास पत्र भेजा जिसमें लिखा कि ''आप का पत्र देखकर मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि उपर्युक्त मामले में अभियुक्तों के साथ भयानक अन्याय किया जा रहा। इस मामले में मेरी पूर्ण सहानुभूति है। मैं समझता हूं कि वास्तव में सबसे बड़ी खराबी जो है वह है इण्डियन स्टेट प्रणाली। संसार में इससे अधिक पूर्ण अत्याचारी तथा स्वेच्छाचारी प्रथा की कल्पना भी नहीं की जा सकती। मैं पूर्ण विश्वास के साथ कह सकता हूं कि भारत की समस्या को हल करने से पहले इस सामन्ती प्रथा का पूर्ण रूप से अन्त होना चाहिए।''[35]

यह पत्र पाकर बीकानेर पॉलिटिकल केस कमेटी के कार्यकर्ता सामन्ती अत्याचारों के विरुद्ध अधिक उत्साह से प्रजाजनों में प्रचार-प्रसार करने लगे तथा राजद्रोह षड्यंत्र केस में फंसाये गये लोगों की रिहाई के लिए प्रशासन पर दबाव बढ़ने लगा। बीकानेर पॉलिटिकल केस कमेटी ने शासन पर दबाव के लिये 17 दिसम्बर 1933 को 'बीकानेर दिवस' मनाने का निश्चय किया। इस कमेटी के मंत्री इस सन्दर्भ में कलकत्ता भी गये तथा बम्बई से भी उन्हें समर्थन मिला। बीकानेर दिवस के लिए प्रमुख शहरों में तैयारियां की गई व जनता ने पूरे उत्साह के साथ मनाया।[36] इसी समय 1933 के अन्त में अजमेर जेल से शेरे राजस्थान श्री जयनारायण जी व्यास रिहा[37] हुए तथा उन्होंने ब्यावर में नित्यानन्द नागर की अध्यक्षता में मनाये गये बीकानेर दिवस समारोह में भाषण दिया।[37अ]

शेरे व्यासजी को बीकानेर के राजनैतिक कैदियों को दी जा रही यातनाओं की सूचना मिली विपरीत परिस्थितियों का सामना करते हुए श्री व्यासजी बीकानेर पहुंचकर राजनैतिक कैदियों से मिले और बीकानेर राजद्रोह और षड्यंत्र केस की सारी जानकारी प्राप्त की और स्वेच्छाचारी व दमनकारी शासकों द्वारा उन्हें दी जा रही अमानुषिक यातनाओं का वर्णन सुना। महात्मा गांधी, पं. जवाहरलाल नेहरू तथा अन्य नेताओं को भी श्री व्यासजी ने मुकदमे की पूरी जानकारी दी।[37ब]

शेरे व्यासजी की चातुर्यता

रियासती प्रशासन मुकदमे की पब्लिसिटी नहीं होने देना चाहता था। जेल में जिस जगह मुकदमे की सुनवाई होती थी वहां किसी संवाददाता या अन्य किसी बाहरी व्यक्ति का प्रवेश असंभव था। अदालत में क्या कुछ हो रहा है यह जानने के लिये सभी लोग बेताब थे। ऐसी स्थिति में व्यासजी ने महाराजा के साथ 'तू डाल-डाल तो मैं पात-पात' कहावत चरितार्थ की। व्यासजी ने अपने लेफ्टिनेण्ट नागौर निवासी शिवदयाल दवे को वकील बाबू मुक्ता प्रसाद का छद्म मुंशी बनाया[38] तथा जोधपुर के 'प्रजासेवक'

के सम्पादक अचलेश्वर प्रसाद शर्मा को विशेष संवाददाता के रूप में नियुक्त किया। छद्म मुंशी दवे को बीकानेर का ही एक नवयुवक गंगादास सेवग मुकदमे की दिन भर की कार्यवाही का विवरण देता था। गंगादास सेवग ने न्यायाधीश चतुर्वेदी को ले जाने वाली कार के क्लीनर के रूप में जेल में घुसने में सफलता प्राप्त कर ली और अर्दली के रूप में जज को पानी पिलाने के बहाने बुद्धु की तरह बैठकर सारी कार्यवाही जान लेता था और रात को सारी बातें दवे जी को रोज बताता रहता। अखबार में रोज समाचार आने लगे। प्रशासन भौंचक्का रह गया। महाराजा बहुत नाराज हुए। पर समाचार किस प्रकार जेल से बाहर पहुंचते हैं इसका कोई पता नहीं लगा सका क्योंकि जज साहब की कार का क्लीनर भी ऐसा कुछ कर सकता है इसकी किसी को कल्पना ही नहीं हो सकती थी।[39] इसी उपलब्ध सामग्री के आधार पर श्री जयनारायण जी व्यास ने एक पुस्तिका 'बीकानेर राजद्रोह और षड्यंत्र का मुकदमा कुछ ज्ञातव्य बातें' तैयार की[40] तथा बड़े-बड़े नेताओं, बम्बई सैण्टिनल के सम्पादक श्री बी.जी. हार्निमन तथा 'जन्मभूमि' के सम्पादक श्री अमृतलाल सेठ को भेजी जिसे उन्होंने विशेष रूप से प्रकाशित किया।[40]

13 अप्रैल 1932 इस्तगासा दायर किया गया 510 दिन तक चला यह मुकदमा 15 जनवरी 1934 को इस निर्णय के साथ समाप्त हुआ जिसमें वकील सत्यनारायण सर्राफ को 3 वर्ष, खूबराम सर्राफ , स्वामी गोपालदास, पं. चन्दनमल बहड तथा बद्रीप्रसाद को ढाई-ढाई वर्ष तथा सोहनलाल और प्यारेलाल को 6-6 माह कैद की सजा सुनाई गई।[41] 10 अगस्त 1932 को पुलिस ने लक्ष्मीचन्द सुराणा को सरकारी गवाह बना लिया इसलिए उसे माफ कर दिया। इस प्रकार शुरू में 8 व्यक्ति थे अन्त में 7 व्यक्ति ही रहे।

फैसला सुनकर सभी कोर्ट से जेल जाते हुए 'वन्दे मातरम्' 'महात्मा गांधी की जय' व 'राजस्थान जिन्दाबाद' के नारे लगाते रहे[42] जेल में जाकर इन्होंने सिर मुंडवाने और जेल के कपड़े पहनने से इन्कार कर दिया।[43]

इस फैसले के विरोध में अनेक स्थानों पर विरोध प्रस्ताव पारित किये गये।[43अ] 16 जनवरी 1934 को ब्यावर में हुई सभा में श्री जयनारायण जी व्यास, श्री ऋषिदत्त मेहता के अनुमोदन-समर्थन करने पर निम्नलिखित प्रस्ताव पारित हुआ - ''ब्यावर निवासी राजस्थानियों की यह सभा बीकानेर दरबार के सात प्रमुख नागरिकों के मुकदमे में अन्याय युक्त प्रणाली काम में लाने के कार्य के प्रति रोष प्रकट करती हुई उन्हें भारी-भारी सजाएं देने का घोर विरुद्ध करती है। यह सभा इन सभी वीर देशभक्तों को उनकी सेवा, कष्ट सहन और त्याग पर बधाई देती है।''[44]

श्री जयनारायण जी व्यास ने बीकानेर षड्यंत्र केस पर एक विहंगम दृष्टि डालते हुए आगे के लिए क्या करना है, इस संबंध में एक लेख अर्जुन (21 जनवरी 1934) में

प्रकाशित करवाया जिसका सार निम्न है–

देशी राज्य प्रजा परिषद् के जन्म के बाद बीकानेर नरेश और उनके अधिकारी बड़े चौकन्ने थे। वैसे तो कांग्रेसी नेताओं का आते ही बीकानेर के अधिकारी सहन नहीं कर सकते पर जब राज्य के कुछ सार्वजनिक कार्यकर्ता खुले तौर पर देशी राज्य परिषद् पर और कांग्रेस में शामिल होने के लिये जाने और इन संस्थाओं के कार्य में कुछ हाथ बटाने लगे तो बीकानेर के अधिकारी एकदम क्रुद्ध हो गये, बीकानेर अधिकारियों के रोज का एक कारण यह भी कहा जा सकता है कि कतिपय पत्रों में महाराजा मानधातासिंह के खानगी व्यापार के संबंध में कुछ चर्चा हुई थी। महाराजा का वहम अभियुक्तों में से कुछ पर था। अत: कहते हैं कि अभियुक्तों के विरुद्ध मामला चलाने में उनका विशेष हाथ था।

अभियुक्तों को सजाएं हो चुकी है। वे जेल में दो साल तो सड़ ही चुके थे, छ: से तीन साल तक और सड़ेंगे। पर क्या देशी राज्य के कार्यकर्ताओं को अब चुप हो जाना चाहिए...उस अवस्था में देशी राज्य परिषद् और बीकानेर केस डिफेन्स कमेटी को कोई उचित कार्यक्रम सम्मिलित रूप से निर्धारित करना योग्य होगा।

बीकानेर रियासत में राजनीतिक संगठन की स्थापना में श्री जयनारायण जी व्यास की भूमिका

1940 में जोधपुर रियासत के नागौर कस्बे में 'मारवाड़ लोक परिषद्' का वार्षिक अधिवेशन हुआ जिसमें बीकानेर के श्री गंगादास कौशिक ने भाग लिया। यह गंगादास कौशिक वहीं थे जिन्होंने 1933-34 में षड्यंत्र केस के समय जेल में कार के क्लीनर के रूप में घुसकर श्री जयनारायणजी व्यास का सहयोग किया। श्री गंगादास कौशिक की श्री जयनारायणजी व्यास से बीकानेर की राजनीति के बारे में बहुत सी चर्चा हुई तो व्यासजी ने कौशिक को एक मार्ग सुझाया वह था 'राजनीतिक संगठन'। जयनारायण जी व्यास ने परामर्श दिया कि भादरा के खूबराम जी के साथ मिलकर उन्हें जानसेवा के कार्य में जुट जाना चाहिए। व्यासजी ने उन्हें यह भी बताया कि खूबरामजी में बीकानेर की जनता की सेवा करने की तड़फन है।[45] वहीं नागौर में कौशिकजी की मुलाकात बाबा नृसिंहदास जी से हुई। उनकी सलाह भी व्यासजीकी भांति थी। बाबाजी ने 4 फरवरी 1939 के 'साप्ताहिक हरिजन' में प्रकाशित गांधीजी के एक वाक्य का उल्लेख किया जो यह था – ''यदि बीकानेर की जनता डर को दूर करके बलिदान की कला को सीख ले तो उसे अपना वांछित फल मिल जायेगा।''[46] ये बातें कौशिकजी के जेहन में बैठ गई और उन्होंनेबाबू रघुवरदयाल से सम्पर्क किया। बाबू रघुवरदयाल गोयल भी ऐसा ही चाह रहे थे अत: 22 जुलाई 1942 को 'बीकानेर राज्य प्रजा परिषद्' की स्थापना हुई।[47]

श्री व्यासजी द्वारा नजरबंदियों की गोपनीय जांच करवाना

26 अगस्त 1944 को श्री रघुवरदयाल गोयल, श्री गंगादास कौशिक और श्री दाऊदयाल आचार्य को रियासती सरकार द्वारा नजरबंदी के आदेश दे दिये गये। श्री गोयल ने लूणकरणसर में निर्वासन भी दिया गया। श्री मूनचंद पारीक के द्वारा बीकानेर के समाचार जयपुर और जोधपुर के प्रजा मण्डलों के नेताओं को मालूम हुए तो श्री जयनारायण जी व्यास अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद् के मंत्री होने के नाते तुरन्त ही अपने लेफ्टिनेण्ट नागौर निवासी श्री शिवदयाल दवे को बीकानेर पहुंचकर गोपनीय ढंग से यह मालूम करके रिपोर्ट करने को कहा कि जो महाराजा पिछले 18 महीनों से सुधार करने के आश्वासन देते आ रहा था उसने अचानक सुधार के वजह यह 'बिगाड़' यानि दमन का मार्ग कैसे अपना लिया और इस बदलाव के लिए किस पर अंगुली उठाई जा सकती है।[48]

श्री शिवदयाल दवे सितम्बर 1944 के तीसरे सप्ताह से ही बीकानेर में जमे हुए थे और गुप्त रूप से तत्कालीन दमनात्मक कार्यवाहियों को एकत्रित करने के लिए प्रयासरत थे लेकिन पूर्व में 1933 की भांति उन्हें जासूस के रूप में गंगादास जैसा कोई नहीं मिल पा रहा था। जब श्री दवे ने श्री व्यासजी को इस समस्या से अवगत कराया तो श्री व्यासजी ने जोधपुर से प्रकाशित 'प्रजा सेवक' अखबार के सम्पादक श्री अचलेश्वर प्रसाद शर्मा से श्री दवे को अपने पत्र का संवाददाता नियुक्त करवा दिया।[49] यह नियुक्ति पत्र रियासी सरकार के हाथ पड़ गया इसी लिफाफे में एक और पत्र था जिसमें बाबू मुक्ता प्रसाद के भाई लता प्रसाद और वकील ईश्वर दयाल का उल्लेख था। इस कारण यह नियुक्ति पत्र श्री दवे को कभी भी नहीं मिल सका जिससे वे बिना प्रेस अथोरिटी के किसी सरकारी अफसर से नहीं मिल सकते। इस पत्र के आधार पर आई.जी.पी. ने जांच करके गृहमंत्री को रिपोर्ट भेजी – ''यह शख्स रियासत विरोधी विचारधारा रखता है और जोधपुर रियासत में नागौर का निवासी है जहां वह सदा जयनाराया व्यास के लेफ्टिनेंट के रूप में क्रियाशील रहता रहा है और बताता है कि वह यहां से कुछ खरीददारियां करने आया है।'' गृहमंत्री ने प्रधानमंत्री के पास भेजते हुए यह टिप्पणी की कि – ''बीच में ही हथियाया गया यह पत्र बताता है कि शिवदयाल यहां हाल ही में नजरबंद किये गये तीनों लोगों के बारे में प्रत्यक्ष (फर्स्ट एण्ड) जानकारी हासिल करने आया है और उसके इस मिशन में प्रजा सेवक के सम्पादक द्वारा ईश्वर दयाल से सम्पर्क साधा गया है और यह यह पत्र पुन: प्रकाशित होने जा रहा है और यहां के तथाकथित राजनीतिक कार्यकर्ताओं ने इसके प्रकाशक को 60-80 की संख्या में ग्राहक बना देने का आश्वासन दिया है।''[50]

श्री जयनारायण व्यास ने श्री मूलचन्द पारीक द्वारा बताये गये बीकानेरी दमन के सारे तथ्यों को बारीकी से जान-समझकर और उन तथ्यों का सत्यापन अपने निजी स्तर पर

नागौर के श्री शिवदयाल दवे द्वारा एकत्रित सामग्री का विस्तार से अध्ययन करने के बाद बाह्य जगत को वास्तविक तथ्यों से अवगत कराने के लिये 26 अक्टूबर 1944 के 'प्रजा सेवक' अखबार में 'बीकानेर दमन-सही हाल' शीर्षक से एक लेख प्रकाशि किया जिसका एक अंश इस प्रकार है-

''तारीख 26 अक्टूबर को बीकानेरी दमन-विरोधी दिवस मनाया जा रहा है। देश भर का कर्तव्य है कि इस दमन के विरुद्ध अपनी आवाज बुलंद करे। परन्तु बीकानेर सरकार की तरफ से अभी से प्रचार कार्य शुरू हो गया है, जिसमें दमन के कारण दूसरे बताये गये है। सरकारी विज्ञप्ति में कहा गया है कि इन लोगों ने यानि बाबू रघुवरदयाल गोयल, गंगादासजी व दाऊदयाल जी ने लिखित शर्तनामे के विरुद्ध कार्यवाही की है। अत: इन्हें गिरफ्तार करके नजरबंद किया गया....ऐसी अवस्था में यह जरूरी मालूम होता है कि वास्तविक बातों को प्रकाश में लाया जाये।''[51]

श्री जयनारायण व्यास के इस लेख ने बीकानेर प्रशासन के उन आरोपों की पोल खोल दी जिनमें इन लोगों पर आश्वासनों को भंग करने अथवा मांफी मांग कर रिहाई हासिल करने का झूठा इल्जाम लगाया जा रहा था।

श्री व्यायजी के उपरोक्त लेख से जिसमें उन्होंने नजरबंदी द्वारा यह स्पष्ट कर दिये जाने का उल्लेख किया था कि नागरिक स्वाधीनता और जन संगठन जिनकी प्राप्ति का प्रयास करते हुए हमें इस चार दीवारी में रखा गया है उनकी प्राप्ति के बिना और उनके अभाव में हमारे लिए जेल के अन्दर रहना या बाहर आ जाना दोनों एक समान है। इससे सरकार भौचक्की रह गई क्योंकि सरकार को यह कल्पना ही नहीं थी कि इन तीनों को नजरबंद करके इनका जनसम्पर्क पूरी तरह तोड़ देने के बाद भी सारे तथ्य बाहर की दुनिया को कभी प्राप्त हो पावेंगे।

दिनांक 3-5 दिसम्बर 1944 को अलवर में आयोजित राजपूताना रियासती कार्यकर्ता सम्मेलन जिसकी अध्यक्षता श्री जयनारायण जी व्यास कर रहे थे उसमें भी बीकानेर सरकार की दमनात्मक कार्यवाही पर तीव्र रोष व्यक्त करते हुए अपील की गई कि दमनकारी कार्यवाहियों को अविलम्ब वापिस लिया जाय, जनता को पूर्ण नागरिक स्वाधीनता का उपयोग करने दिया जाए और उत्तरदायी शासन के लक्ष्य को सामने रखकर पर्याप्त सुधार किये जावें।[52]

8-10 अप्रैल 1945 तक नागौर में एक राजनैतिक सम्मेलन का आयोजन हुआ। यहां श्री जयनारायणजी व्यास भी पधारे थे। उसी धर्मशाला में बीकानेर से गये कार्यकर्ता भी रुके हुए थे। इन कार्यकर्ताओं ने श्री व्यासजी को अपनी दुख-दर्द की दास्तां बयां की। इन कार्यकर्ताओं की एक अलग बैठक में सुनवाई की गई जिसमें बीकानेर सरकार का एक सी.आई.डी. पत्रकार के रूप में घुस आया और बीकानेर राज्य प्रजा परिषद् के

नेताओं और कार्यकर्ताओं के बारे में अनर्गल बकवास शुरू की तो श्री जयनारायणजी व्यास के पुत्र श्री देवनारायण ने उससे पूछताछ की। इस पर वह बदमीजी पर उतर आया तो श्री देवनारायण ने कॉलर पकड़कर उसे बाहर कर दिया।[53]

श्री जयनारायण जी व्यास की स्पष्टवादिता

बीकानेर के कार्यकताओं ने एकांत में श्री व्यासजी से बीकानेर के मामले में सहायता और मार्गदर्शन का निवेदन किया तो उन्होंने स्पष्ट कहा कि - आपके यहां मजबूत संगठन जैसी कोई चीज नहीं है तो आप सरकार से संघर्ष की तो कल्पना ही नहीं कर सकते। मजबूत संगठन का निर्माण तब तक नहीं हो सकता जब तक उसे आम जनता का सहयोग प्राप्त न हो और जनता का सहयोग तब तक नहीं मिलता जब तक आप उसकी सेवा न करो उसके दुख-दर्द में हिस्सेदार न बनो और रचनात्मक कार्य न करो और उनके अभाव अभियोगों को मिटाने में जी जान से न लग जाओ। पिछलने 8-10 महीनों में आपने क्या किया जब कार्यकर्ता जवाब न दे पाये तो उन्होंने कहा - आप लोग शिक्षा प्रसार में लगो, पुस्तकालय-वाचनालय जगह-जगह खोलो, खाद्य पदार्थों के अभावों में आगे बढ़कर लोगों को राशन प्राप्त करने में सहयोग करो, साधनहीनों को दवा पानी की व्यवस्था करो ताकि लोक सम्पर्क बढ़ेगा और संगठन में शक्ति का संचार होगा।[54]

जब श्रीरामजी आचार्य ने आग्रह किया कि आप हमारा मार्गदर्शन ही नहीं नेतृत्व भी संभालो तो व्यासजी ने झुंझलाकर एक बहुत कड़वी बात कह दी। उन्होंने धीरे से कहा कि तुम में से किसका विश्वास करूं और किसका नहीं, क्योंकि आप में से कई तो स्वयं ही बीकानेर की सी.आई.डी. के एजेण्ट हो सकते हैं।[55]

सम्मेलन के समापन भाषण में श्री जयनारायण जी व्यास ने फिर बीकानेर का जिक्र किया और कहा कि बीकानेर के साथ हमारा गहरा संबंध है, खासतौर से पुष्करणों में और अग्रवालों में। इसके अलावा हमारे अन्य संबंध भी हमें बीकानेर से जोड़ते हैं, खासतौर से पुरातन काल से संबंध जुड़ा हुआ है जब उस काल में राजा तख्तसिंह ने पुराने जमाने में जयपुर पर हमला किया था तो उस समय उनको बीकानेर के शासक का समर्थन प्राप्त रहा था। पर इन दिनों बीकानेर का प्रशासन दिन पर दिन गिरावट की ओर जा रहा है और ठा. प्रतापसिंह की आवाज की तूती बज रही है जिसको कोई चुनौती नहीं दे सकता पर उसे भी एक दिन अपनी कुनीति में सुधार लाना ही पड़ेगा।[56]

सन्दर्भ

1. *श्री पट्टाभिसीतारमया, ए हिस्ट्री ऑफ द इण्डियन नेशनल कांग्रेस, पृ. 357; दाऊदयान आचार्य (स्वतंत्रता सेनानी), भारत के स्वतंत्रता संग्राम में बीकानेर का योगदान, पृ. 26*
2. *राम गोपाल, हाउ इण्डिया स्ट्रगल्ड फोर फ्रीडम, बॉम्बे बुक सेण्टर, 1967, चै. 17*

3. मिसल शहादत गवाहान (बीकानेर राजद्रोह एवं षडयंत्र केस बस्ता) स्वामी गोपालदास के बयान, पृ. 1-14 (रा.रा.अ.बी.); रेवेन्यू कमिश्पर सदर, बीकानेर 1929-30 फा. नं. 47, पृ. 8 (रा.रा.अ.बी.); दाऊदयाल आचार्य (स्वतंत्रता सेनानी), भारत के स्वतंत्रता संग्राम में बीकानेर का योगदान, पृ. 26
4. मिसल शहादत गवाहान (बीकानेर राजद्रोह एवं षड्यंत्र केस बस्ता) स्वामी गोपालदास के बयान, पृ. 1-14 (रा.रा.अ.बी.); गोविन्द अग्रवाल, स्वामी गोपालदास : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृ. 198-200; दाऊदयाल आचार्य (स्वतंत्रता सेनानी), भारत के स्वतंत्रता संग्राम में बीकानेर का योगदान, पृ. 26
5. पं. चन्दनमल बहड, राजस्थान में स्वर्ण जयन्ती समारोह समिति, जयपुर ग्रंथमाला-3, पृ. 9
6. मिसल शहादत गवाहान (बीकानेर राजद्रोह एवं षड्यंत्र केस बस्ता) स्वामी गोपालदास के बयान, पृ. 1-14 दिनांक 24.11.1933 (रा.रा.अ.बी.); गोविन्द अग्रवाल, स्वामी गोपालदास व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृ. 200
7. रेवेन्यू कमिश्नर सदर, बीकानेर सन् 1929-30 फा. नं. 47, पृ. 8-9 रा.रा.अ.बी.
8. श्री पट्टाभिसीतारमया, ए हिस्ट्री ऑफ द इण्डियन नेशनल कांग्रेस, पृ. 357; दाऊदयाल आचार्य (स्वतंत्रता सेनानी), भारत के स्वतंत्रता संग्राम में बीकानेर का योगदान, पृ. 25
9. मिसल शहादत गवाहान (बीकानेर राजद्रोह एवं षडयंत्र केस बस्ता), स्वामी गोपालदास के बयान, पृ. 1-14 (रा.रा.अ.बी.); गोविन्द अग्रवाल, स्वामी गोपालदास : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृ. 1898-200; दाऊदयाल आचार्य (स्वतंत्रता सेनानी), भारत के स्वतंत्रता संग्राम में बीकानेर का योगदान, पृ. 29
10. श्री पट्टाभिसीतारमया, ए हिस्ट्री ऑफ द इण्डियन नेशनल कांग्रेस, पृ. 357; दाऊदयाल आचार्य (स्वतंत्रता सेनानी), भारत के स्वतंत्रता संग्राम में बीकानेर का योगदान, पृ. 25
11. प्रो. रामप्रसाद व्यास, राजस्थान के लोकनायक जयनारायण व्यास, 1998, पृ. 14
12. वही, पृ. 22
13. वही, पृ. 27

13अ. दाऊदयाल आचार्य (स्वतंत्रता सेनानी), भारत के स्वतंत्रता संग्राम में बीकानेर का योगदार, पृ. 28

14. होम डिपार्टमेंट बीकानेर फा.नं. ब्ग्ग्प् सन् 1933, कटिंग रिपोर्ठ – द बीकानेर कांस्पायरसी केस (रा.रा.अ.बी.)) Saxena K.S., Political Movement & Awakning in ajasthan (1857-1947), P. 205
15. मिसल शहादत गवाहान मि.सं. 15 (रा.रा.अ.बी.)
16. होम डिपार्टमेंट बीकानेर फा.नं. C-XIII सन् 1931, पृ. 2 (रा.रा.अ.बी.)
17. तजबीज अदालत हाईकोर्ट राजश्री बीकानेर तारीख 15.01.1934 मुकदमे का नंबर 52 सन् 1932, पृ. 42 (रा.रा.अ.बी.)
18. होम डिपार्टमेंट बीकानेर फा.नं. C-XIII सन् 1932, पृ. 5 (रा.रा.अ.बी.)
19. गोविन्द अग्रवाल, स्वामी गोपालदास : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृ. 204

20. सुमनेश जोशी, राजस्थान के स्वतंत्रता सेनानी, पृ. 126

20अ. दाऊदयाल आचार्य (स्वतंत्रता सेनानी), भारत के स्वतंत्रता संग्राम में बीकानेर का योगदान, पृ. 20

21. स्वामी गोपालदास के मुकदमे के दौरान हस्तलिखित बयानों के अनुसार गेहूं की आमद पर 1) रु. प्रति मण जकात (कर) लगा दिया। (यह जकात मध्यकाल जैसे मुस्लिम धर्म का कर नहीं था) (रा.रा.अ.बी.)
22. होम डिपार्टमेंट बीकानेर 1932 सी-3, पृ. 7 (रा.रा.अ.बी.)
23. शहादत गवाहान मिसल नम्बर 15 (रा.रा.अ.बी.)
24. प्रिंसली इण्डिया 27.01.1932 की कटिंग तथा फा. नं. 15, पृ. 660/7 से 660/8 शहादत गवाहान बयान का वर्णन (रा.रा.अ.बी.)
25. प्रेम कटिंग फा. सं. 8 (रा.रा.अ.बी.); राजस्थान के स्वतंत्रता संग्राम के अमर पुरोधा, स्वामी गोपालदास राजस्थान स्वर्ण जयन्ती समारोह समिति, जयपुर ग्रंथमाला-52, पृ. 3
26. मिसल शहादत गवाहान सं. 15, 15/2, 15/5, 15/6 में दिए गए बयानों से पता चला कि किसे कहां रखा गया (रा.रा.अ.बी.)
27. मिसल नं. 130 सन् 1932, पृ. 604/1 से 604/8, 27.05.1932 तथा पृ. 639/1 से 639/3 18.06.1932 बीकानेर षड्यंत्र केस बस्ता (रा.रा.अ.बी.)
28. Political Movement & Awakning in Rajasthan (1857-1947) by K.S. Saxena, P. 205
29. सत्यदेव विद्यालंकार, बीकानेर का राजनीतिक विकास और श्रीमघराम वैद्य, पहला संस्करण जून 1947, परिशिष्ट (1), पृ. 198-210
30. राजस्थान के स्वतंत्रता सेनानी, ले. सुमनेश जोशी, पृ. 101, 109, 124
31. मिसल नं. 130 सन् 1932 दिनांक 26.04.1932 (रा.रा.अ.बी.)
32. मिसल नं. 130 सन् 1932 दिनांक 27.04.1932 (रा.रा.अ.बी.)
33. प्रेम कटिंग फा. 131/1932 राजस्थान संदेश 2.5.1932, बॉम्बे क्रॉनिकल 10.5.1932, अर्जुन 7.7.1932 (रा.रा.अ.बी.)
34. राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम के अमर पुरोधा पं. चन्दनमल बहड, राजस्थान स्वर्ण जयन्ती समारोह समिति जयपुर ग्रंथमाला-3, पृ. 26
35. वही, पृ. 29
36. बीकानेर वर्नाक्युलर प्रेम कटिंग फा.सं. 62, विश्वमित्र 17.12.1933, अर्जुन 21.12.1933 तथा 23.12.1933 (रा.रा.अ.बी.)
37. राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम के अमर पुरोधा जयनारायण व्यास, राजस्थान स्वर्ण जयन्ती समारोह समिति, जयपुर ग्रंथमाला-28, पृ. 13

37अ. अर्जुन 22.12.1933 फा.नं. 63/1933 (रा.रा.अ.बी.)

37ब. सत्यदेव विद्यालंकार, धुन के धनी, पृ. 183-184

38. सत्यदेव विद्यालंकार, धुन के धनी, पृ. 33
39. श्री गंगादास कौशिक के टैप संस्मरण (RSAB) दाऊदयाल आचार्य, स्वतंत्रता सेनानी,

भारत के स्वतंत्रता संग्राम में बीकानेर का योगदान, पृ. 32

40. *प्रो. व्यास आर.पी., राजस्थान के लोक नायक जयनारायण व्यास, पृ. 28; विद्यालंकार सत्यदेव, धुन के धनी, पृ. 183-84; पुस्तक की फोटो प्रति लेखक के पास उपलब्ध है जो पं. चन्दनमल बहड़ के सुपुत्र श्री महावीर प्रसाद बहड़ चूरू में निवासी ने दी।*
41. *पं. चन्दननमल बहड़ के सुपुत्र श्री महावीर प्रसाद बहड़ चूरू में निवास के पास फैसले की मूल नकल के आधार पर तथा नवयुग दिनांक 17 जनवरी, 1934 बीकानेर वर्नाक्युलर प्रेस कटिंग फा. सं. 7 सन् 1934 (रा.रा.अ.बी.)*
42. *लोकमान्य समाचार पत्र दिनांक 26 जनवरी 1934, बीकानेर वर्नाक्युलर प्रेम कटिंग फाइल, फा.सं. 7 सन् 1934 (रा.रा.अ.बी.)*
43. *अर्जुन समाचार पत्र दिनांक 25 नवम्बर 1934 बीकानेर वर्नाक्युलर प्रेस कटिंग फाइल, फा.सं. 7 सन् 1934 (रा.रा.अ.बी.)*

43अ. *फा.सं. 7/1934 (रा.रा.अ.बी.)*

44. *बीकानेर वर्नाक्युलर प्रेस कटिंग फाइल, फा.सं. 7 सन् 1934 (RSAB)*
45. *दाऊदशल आचार्य (स्वतंत्रता सेनानी), भारत के स्वतंत्रता संग्राम में बीकानेर का योगदान, पृ. 65*
46. *वही, पृ. 65*
47. *दाऊदयाल आचार्य (स्वतंत्रता सेनानी), भारत के स्वतंत्रता संग्राम में बीकानेर का योगदान, पृ. 67, राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम के अमरपुरोधा रघुवरदयाल गोयल, राजस्थान स्वर्ण जयंती समारोह समिति जयपुर ग्रंथमाला-15, पृ. 13*
48. *दाऊदयाल आचार्य (स्वतंत्रता सेनानी), भारत के स्वतंत्रता संग्राम में बीकानेर का योगदान, पृ. 201*
49. *वही, पृ. 202*
50. *वही, पृ. 203*
51. *वही, पृ. 206*
52. *दैनिक विश्वामित्र 9 दिसम्बर 1944 गोपनीय फा.सं. 19 सन् 1944 (रा.रा.अ.बी.)*
53. *दाऊदयाल आचार्य (स्वतंत्रता सेनानी), भारत के स्वतंत्रता संग्राम में बीकानेर का योगदान, पृ. 227*
54. *वही, पृ. 228*
55. *वही, पृ. 228*
56. *वही, पृ. 230*

राजस्थान की जनजातीय संस्कृति में 'भील जनजाति' एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

डॉ. ललित कुमार पंवार

भील जनजाति अपने गौरवमय इतिहास के लिए जानी जाती है। 'भील' शब्द सस्कृत की 'भिद्' धातु से भेदन अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। भील संस्कृत के 'भिल्ल' का तद्भव रूप है। भिल्-विल् भेदने धातु से सम्बन्ध है। यह भद्र का भी परिचायक है। भील शब्द की व्युत्पत्ति भिद्, भिल्ल, भल्ल तथा भिद् से ध्वनि परिवर्तन की प्रक्रिया से 'द' 'ल' पूरी समीकरण भील होता है। पाणिनी प्राणायाम से यह भिद् से भिल्ल बनता है। भद्र से भल्ल की निष्पत्ति भी उपयुक्त है। भिल्ल प्राचीन शब्द है और भील मध्यकालीन। प्राकृत भाषा भी भील शब्द से परिचित है। 'पउम चरिउ' में भिद् की जगह भैल्ल आया है। भील शब्द की उत्पत्ति द्रविड़ भाषा के 'बील' शब्द से हुई है जिसका अर्थ है 'धनुष'। चूंकि यह जनजाति धनुर्विद्या में निपुण है तथा धनुर्धारी है, इसलिए इसे भील कहा गया।

प्रागैतिहासिक युग में निषाद प्रजा बसती थी जिसने भारतीय संस्कृति को जन्म दिया वे निषाद भील ही थे। भारतीय सभ्यता के विकास में इन आदि भीलों को महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, जिन्होंने यहाँ नवीन पाषाण युग की सभ्यता का विकास किया। इस संस्कृति ने ही प्रागैतिहासिक युग में भारतीय संस्कृति को चेतना दी है।[1]

'भील' सस्कृत भाषा के 'भिल्ल' शब्द का तद्भव रूप है जो संस्कृत के 'भिल: बिल, भेदने' धातु से मूलबद्ध है। संस्कृत में 'भिल्ल' शब्द म्लेच्छ देश और जाति दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ है।'' भील शब्द का समानार्थी 'पालवी' (पालका) है जो कि पाल जिसे भील बस्ती के नाम से भी जाना जाता है। टालमी ने भीलों को 'फिलाइट' के नाम से सम्बोधित किया है तथा कई पाश्चात्य विद्वान इन्हें 'पाईमिस ऑफ केतसिया' और पत्ते पहनने वाली जाति कहा है। भीलों को राजस्थान व गुजरात में पालवी नाम से सम्बोधित किया जाता है। पालवी 'पाल' शब्द से निकला है तथा राजस्थान व गुजरात के निश्चित क्षेत्रों में भीलों के गांव के लिए प्रयुक्त होता है। संस्कृत शब्द पल्लव से पालवी की बहुत अधिक समानता है। जिसका एक अर्थ पत्तों के वस्त्र पहनने वाले के संदर्भ में भी लिया जाता है। इस शब्द से भीलों के प्राचीन होने का अनुमान होता है।[2]

1910 में अंग्रेज जीवाश्म वैज्ञानिक गाई पिलग्रीम ने भारतीय भूगर्भीय सर्वेक्षण विभाग के साथ काम करते हुए शिवालिक की पहाड़ियों में एक निचले जबड़े के दो भाग खोज निकाले। पिलग्रीम की खोज को आगे बढ़ाया चेल विद्यार्थी जी एडवर्ड लेविस ने। उसने रापमिथेकस का ऊपरी जबडा खोज निकाला तथा यह दावा किया कि यह आधुनिक मानव का सर्वमान्य पुरोधा था। जहाँ जहाँ पर ये जीवाश्म मिले है वे शिवालिक पर्वत श्रेणियां और मध्य मेखला भारत में वही भू भाग है जहां आज भी निषाद प्रजाति के आदिम मानव रहते है। जो भील जाति के पुरोधा रहे है। सबसे बड़ी चौंकाने वाली बात यह है कि भील जो भारत के आदिवासी और मूल निवासी है।

राजस्थान के उदयपुर के पास आहड़, चित्तौड़ के कपासन व गिलुण्ड से भी पुरातत्व सामग्री प्राप्त हुई है जहाँ आज भी आदिम भील निवास करते है। सिन्धु सभ्यता एवं अन्य की खुदाई में जो शिव और नाग की पूजा के प्रमाण मिले हैं उनसे भी यही सिद्ध होता है कि वे लोग निषाद, भील प्रजाति के लोग थे। प्रसिद्ध विद्वान डॉ. भण्डारकर भी शिव को प्राचीन निषाद भिल्ल संस्कृति से ही मानते हैं। कर्नल टॉड अपनी पश्चिमी भारत की यात्रा में भीलों को भूमि का स्वामी बताते है वे लिखते है कि- ''ये लोग (भील) इस विशेषण (भोमिया) के प्रयोग के विषय में बहुत ध्यान देते हैं, क्योंकि इससे भूमि के साथ इनकी आत्मीयता सिद्ध होती है और वास्तव में यह उनको भूमि का आदिस्वामी सिद्ध करता है।'' वे आगे लिखते हैं कि ''इनका राष्ट्रीय शस्त्र कुम्पटा या एक बांस का धनुष होता है, जिसके पतलों और लचकीली छाल की पट्टी से चुल्ल बंधी रहती है।''

भीलों के इतिहास में बहुत भिन्नता पाई जाती है। अनेक स्थान पर भीलों की सच्चाई एवं सीधेपन की प्रशंसा भी मिलती है तो अनेक स्थानों पर उन्हें डाकू, लुटेरे व हत्यारा तक कहा गया है। ऐतिहासिक विवरणों में आदिवासी समाज व संस्कृति का उल्लेख प्राचीनकाल से मिलता है। उनका गैर आदिवासी समाज के साथ संघर्ष शांति का उल्लेख भी मिलता है। रामायण का रचयिता वाल्मिकी निषाद अथवा भील थे। वह डाका डालने व हत्या करने में निपुण था किन्तु वह अपने पापों का प्रायश्चित करने पर एक विद्वान संस्कृत कवि बन गया। इसी प्रकार की अनेक कथाएँ महाभारत में मिलती है।[3] एकलव्य एक भील बालक था जो महान धनुर्धर बनना चाहता था, किन्तु द्रोणाचार्य द्वारा अस्वीकृत करने के पश्चात भी वह उनको अपना गुरु मानकर उनकी मिट्टी की प्रतिमा बनाकर उनसे धनुर्विद्या सीखते हुए एक महान धनुर्धर बन गया।

भील राजस्थान के ही नहीं अपितु सम्पूर्ण भारत की एक महत्त्वपूर्ण जनजाति है। भीलों को दक्षिणी तथा दक्षिण-पश्चिमी राजस्थान का मूल निवासी माना गया है। इसकी पुष्टि कर्नल टॉड एवं गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने की है। राजपूतों ने भीलों को पराजित

कर अपने साम्राज्य स्थापित किया जैसे डूँगरिया भील को मारकर डूँगरपुर, कुशाला भील को राठौड वंश ने समाप्त कर कुशलगढ़ एवं बाँसिया भील को मारकर बाँसवाड़ा पर आधिपत्य किया तब इन भीलों ने निर्जन स्थानों में शरण ली क्योंकि वे इन क्षेत्रों के चप्पे-चप्पे से वाकिफ थे। नवीन राजपूत राज्यों में इनका आतंक बना रहता था। ये राजाओं के लिए एक समस्या के रूप में बने रहते थे और कानून एवं व्यवस्था को बनाए रखने में सदैव बाधक रहते थे किन्तु मेवाड़ व कुशलगढ़ के शासकों ने दूरदर्शिता से इनकी ओर मैत्री का हाथ बढ़ाया और उन्हे सम्मान ब प्रतिष्ठा प्रदान की। वे इनके साथ छुआछूत का भेदभाव नहीं रखते थे। युद्धों में इन्होंने शासकों की भरपूर मदद की जैसे उनकी सम्पत्ति की युद्धकला में रक्षा की, हारने पर वन आश्रय दिया। सिसोदिया वंश के राजाओं में तो गद्दी पर बैठने वाले राजा का राजतिलक भील सरदार ही किया करता था। ओझा व टॉड इन्हें वनपुत्र एवं यही का मूल निवासी मानते हैं किन्तु बाद में ये जिन-जिन क्षेत्रों में बसे वही की भाषा उनकी भाषा हो गयी जैसे महाराष्ट्र में रहे तो मराठी, गुजरातमें रहे तो गुजराती भाषा अपना ली। अर्सकीन ने मेवाड़ के पहाड़ी क्षेत्रों में 6, डूंगरपुर में 26, प्रतापगढ़ में 37 तथा जोधपुर में 57 गोत्रों के पाए जाने का उल्लेख किया है और जनजातियों में सामान्यतया एक पाल में एक ही कुल-गोत्र के परिवार निवास करते हैं।

भील मुख्यत: दक्षिणी राजस्थान के बाँसवाड़ा, डूंगरपुर, उदयपुर व राजसमंद जिलों में निवास करते हैं। इनकी सर्वाधिक संख्या उदयपुर जिले में हैं। ये मेवाड़ी, भीली तथा वागड़ी भाषा का प्रयोग करते हैं। सामाजिक दृष्टि से ये पितृसत्तात्मक होते हैं तथा आर्थिक रूप ये कृषक होते हैं। भील लोग परंपरागत रूप से तीरंदाज होते हैं।[4]

इनके निवास स्थान के क्षेत्र सामान्यत: ऊबड़ खाबड़ तथा वन से आच्छादित होते हैं। ये पहाड़ियों पर छितरे हुए रहते हैं। भील पहाडियों पर झोपड़ियां बना कर रहते हैं। ये झोपड़ियां दूर-दूर छितराई हुई होती हैं। भीलों की कुछ झोपडियों के समूह को फलां कहते है। अत: इनके छोटे गाँव या मोहल्ले को 'फलां' और बड़े गाँव को 'पाल' कहते हैं। भीलों के घरों को कू कहते हैं। इनके घरों को 'टापरा' भी कहा जाता है। पहाड़ियों पर रहने वाले भीलों को पालवी कहते हैं और मैदानों पर रहने वाले भीलों को बांगड़ी कहते हैं।

भील जनजाति की वेशभूषा अत्यंत साधारण है, इनमें दिखावा नाम-मात्र का भी नहीं होता। भील पुरुषों की दैनंदिन वेशभूषा मात्र एक लँगोटी है तथा सिर पर फेंटा बाँधने का प्रचलन भी है। भील पुरुषों की अपेक्षा भील महिलाएँ वस्त्रों के प्रति सजग होती हैं। भील महिलाओं की वेशभूषा में सामान्यत: लुगड़ा, ओढ़नी, चोली तथा लँहगा सम्मिलित होता है। भील जनजाति सामान्यत: विपन्नता के कारण वस्त्रों पर अधिक व्यय नहीं कर पाते, किंतु साज-सज्जा में ये वनों से प्राप्त होने वाले फूलों-पत्तियों को श्रृंगार

साधन बनाते हैं। विशेष अवसरों पर ये चाँदी के आभूषणों को धारण करते हैं। भील समाज की सादगी तथा प्राकृतिक सौन्दर्य की झलक इन्हे सबसे अलग करती है। कान में बड़ी बाली, तीर कमान आदि का उपयोग करते है। लड़कियाँ औरते घाघरा व कांचली, शरीर पर लुगडू (छोटी साड़ी) काम के वक्त कांचड़ा बाँधते हैं, माथे बोर, नाक में बाली, गले में जंजीर व हाडी पहनते हैं।

भील स्त्री-पुरुष शरीर को अलंकृत करने के लिए आभूषणों के अतिरिक्त गुदना का भी प्रयोग करते हैं। नारियाँ अपने हाथों से लेकर पैरों तक गुदना गुदवाती हैं। गुदना कतिपय जनजातियों में जातीय प्रतीक भी होता है। उदाहरणस्वरूप भील महिलाओं के द्वारा आँखों के सिरों पर दो आड़ी लकीरें गुदवाना भील होने का प्रतीक है। इतना ही नहीं यदि किसी स्त्री के शरीर पर गुदना न गुदा हो तो उस स्त्री के हाथ का पानी तक पीना वर्जित होता है। वास्तव में गुदना गुदवाने की प्रेरणा आदिवासियों को आदिमानवों द्वारा उत्कीर्ण गुहा-चित्रों से मिली है। अत: आदिवासी समाज में माथे से लेकर पैर की उँगलियों तक अनेक प्रकार का चित्रांकन गुदना के अंतर्गत किया जाता रहा है, किंतु आज इस समाज की लोक परंपरा समाप्ति की कगार पर आ खड़ी हुई है।[5]

भीलों में कई गोत्र होते हैं। भीलों में विवाह संबंध गोत्र से बाहर ही होते हैं। इनमें मोरबांदिया विवाह, अपहरण विवाह, देवर विवाह, विनिमय विवाह, सेवा विवाह तथा क्रय विवाह की प्रथाएं प्रचलित है। कन्या का जो मूल्य वर पक्ष द्वारा दिया जाता है उसे 'दापा' कहते हैं। इनमें नाता प्रथा भी प्रचलित है जिसमें पुरुष या स्त्री विवाह विच्छेद करके अन्य पुरुष-स्त्री के साथ रहने लगते हैं। इनमें संयुक्त परिवार भी पाए जाते हैं लेकिन संयुक्त परिवार की तुलना में एकाकी परिवार अधिक पाए जाते हैं। भीलों में गाँव के मुखिया को 'गमेत' कहते हैं। लेकिन आजकल पंचायती राज के कारण गाँवों में मुखिया सरपंच हो गए हैं।

देवरे में पूजा करने वाले तथा झाड़ फूँक करने वाले को 'भोपा' कहते हैं तथा धार्मिक संस्कारों को संपन्न कराने वाले को 'भगत' कहते हैं। भीलों के कुल देवता टोटम देव है। भील लोग धर्मराज, भेरू जी एवं दैवी शक्ति के उपासक होते हैं। राजसमन्द के भीलों की कुल देवी आमजा माता-केलवाड़ा माता (केलवाडा-राजसमन्द) है। लोक संस्कृति को जीवंत बनाने वाले भीलों में विवाह संस्कार का विशेष महत्व है। भीलों में विवाह से संबंधित दो प्रथाएँ उल्लेखनीय हैं - प्रथम तो वधू मूल्य की प्रथा है। वधू मूल्य वह राशि एवं वस्तुएँ हैं जो कि वर पक्ष के द्वारा वधू के अभिभावकों को दी जाती है। इस रूप में यह शेष समाज में प्रचलित दहेज प्रथा से विपरीत है। द्वितीय - सेवा-विवाह के रूप में घर जँवाई प्रथा है। भील जनजाति में विधवाओं व परित्यक्ताओं को पुनर्विवाह की अनुमति प्राप्त है।[6]

भीलों के प्रमुख लोक नृत्य

(1) गैर - इसको घेर, गेहर भी कहते हैं तथा गोलाकार रूप में किये जाने के कारण इसे घेर कहा जाता हैं।यह मेवाड़ व मारवाड़ में होली के दूसरे दिन से पंद्रह दिन तक किया जाने वाला पुरुष प्रधाननृत्य हैं। नर्तक गेरिये कहलाते हैं तथा लकड़ी के लम्बे डंडो का प्रयोग जिन्हें खांडे कहते हैं। मुख्य रूप से ढोल, बंकिया एवं थाली वाद्य यन्त्र का प्रयोग किया जाता हैं।

(2) नेजा - होली के तीसरे दिन खेला जाने वाला खेल नृत्य है। इसमें जमीन में एक बांस गाड़कर उस पर नारियल बांध दिया जाता हैं, महिलायें छड़ी लेकर उसे घेरे रहती हैं एवं पुरुष बांस पर बंधे नारियल लेने का प्रयास करते हैं।

(3) गवरी - नाटक के रूप में किया जाने वाला नृत्य है एवं इसे राई नृत्य भी कहते हैं। शिव एवं पार्वती की पूजा से सम्बन्धित तथा शिवको 'पुरिया' कहते हैं। मांदल एवं थाली की ताल पर किया जाने वाला नृत्य है।

(4) हाथिमना - यह भील जनजाति का विवाह नृत्य हैं तथा यह पुरुष प्रधाननृत्य हैं। नृत्य अवस्था में पुरुष घुटने टेक कर जमीन पर बैठकर तलवार घुमाते हए नृत्य करते हैं।[7]

भील समाज का प्रमुख उत्सव व त्यौहार-होली है। इसके अतिरिक्त शिवरात्रि एवं दशहरा है। इन मुख्य त्यौहारों में भील समाज के प्रत्येक परिवार के सभी सदस्य सम्मिलित होते है। रतनमाल भील समाज का मुख्य त्यौहार आखातीज है। यह त्यौहार महादेव की स्मृति में मनाया जाता है। यह प्रथा भगवान शंकरदेवराज इंद्र के ध्यान द्वारा सम्पन्न होती है। इन अवसरों पर लोकनृत्यों, लोकगीतों की प्रधान झलक देखने को मिलती है। मुख्य त्यौहारों में भील समाज द्वारा बलि चढ़ाने जैसे-कार्य भी किये जाते है इनमें बकरा, मुर्गा एवं सुअर मुख्य है। भील समाज के सामाजिक रीति-रिवाजों में पुरुष एवं महिलायें समान रुप से भाग लेती हैं। गांव के मुखिया एवं बाघदेव मंदिर के समीप सभी सामाजिक कार्यक्रमों का संचालन होता है। सभी वर्ग के लोग तीज त्यौहार के समय बराबरी से सहयोग प्रदान कर विभिन्न प्रतियोगिताओं में भाग लेते हैं। जिससे कि सामाजिक रीति-रिवाज और अधिक रुचिकर एवं रसमय हो जाता है।[8]

बांसवाड़ा जिले के भील समाज द्वारा मनाया जाने वाले सबसे मुख्य त्यौहार 'वनेश्वर' (बेणेश्वर) है। इसे भील समाज द्वारा अति हर्षोउल्लास के साथ शिवरात्रि के समय जनवरी से मार्च के मध्य मनाया जाताहै। 'वनेश्वर' नामक उत्सव भगवान शिव अर्थात वनेश्वर को समर्पित है। वनेश्वर अर्थात् भगवान शिव इस अवसर पर बांसवाड़ा जिले के सभी भील परिवार माही नदी के समीप एकत्र होते हैं। माही नदी के समीप

लक्ष्मी नारायण मंदिर से होकर जनकुंवारी के निकट विष्णु मंदिर तक विभिन्न कार्यक्रमों का संचालन होता है। इसके अतिरिक्त भील समाज में दशहरा उत्सव भी काफी जोर सोर और भक्ति के साथ मनाया जाता है, दशहरा उत्सव सम्पूर्ण भारत राष्ट्र में भील समाज का मुख्य त्यौहार के रुप में मनाया जाता है।[9]

चूँकि भीलों के जीवनयापन का प्रमुख स्रोत कृषि है। पर्याप्त कृषि भूमि के स्वामी भील यथासंभव खाद्यान्न स्वयं उपजाते हैं तथा उन्हीं से अपना तथा अपने परिवार का भरण-पोषण करते हैं। भीलों का भोजन बहुत ही सादा एवं प्राकृतिक होता है। प्रत्येक भोज्य पदार्थ को ये उबालकर या भूनकर खाते हैं। भील प्राय: मक्का, ज्वार, बाजरे की रोटी खाते हैं। इनमें से मक्का को ये प्राथमिकता देते हैं। कोदो, कुटकी इनका विशिष्ट भोजन है। यह अनाज कम पानी में, कंकड़-पत्थर युक्त भूमि पर भी कम समय में पैदा होता है। भील जनजाति मांस के शौकीन होने के कारण उसकी आंशिक और आकस्मिक आपूर्ति के लिए मुर्गियाँ पालते हैं। इसके अतिरिक्त वे वनों से प्राप्त कंद, मूल, फल आदि को भी अपने भोजन में सम्मिलित करते हैं। भील जनजातियों में शराब का व्यसन अत्यधिक है। भीलों का कोई भी पर्व, विवाह, जन्म-मृत्यु आदि आयोजन बिना शराब के पूरे नहीं होते हैं। विवाह में तो शराब अनिवार्य है। बीमारी पर देवी-देवताओं को तर्पण करने के लिए, जादू-टोने के प्रभाव से मुक्ति हेतु, आत्माओं की संतुष्टि के लिए देव-बड़वा (देवों की सामूहिक पूजा) के अवसर पर शराब का प्रयोग किया जाता है। शराब के अतिरिक्त नशे के लिए भील ताड़ी भी पीते हैं। भील धूम्रपान के भी शौकीन होते हैं। भील जनजीवन में धूम्रपान का महत्वपूर्ण स्थान है। अतिथि को बीड़ी पिलाना इनके समाज में आतिथ्य का सूचक है।[10]

भील समाज हिन्दू धर्म के जीवंत ईश्वरों की आराधना करते हैं। भील जनजाति मुख्य रूप से बाधदेव की पूजा करते हैं, अर्थात् शिव जी की आराधना मुख्यतया की जाती है, भील जनजाति में मुख्य रूप से बाधदेव की पूजा करते हैं। इसके अलावा स्थानीय देवी देवताओं की पूजा अर्चना का प्रचलन है। बाधदेव की पूजा मुख्य रूप से पुरुषों के द्वारा की जाती है इस पूजा में महिलायें सम्मिलित नहीं होती है। जंगल के राजा सिंह की पूजा भी की जाती है। इसके अलावा नदी देव जो कि कृषि के देवता कहलाते हैं तथा भील समाज में वर्षा के लिए जल एवं पवन देव की पूजा की जाती है। भीलसमाज सम्पूर्ण प्रकृति को ईश्वर रूपी दृष्टिकोण से पूजता है। पर्यावरण के प्रति भील समाज की अपार श्रद्धा है।[11] भील जनजाति अपने भवनों का निर्माण ऐसे स्थान विशेष में करते है। जहां से सूर्य देव की पूर्णकृपा दृष्टि प्राप्त होती रहे। भवन में सूर्य के प्रकाश का प्रवेश मुख्य रूप से कृषि अनाज के संरक्षण के लिए भी किया जाता है। लेकिन धीरे-धीरे समाज में धर्मान्तरण जैसी प्रवृत्ति का जन्म हो रहा है। जिससे भील समाज की विचारध

ाराओं और धर्म पर आस्था में बदलाव हो रहा है। भील समाज के धर्म के प्रति विश्वास न होने का मुख्य कारण गरीबी और अज्ञानता है।[12]

भीलों की विशिष्ट प्रथाएं

1. हाथी वेडो- भीलों में प्रचलित विवाह की प्रथा, जिसके अन्तर्गत बांस, पीपल या सागवान वृक्ष के समक्ष फेरे लिये जाते है। इसमें वर को हरण तथा वधू को लाडी कहते है।

2. भंगोरिया उत्सव- भीलों में प्रचलित उत्सव जिसके दौरान भील अपने जीवनसाथी का चुनाव करते है।

3. भराड़ी- भील जाति में वैवाहिक अवसर पर जिस लोक देवी का भित्ति चित्र बनाया जाता है, उसे भराड़ी कहते है।[13]

संदर्भ

1. *परमानंद शर्मा, राजस्थान के आदिवासी, 1988, आदिम जाति शोध संस्थान, उदयपुर, पृ. 23*
2. *जगदीश चन्द्र मीणा, भील जनजाति का सांस्कृतिक एवं आर्थिक जीवन (1858-1947), पृ. 167-169*
3. *डॉ. महेन्द्र भानावत, उदयपुर के आदिवासी, भारतीय लोक कला मण्डल, उदयपुर, पृ. 98*
4. *डॉ. प्रकाश चन्द्र मेहता, आदिवासी संस्कृति एवं प्रथाएं, डिस्कवरी पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ. 49-50*
5. *श्रीचन्द्र जैन, वनवासी भील और उनकी संस्कृति, रोशनलाल जैन एण्ड संस, जयपुर, पृ. 58*
6. *जी. एस. घुरये, द शिडयूल ट्राईब्स, पृ. 103-104*
7. *डॉ. डी. एन. मजूमदार, रेसेज एण्ड कल्चर्स ऑफ इण्डिया, पृ. 97*
8. *डॉ. हरीश चन्द्र उप्रेती, भारतीय जनजातियाँ-संरचना एवं विकास, पृ. 79*
9. *ए गजेटियर ऑफ द उदयपुर स्टेट, अजमेर, 908, पृ. 227*
10. *कविराज श्यामलदास, वीर विनोद, पृ. 223-225*
11. *कर्नल जेम्स टॉड, एनाल्स एण्ड एन्टीक्बीटीज ऑफ राजस्थान, वाल्युम 3, पृ. 332*
12. *एथेनोग्राफिक एटलस ऑफ राजस्थान, जयपुर, 969, पृ. 427*
13. *एम.ए.शेरिग, द ट्राइब्स एण्ड कास्ट ऑफ राजस्थान, पृ. 83।*

राजस्थान में मीणा जनजाति की महिलाओं का एक सांस्कृतिक अध्ययन

अंकलेश कुमार

1931 ई. तक की जनगणना के अनुसार मीणा जनजाति मुख्य रूप से अलवर राज्य के प्रतापगढ़, राजगढ़, रैनी, बूँदी राज्य के देई, गेंदोली, पाटन, धोलपुर में सर मुठरा, जयपुर राज्य के दौसा, गंगापुर, हिण्डौन, सवाईमाधोपुर, उनियारा, करौली राज्य के हजूर, मंड्रेल, सपोटरा, उटगीर, कोटा राज्य के अकलेरा, छीपा बड़ौद, इटावा, कुंजर, मंगरोल, मेवाड़ राज्य के छोटी सादड़ी, गिरवा, जहाजपुर तथा टोंक राज्य के अलीगढ़, छाबड़ा में इनका बाहुल्य था।[1]

कृषक जातियों में मीणा जनजाति की कुल संख्या 5,36,917 थी जो हिन्दुओं की संख्या का 5 प्रतिशत थी। यह संख्या बांसवाड़ा और प्रतापगढ़ को छोड़कर थी। मीणा महिलाएँ 1881 की जनगणना के अनुसार 1000 पुरुषों पर 871 थीं।[2] 1911 की जनगणना के अनुसार राजपूताना में मीणों की जनसंख्या 5,58,687 थीं जिसमें पुरुष 2,96,205 व महिलाएँ 2,62,482 थीं। जिनमें आदिवासी 46,044 थे, जिसमें पुरुष 23,730 व महिलाएँ 22,314 थी व हिन्दू 5,12,504 थे, जिसमें पुरुष 2,72,411 व महिलाएँ 2,40,093 थीं, इनमें मुसलमान 139 थे जिसमें पुरुष 64 व महिलाएँ 75 थीं व अजमेर मेरवाड़ा में कुल मीणा 4221 थी जिसमें पुरुष 2440 व महिलाएँ 1781 थी जिसमें 1 पुरुष आदिवासी 2436 पुरुष व 1781 महिलाएँ व मुसलमान 3 पुरुष थे।[3] 1931 की जनगणना के अनुसार राजपूताना में मीणा हिन्दू 5,87,029, मुस्लिम 4 व आदिवासी 20,336 थे जो 1921 ई. में हिन्दू 4,83,674, मुस्लिम 90 व आदिवासी 31,477 और 1911 ई. में मीणा हिन्दू 5,12,506 इनमें मुस्लिम 139 व आदिवासी 46,044 व 1901 ई. में मीणा हिन्दू 4,61,093, मुस्लिम 01 व आदिवासी 16,035 थे। 1891 ई. में मीणा हिन्दू 5,36,422 थे व 1881 ई. का विवरण प्राप्त नहीं हो सका व अजमेर मेरवाड़ा क्षेत्र में 1931 ई. में मीणा हिन्दू व मुस्लिम 5252, 1921 ई. में 3939, 1911 ई. में 4223, 1901 ई. में 6,41,891 ई. में 4648, 1881 ई. में 4424 मीणा हिन्दू मुस्लिम थे।[4]

मीणा जनजाति में गोत्र काफी संख्या में है। उनमें प्रमुख उसारा, सूसावत, सिंगोल, डूलोट, नाई, डिंगल, बालोट, सीरा, झरवाल, बागड़ी, पड़िहार इत्यादि है। ये

मुख्य रूप से शक्ति, जीणमाता देवी और भैरव की पूजा करते हैं और गूजरों की तरह ये भी दिवाली को श्राद्ध रखते हैं। इनमें शादी वयस्क होने पर ब्राह्मण द्वारा की जाती है। शादी में विवाह की वास्तविक तिथियाँ ज्योतिषी निर्धारित करता है लेकिन कुछ शुभ दिन भी है जो बिना ज्योतिष के भी विवाह संपन्न हो जाते हैं। इन दिनों का उपयोग जाट, गूजर, मीणा, सुनार नाई, सुनार इत्यादि करते हैं। विशेषकर आखातीज, जन्माष्टमी, देवउठनी ग्यारस, धुलंद व बसन्त।[5]

मीणा और गुजरों की मुख्यतया एक-एक पत्नी होती हैं। जिसके पास 20 पशुओं के झुण्ड होते हैं। मीणाओं में दुल्हन के पिता को कोई निश्चित मूल्य देय नहीं है। लड़की की आयु 12-14 और व लड़के की आयु 15-18 वर्ष निश्चित है। ये माता-पिता, दादी, नानी के गोत्र में शादी नहीं कर सकते। भरतपुर के मीणाओं में यह परम्परा है कि बच्चे के जन्म के छः दिन बाद पिता उस कमरे में प्रवेश नहीं कर सकता। धौलपुर के मीणाओं में यह मान्यता है कि यदि बच्चा मूल नक्षत्र में पैदा होता है तो पिता 27 दिन तक कपड़े साफ व दाढ़ी नहीं बनवा सकता। बूँदी के मीणाओं में यह धारणा है कि पिता जब तक खाना नहीं खाता जब तक पुजारी बच्चे का नाम न ले।

मीणा जनजाति में माँ को 10 दिन तक एकांत गर्म कमरे में रखा जाता है और बिल्ली को कमरे से बाहर रखने के लिए सावधानी बरती जाती है। यदि दाई और उसकी सहायिका माँ का कमरा छोड़ती है तो वापस उन्हें अंदर आने के लिए अपने कपड़ों के ऊपर गाय का मूत्र छिड़ककर उसमें प्रविष्ट होने दिया जाता है। माँ को प्रसव के तीन दिन तक गुड़ और दूध पर रहना पड़ता है उसके बाद उसे हल्का भोजन दिया जाता है। इसके बाद पुजारी द्वारा शुद्धि समारोहों के लिए शुभ दिन चुनने के बाद इस घर को धोया जाता है। घर को पोता जाता है। मिट्टी के बर्तनों को बदला जाता है और पुराने कपड़ों को धोया जाता है लेकिन माता को 30 दिन तक घर से बाहर जाने की अनुमति नहीं होती और उसके बाद उसका पुनः शुद्धिकरण होता है उसे जलवा या जलपूजन कहते हैं जिसके तहत वह कुएँ या तालाब, नदी के पास जाकर अन्य महिलाओं के साथ पूजा करती है। भील और मीणा में छींकना भी अशुभ माना जाता है। इसी तरह एक नर बालक का दाँत पीसना भी अशुभ माना जाता है।[6]

मीणों का धर्म शक्तिक है वे जीवन माता को पूजते हैं जो मारोठ से कुछ दूर इलाके जयपुर में है। जालोर परगने में मीणों की किसी रस्म में ब्राह्मणों का दखल नहीं है और शादी-ब्याह का काम गुर्ड़ा करता है। बींदनी का बाप अपनी हैसियत के अनुसार बींद और और उसके साथियों को ओडावणी करता है। नाता सासरे की खांप छोड़कर होता है नाता ले जाने वाला बेवा की माँ बाप को कुछ रुपया देकर औरत के चूड़ा और जोड़ा को पहिना सनीचर की रात को चुपके से अपने घर ले जाता है।[7]

करौली में जाट, गुजर, मीणा तीनों जनजाति एक साथ धुम्रपान करते थे। वे एक ही बर्तन में एक साथ भोजन करते हैं, लेकिन उस पकवान से बाहर नहीं। उनकी विधवाएं जाति के सदस्यों को अथवा एक-दूसरे की जाति के सदस्यों को बेच दी जाती है। इसे दरीचा कहा जाता है और इसे निम्न प्रकार की शादी के रूप में देखा जाता है, जो महिलाओं को उपपत्नी या दास से थोड़ा बेहतर स्थिति देता है। लेकिन जो बच्चों को वैध बनाता है, वह अपने मालिक को सहन कर सकती है।[8]

आरम्भ में मीणा जनजाति मातृसत्तात्मक थी कालांतर में यह पितृसत्तात्मक रूप धारण कर लिया। सवाईमाधोपुर में आज भी यह प्रथा कहीं-कहीं प्रचलित है कि जल से भरे घड़े सिर पर धरकर युवतियाँ अपने चहेतों के घर पहुँचती और घट उतारकर उनसे अपने वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं। इस प्रथा को हण्डू-कड़ी पुकारा जाता है। स्त्रियाँ लूगड़ी, कंचुकी, कुर्ती, घाघरा, सोने-चाँदी और पीतल, कथीर के आभूषण, हसली, करधनी व पैरों में झांझर, कड़े, रमझौल धारण करती थी। कई स्त्रियाँ भुजबंध पहनती थी। वर्तमान में साड़ी, ब्लाउज, पेटीकोट और उच्च स्तरीय आभूषण धारण करने लगी हैं।[9]

मीणा महिलाओं को पुरुषों की तुलना में अधिक काम करना पड़ता है। जैसे घर पर पशु जिनमें भैंसें प्रमुख होती है, का दूध दुहने से लेकर, चारा-पानी देना और खाना पकाकर पति के लिए खेत पर ले जाना और खेत पर भी काम करना पड़ता है। मीणा महिलाएँ घाघरा, छींटदार लूगड़ा और कब्जा (ब्लाउज) पहनती हैं। हाथों में कई महिलायें हाथी-दांत के चूड़े भी पहनती है, जो प्रत्येक हाथ में 5 से लेकर 10 तक होते है। ये लोग होली, दीवाली, रक्षाबंधन बड़ी धूमधाम से मनाते हैं। अमावस्या के दिन अपने-अपने घर से भैंसों का निकला हुआ दूध बेचते नहीं है और वे पहले देव जी को भोग लगाते है और दूध की खीर बनाकर खाते है।[10]

मीणा जनजाति में एकल या संयुक्त परिवार में रहते है। शहरी व ग्रामीण महिलाओं की वेशभूषा में अंतर पाया जाता है, स्त्रियाँ घाघरा, चोली, लूगड़ी व शहरी स्त्रियाँ साड़ी, सलवार, कुर्ता, पहनती हैं। श्रृंगार में ये स्थानीय गहने पहनती हैं जो सिर से पैर की अंगुली की बिछियाँ तक के होते हैं। तीज-त्यौहारों पर विशेष पकवान बनाते हैं जिनमें पुए, पापड़ी, मालपुए, चूरमा, दाल, बाटी, चावल, मूँग इत्यादि। मृत्युभोज, बाल-विवाह, पर्दा प्रथा, बहुपत्नी इस समाजी की कुप्रथाएं है। पहले तो कहीं-कहीं मीणा लड़की के बदले (लड़की के पिता) पैसे लेकर अपनी लड़की का विवाह करता था। किसी पेड़ के नीचे गुमटी में देवमूर्ति अनघड़त पत्थर की सिन्दूर चर्चित मूर्ति होती थी।[11]

सगाई के संबन्ध में दोनों पक्ष के लोग आपस में श्रीफल और एक रूपये के साथ

आदान-प्रदान करते है। विवाह में पड़ना, धारा भरना, तेल चढ़ाना, कचोल्ला, रथ निकालना, बाकला जैसी रस्म अदा की जाती है। शादी का मण्डप बनाने का कार्य दुल्हा-दुल्हन के जीजा या फूफाजी द्वारा किया जाता है। जिस पेड़ की लकड़ी काटनी हो तो पहले उस पेड़ की पूजा दीपक जलाकर व कुमकुम लगाकर की जाती है। विवाह में आरती उतारने को बदावना कहते है। आदिवासी मीना जनजाति में सांस्कृतिक गायन परम्परा पुरुष व महिला में रही है।

सन् 1980 के दशक में नायक के लिए सैंदा भायेला तथा नायिका के लिए गीतों में सैंदी, पतलीसी, लोहडीसी का प्रयोग हुआ है। 1980-90 का दशक मीणावाटी गीतों का स्वर्णकाल कहा जा सकता है क्योंकि इस दशक में मीणों की आर्थिक रूप से सम्पन्न होने लगे तो मारूति तथा अश्लील गीतों का प्रचलन बढ़ा।[12]

जवांई के अपने ससुराल आने पर आस-पास की स्त्रियाँ इकट्ठी होकर गीत गाकर जवांई के लाड़-कोड़ करती है। कभी-कभी औरतें मुखौटा, साड़ी की धोती पहन स्वांग भी करती हैं। पिता, दादा, बुआ, धोबी, धोबन, जाट-जाटनी, मीणा-मीणी की बोली निकालती हैं।

ख्याल झामटड़े : इसमें स्त्रियाँ विवाह के दिनों में रात को गीतों के साथ स्वांग करती है। टूटिया नृत्य भी बारात के घर प्रस्थान करने के पश्चात् घर की औरतें दुल्हे-दुल्हन का स्वांग करती हैं। जमराबीज पर उदयपुर में मीणा औरतें होली का मूसल लिए स्वांग करती हैं। भौमिया जी ग्राम देवता के रूप में पूजनीय होते है तथा राड़ाजी ऐसे वीर होते है जो ग्राम कांकड़ में प्रजा की रक्षार्थ लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हुए।[13]

राजस्थान की जनजातियों में सर्वाधिक भाषा मीणा आदिवासियों की है। ऐसे में समाज की कोई भाषा नहीं है, यह बेमानी होगी। मीणी भाषा की ग्यारह बोलियाँ हैं, इनमें प्रमुख रूप से राठी, जगरोटी, डांस, मांडी, तलहरी, नागर चाड़ी, हाड़ौती बोली, मेवाड़ी मीणी, गोडवाणी मीणी, शेखावाटी तथा ढूंढाढी पचवारी है।[14]

मीणा जनजाति की स्त्रियाँ बीड़ी व कहीं-कहीं शराब भी पीती हैं। ढूँढाड़ की मीणा स्त्रियाँ नथ नहीं पहनती। प्राचीन समय में राजपूतों की भांति मीणों में भी कन्याओं को मारने तथा मृतक पति के साथ विधवाओं के सती होने की प्रथा थी।[15]

मीणा महिलाओं में ओढ़नियों में सितारे काफी जड़े होते हैं। चौकीदार मीणों में विवाह के समय ओढ़नी पर सफेद वस्त्र ओढ़ने की प्रथा पाई जाती है, जो जमींदार मीणा स्त्रियों में नहीं है। राजपूतों के संपर्क में आने के कारण चौकीदार मीणों की स्त्रियाँ परदा भी करती है। जब वे घर से बाहर निकलती (खेतों या जंगलों) में तो घाघरे का काछड़ा मार लिया जाता है और ओढ़नी से कमर कस ली जाती है। ग्रामीण मीणा महिलाएं

सम्पन्न न होने कारण वे अधिकांशत: स्वर्ण व चांदी के आभूषण धारण करने में अपने को अक्षम समझती है। इस कारण वे अपने अलंकार के रूप में ललाट पर बिन्दी, कपोलो पर काला तिल, ठुड्डी पर तीन तिल, आंखों के किनारे दो आड़ी रेखाएं गुदवाती है जिससे आंखे पैनी व सुन्दर लगती है। हाथों पर सुन्दर फूल, पति का नाम, चांद, सूरज, मोर-मोरनी के चित्र गुदवाते हैं। सोने के जेवर तो स्त्रियां बहुत कम पहनती है लेकिन सिर का बोरला संभवत: सोने का ही पहनती हैं।[16]

मीणा जनजाति में यदि पति अपनी पत्नी का त्याग करना चाहता है तो वह अपने साफे को फाड़ता है और उस टुकड़े को अपनी स्त्री को दे देता है पत्नी साफे के इस टुकड़े के साथ अपने सिर पर पानी के दो घड़े रखती हैं और किसी भी दिशा की ओर प्रस्थान करती है और जो भी पहला व्यक्ति उसके सर से घड़ों को उतारता है वह उसका भावी पति बन जाता है जिसे जेहूर अथवा निकाला कहते है। मीणा स्त्रियों के सलूका में पीली मगजी लगाने की प्रथा है। उसमें लहंगे का घेरा बराबर चारों ओर बराबर नहीं होता है। उनकी कंचुकी भी बहुत छोटी होती है। इसे बाल के साथ आभूषण धारण करने का शौक है। इनमें प्रमुख आभूषण कुण्डन, करघनी, झुमका, पगपान, नथ, पायल, नुपुर, मुड़िका आदि है। एक आभूषण राजड़ी होता है जो ललाट पर धारण करती है। वे चमकीले आभूषण और अंगूठे की मुडिका नहीं पहनती है। वे ऊंची चोटी बांधती है। इनमें पुरुष शव को सफेद तथा स्त्री के शव को रंगीन कपड़ों में लपेटा जाता है।[17]

मीणा महिलाएं सामान्यत: घर में प्रात: सबसे पहले उठती हैं। वे सूर्योदय से पूर्व आटा पीसने, आटा छानने, घर में झाडू लगाने, बर्तन साफ करने एवं भोजन बनाने का कार्य करती है। इनमें 5-6 वर्ष की कन्या ही परिवार के आर्थिक कार्यों में सहयोग देने लग जाती है। जंगल से लकड़ी एकत्रित करना, उन्हें बाजार में बेचने का काम छोटी बच्चियां करती हैं। मवेशियों को चराना, गोबर थापना, चौपायों के स्थान को साफ करना इत्यादि के कारण मीणा परिवार में आर्थिक दृष्टि से कन्या को बोझ नहीं समझा जाता। मीणा महिलाएं ससुर और जेठ से परदा रखती है। बहुत आवश्यक कार्य होने पर ही वे उनसे वार्तालाप कर सकती हैं।

सवाईमाधोपुर जिले, राजगढ़ आदि क्षेत्रों की स्त्रियां लहंगे (घाघरे) घुटनों से कुछ नीचे तक पहनती थी जिनका घेरा 8-10 मीटर का होता था। जिनके कुछ अटपटे नाम थे जैसे- शंकर घाघरा इत्यादि और यह गांवों में देखने को मिलता है। मीणा जनजाति की स्त्रियां गोदना गुदवाने में दूध, लालटेन का काजल आदि का प्रयोग करती हैं जो सूखने पर नीला पड़ जाता है और काजल नीला ही रहता है। अविवाहित स्त्रियां केवल हाथों पर ही गुदवा सकती है। अंग के अन्य भागों पर गुदवाना परम्परा के विरुद्ध समझा जाता है। नाक में नथ व कांटा पहनने की प्रथा कुछ स्थानों के जमींदार मीणों में नहीं पाई

जाती है लेकिन चौकीदार मीणा की स्त्रियां आवश्यक रूप से नाक में काँटा पहनती है।[18]

ढूंढाड़ के बाहर मीणा स्त्रियां, पचवारा की पाँच मेवासियों आदि के गीत, दोहे-वार्ता आदि लोग बड़े चाव से सुनते हैं। मेवाड़ में टोडरमल बादराव दरिया खाँ-शशिवदनी तथा लाली आदि प्रसिद्ध लोक कथाएं आज भी सुनने को मिलती है।[19]

मकान के अन्दर के भाग में मीणा स्त्रियां रहती हैं तथा पुरुष अपना खाली समय मकान की तिबारी या बाड़े में गुजारते हैं। स्त्रियां सिर के बाल कभी खुले नहीं रखती है। अविवाहित लड़कियां बोरला नहीं गूँथती हैं। यदि इनमें लड़के का जन्म होता है तो कांसे की थाली बजाकर आस-पड़ोस में शुभ संदेश दिया जाता है तथा लड़की होने पर केवल सूप को हिला दिया जाता है। छोटी बच्चियों को परिवार के सभी बड़े व्यक्ति छोरी कहते हैं, विवाहित स्त्री के मरने पर उसके सिर पर बोरला गूंथा जाता है। यह उसके सुहाग की निशानी है। विधवा स्त्री के मृत शरीर पर कोई जेवर नहीं रखा जाता।[20]

मीणा महिलाओं को विरासत में संपत्ति लेने का कोई अधिकार नहीं है लेकिन वे सामाजिक अनुष्ठान में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। लेकिन वे परिवार प्रबंधन में परिवार के फैसले को प्रभावित करती है।[21]

मीणा जनजाति अन्य जनजातियों की तुलना में काफी पहले से मैदानी लोगों तथा हिन्दू धर्म के लोगों के सम्पर्क में रही है। इसी कारण उनकी संस्कृति में परिर्वतन आना स्वाभाविक है तथा वह काफी हद तक हिन्द धर्म के रीति-रिवाज मानती है। फिर भी वर्तमान परिदृश्य की बात करें तो उनमें शिक्षा, सुधार, जागरूकता, मुख्यधारा से जुड़ने के कारण उनमें काफी परिवर्तन आया है और आधुनिकता व वैश्वीकरण के इस दौर में जब सब प्रभावित हो रहे हैं तो इसके रहन-सहन, जीवन शैली में परिवर्तन देखने को मिलता है फिर भी ग्रामीण क्षेत्रों में मीणा महिलाएँ आज भी मांडने, भित्ति चित्र, गीत, परिधान, खान-पान, पोशाक इत्यादि में उनकी संस्कृति आज भी देखी जा सकती है हालाँकि क्षेत्र के अनुसार उनमें भिन्नता है लेकिन उनकी अपनी एक पहचान है। वर्तमान में सरकारी सेवाओं तथा उनकी आर्थिक स्थिति के कारण उनके खान-पान, पोशाक में आधुनिकता देखने को मिलती है।

सन्दर्भ

1. *Lieut. Colonel B.L. Cole, Census of India, 1931. Vol.- XXVII Rajputana Agency, Report and Tables, P.130.*
2. *Col. H.B. ABBOTT, Census Rajputana, 1891. Vol. XXVI, Part-I Report Imperial and Supple returns. P.69.*
3. *E.H.Kealy, Census of India, 1911, Vol.- XXII, Rajputana and Ajmer-Merwara Part-II, Tables, P.175.*
4. *J.H. HUTTON, Census of India, 1931, Vol.- I India, Part-II, Imperial*

tables, P.550.
5. *Captain A.D. Bannerman, Census of India, 1901, Vol.-XXV, Rajputana part-I, Report P.158-59.*
6. *E.H. Kealy, Census of India, 1911, Vol.- XXII, Rajputana and Ajmer-Merwara Part-I, Report, P.164-67.*
7. *जहूर खाँ मेहर, राय बहादुर मुंशी हरदयाल सिंह, रिपोर्ट मरदुमशुमारी राजमारवाड़ 1891 ई. , राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, 2019, पृ. 114-18।*
8. *M.A. Sherring, The Tribes and Castes of Rajasthan, Books Treasure, Jodhpur (Reprint 2016) p.79.*
9. *दुर्गा प्रसाद माथुर, मीणा जाति का विकास एवं संस्कृति, साहित्यागार, जयपुर, 2014, पृ. 36-39।*
10. *डॉ. एस.के. सैनी, राजस्थान के आदिवासी, यूनिक ट्रेडर्स, जयपुर 2012, पृ. 121-22।*
11. *डॉ. रघुनाथ प्रसाद तिवारी, मीणा समाज की कुलदेवियाँ, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2017, पृ. 24-25।*
12. *ताराचन्द चीता, आदिवासी मीना (मीणा) समाज का ग्रन्थ, चीता प्रकाशन, श्रीमाधोपुर, 2018, पृ. 192-97।*
13. *डॉ. सुरेश साल्वी, राजस्थानी लोक संस्कृति एवं देवी-देवता, हिमांशु पब्लिकेशन, दिल्ली, 2009, पृ. 23-51।*
14. *अरावली उद्घोष (शोध पत्रिका) जयपुर, अप्रैल-सितम्बर, 2018, पृ. 17-21।*
15. *रावत सारस्वत, मीणा इतिहास, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2012, पृ. 131-37।*
16. *शकुन्तला मीणा, मीणा जाति का उत्कर्श, अजय प्रकाशन, जयपुर, 2016, पृ. 47-51।*
17. *लक्ष्मी नारायण मीणा, मीणा जनजाति एक परिचय, मध्य प्रदेश हिन्दी अकादमी, भोपाल, 1996, पृ. 94-104।*
18. *यशोदा मीणा, मीणा जनजाति का इतिहास, जयपुर पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, 2003, पृ. 133-38।*
19. *लक्ष्मी नारायण झरवाल, मीणा जाति और स्वतन्त्रता का इतिहास, झरवाल प्रकाशन, जयपुर, 2003, पृ. 332-38।*
20. *डॉ. नरेन्द्र एन. व्यास, जनजाति जीवन और संस्कृति, सुभद्रा पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, 2012, पृ. 131-37।*
21. *K.S. Singh, People of India, Rajasthan Vol.-XXXVIII, Part-II, Popular Prakashan PVT. LTD., Mumbai, 1998, P.648.*

सीरवी समाज का उद्भव एवं विकास - एक ऐतिहासिक अध्ययन

डॉ. कुलवन्त सिंह शेखावत

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में वर्ग, जाति, समुदायों की उत्पत्ति एक कारण से नहीं हुई। उसके अनेक कारण हैं - भौगोलिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक। मध्यकालीन राजस्थान में भी तुर्की के सम्पर्क से मेवात में मेव, शेखावाटी में कायमखानी की एक नवीन सामाजिक जाति के रूप में हुई। मुगलों के सम्पर्क से शिल्पों में वृद्धि के साथ कई जातियों का बाहुल्य हो गया जिसमें छीपे, पटवा, सुनार एवं लुहार आदि थे। ये जातियाँ इस काल से भी विद्यमान थीं परन्तु आर्थिक जीवन में नये मोड़ के साथ इन जातियों की बस्तियाँ स्थान-स्थान में बढ़ने लगी और उनके हस्त-कौशल का भी महत्व बढ़ने लगा।[1]

शिल्प जातियों की तरह राजनैतिक परिवर्तन से काश्तकारों व्यवसााय परिवर्तन दिखाई देता है। आबू के पँवार शासक धरणी बाराह ने मारवाड़ को 9 टुकड़ों में बाँटकर भाईयों में बांटा जो नवकोट कहलाया। पँवार राज कमजोर होने पर भाटी, चौहान एवं राठौड़ों ने नवकोट छीन लिये। यह पँवार मारवाड़ में रैयत (जनता) बनकर खेती-बाड़ी करने लगे।[2] इस प्रकार सामाजिक संरचना में वर्गों का व्यवसाय परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तनशील रहा है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि इतिहास में सामाजिक संरचना में नवीन जातियों का उद्भव होना एवं उनके व्यवसाय में परिवर्तन, एक अनवरत सतत् प्रक्रिया चलती रहती है। मध्यकालीन राजस्थान की विभिन्न सामाजिक वर्गों, जातियों एवं समूहों के बारे में मारवाड़ के मुहणौत नैणसी कृत 'मारवाड़ रा परगनां री विगत' राजस्थान राज्य अभिलेखागारीय, बीकानेर में उपलब्ध जयपुर रियासत के दस्तुर कौमवार अच्छा प्रकाश डालते हैं। तत्पश्चात् 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कई लेखकों राजस्थान की सामाजिक दशा और जातियों पर लेखन कार्य किया।[3] समाज के विभिन्न वर्गों के संगठन, स्वरूप, जीवनशैली आदि से संबंधित कई पक्ष प्रकाश में नहीं आ पाए हैं जिनमें से एक सीरवी समाज है। प्रस्तुत आलेख के माध्यम से इस समाज की रूपरेखा जानने की चेष्टा की गयी है।

सीरवी समाज की जानकारी के लिए अन्त:अनुशासनात्मक विषय पद्धति का प्रयोग करना जिसमें भौगोलिक अधिवास, मानवशास्त्रीय एवं समाजशास्त्रीय अध्ययन के साथ बिलाड़ा में स्थित बडेर में उपलब्ध चारण-भाटों की बहियाँ, राजस्थान ग्रंथ - भवानीदास व्यास का 'आणद विलास', दीवानों के रोजनामचा बहियों, बाबा री बही, खाता बही, कारखाना हाजरी बही जैसे अभिलेखागारीय दस्तावेज जो 10 आलमारियों में अव्यवस्थित रूप में रखे हुये हैं, अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। इसके साथ ही सीरवियों के गाँवों के सर्वेक्षण करना एवं उनके ऐतिहासिक स्थलों के स्मारकों से स्थापत्य कला के विभिन्न पक्षों को जाना जा सकता है।

मध्यकाल में मारवाड़, गोड़वाड़, मेवाड़ एवं मालवा में निवास करने वाली सीरवी मूलत: कृषक जाति थी। रिपोर्ट मरदुमशुमारी राजमारवाड़ 1891 ई. में मारवाड़ का जाट एवं मालियों के पश्चात् तीसरा बड़ा कृषक समुदाय था। जिसकी 1891 ई. में जोधपुर राज्य में कुल जनसंख्या 55757 थी।[4]

आखिर प्रश्न उठता है कि आखिर यह सीरवी समुदाय इस क्षेत्र में कृषक समाज के रूप में रूपान्तरित होने से पूर्व किसी अन्य क्षेत्र से प्रवसन होकर आई अथवा किन्हीं परिस्थितियों के कारण अन्य जाति का काश्तकार के रूप में परिवर्तन हुआ है। मौखिक इतिहास, लोक-परम्पराओं, साहित्य एवं काव्यों और भाटों द्वारा लिखित वंशावलियों में इनकी उत्पत्ति खारड़िया राजपूतों से बताई गई है। राजस्थान में अलाउद्दीन खलजी के जालौर अभियान 1311 ई. से पूर्व यह कान्हड़देव चौहान के वीर सैनिक थे, जालौर के पतन के पश्चात् इन सैनिकों ने विवश होकर काश्त करना प्रारम्भ कर दिया। इन राजपूत सैनिकों द्वारा खारी-खाबड़ नदी के इलाकों में खेती करने के कारण ये खारड़िया राजपूत कहलाने लगे।

इनके द्वारा अन्य काश्तकारों के सीर में खेती करने कारण 'सीरवी' कहलाये तत्पश्चात् धीरे-धीरे यह सीरवी लूणी बाणगंगा एवं सुकड़ी नदियों के सिंचाई वाले क्षेत्रों में अधिवास करने लगे। यह 16वीं-17वीं शताब्दी तक मेवाड़, मालवा, गोड़वाड़ एवं मारवाड़ क्षेत्रों में फैल गये और अपनी विशिष्ट पहचान बना ली। एक सशक्त एवं संगठित कृषक समुदाय में स्थापित हो गये। इसमें ऐतिहासिक तथ्यों की दृष्टि से पूर्णतया विश्वसनीयता एवं प्रामाणिकता पर प्रश्नचिन्ह एवं संदेह किया जा सकना संभव है।[5] इस प्रकार समाज की संरचना में नवीन वर्गों का उद्‌भव व्यवसाय परिवर्तन की कहानी में इतिहास में देखने को मिलती है।

सामाजिक परम्पराएँ एवं सांस्कृतिक विरासत

प्रत्येक वर्ग, समुदाय, जाति अपनी विशिष्ट परम्पराएँ, रीति-रिवाज, संस्कार, लोकोत्सव एवं मान्यताओं को पृथक रखता है। इसी दृष्टिकोण से सीरवी समाज की

सामाजिक-सांस्कृतिक धरोहर अलग दिखाई देती है। यह एक कृषक समुदाय के रूप में कार्य करने कारण खान-पान, वैवाहिक सम्बन्ध, आस्था का तरीका, जीवन स्तर में अन्य कृषक समाज की तरह दिखाई देते हैं फिर भी यह अपनी विशिष्टता रखते हैं।

सीरवी समाज में अधिकांश लोग 'आई पंथी' हैं जो आईमाता के 11 नियमों का डोरा बांधने के कारण डोराबन्द कहलाते हैं। कुछ सीरवी 'धूल' कहलाते हैं वह आईमाता के स्थान पर कृष्ण भक्त हैं यह डोराबन्द नहीं है। डोराबन्द सीरवी एवं धूल सीरवी परस्पर घनिष्ठ रूप से जुड़े हुये हैं इनमें आपस में वैवाहिक सम्बन्ध होते हैं। विवाह के पश्चात् कन्या को अपने ससुराल के नियमों के अनुसार डोराबन्द या नहीं होना निर्णित होता है। किसी प्रकार से दोनों में भेद नहीं है।[6]

डोराबन्द सीरवियों में मृतक संस्कार में दफनाने की एवं धूल सीरवियों में दाह संस्कार की परम्परा है।[7]

सीरवियों की 24 गोत्रें हैं - राठौड़, पंवार, काग, देवड़ा, सैणचा, बरफा, चोयल, भायल, लाचेटा, सेपटा, सोलंकी, हाम्बड़, चौहान, मुलेवा, सीन्दड़ा गहलोत, मोगरेचा, भूमडिया, सातपुरा, परिहार, आगलेचा, चांवडिया, परिहारिया एवं खण्डाला। जिसमें कुछ प्रसिद्ध राजपूत वंशों की गोत्रें भी हैं।[8] यह केवल सीरवी में ही नहीं माली एवं अन्य जातियों में भी इस प्रकार की गोत्रें मिलना शोध का विषय है।

अधिकांश सीरवियों के द्वारा डोराबन्द होने के कारण 'आईपंथ' के 11 नियमों का पालन करने वाले है जिसमें झूठ का त्याग, मद्य-मांस से दूर रहना, ब्याज नहीं लेना, जूआ नहीं खेलना, माता-पिता की सेवा, देवों की अराधना, सतगुरु की आज्ञा पालन, परहित करना, परायी स्त्री को माता मानना एवं कन्या पक्ष से दहेज नहीं लेना शामिल है। अपितु यह सभी नियम सामाजिक बोध के स्थान पर व्यक्तिगत अधिक है फिर भी इनके वैवाहिक सम्बन्धों में किसी प्रकार खर्च नहीं करते, कन्या पक्ष से किसी प्रकार का दहेज नहीं लिया जाता है। एक नारियल के द्वारा आईमाता एवं दीवान को भेंट देकर विवाह का न्यौता दिया जाता है।[9]

सामाजिक जीवन और उससे सम्बन्धित संस्थाओं में लोकोत्सव का महत्वपूर्ण स्थान है। स्थानीय संस्कृति की अभिव्यक्ति लोकोत्सवों में स्पष्ट रूप में देखी जा सकती है, क्योंकि उनके साथ प्राचीन परम्पराएँ तथा विचारधाराएँ जुड़ी होती है। ये विचारधाराएँ धार्मिक, ऐतिहासिक और सामाजिक होती है। सीरवी कृषक समाज चार लोकोत्सव को बड़ी उमंग से मनाते हैं। जिसमें भादवा एवं चैत्र सुदी बीज क्रमश: आईमाता का बिलाड़ा में आगमन एवं अर्न्तध्यान होने के उपलक्ष्य में मनाई जाती है। माघ सुदी बीज प्रथम दीवान के पाटोत्सव और वैशाख सुदी बीज को हल-बैलों की पूजा करते हैं। कृषक

समुदाय होने के कारण आजीविका का मुख्य साधन कृषि ही है। इन उत्सव पर आईमाता के दो बैलों द्वारा रथ को सुंदर सजाकर शोभा यात्रा निकाली जाती है जो उनकी संस्कृति का प्रतीक है। प्रत्येक शुभ कार्यों - विवाह, गृह-प्रवेश, उद्घाटन के समय आईमाता के रथ 'बैल' की पूजा से प्रारम्भ होने के साथ दीवान का आशीर्वाद लिया जाता है। अपार आस्था एवं श्रद्धा प्रकट की जाती है। गैर डोराबन्द (कृष्ण भक्ति वाले) देवझूलनी एकादशी तथा कृष्ण जन्माष्टमी को मुख्य त्यौहार के रूप में मनाते हैं।[10]

सीरवी समाज राजस्थान में अपना एक अलग सांस्कृतिक महत्व रखता है। आईमाता का मंदिर, दीवान के महल एवं छतरियां, थड़े एवं कुण्ड स्थापत्य कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। बिलाड़ा स्थित आईमाता का मन्दिर भव्यता लिये हुए है। इसके शहतीर पोल (प्रवेश द्वार) आदि दर्शनीय पक्ष है। प्रवेशद्वार के बाहर दोनों ओर दो हाथी बने हुए हैं। इसका गर्भगृह भी कलात्मकता लिये हुये हैं। इसके शहतीरों पर टिके झरोखे जैसलमेर की पटवों की हवेली जैसे प्रतीत होते हैं। बाड़ी महल, माटमोर बाग, पीला महल, समाज एवं पंथ के मुखिया के दीवान के हैं। समकालीन शासकों एवं ठिकानेदारों के महलों के समान ही इन महलों में विशालता, सुंदरता, कलात्मकता का अनुपम मिश्रण है।

बाणगंगा नदी पर स्थित दिवंगत दीवानों की समाधि एवं छतरियाँ उत्तम कलाकृतियाँ हैं। ऊँचे चबूतरे पर स्थित स्तम्भों के ऊपर कलश सुशोभित होता है। इन पर सम्बन्धित दीवान के विषय में जानकारी अंकित है। बाणगंगा स्थित मर्दाना एवं जनाना कुंड जल की महत्ता एवं पूजा पद्धति को दर्शाते हैं।

सीरवी समाज और आईमाता

सीरवी समाज के लोगों की बिलाड़ा में स्थित 'आईमाता' अराधना एवं धार्मिक आस्था का स्रोत है। राजस्थान में राजपूतों एवं समाज कुलदेवियों की परम्परा रही है जो शाक्त पूजा की परम्परा का अनवरत उदाहरण हो सकता है। सीरवी समाज की आईमाता का मन्दिर बिलाड़ा (जोधपुर) में स्थित है जो बडेर कहलाता है।

भवानीदास व्यास रचित राजस्थानी भाषा का ग्रन्थ 'आई आणद विलास' एवं भाटों के आख्यानों के अनुसार आईमाता गुजरात के अम्बानगर के डाबी राजपूत कन्या जीजी ने बिलाड़ा की ऐतिहासिक नगरी को अपनी तपोस्थली बनाया। अपनी अराधना यात्रा के दौरान सीरवी समाज के लोग आईमाता के अनुयायी बन गये। आईमाता का आगमन भादवा संवत 1521 एवं अर्न्तध्यान चैत्र संवत 1561 दोनों अवसरों को उल्लास से मनाया जाता है।[11]

आईमाता ने जिस मार्ग सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया उसे जिन सीरवी लोगों ने

माना वह आईपंथी कहलाये। इन्हें 11 गोठ के डोरा पुरुष दाहिने हाथ एवं स्त्रियां अपने गले में धारण करती हैं। ये 'डोराबन्द सीरवी' या 'आईपंथी' कहलाते हैं। कुछ सीरवी कृष्ण के भी भक्त हैं।

आईमाता के समय बिलाड़ा क्षेत्र राव सीहा के वंशज राठौड़ जाणौजी जागीर की देखरेख कर रहे थे। ऐसी स्थिति में जाणौजी के पुत्र माधव ने आईमाता के पंथ आईपंथ का प्रचार-प्रसार किया। जिसमें माली, कुमावत, दर्जी, मेघवाल एवं लुहार आदि लोग सम्मिलित हुये।[12] प्रथम दीवान गोयन्ददास के पिता माधव ने 11 गांठ डोरा बांधकर धर्म का प्रचार किया। आईपंथ एक बहुजातीय पंथ के रूप में उभरा। बिलाड़ा के आईमाता का 16वीं शताब्दी से आज तक उतरोत्तर विकास हो रहा है। शासकों के द्वारा भूमि अनुदान, पंथ के अनुयायियों द्वारा अनाज के दान एवं समाज के दानियों के अनुदान से मन्दिर का संचालन हो रहा है। आईमाता के मन्दिर में किसी प्रकार मूर्ति पूजा नहीं की जाती है। उसमें पाट, पोशाक, नारियल की पूजा की जाती है एवं अखण्ड ज्योति से केसर निकालना एक चमत्कार है।

सीरवी समाज का प्रधान 'दीवान'

समाज के शीर्षस्थ पद पर आसीन दीवान के के प्रति समाज की आस्था है। बडेर में उपलब्ध चारण-भाटों की बहियों एवं दस्तावेजों के अनुसार आईमाता के अर्न्तध्यान के पश्चात् गोयन्ददास को वि.संवत 1540 को पदासीन किया गया। वह आईमाता की अराधना करते थे उन्हें आईमाता के आशीर्वाद के कारण आईपंथ को मानने वाले पंथ की सर्वोच्च शक्ति का द्योतक माना। गोयन्ददास से वर्तमान में माधवसिंह तक 500 वर्षों में 19 दीवान हो चुके हैं जो इस प्रकार हैं -

1. दीवान गोयन्ददास (वि.सं. 1557-1612)
2. दीवान लखदीर सिंह (वि.सं. 1612)
3. दीवान करमसिंह (वि.सं. 1612 से 1637)
4. दीवान रोहिताश्व (वि.सं. 1637-1691)
5. दीवान लिखमीदास (वि.सं. 1694-1700)
6. दीवान राजसिंह (वि.सं. 1700-1746)
7. दीवान भगवानदास (वि.सं. 1746-1773)
8. दीवान कल्याणदास (वि.सं. 1773-1792)
9. दीवान पदमसिंह (वि.सं. 1792-1824)
10. दीवान हरिदास (वि.सं. 1824-1842)

11. दीवान ऊदेसिंह (वि.सं. 1842-1858)
12. दीवान अनोपसिंह (वि.सं. 1858-1860)
13. दीवान लालसिंह (वि.सं. 1860-1869)
14. दीवान शिवदानदास (वि.सं. 1869-1901)
15. दीवान लक्ष्मणसिंह (वि.सं. 1901-1945)
16. दीवान शक्तिदान (वि.सं. 1945-1961)
17. दीवान प्रतापसिंह (वि.सं. 1961-1976)
18. दीवान हरि सिंह (वि.सं. 1976-2003)
19. दीवान माधवसिंह (2003 से अब तक)

दीवान आईपंथियों के धर्मगुरु हैं उनके लिए चौधरी, पीर जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है। वह आईमाता के प्रतिनिधि के रूप में सशक्त स्थिति में थे। मारवाड़ मेवाड़ शासकों के द्वारा आईपंथ को बडेर की भूमि अनुदान दिये गये जिससे बडेर के नियंत्रण में भूमि का बड़ा क्षेत्र आ गया जो एक बड़ी जागीर के रूप में उभरा जिसका मालिकाना हक दीवान के पास रहा, जिसकी देखरेख वह अपने सहायकों की सहायता से करता था। वह एक जागीरदार के रूप में स्थापित हो गया।[13]

वह एक वृहद कृषक समुदाय का नेतृत्व कर रहा था। सामंतीय समाज के दौरान कृषिगत अर्थव्यवस्था में कृषकों की उपस्थिति एवं कृषि विस्तार के लिए दीवान प्रयास करता था। शासक एवं ठाकुर दीवान की सहायता से सीरवियों द्वारा गाँव से पलायन करने पर पुनः उन्हें बसाकर खेती करने को प्रेरित करते थे। 17वीं शताब्दी से 19वीं शताब्दी के दौरान के पत्रों से इसकी पुष्टि होती है। जिसमें सेंदरिया ठाकुर, गोड़वाड़ के मांड गांव, गोड़वाड़ क्षेत्र 2000 सीरवी छोडाणा कर गये थे तब सीरवियों को पुनः बसाने में दीवान की ही भूमिका रही।[14] मेवाड़ के महाराजा जगतसिंह दीवान आईपंथ का समय-समय पर प्रचार-प्रसार करते थे। वह मेवाड़, गोड़वाड़, मारवाड़ एवं मालवा क्षेत्रों में पंथ का संदेश फैलाता था। आईमाता की सवारी वाला रथ 'भैल' (वैल) पर घूमकर समाज को संदेश देने के साथ उनके विवादों का भी निपटारा करता था।[15]

मारवाड़ के शासकों से सदैव घनिष्ठ सम्बन्ध रहे। वे अपने आप को राठौड़वंशी मानते थे। मारवाड़ के शासक दीवान की मृत्यु होने पर मातमपुरसी की रस्म की अदायगी करते थे। नवीन दीवान को पाटोत्सव करते थे। अतः दीवान का जोधपुर के राठौड़ शासकों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। राव चन्द्रसेन के समय मुगलों के विरुद्ध सहायता, जसंवतसिंह, अमरसिंह से घनिष्ठ सम्बन्ध रहे।[16] जसवंतसिंह के समय मारवाड़ की

कमजोर आर्थिक स्थिति के समय रियां के सेठों एवं बिलाड़ा के दीवान ने मदद की थी। मारवाड़ में कहावत प्रचलित हो गई कि 'मारवाड़ में अढ़ाई घर' है। महाराजा मानसिंह ने भी एक अंग्रेज को अढ़ाई घर की बात बताई थी।[17]

इक घर रियां शाह रो, दूजो घर दीवाण।
आधा में मरुधर अवर, मुख जसवंत फरमाण।।

मारवाड़ को मुगल सम्राट औरंगजेब ने खालसा घोषित कर दिया तब वीर दुर्गादास द्वारा किये गये स्वतंत्रता के लिए गोड़वाड़ क्षेत्र में सीरवी काश्तकारों ने मुगलों के विरुद्ध सहायता प्रदान की थी। दीवान ने दुर्गादास की पुत्री का भी विवाह सम्पन्न करवाया था।[18] दीवान के प्रति समाज के अनुयायियों की अपार श्रद्धा थी। जब कोई दीवान दिवंगत होता था तो उसके साथ रानियां सती होकर बलिदान करती थीं। भवानीदास व्यास के ग्रंथ 'आणद विलास' में एक सोरठा के माध्यम से दीवान कल्याणदास के समय 51 लोगों के बलिदान का वर्णन किया है।

सतियाँ तीन सुजाण, आठ छक सेवक अवर।
कमधज साथ किल्याण इकावन जीवन अधरै।।[19]

इस प्रकार स्पष्ट है कि पांच शताब्दियों से दीवान के पद की स्थिति अक्षुण चली आ रही है। आज भी दीवान के प्रति अपार श्रद्धा है। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में मारवाड़ से व्यापारी वर्ग दक्षिण भारत के विभिन्न हिस्सों में प्रवसन कर गये। उन मारवाड़ी व्यापारियों के सीरवी लोग नौकरी करने लगे थे। वे ही लोग अपने परिश्रम, लगन, साहस एवं ईमानदारी के कारण स्वयं सेठ बनकर स्वतंत्र रूप से अपना व्यवसाय चला रहे हैं।

सन्दर्भ

1. *जी.एन. शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, आगरा, 1968, पृ. 98*
2. *जहूरखां मेहर, लिखित भूमिका, रिपोर्ट मरदुमशुमारी राज मारवाड़, 1891 ई., जोधपुर, 1997*
3. *कर्नल टॉड, एनाल्स एण्ड एंटिक्विटीज ऑफ राजस्थान(एम.ए. रोरिंग, ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ऑफ राजस्थान (1881 ई.); सी.टी. मैटकॉफ, दी राजपूत ट्राइब्स, 1882 ई.; डब्ल्यू. क्रुक्स, दी ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ऑफ नार्थ-वेस्टर्न इंडिया, 1886 ई., बॉम्बे रेजीडेन्सी सर्वे, 1924 ई.*
4. *रिपोर्ट मरदुमशुमारी राजमारवाड़, 1891 ई.*
5. *बडेर, बिलाड़ा में उपलब्ध राजस्थानी ग्रंथ 'अणद विलास' एवं भाटों की वंशावलियां आख्यान*
6. *रतनलाल सीरवी, सीरवी समाज का उद्भव एवं विकास, जोधपुर, 2007, पृ. 44-45*

7. *रतनलाल सीरवी, पूर्वोक्त, पृ. 39-40*
8. *रिपोर्ट मरदुमशुमारी राजमारवाड़, 1891 ई., पृ. 102*
9. *रतनलाल सीरवी, पूर्वोक्त, पृ. 61-62*
10. *वही, पृ. 45-46*
11. *वही, पृ. 56-59*
12. *रिपोर्ट मरदुमशुमारी राजमारवाड़, 1891 ई., पृ. 106*
13. *खाता बही, बडेर बिलाड़ा*
14. *महाराणा जगतसिंह का दीवान पदम सिंह का पत्र जेठ बदी 7, वि.सं. 1821, बडेर, बिलाड़ा*
15. *पोमाराम परिहार, गेनाराम सोलंकी, श्री आईजी दर्शन, फालना (पाली), 2005*
16. *रिपोर्ट मरदुमशुमारी राजमारवाड़, 1891 ई., पृ. 104-106*
17. *वही, पृ. 102*
18. *मेवाड़ के महाराणा अमरसिंह का दीवान को पत्र, वि.सं. 1762, बडेर, बिलाड़ा*
19. *अणद विलास, सोरठा 577, बडेर बिलाड़ा*

जोधपुर राज्य के खानसामें व उनके कार्यों का अध्ययन

डॉ. सुशीला शक्तावत

जोधपुर राज्य की स्थापना के साथ यहां के प्रतापी शासक राव जोधा ने अपनी आवश्यकतानुसार अलग-अलग कारखाने/महकमें स्थापित किये थे जिनमें सबसे महत्वपूर्ण भोजनशाला अथवा रसोवड़े का निर्माण भी प्रमुख रूप से रहा था, जहां से उनको खान-पान की आवश्यकता की पूर्ति हो सके। ख्यातों से यह भी प्रकट होता है कि भोजनशाला रसोवड़े के नाम से सम्बोधित की जाती थी। संभवत: महाराजा विजयसिंह जी के समय यह भोजनशाला के रूप में जानी गई।

ओहदाबही में अंकित शीर्षक 'अन्न रे कोठार रो खानसामा' से स्पष्ट है कि इसका सम्बन्ध खाने की वस्तुओं अर्थात् खाद्य सामग्री से रहा है। वह खाद्य सामग्री की खरीद और आवश्यकतानुसार इसकी पूर्ति करता था। फसल की पैदावार के समय किफायत से अन्न खरीदना, साफ कर उसके रखने की व्यवस्था करना, तेल, घृत, मिर्च-मसाले आदि प्राय: सभी प्रकार की खाद्य सामग्री का प्रबन्ध उसकी देखरेख में होता था।[1] राजघराने के घरेलु अवसरों पर खाद्य सामग्री की पूर्ति अन्न के कोठार से की जाती थी। आवश्यकता पड़ने पर बड़े सैनिक अभियान में खाद्य सामग्री की व्यवस्था हेतु खानसामा को साथ में लिया जाता था। महाराजा जसवंत सिंह के समय धरमत के युद्ध में खानसामा धांधल सारंग (नेवरिया गांव पट्टे रेख 500 रु.) को कोठार का कार्य सौंपा गया था, वह लड़ाई में काम आया।[2]

यदा-कदा उसे दूसरे विभाग का भी कार्य सौंप दिया जाता था। यह सब उसकी योग्यता, कुशलता और कार्य के प्रति निष्ठा पर निर्भर करता था। महाराजा जसवंतसिंह (प्रथम) के समय बिहारीदास का पुत्र रघुनाथ खानसामा था। उक्त महाराजा की मृत्यु (1678 ई.) होने के बाद सेना आदि लश्कर ने पेशावर से दिल्ली के लिए प्रस्थान किया उसकी सूची में पंचोली रघुनाथ का नाम अंकित है।[3] बादशाह के निर्देशानुसार महाराजा की सम्पत्ति, कपड़ा, जवाहरात, हाथी, घोड़ा, ऊंट, तोपें आदि जब बादशाह की कचेड़ी में सुपुर्द की उस समय खानसमा रघुनाथ भी था। यद्यपि पंचोली जगन्नाथ ने काजी से सम्पर्क कर मारवाड़ के समस्त परगने और 26 लाख रुपये पेशकशी के देने के बदले जोधपुर को नवजात शिशु महाराजा अजीतसिंह के नाम करने की मंत्रणा की परन्तु खानसमा रघुनाथ ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया।[4]

वि.सं. 1764 में औरंगजेब की मृत्यु होने पर महाराजा अजीतसिंह को जोधपुर राज्य हस्तगत करने का सुअवसर मिला। उस समय खानसामा पद पर प्रोहित रिणछोड़दास की नियुक्ति की गई। उल्लेखनीय है कि रिणछोड़दास के पिता जयदेव ने अजीतसिंह की बाल्यावस्था के समय उसका पालन-पोषण किया था।[5] इस प्रोहित परिवार पर महाराजा का पूरा विश्वास और भरोसा था। अपने भाइयों और कुंवरों की भांति उसे कुरब दिया।[6] वि.स. 1765 में महाराजा अजीत सिंह ने जयपुर के सवाई राजा जयसिंह के साथ मिलकर सांभर पर अधिकार किया। उस समय प्रमुख उमरावों और ओहदेदारों को पुरस्कार दिया। प्रोहित रिणछोड़दास को 50 रु. प्रदान किये।[7] महाराजा अभयसिंह शासक बना उस समय खानसामा रणछोड़दास ही रहा। वि.सं. 1787 में महाराजा ने अहमदाबाद के सरबुलन्द खां पर आक्रमण किया उसमें रणछोड़दास ने सेना के लिए खाद्य सामग्री का प्रबन्ध किया और लड़ाई होने पर वह लड़ता हुआ मारा गया। अनन्तर उसके पुत्र जीवणदास को खानसामा नियुक्त किया गया। जीवनणदास की मृत्यु होने पर उसके बेटे जग्गू को यह पद मिला।[8] महाराजा रामसिंह ने प्रोहित जगन्नाथ के पुत्र शिवकिशन को खानसामा नियुक्त कर सिरोपाव, पालकी और बैठने का कुरब प्रदान किया।[9]

वि.सं. 1808 में बख्तसिंह अपने भतीजे रामसिंह से राज्य हस्तगत कर जोधपुर का शासक बना। उसने प्रोहित रिणछोड़दास के वंशजों का पुश्तैनी पद (खानसामा) पर अधिकार समाप्त कर दिया और भंडारी महेशदास की नियुक्ति इस पद पर की।[10] तत्पश्चात् वि.सं. 1838 और 1839 में ओझा रामदत्त को नियुक्त किया।

वि.सं. 1849 में महाराजा विजयसिंह मारवाड़ के ठिकानेदारों को समझाने के लिए डिगाड़ी गांव गया। उस समय रामदत्त साथ में रहा। पीछे भीमसिंह ने गढ़ पर अधिकार कर लिया। कतिपय ठिकानेदार भीमसिंह से मिलने के लिए जोधपुर जाने लगे तब महाराजा ने धायभाई सिंभूदान और ओझा रामदत्त को जोधपुर भेजा। उन्होंने ठिकानेदारों को समझाने का प्रयास किया। वि.सं. 1850 (1793 ई.) में महाराजा विजय सिंह की जब मृत्यु हुई उस समय किले में किलेदार खीची सूरता, ओझा रामदत्त, दीवान भंडारी भानीदास और बख्शी सिंघवी अखेराज प्रमुख ओहदेदार थे। सभी ने जोधपुर गढ़ की सुरक्षा का प्रबन्ध अच्छी प्रकार से किया।[11]

वि.सं. 1847 में चोकेलाव के निकट की पोल के पास बुर्ज का निर्माण ओझा रामदत्त की देखरेख में हुआ। उसके अलावा मीया के बाग की दो छतरियाँ उसने बनवाई।[12] महाराजा भीमसिंह के समय सिंघवी सवाईराम (वि.सं. 1853) और मुहणोत रूघनाथ (वि.सं. 1856) खानसामा रहे। महाराजा मानसिंह ने भंडारी भवानीराम (दीपा का पुत्र) को खानसामा नियुक्त किया।[13] वि.सं. 1864 में जोधपुर गढ़ का घेराव हुआ उस समय भवानी राम बाहर था जो अपने परिवार सहित गढ़ में आकर रहा।[14] वि.सं. 1865

में सिंघवी बख्तावरमल को नियुक्त किया गया। वि.सं. 1867 में व्यास विजेकिशन को खानसामा नियुक्त किया। वि.सं. 1875 में सिंघवी बख्तावरमल की पुन: नियुक्ति की गई। वह करीब 10 वर्ष इस पद पर रहा।[15] वि.सं. 1881 में स्वरूप कंवर का विवाह हुआ। उस समय 'बंदोला' की रस्म में सिंघवी बख्तावरमल और सिंघवी इन्द्रमल ने मेवा-मिष्ठान आदि के 41 थाल भेजे।[16]

महाराजा मानसिंह के काल (वि.सं. 1860-1900) में 19 खानसामा बदले गये और एक बार वि.सं. 1899 पोष सुदि 6 से वि.सं. 1899 (चैत्रादि संवत 1900) चैत्र वदि 5 तक यह पद रिक्त रहा।

महाराजा तखतसिंह ने वि.सं. 1900 को नरूका मूला को खानसामा नियुक्त किया। वह अहमदनगर का था और आगे चलकर उसे सिवाणा गढ़ का किलेदार बनने का अवसर मिला।[17] अनन्तर उदावत उदयसिंह और दक्षिण के ब्राह्मण आनंदराव को खानसामा का कार्यभार सौंपा गया। बाद में राव बाघसिंह (चारण) और मेहता नाथूराम को सम्मिलित रूप से खानसामा का दायित्व सौंपा गया। वि.सं. 1906 को स्वतंत्र रूप से नाथूराम को कार्यभार सौंपा गया।[18] अन्न के कोठार मुसरफ का कार्य खाद्य सामग्री भंडार का लेखा-जोखा रखने का था। वि.सं. 1849 में व्यास शिवलाल की नियुक्ति के बाद वि.सं. 1892 में मोहणोत हजारीमल को नियुक्त करने का उल्लेख है।[19]

अन्न के कोठार पोतदार-सूची (वि.सं. 1838-1902) में 17 नाम अंकित है। व्यास नथू की दो बार (वि.सं. 1855 और 1860) नियुक्ति होने से यह भी कहा जा सकता है कि उल्लखित काल खण्ड मे कुल 18 बार नियुक्तियाँ की गई इस पद पर मुख्यत: ब्राह्मण ही रहे। मुसरफ जहां खानसामा का सहायक होता और आय-व्यय का पूरा हिसाब रखने का दायित्व निभाता वहीं पोतदार हिसाब रोजाना बही में अंकित करता था।[20] महाराजा मानसिंह के समय (वि.सं. 1864) जब गढ़ का घेराव किया उस समय प्याद बख्शी व्यास सरूपराम अपने कबीले सहित गढ़ में था। उसने विकट स्थिति को देखते हुए अन्न के कोठार से राशन नहीं लिया।[21] चौकीनवेस कार्यालय में जहाँ पूरा हिसाब रखा जाता था, वहीं गढ़ में लाने-ले जाने की वस्तुओं का ब्यौरा लिखा जाता था। चौकीनवेस एक प्रकार से चौकसी के कार्य का निर्वाह करता था।

महाराजा मानसिंह के समय चौकीनवेस पद पर अनेक व्यक्तियों की नियुक्तियाँ की गई अन्न के कोठार आदि का हिसाब चौकीनवेस कार्यालय में भी रहता था। भाद्राजून जैसे विशिष्ट ठिकानेदार राज्य कार्य के लिए जोधपुर में रूकते तब उन्हें अन्न के कोठार से रोजाना खाद्य सामग्री उपलब्ध कराई जाती थी। भाद्राजून के ठाकुर बख्तावरसिंह जोधा को वि.सं. 1873 में 2 माह 9 दिन में कुल 26 रु. 12 आने 2 पैसे की सामग्री उपलब्ध कराई गई। इसका हिसाब चौकीनवेस कार्यालय में रखा गया।[22]

अंबार के कोठार में विभिन्न प्रकार की सामग्री का संग्रह बड़ी मात्रा में किया जाता था। सूची (वि.सं. 1843–1864) में 7 नाम अंकित है, जिसमें सिंघवी सवाईराम को दो बार (वि.सं. 1843, 1849) नियुक्त करने का उल्लेख हुआ है। सामग्री के रखरखाव के साथ ही उचित मूल्यों में सामग्री की खरीद करना, मांग के अनुसार उपलब्ध कराने आदि कार्य दरोगा की देखरेख में होता था।[23]

खासे-रसोड़े-दरोगा- महाराजा की पाकशाला को खासा रसोड़ा का नाम दिया गया। जहां राजपरिवार के भोजन बनाने की व्यवस्था होती थी। मुख्यत: महाराजा के भोजन का विशेष ध्यान रखा जाता था क्योंकि भोजन में विष मिलाने आदि घृणित कार्य किये जाने का भय सदा बना रहता था। इसलिए अत्यन्त स्वामीभक्त और इमानदार व्यक्ति को दरोगा के पद पर नियुक्त किया जाता था। सैनिक अभियानों में भोजन की व्यवस्था हेतु दारोगा महाराजा के साथ रहता था।

खासे रसोड़ा-दारोगा के पद पर प्राय: धांधल राठौड़ों को नियुक्त किया जाता था। महाराजा गजसिंह जी के समय रसोड़े का दरोगा धांधल पंचाइण था, वह महाराजा का स्वामीभक्त सेवक था। कुं. अमरसिंह राठौड ने अपने पिता महाराजा गजसिंह को जहर देकर मारने की योजना बनाई और यह कार्य पंचाइण धांधल को सौंपा था। कुंवर अमरसिंह राठौड़ के उग्र स्वभाव के कारण पंचाइण ने स्वयं विषपान कर लिया और रात्रि के समय रसोड़े में जाकर सो गये। प्रात:काल जब महाराजा गजसिंहजी को यह बात पता चली तो राजकीय सम्मान के साथ मण्डोर में पंचाईणजी का अंतिम संस्कार किया गया। महाराजा ने पंचाईणजी की मृत्यु पर बेहद अफसोस जाहिर किया। अनन्तर महाराजा ने पंचाइण के पुत्र ईश्वरदास को लाने का आदेश फरमाया और कहा कि जब तक वह नहीं आता मैं भोजन नहीं करूंगा। उन्हें काफी खोज करने के तीन दिन बाद जोधपुर लाया गया और उसे रसोड़े की दरोगाई दी गई। महाराजा ने तीन दिन पश्चात् भोजन किया। इस सम्बन्ध में एक दोहा काफी प्रसिद्ध रहा है[24]–

प्रथम भई प्रथमाद में जहर तणी जो वात।
तीन दिनां नहि जीमियो जोधाणे रो नाथ।।

ठिकाणा पाल की ख्यात से ज्ञात होता है कि महाराजा जसवन्तसिंह प्रथम के समय रसोड़े की दरोगाई का कार्य शोभावत रामदास के हस्ते था। वही मुंदियाड़ की ख्यात से चता चलता है कि पडिहार सदा रसोड़े चाकर था जबकि ब्राह्मण हरी पाठक, इंदा मनोहर, व्यास देईदान जल इत्यादि पिलाने का कार्य किया करते थे। महाराजा जसवन्त सिंह के समय ही रसोवडे मुसरफ पर जोसी नारायण था।[25]

राठौड़ों की ख्यात से पता चलता है कि महाराजा अजीतसिंह के समय खास पासवान धांधल जगन्नाथ और सोभावत दयालदास रसोड़े पर नियुक्त थे।[26] सिरोही के

मोदी राजसी को रसोड़े के मोदीखाने का कार्य सौंपा गया और उसे स्थायी किया गया। महाराजा अभयसिंह के समय रसोवडे का मुसरफ जोसी देवदत्त था।[27] यह कवलापत का भाणेज था। उल्लेखनीय है कि कवलापतों का कार्य शासक के भोजन की जांच पड़ताल करने से था। महाराजा अभयसिंह के समय कवलापत रसोड़े के मुसरफ पद पर थे। एक समय जब महाराजा को भोजन में विष मिलाकर दिया गया तब कवलापत रामदेव ने वह भोजन संदेह की स्थिति में स्वयं द्वारा ग्रहण कर दिया, तब वे मण्डोर में थे उसकी गम्भीर हालत होने पर उसे दुर्ग ले जाया गया। वहां उन्होंने अन्तिम श्वास ली।[28] इस प्रकार इनकी स्वामी भक्ति व पद के प्रति निष्ठा उजागर होती है। अनन्तर मुसरफी का कार्य जोसी देवदत्त को प्रदान किया गया।

महाराजा मानसिंह के समय धांधल जीवराज, दाना और मूला जालोर थे उस समय वे उनके स्वामीभक्त सेवक थे। अत: तीनों को मांगलिया राजपूतों से रसोवडे का कार्य छुड़वाकर इन्हें दिया गया था। वि.सं. 1874 में महाराज कंवर छत्रसिंह के यहां रहे तब इन्हें वि.सं. 1876 में सजा देकर मरवा दिया गया। उक्त महाराजा के समय रसोड़े की मुसरफी का कार्य छंगाणी कचरदास और रसोड़े की दरोगाई धांधल मुलजीदान के हस्ते थी लेकिन महाराजा के खान-पान का सारा कार्य छंगाणी कचरदास के हस्ते ही रहा था। वि.सं. 1877 में रसोड़े की दरोगाई का कार्य धांधल गोरधन के हस्ते किया गया।[29] वि. सं. 1910 में खासा रसोड़ा की मुसरफी का कार्य थानवी हरदेव को सौंपा गया।[30]

जोधुपर राजपरिवार के शासक के द्वारा किये जाने वाला भोजन चांदी के बाजोट पर रखकर किया जाता था जिसमें चांदी की थाली और कटोरी इस्तेमाल की जाती थी।[31] सूरज प्रकाश ग्रंथ से ज्ञात होता है कि विशेष अवसरों पर स्वर्ण थालों में भी भोजन किये जाते थे।[32] रसोड़े में काम आने वाली सब्जियां और फल राजकीय बागों से आया करती थी। ओहदा बही में सुरसागर बाग, चोखा बाग, बालसमन्द बाग, मण्डोर बाग, चौकेलाव बाग इत्यादि 11 बागों का हवाला प्रस्तुत किया है। यहां से फल सब्जियां की आपूर्ति होती थी। महाराजा के भोजन का थाल तैयार होने के पश्चात् फतेमहल अथवा दौलतखाना लाया जाता था। वहां पर अधिकांशत: इनका भोजन होता था। धार्मिक उत्सवों और त्योहारो पर मारवाड़ के उमरावों, सरदारों के साथ भोजनशाला में भी भोजन करने के उदाहरण ख्यात-ग्रंथों में एवं जोधपुर की हकीकत बहियों में मिलते हैं।

महाराजा तख्तसिंह की ख्यात में इस संदर्भ में लिखा मिलता है कि वि.सं. 1902 को जब दसरावा का दरबार दौलतखाना के चौक में हुआ तब वह अपने सोने के सिंहासन पर बैठे जहां नजर नछरावल होने के बाद दरबार समाप्त हुआ और वे फतेमहल पधारे जहां से फिर भोजनशाला आकर अपने विशिष्ट दर्जे के उमरावों के साथ भोजन किया।[33] बाहर से अंग्रेज अधिकारी मालकम आया तब (वि.सं. 1904) महाराजा ने उसकी मेहमान

नवाजी दुर्ग पर ही की थी उस समय भोजनशाला से थाल आया जो फतेमहल में बैठकर खाना खाया। ख्यात में यह भी लिखा मिलता है कि भोजनशाला में शराब की बोतलें भी रखी जाती थी उस समय आशा नामक शराब की बोतल का उल्लेख ख्यात में आया है।[34]

ख्यात से यह भी ज्ञात होता है कि दुर्ग में जब किसी महकमे के दरोगे आदि द्वारा गोठ का आयोजन किया जाता था तो भोजनशाला में रसद सामग्री जमा करवाने के पश्चात् गोठ की जा सकती थी, दतर के दरोगे वादरमल ने जब गोठ का आयोजन रखा तो उसकी ओर से खाद्यसामग्री की पूर्ति भोजनशाल में कराने पर रसोड़े की ओर से भोजन तैयार किया गया था।[35] जब जयपुर शासक जगतसिंह एवं बीकानेर शासक सूरतसिंह ने मारवाड़ पर चढाई की थी उस समय मारवाड़ के ठिकानों के ठाकुरों एवं सरदारो के अतिरिक्त महाराजा के सेवकों ने गढ़ में रहकर अपनी सेवाएं अर्पित की थी उन व्यक्तियों की सूची बही में दी गई है। इस बही में वि.सं. 1863 ज्येष्ठ सुदी 13 से लगाकर भाद्रपद की सुदी 14 तक की उपस्थिति का हवाला दिया गया है।

दुर्ग में स्थित हाउस होल्ड डिपार्टमेन्ट की फाइलों में भी 1920 ई. के पश्चात् भोजनशाल का उल्लेख देशी रसोड़ा, खास रसोड़ा, अंग्रेजी रसोड़ा के रूप में मिलता है। यहां स्थित फाइलों से यह भी ज्ञात होता है कि राईकाबाग में भी अंग्रेजी बबरचीखाना था जिस पर दरोगा बबरची खाना नियुक्त था। जिसकी सूचना पत्र दिनांक 25.05.29 से ज्ञात होती है। खासा रसोड़ा के संदर्भ में इस डिपार्टमेन्ट के पत्रों से बर्तनों की कली करने से सम्बन्धित जानकारी भी मिलती है।[36]

देशी रसोड़ा के संदर्भ में दरोगा देशी रसोड़ा की ओर से लिखे गये पत्र का हवाला यहां देना समाचीन होगा जिसमें इस रसोड़े में बनने वाले व्यंजन और उसकी स्वीकृति हेतु किसी प्रकार के पत्र भी हाउस होल्ड कन्ट्रोलर को लिखे जाते थे। उसका संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है। दरोगा देसी रसोड़ा की ओर से श्री हाउस होल्ड कन्ट्रोलर को लिखे पत्र से व्यक्त होता है कि दिनांक 19.9.43 को माजी साहिबा श्री चवाणजी सा की सवारी किले से पधारी तब उनके साथ 3 ब्राह्मणियों और 2 आदमी भी सेवार्थ साथ में थे। उनके भोजन की मंजूरी बाबत् पत्र दरोगा की ओर से हाउस होल्ड कन्ट्रोलर में लिखा गया कि 5 दिन के भोजन की स्वीकृति प्रदान करावें जिससे रामचन्द्र की माता के अव्वल थाल, ब्राह्मणियों के दोयम थाल, वह आदमियों के साधारण खाना की मांग की गई थी जिसे स्वीकार किया गया।[37]

देशी रसोड़ा दरोगा नाथूसिंह के पत्र दिनांक 22.9.43 से ज्ञात होता है कि नाजर वचनाराम का आदेश आया कि महाराजकुमार सायबा के लिये लड्डू, जलेबी, सेवां, दाल, मोगर इत्यादि अजमेर भेजे जाने है जिसके तहत कंदोई सुवालाल से उपर्युक्त लिखी सामग्री मंगवा ली गई है। अत: इनकी मंजूरी हेतु आदेश दिलावें।[38]

ज्ञातव्य है कि दरोगा की ओर से जिस सामग्री की मंजूरी हाउस होल्ड कंट्रोलर से की जाती थी उसमें सामग्री की मंजूरी के साथ खासी तासली तालके शब्द का भी इस्तेमाल किया जाता था जैसे कि 'सो इण री मंजूरी खासी तासली तालके फरमावे।'

देसी रसोड़ा तालके दरोगा के पत्र दिनांक 9.10.43 से ज्ञात होता है कि बाईजीलाल साहिबा के लिये जनानी ड्योढी तालके के मोदी फौजराज, रामदयाल से अलग-अलग दिनांक में समान भेजा गया जिसमें

दिनांक 4.9.43 को मुंगफली

दिनांक 8.9.43 पिसता, दाख, चणे छिले हुए

दिनांक 11.9.43 को चणे छिले हुए

दिनांक 18.9.43 को चणे छिले हुए

दिनांक 27.9.43 को चणे छिले हुए

दिनांक 29.9.43 को चणे छिले हुए और बाजरी

उपर्युक्त सामग्री की मंजूरी हेतु श्री हाउस होल्ड कन्ट्रोलर में दरोगा की ओर से निवेदन किया गया था।[39]

दरोगा देसी रसोड़ा नाथूसिंह के पत्र दिनांक 8.11.43 से ज्ञात होता है कि जब श्री हजूर की असवारी शिकार के लिये लोरड़ी गावं में 10 सिरदारों, अन्य आदमियों, डावड़ियो और ड्राईवर सहित 50 के भोजन की व्यवस्था बाबत् शैतान सिंह का आदेश (30.10.43) आया था तब उसके मुताबिक व्यापारियों से सामग्री यह व्यवस्था पूरी की गई अत: इसकी मंजूरी शिकार तालके करवा कर आदेश करवाया गया था।[40]

अत: आगे चलकर इस प्रकार की व्यवस्थाएं रसोडों में कायम होने लगी थी। आवश्यकतानुसार सभी रसद सामग्री के अलावा मिष्ठान, शराब की बोतलों इत्यादि का ब्यौरा बही में दर्ज किया गया था। समय-समय पर ही दरोगा के मार्फत हाउस होल्ड डिपार्टमेन्ट की स्वीकृति लेना भी आवश्यक था जिसमें शहर के व्यापारियों को सामग्री का भुगतान किया जा सके। इस प्रकार अन्न के कोठार व रसोड़ा व्यवस्था अति महत्वपूर्ण थी। खाद्य सामग्री के पूर्ति के दायित्व का निर्वहन खानसामा करता था। सभी प्रकार के खाद्य का संग्रह कर आवश्यकतानुसार पूर्ति करना कम महत्वपूर्ण नहीं था। क्योंकि इसके लिए भी अनेक साधन जुटाने पड़ते थे। इसके लिए सार्थक प्रयास किये जाने की आवश्यकता थी। युद्ध और अकाल जैसी परिस्थितियों में इसका संकट भी बढ़ जाता था। विकट स्थिति में खाद्य सामग्री की पूर्ति करना खानसामा की योग्यता का मापदण्ड माना जाता था। इस प्रकार ओहदाबही और ख्यात ग्रंथों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि खानसामे को अपने समस्त कार्यो को तत्परता एवं निष्ठा के साथ दायित्व का

निर्वाह करना आवश्यक था। ऐसा प्रतीत होता है कि खानसामों का कार्य सुचारू रूप से संचालित हो इस दृष्टि से पद सृजित कर योग्य व्यक्तियों को नियुक्त करने का प्रयास किया जाता था।

संदर्भ

1. *ओदायता री बही, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, जोधपुर, क्रमांक 61, वि.सं. 1860–1905*
2. *राठौड़ां री ख्यात, सम्पादक डॉ. हुकम सिंह भाटी, शोध संस्थान चौपासनी 2007 भाग 1, पृ. 221*
3. *'पंचोली रघुनाथ बिहारीदासोत खानसामा कांम उपर थो'–राठौड़ा री ख्यात, सम्पादक डॉ. हुकम सिंह भाटी, शोध संस्थान चौपासनी 2007 भाग 2, पृ. 289*
4. *'' ..... सो काजी नूं कह आयो मैं (रघुनाथ) इण बात में न छां, जगनाथ रो कह्यो मत मांनजो'– राठौड़ा री ख्यात, सम्पादक डॉ. हुकम सिंह भाटी, शोध संस्थान चौपासनी 2007 भाग 2, पृ. 298*
5. *राठौड़ां री ख्यात, सम्पादक डॉ. हुकम सिंह भाटी, शोध संस्थान चौपासनी 2007 भाग 2, पृ. 313, 397*
6. *मूंदियाड़ री ख्यात, सम्पादक डॉ. विक्रम सिंह भाटी शोध संस्थान चोपासनी 2005 पृ. 167*
7. *राठौड़ा री ख्यात, सम्पादक डॉ. हुकम सिंह भाटी, शोध संस्थान चौपासनी 2007 भाग 2, पृ. 391*
8. *ओदायता री बही, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, जोधपुर, क्रमांक 61, वि.सं. 1860–1905*
9. *ओदा खीजमता री बही, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, जोधपुर, क्रमांक 223, वि.सं. 1824*
10. *ओदायता री बही, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, जोधपुर, क्रमांक 61, वि.सं. 1860–1905*
11. *राठौड़ा री ख्यात, सम्पादक डॉ. हुकम सिंह भाटी, शोध संस्थान चौपासनी 2007 भाग 2, पृ. 515*
12. *राठौड़ा री ख्यात, सम्पादक डॉ. हुकम सिंह भाटी, शोध संस्थान चौपासनी 2007 भाग 3, पृ. 656, 662*
13. *ओदायता री बही, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, जोधपुर, क्रमांक 61, वि.सं. 1860–1905*
14. *महाराजा मानसिंह री ख्यात, सम्पादक डॉ. नारायण सिंह भाटी, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर 1979 पृ. 10*
15. *वही, सम्पादक डॉ. नारायण सिंह भाटी, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर 1979 पृ. 60*
16. *महाराजा मानसिंह री ख्यात, सम्पादक डॉ. नारायण सिंह भाटी, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर 1979 पृ. 110*
17. *ओदायता री बही, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, जोधपुर, क्रमांक 61, वि.सं. 1860–1905*
18. *ओदायता री बही, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, जोधपुर, क्रमांक 61, वि.सं. 1860–1905*
19. *समत् 1906 सांवण वद 6 ने सेठ नाथुराम ने अन रा कोठार री खांनसामा रे कांम री भोलावण हुई। वही, ख्यात, पृ. 105*
20. *सनद परवाना बही विक्रम सम्वत् 1822 राजस्थान राज्य अभिलेखागार जोधपुर क्रमांक 285*
21. *मारवाड़ री ख्यात, सम्पादक डॉ. हुकम सिंह भाटी, शोध संस्थान चौपासनी 2000 पृ. 68*
22. *मारवाड़ री ख्यात, सम्पादक डॉ. हुकम सिंह भाटी, शोध संस्थान चौपासनी 2000 पृ. 59*
23. *भादराजून री तवारीख, पृ. 150, 152, सम्पादक डॉ. हुकम सिंह भाटी, शोध संस्थान चौपासनी 2000*
24. *गढ़ जोधपुर घेरे री बही, सम्पादक डॉ. हुकम सिंह भाटी, शोध संस्थान चौपासनी पृ. 33*
25. *राठौड़ा री ख्यात, सम्पादक डॉ. हुकम सिंह भाटी, शोध संस्थान चौपासनी 2007 भाग 2, पृ. 290, 307, 308*
26. *राठौड़ा री ख्यात, सम्पादक डॉ. हुकम सिंह भाटी, शोध संस्थान चौपासनी 2007 भाग–3, पृ. 788, महाराजा मानसिंह री ख्यात, पृ. 112*
    बाईजी सायब री विवाह री बही, वि.सं. 1918–20, संख्या 836, पृ. 7, पुस्तक प्रकाश जोधपुर
27. *मूंदियाड़ ख्यात, सम्पादक डॉ. विक्रम सिंह भाटी, शोध संस्थान, चौपासनी 2005, पृ. 106*
28. *धांधल ख्यात, सम्पादक डॉ. हुकम सिंह भाटी, शोध संस्थान चौपासनी 2001, पृ. 18*
29. *मूंदियाड़ री ख्यात, सम्पादक डॉ. विक्रम सिंह भाटी, शोध संस्थान चौपासनी 2005 पृ. 106*
30. *राठौड़ों री ख्यात, सम्पादक डॉ. हुकम सिंह भाटी, शोध संस्थान चौपासनी 2007, भाग–1, पृ. 291*
31. *मूंदियाड़ री ख्यात, सम्पादक डॉ. विक्रम सिंह भाटी, शोध संस्थान चौपासनी 2005 पृ. 168, 200*
32. *सूरज प्रकाश भाग 2, पृ. 253*
33. *महाराजा तख्तसिंह री ख्यात, सम्पादक डॉ. नारायण सिंह भाटी, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर 1979 पृ. 46*
34. *महाराजा तख्तसिंह री ख्यात, सम्पादक डॉ. नारायण सिंह भाटी, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर 1979 पृ. 82, 89*
35. *महाराजा तख्तसिंह री ख्यात, सम्पादक डॉ. नारायण सिंह भाटी, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर 1979 पृ. 352*
36. *गढ जोधपुर घेरे री बही, सम्पादक प्रो. सतीश चन्द्र, रघुवीर सिंह और घनश्याम दत्त शर्मा, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1976 राजस्थानी शोध संस्थान, चौपासरी, पृ. 52*
37. *रिकार्ड रूम, हाउस होल्ड से सम्बन्धित फाईले, देशी रसोड़ा 19.9.43, 6701/218*
38. *रिकार्ड रूम, हाउस होल्ड से सम्बन्धित फाईले, देशी रसोड़ा 22.9.43, 6701/218*
39. *रिकार्ड रूम, हाउस होल्ड से सम्बन्धित फाईले, देशी रसोड़ा 9.10.43, 6701/218*
40. *रिकार्ड रूम, हाउस होल्ड से सम्बन्धित फाईले, देशी रसोड़ा 8.11.43, 6701/218*

मरुक्षेत्र की ओरण संस्कृति एवं उसका महत्व : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

डॉ. सुरेश कुमार

मरुक्षेत्र एक शुष्क एवं अर्द्धशुष्क मरुस्थलीय देश है। यह राजस्थान की अरावली पर्वत श्रृखंला के पश्चिम में स्थित है। इसका अधिकांश भाग बालू के स्तूपों से ढका हुआ है। जिन्हें स्थानीय भाषा में 'धोरों' से सम्बोधित किया जाता है। पश्चिमी राजस्थान का यह क्षेत्र भारत के विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्रों में सम्मिलित है। पारिस्थितिकी की दृष्टि से इसकी जलवायु मरुप्रदेशीय है। इस मरुक्षेत्र के अन्तर्गत बाड़मेर, जैसलमेर, बीकानेर के सम्पूर्ण जिले तथा जोधपुर व चुरू जिले का उत्तरी भाग आता है। जिसे थार मरुस्थल के नाम से भी जाना जाता है।

प्रत्येक क्षेत्र की संस्कृति, उस प्रदेश की विशिष्ट पहचान होती है। इस संस्कृति में उस प्रदेश की विविध संस्कृतियों, प्राचीन परम्पराओं एवं अनेकों सृजनात्मक कार्यों का समावेश होता है। मरुक्षेत्र की संस्कृति में प्राचीन परम्पराओं एवं सृजनात्मक कार्यों का विशिष्ट स्थान है। यह क्षेत्र शुष्क जलवायु वाला प्रदेश होने के कारण यहाँ पर हरियाली स्वप्न के समान है। इसी स्वप्न को मूर्त रूप देने के लिए यहाँ के निवासियों ने अपने श्रम एवं संकल्प से ओरण संस्कृति को विकसित किया।

वर्तमान भौतिकवादिता, बढ़ती जनसंख्या एवं आधुनिकता की प्रतिस्पर्धा में हमारी ज्वलंत समस्या है, पर्यावरण सरंक्षण। यदि हम मरु क्षेत्र के गांवों की ओर दृष्टिपात करें तो इस समस्या का समाधान हमें ओरण संस्कृति के रूप में दिखाई देता है, जो हमे हमारे पूर्वजों से विरासत के रूप में प्राप्त हुआ है।[2]

हमारी सभ्यता एवं संस्कृति ने हमें कई ऐसे बेजोड़ संस्कार एवं तत्व दिये हैं जो हमारे वर्तमान एवं भविष्य के लिए उपयोगी होने के साथ-साथ अमूल्य निधियाँ भी है। ओरण क्षेत्रों का प्रचलन सर्वप्रथम कब व कहां हुआ? यह तथ्यात्मक रूप से बता पाना अत्यन्त कठिन है। ओरण के सम्बन्ध में लिखित दस्तावेजों की अनुपलब्धता ने इसकी प्राचीनता के प्रश्न को ओर भी अधिक जटिल बना दिया है। लेकिन यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मनुष्य ने जब कृषि एवं पशुपालन का कार्य करना आरम्भ किया, तभी से इस क्षेत्र की आवश्यकता महसूस की होगी। और तब मानव समुदाय ने मिलकर

 ISSN 2321-1288

आपसी समझौतों से ओरण क्षेत्रों का प्रावधान किया होगा।[3]

प्राचीन विश्व की सभ्यताओं की ओर दृष्टि डालें तो हमें ओरण संस्कृति के चिन्ह स्पष्ट दिखाई देते है। मिश्र के पिरामिडों का वन क्षेत्र, बेबीलोनियन, मेसोपोटामिया के धार्मिक स्थलों की आरक्षित भूमि ओरण संस्कृति का प्रारम्भिक स्वरूप माना जा सकता है।[4] प्राचीन भारत में ओरण संस्कृति के तीन स्तम्भ माने गये हैं - राजा, समाज, एवं दानदाता। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में कहा है कि राजा, समाज, एवं दानदाता मिलकर कार्य करें तो अरण्य संरक्षण (ओरण संरक्षण) निश्चित रूप से सफल होगे।[5]

राजस्थान राज्य के बाड़मेर जिले की चौहटन तहसील में ढोक वांकल माता (विरातरा माता) की ओरण के विषय में प्रचलित कथा के अनुसार इसकी प्राचीनता के प्रमाण प्राप्त होते हैं। स्थानीय किंवदंतियों एवं मौखिक वार्ता (प्रचलित कथा के अनुसार) यह कहा जा सकता है। कि ढोक वांकल माता (विरात्ररा माता) का ओरण 56 ई.पू से वि.स. 1460 के बीच में स्थापित हुई।[6] ओरण एक लैटिन शब्द है जिसका शाब्दिक अर्थ- सूर्य नमस्कार अर्थात ईश्वर में आस्था से है।[7] कुछ विद्वान अरण्य अर्थात वन शब्द के अपभ्रंश स्वरूप से ओरण शब्द की उत्पत्ति मानते हैं।[8]

ओरण की परम्परा के संबंध में मरु क्षेत्र में यह मान्यता रही है कि गांव की भूमि का एक भूखण्ड (भाग) अपने लोक-देवता के प्रति अपार श्रद्धा के रूप में लोक-कल्याण हेतु छोड़ने से उनके प्रति उऋण प्राप्त हुआ जा सकता है। इसी कारण यह भूखण्ड ओरण कहलाता है। ओरण मरुक्षेत्र की प्राकृतिक, भौगोलिक एवं पर्यावरणीय परिस्थितियों से संबंधित एक ऐसा लघु वन क्षेत्र है, जो मरुस्थलीय क्षेत्र की विकट समस्याओं में भी अपने अनूठे पारिस्थितिकी तंत्र के माध्यम से गाँव वासियों के स्वावलम्बन एवं आत्मनिर्भरता में क्रांतिकारी परिवर्तन का सूत्रपात करता है। इतिहास साक्षी है कि पश्चिमी राजस्थान के विशाल थार मरुस्थलीय क्षेत्र (मरु-भूमि) में शताब्दियों से स्थान-स्थान पर नखलिस्तान रूपी ओरणों से ही पशुपालन व्यवसाय आधारित अर्थव्यवस्था के बल पर ही, यहाँ के स्थानीय निवासी भयंकर अकालों का भी सहजता से मुकाबला करते रहे है।[9]

ओरण का मरुस्थलीय परिस्थितिकी तंत्र में आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आरोग्य एवं पर्यावरणीय दृष्टि से गहरा संबंध रहा है। ग्रामीण मरुस्थलीय समाज की सदियों पुरानी लघु वन आधारित इस अनूठी आत्मनिर्भर परम्परा का जीवंत स्वरूप ओरण संस्कृति में देखा जा सकता है। मरु क्षेत्र में ओरण की परम्परा के संबंध में यह स्पष्ट है कि किसी समुदाय, शासक वर्ग या जाति विशेष के लोगों ने जब भी गांव बसाया, तो ढाँणियां एवं गांव बसने के साथ-साथ ग्रामीण भूमि का एक भाग, स्थानीय ग्रामीणों द्वारा अपने किसी लोक देवी-देवता या पित्तरों के ओल (नाम, संकल्पित) कर छोड़ देने की परम्परा थी।

अपने लोक देवता या पितरों के प्रति अपार श्रद्धास्वरूप लोक-कल्याण में इस भूखण्ड को दान कर, उनके प्रति उऋण होने की परम्परा के कारण ही इसका नाम ओरण पड़ा।[10]

गाँव बसते समय जमीन की जानकारी रखने वाले लोग ओरण की जमीन का चयन करते थे। ओरण भूमि का विशेष ध्यान रखा जाता था। ओरण के लिए विशेषत: निम्न प्रकार की ही भूमि उपयोग में ली जाती थी।

1. बेवड़ भूमि :- रेत के टीलों के बीच की भूमि
2. कुण्डल भूमि :- पहाड़ों के बीच की भूमि
3. तालर भूमि :- वह भूमि जहाँ अधिक समय तक पानी पड़ा रहता था।
4. गाला भूमि :- रेत के टिले से सटी भूमि
5. डेहरी भूमि :- मिट्टी वाली भूमि[11]

ओरण की जमीन के चयन के पश्चात लोक देवी-देवताओं के मंदिर (थान-थापना) बनाये जाते थे। शुभ दिन का चयन कर पूजा और दूध का चढ़ावा करते तथा साथ ही साथ गाँव में बसने वाले लोग सामूहिक रूप से लाह (श्रम) करते थे। ग्रामवासियों द्वारा भणत करते हुए शीघ्र ही ओरण की जमीन पर सैकड़ों मील लम्बा लघु वन-क्षेत्र खड़ा कर देते थे। ओरण तैयार करने से पूर्व गाँव का जागीरदार या अगुवा गाँव के सभी लोगों को औण (सौगन्ध/शपथ) दिलाता था कि वे मिलकर ओरण तैयार करेंगे और उसकी रक्षा भी करेंगे। इस तरह हरी चद्दरे बिछती एवं गाँव बसते थे।[12]

सभी ग्रामवासियों को औण (सौगन्ध/शपथ) दिलाई जाती थी कि वे ओरण-भूमि से हरा पेड़ नही काटेंगे। जिससे कोई भी व्यक्ति हरे पेड़ को नही काटता था। यदि कोई व्यक्ति हरा पेड़ काटने की गलती करता तो समाज एवं ग्राम-पंचायत उसे दण्ड देती थी।[13]

ग्रामवासियों द्वारा इसी ओरण-भूमि में नाडियां (छोटे-तालाब) तैयार की जाती थी। जिससे इसमें सात-आठ माह तक पानी पड़ा रहता था तथा ओरण की जमीन में नमी बनी रहती थी। इसी कारण ओरण की वनस्पति अधिकांश समय तक हरी-भरी रहती थी।[14] इस ओरण भूमि पर स्वत: ही विभिन्न वन सम्पदाएँ पनप जाती थी। कालांतर में इसमें छोटे-छोटे वन जीवों का भी विकास होता रहता था। गाँव के निवासी इस ओरण की वन-सम्पदा एवं वन्य जीवों को नष्ट करने के बजाय इसके प्रति अपार श्रद्धा का भाव रखते थे। गाँववासी इसे और अधिक समृद्ध करने में अपने परिवार एवं गाँव का कल्याण समझते थे। कुछ वर्षों के प्पश्चात यह ओरण गाँव के पशुओं के लिए शानदार चारागाह एवं आश्रय स्थल बन जाता था तथा यह ओरण ग्राम-विकास की एक महत्वपूर्ण

संस्थान के रूप में अपनी भूमिका निभाना आरम्भ कर देता था।[15]

ओरण भूमि में लोक देवी-देवताओं का छोटा सा मंदिर (थान-थापना) की स्थापना करने का कारण ग्रामवासियों का ओरण के प्रति श्रद्धा एवं भय बनाये रखना था। जिससे कोई भी ग्रामवासी ओरण-भूमि से अपने निजी स्वार्थ के लिए हरी वनस्पति, पेड़-पौधे एवं वन्य जीवों को क्षति न पहुँचा सके। ओरण भूमि के लोक देवताओं में भैरूजी, माताजी, बापजी, गोगादेव, ठाकुर जी, भोपाजी, तेजाजी, भौमिया जी, झुंझार जी के थान (मंदिर) प्रमुख थे। इन स्थानों पर विधिवत दर्शन, पूजा एवं मेले तथा उत्सवों का आयोजन निश्चित तिथि पर किया जाता था।[16]

किसी अनिष्ट के भय की कल्पना के कारण ग्रामीण ओरण से वृक्ष, हरी लकड़ी, वनस्पतियों की पत्तिया, फल नहीं तोड़ते थे। मरु क्षेत्र में यदि किसी व्यक्ति ने हरा पेड़ काट लिया तो उसके या उसके धर में अनहोनी घटनाएं घटित होने की मान्यताएं रही है। हरे पेड़ काटने के बाद किसी दुर्घटना के घटित होने पर देवी-देवता का प्रकोप या दण्ड माना जाता रहा है। ताकि कोई दूसरा व्यक्ति भय के कारण ओरण में हरे पेड़ नहीं काटे।

उदाहण- बाड़मेर, जिले के बालेबा गाँव के ओरण में 1972 में भंवर ने हरा पेड़ काटा, पागल हो गया, रेडाणा ओरण से प्रहलाद राम हरे पेड़ काटता था। गाँव के लोगों ने ऐसा करने को मना किया। लेकिन वह नही माना कुछ समय पश्चात उसकी पत्नी की मृत्यु हो गई, थोड़े समय बाद उसका स्वयं का देहांत हो गया। स्थानीय लोगों ने इसे देवी-देवता का प्रकोप या दण्ड माना। इस प्रकार के भय से भी गाँव वासी ओरण को नुकसान नहीं पहुचाते थे।

प्रकृति की धरोहर स्वरूप ओरण वनस्पतियों के साथ, इस प्रकार स्वप्रेरित न छूने की बेजोड़ परम्परा वनस्पतियों को स्वतंत्र रूप से फलने-फूलने का मौका प्रदान करती थी। फल-फूलों से लदी वनस्पतियों का प्राकृतिक सौन्दर्य तथा स्वत: भूमि पर गिरे वनस्पति उत्पाद एवं विचरते पशुओं के गोबर मिश्रित पोषण कणों से युक्त मुलायम अति उर्वरा मिट्टी की खुशबू युक्त ओरण का खुशनुमा माहौल जीव-जन्तुओं को बेहद सुकून देता था। ग्रामीण नियमित रूप से ओरण में आकर, ओरण पर आश्रित वन्य जीवों को दाना-पानी देते थे। जिससे जैव-विविधता का विकास एवं ग्राम स्वालम्बन की बुनियाद को मजबूत करते थे। इन ओरणों में सड़के निर्माण कार्य पूर्ण रूप से वर्जित था। केवल एक या दो पंगड़डियां ही आने-जाने के लिए होती थी।

ओरण भूमि सांस्कृतिक धरोहर के साथ-साथ पशुपालकों एवं पशुओं के जीवन का आधार स्तम्भ थी। गाँव के पशुओं के ठहरने व पशुपालकों के लिए पशुओं को सुरक्षित रखने के लिए ओरण ही एकमात्र स्थान था। पशुपालका वर्ग में रबारी जाति

(देवासी) के लोग अपनी रेवड़ (पशुओं का समूह) को इन ओरणों में ठहराते थे तथा सुरक्षित आश्रय की पूर्ति करते थे।[19]

मरु क्षेत्र में ओरण संस्कृति का विकास मनुष्य की आवश्यकता के अनुसार हुआ। विदित है कि आवश्यकता आविष्कार की जननी है। मरु क्षेत्र की विषम परिस्थितियों से जूझने के लिए अनूठी समझ, क्षेत्रीय पर्यावरण सृजन एवं सुधार के रूप में ओरण संस्कृति विकसित हुई जब इसका प्रत्यक्ष लाभ अन्य गांवों के ग्रामीणों को समझ में आने लगा तो गांव-गांव में ओरणों का विकास होने लगा। अकाल के समय विकसित ओरणों वाले ग्रामीणों पर संकट का न होना एवं ओरण विहिन गांवों में भीषण अकाल से ग्रामीणों के पीड़ित होने के परिणामस्वरूप ग्रामीणों को ओरण की महत्ता समझ में आने लगी। घीरे-धीरे मरुक्षेत्र के सभी गांवों में ओरण परम्परा चल पड़ी शताब्दियों तक मरुक्षेत्र की अर्थव्यवस्था की धुरी रहा गौरवशाली पशुपालन व्यवसाय इन ओरणों की आधारभूमि पर टिका था।[20]

बाड़मेर, जालोर, जैसलमेर, जोधपुर, सिरोही में ओरण संस्कृति एक बड़े क्षेत्र में विकसित अवस्था में थी जबकि नागौर, उदयपुर, डूगंरपुर, बाँसवाड़ा, राजसमन्द, अलवर, बारां, सीकर, भरतपुर, झुंझुनू, सवाईमाधोपुर, दौसा, चितौड, पर ओरण संस्कृति न्यून क्षेत्र एवं कम विकसित अवस्था में थी। 2004-05 में संभागीय आयुक्त जोधपुर के सहयोग से करवाये गये सर्वे के आधार पर जोधपुर संभाग के बाड़मेर, जैसलमेर, जोधपुर, पाली, सिरोही एवं जालोर जिले के कुल ओरणों की संख्या वाले गांव 1759 थे तथा ओरण भूमि 134749.95 हैक्टेयर थी। जिसमें से बाड़मेर जिले में 46374.50 हैक्टेयर, जोधपुर में 18932.14 हैक्टेयर, जैसलमेर में 49469.82 हैक्टेयर पाली में 6075.17 हैक्टेयर, सिरोही, में 3493.40 हैक्टेयर एवं जालौर में 10404.92 हैक्टेयर भूमि पर ओरण है।[21]

मरुक्षेत्र की ओरण संस्कृति का महत्व स्थानीय निवासियों के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक गतिविधियों के साथ-साथ बेहतर स्वास्थ्य एवं संतुलित जीवन पर रहा है। स्थानीय निवासियों के लिए ओरण संस्कृति निम्न प्रकार से उपयोगी थी।

1. पशु चराने के लिए
2. अकाल के विकल्प के रूप में
3. बारिश में पशुओं के रख-रखाव के लिए
4. धूल भरी आँधियों के बचाव के रूप में
5. धार्मिक आस्था के केन्द्र के रूप में
6. खेती की पैदावार बढ़ाने के रूप में
7. स्वास्थयवर्धक जड़ी-बूटियों के रूप में

8. जल-सरंक्षण के रूप में
9. फल उत्पादन के रूप में
10. वन्य जीवों के पोशण के लिए
11. ईंधन के रूप में (सूखी लकड़ी)
12. गर्मियों में पशुधन के लिए छाया की व्यवस्था के रूप में[22]

मरुक्षेत्र की ओरण संस्कृति आर्थिक रूप से चारागाह, पशुपालन, खेती की पैदावार, रोजगार, के अवसर एवं ईंधन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इस संस्कृति का सामाजिक महत्व साझा संस्कृति, सामूहिक पहुँच एवं नियंत्रण के रूप में स्पष्ट होता है। तो सांस्कृतिक एवं धार्मिक महत्व मेलों, उत्सवों, मनौतियों का पूर्ण होना, लोक संगीत के लिए लोक वाद्य यंत्र के निर्माण, घर निर्माण, घर सजावट के रूप में दृष्टिगोचर होता है। मरु क्षेत्र की ओरण संस्कृति का स्वास्थ्य सम्बंधी महत्व भी कम नहीं आंका जा सकता क्योंकि इसी ओरण से जड़ी-बूटियां, पोष्टिक दूध, साग-सब्जी, फल, प्रदूषण रहित शुद्ध वातावरण स्वच्छ जल प्राप्त होता था।[23]

ओरण में पायी जाने वाली घासों में-सेवण, भूरट, बेकर, मीजल, धामण, सणतर, गठिया, मखणी, गोखरू, थी तथा ओरण में पाये जाने वाले वृक्षों में खेजड़ी, जाल, बोरड़ी, फोग, रोहिड़ा, केर, कुमट आदि प्रमुख थे। ओरण में वन्य जीवों की भी भरमार थी जिनमें हिरण, खरगोश, सियार, लोमड़ी, नेवला, कौवा, चील, तीतर, गिद्ध, कोचरी, मोर, तिलोर, गरुड़, आदि वन्य जीव प्रमुख रूप से पाये जाते थे।[24]

ओरण हमारी सांस्कृतिक एवं धार्मिक धरोहर के साथ-साथ पशुपालकों एवं पशुओं के लिए प्राणदायी निधि रही है। राजस्थान की अर्थव्यवस्था वृहद उद्योगों पर निर्भर न रहकर कृषि एवं पशुपालन पर ही निर्भर रही है। हमारी कृषि तो मानसून पर निर्भर है लेकिन पशुपालन के क्षेत्र में रोजगार के काफी अवसर तलाशे जा सकते हैं। पशुपालन के क्षेत्र में ओरणों ने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इन ओरणों के संरक्षण से वर्तमान समय में पर्यावरण संरक्षण एवं पशुपालन को और अधिक विकसित करके अर्थव्यवस्था में सुधारात्मक प्रयास किया जा सकता है।

सन्दर्भ

धोरे - रेतीले टीले या बालू के स्तूप जिन्हें स्थानीय बोल-चाल में धोरे कहा जाता है।

1. *डॉ. गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर पृ. 9*
2. *डॉ. ताराचन्द बैरवा, प्राचीन काल में पर्यावरण संरक्षण एवं शासकों का योगदान AIJRO. VOL. I ISSUE III, शोध-पत्र, पृ. स. 26*

3. राजस्थान समाचार-सम्पादक, मुकेश बोहरा, दिनाँक 30.08.2008, श्योर शोध संस्थान, गुरुद्वारा रोड़, बाड़मेर
4. डा. ताराचन्द बैरवा, प्राचीन काल में पर्यावरण संरक्षण एवं शासकों का योगदान AIJRO. VOL. I I SSUE III, शोध-पत्र, पृ. 26
5. कौटिल्य- अर्थशास्त्र 7,12
मौखिक वार्ता- मंदिर पुजारी भोपाजी, जो भियांडजी के वंशज है।
प्रचलित कथा- पंवार वंशीय विक्रमादित्य 56 ई.पू. उज्जैन के शासक बने बुलिस्तान का क्षेत्र उनके शासन के अन्तर्गत आता था। माता हिंगलाज को प्रसन्न कर अपने साथ उज्जैन चलने के लिए मना लिया। हिंगलाज देवी ने अपने वंश के रूप में ज्योति साथ चलने का कहा तथा यह भी कहा कि पीछे मुड़कर नहीं देखोगे। विक्रमादित्य ने ढोक की पहाड़ी पर रात्रि विश्राम किया तथा प्रातः दिशा भ्रम होने के कारण पीछे मुड़कर देख लिया। देवी ने राजा के साथ चलने से मना कर दिया। देवी को उसी पहाड़ी पर स्थापित कर दिया। यह स्थान बांकल नाम से प्रसिद्ध हुआ तथा यह क्षेत्र की भूमि को देवी के नाम कर दी। जो वर्तमान में ओरण है। वि.स. 1440 में भींयाजी (पुजारी बांकल माता) के समय दूध की रेखा खींच कर इस क्षेत्र को विधिवत रूप से ओरण स्थापित की।
6. राजस्थान समाचार-सम्पादक- मुकेश बोहरा, दिनांक 30.08.2008, श्योर शोध संस्थान गुरुद्वारा रोड़ बाड़मेर
7. योजना विशेषांक-2001 सम्पादक पी.आर. त्रिवेदी, पृ. 18-19, सूचना केन्द्र, जोधपुर
8. राजस्थान समाचार- सम्पादक मुकेश बोहरा, दिनांक -30.08.2008, श्योर शोध संस्थान, गुरुद्वारा रोड बाड़मेर
9. योजना विशेषांक 2001, सम्पादक पी.आर. त्रिवेदी, पृ. 19, सूचना केन्द्र जोधपुर
10. भुवनेश जैन, राजस्थान का लोक विज्ञान-सोसायटी टू अपलिस्ट रूरल इकॉनामी, बाड़मेर राजस्थान (श्योर शोध संस्थान) पृ. 13,14
11. वही पृ. 14,15
12. भुवनेश जैन, ओरण हमारा जीवन- पृ. 2, सोसायटी टू अपलिस्ट रूरल इकॉनामी, बाड़मेर राजस्थान (श्योर शोध संस्थान)
13. भुवनेश जैन, रेगिस्तान का लोक-विज्ञान, पृ.13,14, सोसायटी टू अपलिस्ट रूरल इकॉनामी, बाड़मेर राजस्थान (श्योर शोध संस्थान)
14. वही, ओरण हमारा जीवन, पृ. 06, सोसायटी टू अपलिस्ट रूरल इकॉनामी, बाड़मेर राजस्थान (श्योर शोध संस्थान)
15. योजना विशेषांक-2001, सम्पादक पी.आर. त्रिवेदी, पृ. 20, सूचना केन्द्र, जोधपुर
16. मुकेश बोहरा अमन, ओरण हमारी धरोहर, पृ. 18, सोसायटी टू अपलिस्ट रूरल इकॉनामी, बाड़मेर राजस्थान (श्योर शोध संस्थान)
17. भुवनेश जैन, ओरण हमारा जीवन, पृ. 59, सोसायटी टू अपलिस्ट रूरल इकॉनामी, बाड़मेर राजस्थान (श्योर शोध संस्थान)
18. योजना विशेषांक-2001, सम्पादक पी.आर.त्रिवेदी, पृ. 20, सूचना केन्द्र जोधपुर

19. राजस्थान समाचार-सम्पादक मुकेश बोहरा, दिनांक 30.12.2008, नेहरू युवा केन्द्र, बाड़मेर
20. योजना विशेषांक-2001, सम्पादक पी.आर. त्रिवेदी, पृ. 21, सूचना केन्द्र जोधपुर
21. सर्वे रिपोर्ट, नेहरू युवा केन्द्र एवं श्योर शोध संस्थान द्वारा करवाये गये सर्वेक्षण के आधार पर, संभागीय आयुक्त जोधपुर के सहयोग से 2004-05 में
22. भुवनेश जैन, ओरण हमारा जीवन, पृ. 16, सोसायटी टू अपलिस्ट रूरल इकॉनामी, बाड़मेर राजस्थान (श्योर शोध संस्थान) गुरुद्वारा रोड, बाड़मेर
23. वही, पृ. 20
24. मुकेश बोहरा अमन, ओरण हमारी धरोहर, पृ. 19, सोसायटी टू अपलिस्ट रूरल इकॉनामी, बाड़मेर राजस्थान (श्योर शोध संस्थान)

19वीं शताब्दी में पश्चिमी राजस्थान के प्रमुख उद्योग व्यवसाय : एक अवलोकन

डॉ. अनिल पुरोहित

मध्यकाल से ही पश्चिमी राजस्थान का औद्योगिक क्षेत्र काफी आगे बढ़ा हुआ था। यद्यपि यहाँ बड़े उद्योग तो नहीं थे, किंतु कुटीर और शिल्प उद्योग अपनी विकसित अवस्था में थे। कुटीर और शिल्प उत्पादों का मात्रात्मक और गुणात्मक दोनों ही रूपों में काफी महत्व था। आधुनिक काल में अंग्रेजी साम्राज्य के आर्थिक दबावों के चलते यहाँ के परम्परागत शिल्प और कलात्मक उद्योगों का अत्यधिक पतन हुआ। नवीन परिस्थितियों के चलते कुटीर उद्योग पतन की ओर अग्रसित हुए तथा शेष उद्योगों के उत्पादन का कला-पक्ष लुप्त होता जा रहा था।[1] जहाँ मध्यकाल में पश्चिमी राजस्थान के कुटीर उद्योगों के उत्पादों का निर्यात भारत के अन्य क्षेत्रों तथा भारत के बाहर होता था, वहीं आधुनिक युग में इनका सीमित स्थानीय उपभोग रह गया। उद्योग किसी भी समाज की अनिवार्य आर्थिक क्रिया होती है, किंतु 19 वीं शताब्दी में पश्चिमी राजस्थान के उद्योग-धंधे ब्रिटिश औपनिवेशिक प्रभाव के कारण पतन की ओर अग्रसर थे।

प्रमुख उद्योग

सूती वस्त्र उद्योग - यह पश्चिमी राजस्थान का प्राचीन और समृद्ध उद्योग था। आधुनिक समय में सूती वस्त्र उद्योगों में मोटा एवं कोरे कपड़े का उत्पादन होता था। स्थानीय उपभोग हेतु मोटे सूती कपड़े की बुनाई का कार्य लगभग प्रत्येक गांव में होता था। कर्नल टॉड ने जोधपुर, जैसलमेर तथा बीकानेर में यही उल्लेख किया है कि, इन क्षेत्रों मे इसका उत्पादन अधिक था, किंतु अधिक व्यापारिक महत्व के ना होने के कारण इसका उपयोग स्थानीय स्तर तक ही सीमित था।[2] जोधपुर राज्य के मारोठ और जालोर स्थानों में उत्पादित रेजी (मोटा कपड़ा) बहुत लोकप्रिय थी।[3] यहाँ के क्षेत्र कपड़ा उत्पादन के साथ विभिन्न प्रकार की रंगाई-छपाई के लिये भी प्रसिद्ध थे। जोधपुर राज्य के बाड़मेर और पाली कस्बे रंगाई-छपाई के लिए प्रसिद्ध थे। पाली इसके लिए अधिक लोकप्रिय था, क्योंकि यहाँ का खारा पानी रंगाई के लिए अधिक अनुकूल था।[4]

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में धीरे-धीरे यहाँ का सूती वस्त्र उद्योग समाप्त होने लगा। विभिन्न प्रकार के विदेशी कपड़ों के आयात का विपरित प्रभाव पड़ा ही, साथ ही

 ISSN 2321-1288

यहाँ के शासक वर्ग की इस उद्योग के प्रति उदासीनता भी इसके पतन का कारण बनी। सामान्य वर्ग स्थानीय शिल्पियों द्वारा निर्मित वस्त्र ही उपयोग करता था। औपनिवेशिक प्रभाव के कारण इस उद्योग की विकास सम्भावनाएं इस सदी में तो स्थागित ही रही। इसके अलावा कपास के व्यापार पर अंग्रेजों का एकाधिकार-सा था, जिससे स्थानीय कारीगरों को उपयुक्त मात्रा और उचित दाम पर कपास मिलना भी मुश्किल था।

ऊनी-वस्त्र उद्योग - सूती वस्त्र उद्योग के अलावा ऊनी वस्त्र उद्योग काफी महत्वपूर्ण था। पश्चिमी राजस्थान में जोधपुर तथा बीकानेर में अच्छी किस्म की ऊन उत्पादित होती थी। अत: इन क्षेत्रों में ऊन तथा ऊनी वस्त्रों का उत्पादन भरपूर होता था। इससे इन क्षेत्रों में ऊनी गलीचों (दरियों) का कार्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण और उच्च कोटि का था।[5] इस उद्योग को अंग्रेजी साम्राज्यवाद भी अधिक प्रभावित नहीं कर पाया। यहाँ पर यह बात उल्लेखनीय है कि भेड़ तथा ऊँट पालन पश्चिमी राजस्थान के निवासियों का महत्वपूर्ण व्यवसाय था। कर्नल जेम्स टॉड ने जोधपुर, बीकानेर तथा जैसलमेर राज्यों में ऊनी वस्त्र उत्पादन का विशेष रूप से उल्लेख किया है। इन स्थानों पर उत्पादित ऊनी वस्त्रों में कम्बल, लोई, दुपटटे, साफा, घाघरा, शॉल आदि प्रमुख थे।[6] बीकानेर के संदर्भ मे टॉड ने लिखा है कि ''रेगिस्तान में पाली जाने वाली भेड़ों की ऊन बीकानेर में उद्योग तथा व्यापार की महत्वपूर्ण वस्तु है। इसका उत्पादन विभिन्न किस्मों की बुनाई द्वारा होता था। यहाँ की लोई या कम्बल का मूल्य तीन रुपये से तीस रुपयों तक था। यहाँ के साफों की लम्बाई 40 से 61 फीट तक होती थी तथा इनकी बुनाई भी सूक्ष्म होती थी।''[7] बीकानेर में उत्पादित दरी, गलीचे, शॉल, कम्बल आदि विशेष रूप से लोकप्रिय थे।[8]

ऊन पर आधारित उद्योगों पर राज्यों की ओर से विशेष ध्यान नहीं दिया गया था, अत: इसकी निर्यात मात्रा अधिक नहीं थी। जोधपुर राज्य के विभिन्न स्थानों पर ऊनी वस्त्रों के उत्पादन का कार्य अपने चरम पर था।[9] चूंकि यहाँ के ऊन उत्पाद एवं इसका कच्चा माल कश्मीर एवं पंजाब के ऊनी उत्पादों की तुलना में सस्ते थे, इसी कारण उत्तर प्रदेश, मध्य प्रान्त आदि राज्यों में यहाँ के ऊनी उत्पादों की मांग अधिक थी। यद्यपि यहाँ के शासकों की प्रतिगामी नीतियों के कारण यह व्यवसाय अधिक विकसित नहीं हो पाया, कितुं यहाँ से ऊनी कच्चे माल का निर्यात अत्याधिक होता था, जिसमें बीकानेर राज्य अग्रणी था।[10]

नमक उद्योग - पश्चिमी राजस्थान में नमक उद्योग के विकास की संभावनाएं सदैव से रही है। यहाँ पर नमक के भारी भण्डार थे। यहाँ के नमक के प्रमुख स्रोत खारे पानी की झीलें थी, जो सांभर, पचपदरा, डीडवाना, फलौदी, नावां आदि स्थानों पर थी। यद्यपि लवण्यमय मिट्टी तथा खारे पानी के सहयोग से नमक का उत्पादन यहाँ के प्रत्येक गाँव में होता था, किंतु वह उच्च कोटि का नहीं होता था। फिर भी यहाँ का नमक

व्यापार काफी विकसित था, जिसमें भारी संख्या में श्रमिकों, बंजारों तथा व्यापारियों का एक बड़ा समूह संलग्न था।

भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना ने यहाँ के नमक उद्योग को सर्वाधिक प्रभावित किया। ब्रिटिश इस्ट इंडिया कम्पनी ने यहाँ के नमक व्यवसाय पर एकाधिपत्य स्थापित कर अपनी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति की। 1860–1879 के मध्य यहाँ के राज्यों से नमक समझौते कर स्थानीय नमक उत्पादन को बंद करवा दिया तथा महत्वपूर्ण नमक की झीलों को सीधे अंग्रेजी नियंत्रण में ले लिया गया था।[11] मात्र चार राज्यों बीकानेर, जैसलमेर, जोधपुर तथा कोटा को नमक उत्पादन की स्वीकृति थी। बीकानेर तथा जोधपुर को 360 टन प्रतिवर्ष एवं जैसलमेर को 180 टन प्रतिवर्ष नमक उत्पादन की स्वीकृति थी। बीकानेर तथा जैसलमेर में स्थानीय आवश्यकताओं हेतु नमक सीमित मात्रा में उत्पादित होता था और वह भी निम्न स्तर का था।[12] जोधपुर रियासत को खारी किस्म का नमक मात्र औद्योगिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु अल्प मात्रा में उत्पादन की अनुमति थी। नमक समझौतों के अनुसार, अंग्रेजों के नियंत्रण में नमक भण्डारों की मुख्य झीलें साम्भर, कछोर, पचपदरा थी। इन पर अंग्रेजों के नियंत्रण का प्रभाव 1869–70 के अकाल राहत कार्यों पर भी पड़ा था।[13] 1879 ई. तक इनमें से कोई भी नमक स्रोत अपनी पूर्ण क्षमतानुसार नमक का उत्पादन नहीं कर पा रहा था। इस समय इन स्त्रोतों का उत्पादन इस प्रकार था[14]–

सांभर :– 30 लाख मन

डीडवाना :– 4 लाख मन

फलौदी :– 1.5 लाख मन

प्रमुख नमक स्रोतों में साम्भर झील को जयपुर–जोधपुर ने 1869–70 में, डीडवाना, पचपदरा, फलौदी, लूणी को जोधपुर ने 1879 में कुछ धन के बदले अंग्रेजों को सौंप दिया था।[15] चूंकि तत्कालीन समय में नमक उत्पादन से लाखों रुपये धन प्राप्ति संभव थी, अत: यह अंग्रेजी साम्राज्यवाद के लिए महत्वपूर्ण आर्थिक स्रोत सिद्ध हुआ। फिर भी अंग्रेजी राज के प्रभाव से यहाँ का नमक उत्पादन व्यवस्थित और योजनाबद्ध हो गया।

अंग्रेजी प्रभाव में आने के पश्चात् डीडवाना का नमक बीकानेर तथा जोधपुर के उत्तरी भागों में जाने का साथ–साथ भिवानी होते हुए अंग्रेजी भारत के भू–भागों में निर्यात होने लगा।[16] पचपदरा का नमक जोधपुर के दक्षिणी भागों, सिरोही, मेवाड़ के पश्चिमी एवं दक्षिणी भाग, मध्य भारत और होशंगाबाद तक निर्यात होता था।[17]

पश्चिमी राजस्थान के नमक उद्योग पर ब्रिटिश नियंत्रण के विपरित प्रभाव ही पड़े। इसका सर्वाधिक घातक प्रभाव यहाँ की व्यापारिक क्रियाओं में सक्रिय बंजारा जाति

पर पड़ा। अधिकांश बन्जारों की जीविका का साधन नमक का निर्यात ही था। नमक समझौतों में यह भी निश्चित हुआ था कि नमक के आयात–निर्यात पर यहाँ का कोई राज्य कर नहीं लगा सकता था, इससे राज्यों को नमक कर से होने वाली आमदनी से हाथ धोना पड़ा। कर्नल टॉड ने 1820–22 के समय जोधपुर राज्य के नमक स्त्रोतों से होने वाली आय इस प्रकार बताया है[18]–

पचपदरा :– रु. 2,00,000/–

फलौदी :– रु. 1,00,000/–

ड़ीडवाना :– रु. 1,15,000/–

सांभर :– रु. 2,00,000/–

नावां :– रु. 1,00,000/–

कुल :– रु. 7,15,000/–

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यहाँ के नमक स्रोत अंग्रेजों की आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक आकर्षक थे। यहाँ के यह स्त्रोत अंग्रेजों के नियंत्रण में आने के पश्चात् नियंत्रित नमक का उत्पादन करने लगे। सांभर झील, जिसका नमक क्षेत्रफल 60 से 70 वर्गमील था, वहाँ से अंग्रेजों के नियंत्रण में आने के समय 40 लाख टन नमक का उत्पादन होता था, जो कुछ समय पश्चात् मात्र एक लाख पैंतीस हजार टन रह गया था।[19] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि 19वीं शताब्दी में पश्चिमी राजस्थान का नमक उद्योग अन्य उद्योगों की तुलना में अधिक विकसित था, किंतु ब्रिटिश प्रभाव का इस पर नियंत्रण होने से यह उद्योग मात्र ब्रिटिश महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति का साधन रह गया। इसके नियंत्रित होने से कृषि, पशुपालन तथा अन्य महत्वपूर्ण उद्योग बुरी तरह से प्रभावित हुए थे।

मीनाकारी कार्य – कलात्मक एवं सुन्दर वस्तुओं के निर्माण तथा उत्पादन में राजपूताना काफी प्रसिद्ध था। पश्चिमी राजस्थान के प्रत्येक नगर में अल्प मात्रा में मीनाकारी तथा इसके सहायक कार्य हुआ करते थे। जोधपुर राज्य में पटवे कार्य बहुत अच्छा होता था। यहाँ पटवे का कार्य मुख्यत: ओसवाल जैन किया करते थे।[20] इसके अतिरिक्त आवश्यकता पड़ने पर मीनाकारी कार्य से जुड़े उत्पाद जयपुर से मंगवाये जाते थे, क्योंकि जयपुर इस कार्य हेतु काफी प्रसिद्ध था।

पीतल और तांबे का कार्य – दैनिक उपयोग के लिये धातुओं के बर्तन पश्चिमी राजस्थान में लगभग समस्त स्थानों पर बनते थे। पीतल, तांबे तथा कांसे के बर्तन प्रत्येक ग्राम में स्थानीय शिल्पियों द्वारा बनाये जाते थे, जिन्हें कसेरा तथा ठठेरा कहा जाता था। जोधपुर राज्य के नागौर तथा पाली क्षेत्र इसके लिये प्रसिद्ध थे।[21] इसके अतिरिक्त

बीकानेर भी तांबे तथा पीतल के कलात्मक बर्तन बनाने के लिये प्रसिद्ध था।[22]

हाथी दाँत और लाख का कार्य – पश्चिमी राजस्थान में हाथी दाँत कार्य मुख्यत: जोधपुर और बीकानेर में होता था। इससे चूड़ियां, शतंरज की मोहरें, मालाएँ, चंवर आदि निर्मित होते थे। जोधपुर में यह कार्य विशेषत: पाली में होता था।[23] हाथी दाँत को तराशने का कार्य बीकानेर तथा जोधपुर में होता था। लाख का कार्य मुख्यत: खिलौनों, चूड़ियों, चौकी आदि बनाने में होता था। जोधपुर राज्य में लखारा बाजार स्थापित था। बीकानेर राज्य में चमड़े से निर्मित तेल की कुपियों को लाख से रंगा जाता था तथा शाहपुरा में अलंकरण का कार्य प्राय: लाख द्वारा किया जाता था।[24]

लकड़ी तथा चमड़े का कार्य – लकड़ी उद्योग से जुड़े लोग बढ़ई कहलाते थे। लकड़ी का उद्योग यद्यपि पश्चिमी राजस्थान में अधिक लोकप्रिय नहीं था, किंतु स्थानीय स्तर पर बढ़ई कृषि उपकरण, खिलौने, दरवाजे, चूड़ियों, संदूक इत्यादि बनाया करते थे। जोधपुर राज्य के नागौर तथा सोजत लकड़ी के कार्य के लिए प्रसिद्ध थे।[25]

चमड़े का कार्य करने वालों को चमार या मोची कहा जाता था। बीकानेर राज्य चमड़े पर कलात्मक कार्य के लिए प्रसिद्ध था। बीकानेर में चमड़े की जूतियों पर कसीदाकारी का कार्य तथा घोड़े की कलात्मक काठियों (जीन) का भी निर्माण होता था।[26] बीकानेर तथा जोधपुर में ऊँटों के चमड़े से तेल की आकर्षक कुप्पियों का भी निर्माण होता था।[27]

अन्य उद्योग – उपरोक्त उद्योगों एवं हस्तशिल्पों के अतिरिक्त पश्चिमी राजस्थान में कुछ उद्योग और हस्तशिल्प स्थानीय आवश्यकताओं हेतु कार्यरत थे। हथियारों में तलवार, कटार, चाकू, आदि का निर्माण लोहार स्थानीय स्तर पर किया करते थे। हथियारों में प्रयोग में आने वाला बारूद बनाने वालों को शोरगर कहा जाता था। जालोर में बारूद का शाही कारखाना कार्यरत था।[28] तेल की घाणियां लगभग प्रत्येक गांव में थी। घाणियों को तेली या घाँची चलाता था। इसके अतिरिक्त गांवों में ही कलाल जाति के लोग देशी शराब का भी निर्माण किया करते थे।[29] स्थानीय स्तर पर इत्र उद्योग भी विकसित हो रहा था।

इसके अलावा पत्थरों पर कलात्मक कार्य करने का हस्तशिल्प मकराना, नागौर, पाली इत्यादि स्थानों पर होता था।[30] जोधपुर के मूण्डवा में लकड़ी से कलात्मक खिलौनें बनाये जाते थे। इसी प्रकार जोधपुर और जैसलमेर में लम्बे और मून्ज नामक सख्त घास और कोडाल नामक पेड़ के रेशों से खाट बुनने के लिए पतली-मोटी रस्सियों बनाई जाती थी। यह उद्योग ग्वारिया जाति का वंशानुगत उद्योग था।[31]

19वीं शताब्दी के इन उद्योग धन्धों की मुख्य विशेषता यह थी कि लगभग सभी

से राज्य द्वारा कर वसूला जाता था।[32] उद्योगों के विकास क्रम में ही 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कुछ स्थानों पर नये लघु उद्योगों की स्थापना हुई। 1886 ई. में जोधपुर राज्य में बर्फ और सोडा वाटर का एक कारखाना स्थापित किया गया।[33] 19वीं सदी में पश्चिमी राजस्थान में कुटीर उद्योगों तथा हस्तशिल्प अत्यधिक संख्या में कार्यरत थे तथा विकसित अवस्था में थे। फिर भी 19वीं सदी के अन्त तक पश्चिमी राजस्थान के अधिकतर क्षेत्र औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े रहे। इसका मूल कारण ब्रिटिश प्रभाव से राज्यों के पास साधन सीमित हो जाना था। फिर भी यहाँ पर औद्योगिक विकास की संभावनाएं भरपूर थी। 19वीं सदी में यहाँ के पूंजीपति वर्ग ने विकास के अभाव में अन्यत्र जाना ही उचित समझा।

सारांशत: कहा जा सकता है कि पश्चिमी राजस्थान में अनेक मूल्यवान खनिज उपलब्ध थे, किंतु अंग्रेजी उपनिवेशवाद और स्थानीय शासकों की उदासीनता के कारण इनका दोहन समाप्त ही हो गया। इससे खनिजों से जुड़े कुटीर और हस्तशिल्प उद्योग का विकास स्वत: समाप्त ही हो गया। अंग्रेजों को प्राकृतिक सम्पदा में मात्र नमक के भण्डार ही आकर्षक एवं फायदेमंद लगते थे, जिन पर उनका एकाधिकार हो गया। अंग्रेजों की विनाशकारी उपनिवेशवादिता के कारण पश्चिमी राजस्थान के अनेक विकसित हस्तशिल्प एवं कुटीर उद्योग नष्ट हो गये। पश्चिमी राजस्थान के औद्योगिक विनाश तथा पिछड़ेपन के कारण यहाँ की स्थानीय अर्थव्यवस्था भी लम्बे समय हेतु पिछड़ गयी।

संदर्भ

1. *डॉ. ब्रजकिशोर शर्मा, आधुनिक राजस्थान का आर्थिक इतिहास, जयपुर, 1993 पृ. 302*
2. *कर्नल जेम्स टॉड, एनाल्स एण्ड एन्टिक्विटिज ऑफ राजस्थान, जिल्द-2, पृ. 1108, 1155 और 1248*
3. *एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ जोधपुर स्टेट, 1904-05, पृ. 17*
4. *राजपूताना गजेटियर, भाग-1, पृ. 92*
5. *इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया, भाग 21, पृ. 131*
6. *कर्नल जेम्स टॉड, पूर्वोक्त, पृ. 1108, 1155 और 1248*
7. *वही, पृ. 1155*
8. *दि इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया, भाग ग्प, पृ. 131*
9. *वही*
10. *दि इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया, जिल्द-3, पृ. 212-19 और 291*
11. *दि इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया, भाग-XXI, पृ. 130; राजपूताना एजेन्सी रिकार्डस्, फाईल संख्या 5/1876, राष्ट्रीय अभिलेखागार (राअ), दिल्ली पृ. 26*
12. *वही*
13. *रिपोर्ट रिगार्डिंग दि प्रोग्रेस एण्ड रिजल्ट्स ऑफ दि फैमिन इन राजपूताना, अगस्त, 1870, पृ. 31*

14. राजपूताना गजेटियर, भाग-1, पृ. 181
15. राजपूताना एजेन्सी रिकॉर्डस्, फाईल संख्या 91/1876, 4/1886, 5/1876, राष्ट्रीय अभिलेखागार (राअ), दिल्ली
16. राजपूताना गजेटियर, भाग-1, पृ. 18-24,
17. वही
18. कर्नल जेम्स टॉड, पूर्वोक्त, पृ. 117
19. दि इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया, जिल्द-3, पृ. 159-160
20. एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ जोधपुर स्टेट, 1904-05, पृ. 17
21. बी.एल.गुप्ता, ट्रेड एण्ड कामर्स इन राजस्थान, पृ. 60
22. दि इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया, जिल्द-XXI, पृ. 132
23. डॉ. ब्रजकिशोर शर्मा, पूर्वोक्त, पृ.316
24. दि इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया, जिल्द 21, पृ. 132
25. बी.एल.गुप्ता, पूर्वोक्त, पृ 63
26. दि इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया, जिल्द-3, पृ. 190-191
27. डॉ. ब्रजकिशोर शर्मा, पूर्वोक्त, पृ. 319
28. कोतवाली चबुतरा जमाबंदी बही सं. 753 (परगना जालोर), जोधपुर जिला अभिलेखागार, जोधपुर
29. बी.एल.गुप्ता, पूर्वोक्त, पृ. 55
30. रिपोर्ट ऑन दि एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ जोधपुर, 1905-1907, पृ. 15
31. कालूराम शर्मा, उन्नीसवीं सदी के राजस्थान का सामाजिक एवं आर्थिक जीवन, जयपुर 1974, पृ. 177
32. जोधपुर रिकॉर्डस, रेजीडेन्सी फाईल संख्या, 4, 1894 ई.,
33. विश्वेश्वर नाथ रेऊ, मारवाड़ का इतिहास, खण्ड-2, पृ. 480

संग्रहालय विज्ञान एवं बीकानेर स्थित गंगा गोल्डन जुबली संग्रहालय का संग्रह - एक अध्ययन

डॉ. कनिका भनोत

संग्रहालय विज्ञान वह विधा है जिसका सम्बन्ध संग्रहालयों तथा उनके संधारण और संरक्षण से है। विविध प्रकार की वस्तुओं को सुरक्षित तथा संरक्षित कर, उन्हें सभी की जानकारी, अध्ययन, विवेचन और विश्लेषण के लिए सार्वजनिक रूप से व्यवस्थित करना और उन्हें एक ही स्थान पर संयोजित करना ही एक 'संग्रहालय' के रूप में जाना जाता है। अन्य शब्दों में संग्रहालय वह स्थल है जहाँ पर वस्तु विशेष को सुरक्षित, संगृहीत तथा प्रदर्शित किया जाता है। यहाँ दर्शक को वहाँ पर संगृहीत और सुरक्षित वस्तुओं की जानकारी मिलती है, उसकी तत्सम्बन्धित उत्सुकताएं शांत होती हैं, उसके ज्ञान संसार का विस्तार होता है और वह इस योग्य बन पाता है कि भावी योजनाओं में उस ज्ञान, अनुभव और समझ का उपयोग कर सके। शब्दार्थ की दृष्टि से संग्रहालय से आशय 'संग्रह के आलय या घर' से है। अंग्रेजी भाषा में इसे 'म्यूजियम' कहा गया है। यह ग्रीक भाषा के शब्द 'म्यूसिऑन' से बना है जो 'म्यूजेज'[1] अर्थात् विविध वस्तुओं का संग्रह-स्थल होता था। 283 ई.पू. में सिकन्दरिया में टालमी के द्वारा एक म्यूजियम स्थापित किया गया था जिसे प्रथम संग्रहालय के रूप में जानते हैं।[2]

संग्रहालय अपने हर दर्शक के लिए एक पाठशाला होते हैं। इस रूप में इसका मुख्य उद्देश्य शिक्षा प्रदान करना है। शिक्षा का एक सशक्त माध्यम है 'प्रदर्शनी'। संग्रहालयों की प्रदर्शनियां दर्शकों को आनंद देने तथा उनका मनोरंजन करने के अलावा उनके ज्ञान की अभिवृद्धि भी करती हैं।[3] अपने दर्शकों को शिक्षित करने के लिए संग्रहालय अपने विविध प्रकाशन तैयार करते हैं जो परिचयात्मक प्रकाशन बुकलेट, गाइड, लीफलेट, फोल्डर, पोस्टर, पुस्तिका, मोनोग्राफ, बुलेटिन तथा कैटलॉग आदि के रूप में होते हैं।[4] म्यूजियम कैटलॉग एक प्रकार से म्यूजियम दिग्दर्शक होते हैं। इनका लाभ सामान्य दर्शकों के अलावा विद्वानों तथा शोधवेत्ताओं को विशेष रूप से मिलता है।[5] संग्रहालयों में संगृहीत वस्तुओं पर किए जाने वाले शोध-कार्यों से ज्ञान-मीमांसा का विस्तार होता है। इस रूप में आज संग्रहालय या म्यूजियम शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण आयाम बन कर उभरे हैं।[6] इसी के चलते तत्सम्बन्धी विधा 'म्यूजियोलोजी' भी एक अहम् विधा के रूप में विकसित होती दिखाई दे रही है।[7]

विगत पचास वर्षों में भारत में संग्रहालयों अर्थात् म्यूजियम्स की संख्या में काफी वृद्धि हुई है। भारत में आज लगभग 700 से भी अधिक संग्रहालय है।[8] वैसे तो पुरातत्व एवं कला संग्रहालय अधिक संख्या में हैं किन्तु, विभिन्न क्षेत्र विशेष से सम्बन्ध रखने वाले संग्रहालय या म्यूजियम भी हैं[9] जैसे – क्राट म्यूजियम, नई दिल्ली; हैल्थ म्यूजियम, हैदराबाद; टैक्सटाइल म्यूजियम, अहमदाबाद, रेल म्यूजियम, दिल्ली आदि। ऐतिहासिक और पर्सोनालिया संग्रहालयों में विक्टोरिया म्यूजियम, कोलकाता; रविन्द्रनाथ टैगोर म्यूजियम, शांति निकेतन; गांधी मेमोरियल म्यूजियम, नई दिल्ली; द फोर्ट सेंट जॉर्ज म्यूजियम, मद्रास; नेहरू मेमोरियल म्यूजियम, त्रिमूर्ति भवन, नई दिल्ली आदि विशेष महत्त्व रखने वाले म्यूजियम्स हैं। इसी क्रम में विज्ञान, तकनीक और औद्योगिक विकास को दर्शाने वाले म्यूजियम्स का उल्लेख किया जाना भी प्रासंगिक होगा। इनमें बिड़ला टेक्नीकल एण्ड इण्डस्ट्रियल म्यूजियम, कोलकाता; विश्वेश्वरैया इण्डस्ट्रियल एण्ड टेक्नीकल म्यूजियम, बंगलूरू; बिरला म्यूजियम, पिलानी; एग्रीकल्चर म्यूजियम, कोयम्बटूर आदि के नाम विशेष रूप से उद्धृत किये जा सकते हैं।

जहाँ तक बीकानेर स्थित राजकीय संग्रहालय का प्रश्न है यह एक ऐतिहासिक और पुरातात्विक संग्रहालय है जिसका मूल नाम 'गंगा गोल्डन जुबली म्यूजियम' है।[10] पूर्ववर्ती बीकानेर राज्य से सम्बन्धित रहा भू-क्षेत्र पुरातात्विक अर्थात् आर्क्योलोजी की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूभाग रहा है। वैदिक काल में अस्तित्वमान रही प्राचीन सरस्वती तथा दृषद्वती नदियां, जो अब लुप्त हो चुकी हैं, इस भूभाग के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में हनुमानगढ़, कालीबंगा, भादरा, नोहर, सूरतगढ़, अनूपगढ़ के इलाकों से गुजरती हुई भावलपुर (वर्तमान पाकिस्तान) में चली जाती थीं।[11] इसी के चलते यहाँ पर प्रागैतिहासिक काल के सौ से अधिक नगरों का होना सिद्ध होता है अर्थात् यहाँ पर विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में गिनी जाने वाली संस्कृति अस्तित्वमान रही थी।[12] हड़प्पा संस्कृति के अति समृद्ध पुरावशेष इस क्षेत्र में प्रचुर मात्रा में मिलते रहे हैं, जो इसके साक्ष्य स्वरूप हैं।

सन् 1916-17 में डॉ. टैसीटोरी[13] ने और तदनन्तर डॉ. आरेल स्टाइन, हरमन गोयट्स[14] ने इस क्षेत्र का व्यापक सर्वेक्षण और अध्ययन किया था। डॉ. टैसीटोरी द्वारा किए गए पुरातात्विक सर्वेक्षण से यहाँ प्राप्त प्रागैतिहासिक काल की और आरम्भिक गुप्तकाल की अनेक मृणमूर्तियां[15], प्रस्तर प्रतिमाएं, शिलालेख, सिक्के तथा कई पुरावशेष प्रकाश में आए। इन्हीं पुरावशेषों का संकलन और संग्रह बीकानेर राजकीय संग्रहालय के निर्माण का आधार बना। बीकानेर नरेश महाराजा गंगा सिंह ने अपने राज्यारोहण के 25 वर्ष पूर्ण होने पर गोल्डन जुबली वर्ष 1937 में इस संग्रह को एक संग्रहालय का स्वरूप प्रदान करते हुए इसका नामकरण 'गंगा गोल्डन जुबली म्यूजियम' के रूप में किया था,

जिसका उद्घाटन भारत के तत्कालीन वाइसराय लार्ड लिनलिथगो के द्वारा 5 नवम्बर, 1937 को किया गया था। प्रारम्भ में इसे जूनागढ़ दुर्ग में ही शुरू किया गया था किन्तु बाद में गोल्डन जुबली ट्रस्ट द्वारा प्रदत्त वित्तीय कोष से संग्रहालय का एक गोलाकार भवन निर्मित कराया गया जिसका लोकार्पण 4 सितम्बर, 1954 को[16] बीकानेर के पूर्व महाराजा डॉ. करणी सिंह के द्वारा किया गया और यह संग्रहालय नये भवन में स्थानांतरित कर दिया गया था। आजादी के बाद इसे ही बीकानेर के 'राजकीय संग्रहालय' के नाम से जाना गया।[17]

इस संग्रहालय मे कालीबंगा के उत्खनन से प्राप्त लगभग पाँच हजार वर्ष पुराने सैन्धव संस्कृति के पुरावशेषों से 20वीं सदी के प्रारम्भिक काल तक की कला सामग्री का संकलन कर इस सामग्री को आठ कला दीर्घाओं में विषय, कालक्रम तथा संदर्भ विशेष के आधार पर वैज्ञानिक ढंग से प्रदर्शित किया गया है। यह दीर्घाएं निम्नांकित हैं – महाराजा श्री गंगासिंह दीर्घा; कला एवं हस्तशिल्प दीर्घा; पट्ट परिधान (टैक्सटाइल) दीर्घा; ऐतिहासिक चित्र एवं मुद्रा कक्ष; अस्त्र-शस्त्र दीर्घा; पुरातत्व कक्ष तथा टैसीटोरी दीर्घा; चित्रकला दीर्घा एवं जैन कला दीर्घा। इन दीर्घाओं में प्रदर्शित सामग्री में विशेष उल्लेख के योग्य चीजों में निम्नांकित प्रमुख हैं – बीकानेर राज्य के इतिहास विषयक मूलर की 09 पेन्टिंग्स (तैल चित्र); बीकानेर राज्य के सिक्के (मुद्राएं)[18]; इस क्षेत्र विशेष में विविध समय में प्रचलन में रही मुद्राएं[19]; डॉ. टैसीटोरी द्वारा अपने सर्वेक्षण में संगृहीत ताम्र पाषाणकालीन, शुंग पाषाणकालीन पुरा सम्पदा के नमूने, बहुमूल्य प्रतिमाएं, मृण्मूर्तियां व शिलालेख[20]; आरम्भिक गुप्त कालीन मूर्तियां; विष्णु वाहन गरूड़, विष्णु के आयुध चक्र सहित चक्रपुरुष; रंगमहल से प्राप्त पक्की मिट्टी की चौकी पर गुप्तकालीन लिपि में 'यशोदाकृति' का अंकन, जिसे इस क्षेत्र के प्राचीनतम अभिलेख के रूप में उद्धृत किया जा सकता है; रंगमहल से प्राप्त 'गोवर्धन घर' फलक; भद्रकाली से प्राप्त खड़िया मिट्टी से निर्मित विष्णु का खण्डित फलक; रंगमहल से प्राप्त 'अजैकपाद फलक' जिसका मुख बकरे का, देह मानव की और एकमात्र पैर हाथी के पांव के समान हैं; रंगमहल से प्राप्त मृण्मूर्तियां; शिव-पार्वती की मृण्मूर्ति; भद्रकाली से प्राप्त 'महिषासुरमर्दिनी' आदि।

संग्रहालय में प्रदर्शित विशेष उल्लेख योग्य वस्तुओं में चमड़े की कुप्पियां, बीकानेर चित्रकला, लकड़ी व पत्थर पर नक्काशी का काम, उस्ता कला की कलाकृतियां, मुगल शासकों द्वारा भेंट में प्रदत्त परिधान, मुगल फरमान, प्राचीन वाद्य यंत्र, बारहमासा पैंटिंग्स आदि को भी उद्धृत किया जा सकता है किन्तु संग्रहालय का पुरातत्व कक्ष सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। इसमें बीकानेर के विविध स्थलों से प्राप्त प्रागैतिहासिक पुरावशेषों में कंगन, अंगूठी, कान के गहने, मनके, मिट्टी व चर्ट के बने

खिलौने, खेल के पाशे, सादे और चित्रांकित मिट्टी के पात्र आदि प्रदर्शित हैं। संग्रहालय में आरम्भिक गुप्तकालीन मृण्मय मूर्तियों का अमूल्य भण्डार है जिनमें उल्लेखनीय हैं - रंगमहल से प्राप्त एकमुखी शिवलिंग[21]; उमा-माहेश्वर[22]; दान लीला[23]; चक्र पुरुष[24], अजैक पाद[25]; गोवर्धन धर[26]; पीर सुल्तान थेड़ी से प्राप्त अप्सरा[27]; बड़ोपल से प्राप्त पुजारिन[28]; प्रेम दृश्य[29]; चिन्तन मग्न[30] आदि। यह सभी मूर्तिशिल्प नमूने आरम्भिक गुप्तकालीन धार्मिक जानकारी देने के साथ-साथ इस क्षेत्र में मूर्तिकला की विकास यात्रा की प्राचीनता पर प्रकाश डालते हैं।

संग्रहालय के पुरातत्व कक्ष में प्रदर्शित जैन सरस्वती, पल्लू, 10वीं शताब्दी कालीन[31]; उमा-माहेश्वर, पल्लू, 13वीं शताब्दी[32]; नर्तन गायन, रतनगढ़, 12वीं शताब्दी[33]; लक्ष्मीनारायण, झझू, 16वीं शताब्दी[34] आदि प्रतिमाएं उल्लेखनीय प्रस्तर प्रतिमाएं हैं। साथ ही वणीरोत सवाई सिंह जी, भाण्डासर मंदिर, वि.सं. 1804[35]; मंडला जी, राव बीकाजी के चाचा, सारूण्डा, वि.सं. 1562[36] के सती स्तम्भ भी ऐतिहासिक महत्ता से युक्त हैं। अमरसर गाँव से प्राप्त और यहाँ प्रदर्शित धातु-प्रतिमाओं से यह ज्ञात होता है कि यह क्षेत्र मध्यकाल के दौरान धातु मूर्ति निर्माण कला में भी काफी समृद्ध था। यह मूर्तियां 9वीं से 11वीं शताब्दी की कलाकृतियां हैं तथा इनमें से कुछ धातु प्रतिमाओं पर तत्कालीन कुटिल लिपि में लेख भी उत्कीर्ण हैं। बीकानेर राजकीय संग्रहालय के पुरातत्व कक्ष में प्रदर्शित यह समस्त पुरा विरासत अपने आप में अति समृद्ध तथा स्वयं में शोध की अपार सम्भावनाएं संजोये हुए है।

संदर्भ

1. *प्राचीन यूनान में नौ 'म्यूजेज' का होना उल्लिखित मिलता है - क्रैलीओये, क्लिओ, इन्तरय, थालिया, मेलपोमीन, टार्सीकोर, इरैटौ, पालीमिया तथा यूरेनिया। द्रष्टव्य, राजेन्द्र प्रसाद, संग्रहालय का शिक्षा में योगदान (शोधपूर्ण आलेख), प्रकाशित - आर्कियोलोजी, म्यूजियोलोजी एण्ड कंजर्वेशन - ए रिव्यू (संपा.- विभा उपाध्याय), पृ. 179, जयपुर, 2012*
2. *वही, पृ. 180*
3. *द्रष्टव्य, उषा अग्रवाल, म्यूजियम इन इण्डिया - ए ब्रीफ डायरेक्ट्री, दिल्ली, 1985*
4. *द्रष्टव्य - ओ.पी. अग्रवाल, डॉक्यूमेंटेशन इन म्यूजियम, म्यूजियम ऐसोसिएशन ऑफ इण्डिया, दिल्ली, 1973*
5. *द्रष्टव्य - डी.के. अग्रवाल, म्यूजियम एण्ड एज्युकेशन - ए न्यू कॉन्सेप्ट, जर्नल ऑफ इण्डिया म्यूजियम, भाग-41, 1985*
6. *स्क्रीनर क्लाउस : फण्डामेंटल्स ऑफ म्यूजियोलोजी, वारेन, 1985*
7. *द्रष्टव्य - कमल श्रीवास्तव एवं संगीता श्रीवास्तव, संग्रहालय विज्ञान - एक अध्ययन, वाराणसी, 1998*
8. *राजकुमार जांगिड़, समाज के परिदृश्य में संग्रहालय की भूमिका (शोध लेख), प्रकाशित*

- आर्कियोलोजी, म्यूजियोलोजी एण्ड कंजर्वेशन - ए रिव्यू, (संपा. विभा उपाध्याय), पूर्व., पृ. 147

9. *द्रष्टव्य - एम.एल. निगम, फण्डामेंटल्स ऑफ म्यूजियोलोजी, हैदराबाद, 1985*
10. *म्यूजियम भवन पर उत्कीर्णित शिला-पट्ट अनुसार।*
11. *कालान्तर में 'घग्घर' या 'हाकड़ा' के नाम नाम से भी इन्हें जाना गया है।*
12. *द्रष्टव्य - डॉ. सत्यप्रकाश का शोध लेख, राजस्थान भारती रिसर्च जर्नल, भाग-3, अंक 3-4, पृ. 121, बीकानेर, जुलाई, 1953*
13. *इटालियन विद्वान एवं पुरा विशेषज्ञ थे, जिनका पूरा नाम डॉ. लुइजो पियो टैसीटोरी था। वे महाराजा गंगासिंह (1887 से 1943 ई.) के बुलावे पर सन् 1915 में बीकानेर आए थे।*
14. *हरमन गोयट्स, आर्ट एण्ड आर्कीटेक्चर ऑफ दी बीकानेर स्टेट, ऑक्सफोर्ड, 1950*
15. *द्रष्टव्य - राजस्थान भारती रिसर्च जर्नल, लोक संस्कृति विशेषांक, भाग-12, अंक 3-4, जून-सित., 1970, बीकानेर में प्रकाशित शोध लेख - 'मृणमूर्तियों में राजस्थानी लोक संस्कार'।*
16. *द्रष्टव्य - संग्रहालय पर अंकित शिलालेख*
17. *इस 'राजकीय संग्रहालय' के अतिरिक्त बीकानेर में दो और संग्रहालय भी हैं - जूनागढ़ दुर्ग में स्थित 'करणी म्यूजियम' तथा लालगढ़ पैलेस स्थित 'श्री शार्दूल म्यूजियम'।*
18. *बीकानेर के शासकों की स्वर्ण मुद्राओं में 'रतनशाही' (रतनसिंह 1828 ई.), सरदार शाही (सरदारसिंह 1851-72 ई.), डूंगरशाही (डूंगरसिंह 1872-87 ई.) तथा गंगाशाही (गंगासिंह 1887-1943 ई.) आदि उल्लेखनीय है। रजत मुद्राओं में बीकानेर क्षेत्र के 7वीं शताब्दी के गधैया सिक्के और अश्व-वृषभ प्रकार के सामंतदेव (सांभर के चौहान नरेश) के सिक्के उल्लेखनीय हैं। महाराजा गंगासिंह का स्वर्ण जयंती समारोह (1937) का स्मारक सिक्का और तांबे के सिक्कों में बीकानेर क्षेत्र के यौधेय गणराज्य (तीसरी शताब्दी ईस्वी) के सिक्के विशेष उल्लेखनीय है।*
19. *इनमें इण्डो-यूनानी, कुषाणकालीन, गुप्तकालीन, चौहान, गुलाम, खिल्जी, तुगलक, लोदी, मुगल, ब्रिटिश तथा विविध देशी राज्यों की मुद्राएं सम्मिलित हैं। यह मुद्राएं स्वर्ण, रजत, कांस्य या तांबे से निर्मित है।*
20. *डॉ. टैसीटोरी ने हनुमानगढ़ व सूरतगढ़ क्षेत्र में प्राचीनकाल में अविरल बहने वाली सरस्वती और दृश्द्वती (हाल में घग्घर नदी) के तट पर कालीबंगा, रंगमहल, बड़ोपल, मूण्डा, पीर सुल्तान की थेड़ी, भद्रकाली, भंवर थेड़ी, दुलमाणी, सरदारगढ़, चोकल थेड़ी, मानक थेड़ी आदि एक दर्जन से अधिक पुरास्थलों का सर्वेक्षण किया था। इनमें पल्लू से प्राप्त दसवीं शताब्दी की सफेद संगमरमर की जैन सरस्वती की दो प्रतिमाएं विशेष उल्लेखनीय हैं जिनमें से एक नेशनल म्यूजियम, दिल्ली और दूसरी यहाँ पर प्रदर्शित है। द्रष्टव्य - वैचारिकी (शोध त्रैमासिकी), भाग-1, अंक 2-3, पृ. 84, बीकानेर, जनवरी, 1972*
21. *द्रष्टव्य - 233 बी.एम.*
22. *द्रष्टव्य - 228 बी.एम.*
23. *द्रष्टव्य - 227 बी.एम.*

24. द्रष्टव्य – 232 बी.एम.
25. द्रष्टव्य – 224 बी.एम.
26. द्रष्टव्य – 229 बी.एम.
27. द्रष्टव्य – 245 बी.एम.
28. द्रष्टव्य – 269 बी.एम.
29. द्रष्टव्य – 272 बी.एम.
30. द्रष्टव्य – 225 बी.एम.
31. द्रष्टव्य – 203 बी.एम.
32. द्रष्टव्य – 220 बी.एम.
33. द्रष्टव्य – 210 बी.एम.
34. द्रष्टव्य – 1755 बी.एम.
35. द्रष्टव्य – 194 बी.एम.
36. द्रष्टव्य – 193 बी.एम.

मेड़ता नगर का राव दूदा और उसका समय

डॉ. तेजन्द्र वल्लभ व्यास

मेड़ता नगर का उल्लखे करते हुए 'राजस्थान गजेटियर' कहता है कि ''मेड़ता[1] के चारों ओर जल का आधिक्य है'' (Water is plentiful at Merta there being numerous tanks around the city) अत: जल के आधिक्य के बावजूद भी वहां मरुस्थली कल्पना अर्थशून्य सी जान पड़ती है और जब राव दूदाजी के सामने अपने लिये नवीन राजधानी स्थापित करने का प्रश्न उपस्थित हुआ होगा तो नि:संदेह ही किसी जलाशय के आसपास का स्थान ही उन्होंने पसंद किया होगा।[2]

मेड़ता शब्द का यदि व्याकरण के नियमों पर विवेचन किया जाय तो यह निम्न रूपों में होता है–

(अ) मेरु+त या मेरु + ता = मेरुता

(ब) मेरु + तक् = मेरुत्क

(स) मीर + ता = मीरता

मेरु का अर्थ संस्कृत कोष इस प्रकार मानता है कि 'पर्वत विशेष का नाम माला या हार के मध्य पोहा गया दाना या रत्न विशेष। 'त' का अर्थ है पृष्ठ भाग, वक्ष:स्थल गर्भ, योद्धा, पतित व्यक्ति, म्लेछ, रत्न और अमृत। 'ता' प्रत्यय से संकेत माना गया है – गंतव्य मार्ग, सद्गुण, पवित्रता। प्रत्यय 'तक्' संकेत करता है क्षुद्रता या लघुता का। इसी प्रकार एकाक्षर कोष में 'ता' शब्द लक्ष्मी का प्रतीक माना जाता है। इसके आधार पर यदि हम उपरोक्त तीनों आधारों पर जो 'मेड़ता' नगर के विषय में है तो सिद्ध 'मेरुता' शब्द के विविध अर्थ इस प्रकार ठहरेगा–

(अ) 'मेरुत' 'मेरुता' का अर्थ होगा, किसी पर्वत का पार्श्व भाग या उसकी तराई या किसी पर्वत विशेष का गंतव्य मार्ग।

(स) 'मेरुतक' का अर्थ होगा छोटा पर्वत या पहाड़ी।

मेड़ता के आसपास कुछ छोटी पहाड़ियां अवश्य हैं किन्तु उल्लेखनीय नहीं है, अत: वहां न प्रश्न उठता है गंतव्य पथ का और न पर्वत अर्थ रखने वाले 'मेरु' शब्द का।

अत: उपरोक्त 'मेरु' आधारित दोनों ही संभावनाएं मेड़ता नाम के मूल में उपयुक्त सिद्ध नहीं होती।

तृतीय आधार है – मीर+ता=मीरता। 'मीर' शब्द का अर्थ संस्कृत कोष के अनुसार है – 'जल राशि', 'समुद्र', किसी पर्वत का कोई भाग, सीमा और पेय विशेष। एकाक्षर कोष के अनुसार 'ता' शब्द लक्ष्मी का वाचक है। हमारे साहित्य में क्या प्राचीन और क्या नवीन में, लक्ष्मी धन की देवी तो है ही किन्तु सौंदर्य, ऐश्वर्य इत्यादि भी इन्हीं के उपादान हैं। अत: यदि 'मीर' शब्द जल राशि अर्थात् जलाशय और 'ता' युक्त 'मीर' सुन्दरतम जलाशय माना जाय तो आपत्ति की शायद कोई गुंजाइश नहीं हो सकती।[3] इस प्रकार मुंशी देवीप्रसाद के उपरोक्त मत को स्वीकार करने से 'मेड़ता' शब्द की उत्पत्ति और स्थान की पूर्ण सार्थकता स्पष्ट हो जाती है।

मेड़ता नगर की प्राचीनता के विषय में यही विदित तथ्य है कि यह प्राचीन नगर है, जिसे राजा मान्धाता ने बसाया।[4] राजा मान्धाता पौराणिक शासक था, जिसके नाम का जिक्र इसी प्रसंग में मुहणोत नैणसी ने भी 'बात परगने मेड़ते री' में किया है किन्तु विगत में यह नहीं बताया गया है कि मान्धाता का शासनकाल कब से कब तक रहा, मेड़ता नगर का हालांकि एक अन्य नाम मान्धातृपुर भी है, इससे भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है कि उक्त नगर मान्धाता ने ही बसाया होगा और यह नगर मान्धातृपुर कहलाया परन्तु इस तथ्य की पुष्टि हमें अभी किसी भी ऐतिहासिक स्रोत ने नहीं होती।

पुरातात्विक साधनों के आधार पर इतना अवश्य सत्य कहा जा सकता है कि सातवीं शताब्दी में इस नगर पर मंडोर के प्रतिहार वंशी नरेश नागभट्ट का शासन था जिसने इसी नगर को (मेड़तंकपुर को) अपनी राजधानी बनाया था।[5] इस तथ्य की पुष्टि मण्डोर के प्रतिहार वंश शासक बाउक के जो कि कन्नौज के गुर्जर प्रतिहार शासक नागावलोक द्वितीय का करद सामंत था, घंटियाला लेख[6] से होती है। डा. दशरथ शर्मा का मत भी यही है।

मुहणोत नैणसी के अनुसार इस नगर पर राव दूदा से पूर्व कान्हड़देव का अधिकार हुआ तत्पश्चात् यह स्थान उजड़ गया। नैणसी के भी इस कथन की पुष्टि न तो यहां से प्राप्त किसी लेख या स्मारक से होती है और न ही पुरातात्विक तथ्यों से। इतना अनुमानत: ही कहा जा सकता है कि यह कान्हड़देव जालौर का चौहान वंशीय नरेश होगा, जिसका उल्लेख पद्मनाभ के 'कान्हड़देव प्रबंध' में है, जिसने समस्त मारवाड़ पर चौदहवीं सदी में अपनी विजय वैजयंती स्थापित की थी।

जोधपुर की ख्यात और दयालदास की ख्यात में यह लिखा है कि राव जोधा ने मण्डोर पर अधिकार करने के पश्चात् चौकड़ी पर अधिकार किया था। इसके अनन्तर राव जोधा ने सोजत विजय किया। दयालदास की ख्यात के अनुसार राव जोधा ने वि.सं. 1510 (1453 ई.) के दो वर्ष के उपरांत अपने अनुज कांधल को मेड़ता और अजमेर के इलाके जीतने के लिए भेजा। कांधल ने भैंरूदे में रहने वाली मेदपादेश्वर (मेवाड़ के

राणा) की फौज को परास्त कर मार भगाया और मेड़ता नगर पर राव जोधा का अधिकार हो गया।[7] अनन्तर वि.सं. 1546 में यह नगर मारवाड़ेश्वर राव जोधा ने अपने पुत्र वरसिंघ और दूदा को जागीर में दिया और पुन: यह नगर दूदा और वरसिंघ के प्रयत्नों से बसाया गया।[8]

राव दूदा मारवाड़ के सुप्रसिद्ध राव जोधा का चतुर्थ पुत्र था, इसकी माता जालोर के सोनिगरा चौहानवंशीय राजा खीमा शक्तावत की पुत्री थी।[9] राव दूदा का जन्म वि.सं. 1497 आसाढ शुक्ला 15 (ई.स. 1440 ता. 15 जून) बुधवार को मारवाड़ की राजधानी मंडोर में हुआ था। बदनौराधीश ठाकुर गोपालसिंह मेड़तिया द्वारा रचित 'जयमल वंश प्रकाश'[10] के अनुसार दूदा के जन्म के दो वर्ष उपरांत राव रिणमल का स्वर्गवास हुआ। उन दिनों वि.सं. 1496 में मरुस्थल की राजधानी मंडोर पर मेदपाटेश्वर महाराणा कुंभा का अधिकार था। अत: राव जोधा अपने पैतृक राज्य की पुन: प्राप्ति के लिये उद्योग कर रहे थे और आपत्ति में फंसे हुए, घूमते फिरते थे। लगभग 15 वर्ष के उपरांत वि.सं. 1510 (ई.स. 1453) में राव जोधा को अपने पैतृक राज्य की प्राप्ति हुई अत: राव दूदा का बाल्यकाल संकट में ही बीता।[11]

किशोरावस्था में ही दूदा ने अपने पिता के इशारे पर केवल थोड़े से साथियों को साथ लेकर नरसिंह सींधल के पुत्र को जा घेरा और उसे अकेले द्वंद्व युद्ध में मारकर राठौड़ों का पुराना बैर लिया।[12] जिसका विवरण तत्कालीन ख्यातों के अनुसार इस प्रकार बताया जाता है, विशेष मुहणोत नैणसी ने इसका विवरण दिया है।[13]

जब राव जोधा ने जोधपुर नगर की नींव डाली उस समय उसके उमरावों में यह चर्चा विशेष चली कि 'नरसिंघ सींधला जिसने आसकरण सक्तावत को नरबद सुपियारदे लाया, उसके बदले में मारा है'[14] और उसका (वरसिंघ सींधला) से बैर नहीं लिया गया है। पहले तो यह तथ्य राजपूत सरदारों ने प्रकट नहीं किया परन्तु जब राव जोधा ने आग्रह किया तो उन्होंने बताया। राव जोधा उस समय तो कुछ नहीं बोला परन्तु दूसरे दिन प्रभात को जब कुंवर दूदा उसे मुजरे को आया तो राव ने कुंवर दूदा को कहा कि ''दूदा, मेघा सिंधल को मारना चाहिये क्योंकि उसके पिता नरसिंघ ने आसकरण सक्तावत को नर्बद सुपियारदे दे लाया उसके बदले में मारा है।'' दूदा ने पिता को प्रणाम किया और तत्काल चला तब राव दूदा जोधा ने कुंवर दूदा को कहा क दूदा अकेला मत जा वह मेघा है। कुंवर दूदा ने उत्तर 'दूदो मेघै के मेघो दूदो' याने दूदा मेघा को मार लेगा या मेघा दूदा को मार देगा। दूदा घर आया और अपने साथियों सहित जैतारण की ओर बढ़ा।

जैतारण के तीन कोस पास जाकर दूदा ने मेघा के पास दूत भेजा और मेघा को कहलाया कि दूदा जोधावत आया है, आसकरण मांगता है। मेघा ने उत्तर दिया इतनी देर से क्यों आया। इस प्रकार आपसी बातचीत सवारों के माध्यम से दूदा और मेघ ने की।

अंत में दोनों ने द्वंद्व युद्ध करना तय किया। दोनों के (मेघा-दूदा के) राजपूत दूर खड़े तमाशा देखते रहे। पहले मेघा ने अपनी तलवार दूदा पर झाड़ी जिसे दूदा ने दांत पर रोक पर ली और फिर एक ही हाथ में मेघा का सिर दूदा ने उसके (मेघा के) तन से जुदा किया और वह (दूदा) मेघा का कटा हुआ सिर व धड़ लेकर अपने पिता के पास आया। दूदा ने मेघा के गांव का न तो स्वयं ने बिगाड़ किया और न ही अपने सैनिकों को करने दिया। आप पिता के पास आया और सिर झुकाया। राव जोधा अपने इस प्रिय पुत्र पर (दूदा पर) प्रसन्न होकर घोड़ा सिरोपाव दिया।

वि.संवत् 1515 ज्येष्ठ सुदि ग्यारस (ई.सन् 1459 मई 12 शनिवार) को राव जोधा ने भौगीशैल की पर्वत की चिड़ियाटूक पहाड़ी पर नये गढ़ की स्थापना की। गढ़ के नीचे अपने नाम पर नया नगर जोधपुर बसाया।[15] तदुपरांत जोधा ने अपने पुत्र वरसिंघ दूदा को मेड़ता परगना का इलाका जागीर में दिया और उनको वहां जाकर बसने का आदेश भी दिया।[16]

वरसिंघ-दूदा ने अपने पितृ आदेश को शिरोधार्य किया और अब नव नगर बसाने हेतु जोधपुर से प्रयाण किया और चौकड़ी में आकर डेरा किया। यहां उनकी भेंट उदयसिंह (ऊदा-कान्हड़देवोत) से हुई, जो नागौर से यह गगराना में शिकार करते-करते आया था और यहां की भूमि का निरीक्षण कर रहा था। इसी ऊदा ने वरसिंघ-दूदा को अथुना मेड़ता नगर की भूमि दिखाई जो उस समय उजड़ी हुई थी और यहां पर बेबचा एवं कुण्डल तालाब जो अद्यावधि विद्यमान है, उस समय भी थे।[17] हालांकि अब से पूर्व वरसिंघ-दूदा की योजना के अनुसार चौकड़ी के पर्वत पर नगर बसाने की थी परन्तु उन्होंने उक्त नगर (मेड़ता की) की भूमि का निरीक्षण किया और यहीं पर नया नगर बसाने की योजना पुनः बनाई।

इस समय तक प्राप्त मारवाड़ के ऐतिहासिक एवं साहित्यिक तथ्यों के आधार पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि वरसिंघ दूदा ने मिलकर वि.सं. 1515 (ई.स. 1461) में जोधपुर से 40 कोस पर अजमेर के पुराने रास्ते पर पुराने मेड़ते शहर को नये सिरे से बसाया।[18] वरसिंघ व दूदा ने ऊदा कान्हड़देवोत को अपना प्रधानमंत्री बनाया।[19] इस समय से पूर्व उजड़ी हुई मेड़ता की धरती पर अब कई राजपूत एवं जाट परिवार बसने हेतु आये और यहां पर बसते रहे। यथा उस समय जाट सरदार डांगा (जो नख में चहुआण था) जायल से मेड़ता आया और उसने वरसिंघ व दूदा की अनुमति प्राप्त कर डांगावास नामक गांव बसाया, इसी डांगा का बनवाया हुआ तालाब 'डांगोलाई' आज भी मेड़ता नगर के पूर्वी द्वार के बाहर विद्यमान है।

लगभग बीस वर्ष तक वरसिंघ और दूदा ने मिलकर परगने का सुंदर संचालन किया और वि.सं. 1545 में द्रोणपुर-छापर के युद्ध में अपने चाचा कांधल की हत्या का

बैर लेने हेतु दूदा ने गांव झांसला के पास सारंगखां को मारा जो कि उस समय दिल्ली के सुल्तान बहलोल लोदी का सेनापति था। इस द्रोणपुर छापर के युद्ध में दूदा ने अपने तेज विक्रम का अच्छा प्रदर्शन किया।[20] वि.सं. 1546 में राव जोधा के देहावसान के उपरांत वरसिंघ एवं दूदा के आपस में मनमुटाव हो गया और दूदा जो कि वरसिंघ का सहोदर अनुज था अब बीकानेर राव बीका के पास चला गया[21] परन्तु जब कभी भी मेड़ता नगर पर राजनैतिक संकट आता (बाहरी आक्रमण होता) तो उस संकट का मोचन दूदा के द्वारा ही किया जाता था।

इसी प्रसंग में याने दूदा के बीकानेर जाने के उपरांत मेड़ता परगना में भयंकर दुष्काल पड़ा[22] और जो-जो परिवार यहां आकर बसे थे अब वे पुनः अपने-अपने ठिकाने लौटने लगे तो वरसिंघ को इस शोचनीय स्थिति से खेद हुआ और वरसिंघ ने सांभर पर आक्रमण किया। वहां लूटमार की और वहां की लूट का द्रव्य प्राप्त कर परगने में संकट की स्थिति से लोगों को राहत दी गई परन्तु सांभर पर अजमेर के सूबेदार मल्लू खां का अधिकार था और अजमेर माण्डू के बादशाह के अधीन था। वरसिंघ द्वारा सांभर लूटने की पुष्टि यहां के प्रचलित सवैये से होती है, जिसमें यह बताया गया है कि वरसिंघ रूपी कृष्ण ने सांभर रूपी गोपियां का चीर हरण किया।[23]

सांभर लूटने के उपरांत वरसिंघ और राव सातल में कुछ अपबन हुई तब अजमेर के सूबेदार मल्लूखां ने वरसिंघ को जोधपुर राज्य का कुछ हिस्सा दिलवाने हेतु रुपये 50,000 पेसकसी के मांगे परन्तु कुछ समय बाद वरसिंघ और राव सातल के सम्बन्ध सुधर गये। राव सातल ने वरसिंघ को जोधपुर परगने के कई गांव दिये तब मल्लूखां ने रुपये 50,000 पेसकसी के मांगे, जिसे वरसिंघ ने देने से इन्कार कर दिया तो मल्लूखां ने एक विशाल सेना लेकर मेड़ता पर चढ़ाई की,[24] वरसिंघ राव सातल के पास चला गया।

मुस्लिम सेना का डेरा कोसाणे में लगा और यहां पर मुसलमानों और राठौड़ों की जमकर लड़ाई हुई जिसमें राव सातल ने मीर घडूला को मारा। राव सातल ने भी यहीं वीर गति प्राप्त की यह समाचार प्राप्त कर दूदा बीकानेर से कोसाणे आया और कहा जाता है (जैसा कि जयमल वंश प्रकाश में कहा गया है) कि दूदा ने देवी के वरदान 'वर ब्रूहि' प्राप्त कर मुसलमानों की सेना को मार भगाया,[24ब] वरसिंघ को पुनः मेड़ता प्राप्त हुआ, मल्लूखां की इस युद्ध में हार हुई एवं दूदा पुनः बीकानेर चला गया। मल्लूखां भी अपनी इस हार को सहन नहीं कर सका और उसने माण्डू के बादशाह की सहायता से पुनः फौज एकत्रित की और वरसिंघ से मित्रता स्थापित करने का ढोंग रचा। उसने धोखे से वरसिंघ को सांभर लूटने के एवज में कैद किया जिसकी पुष्टि यहां के प्रचलित दोहे से होती है।[25] जब दूदा को बीकानेर में यह समाचार मिला कि वरसिंघ को मल्लूखां ने धोखे से अजमेर की पहाड़ियों में कैद कर लिया है तो दूदा ने यह सब वृतांत[26] राव बीकाजी को

बताया, राव बीका ने तुरंत दूदा को बीकानेर से मेड़ता हेतु रवाना किया और स्वयं विशाल फौज लेकर रींया आ गया।[27] इधर दूदा ने भी विशाल का गठन किया और बीका-दूदा अपने भाई वरसिंघ को छुड़वाने हेतु अजमेर की ओर बढ़े, राव सूजा ने भी इस समय कोसाणे में अपना डेरा किया।

अजमेर के सूबेदार को जब यह खबर मिली कि मेड़ता से दूदा बीकानेर से बीका एवं जोधपुर से राव सूजा तीनों ही मिलकर अजमेर पर आक्रमण करने ससैन्य आ रहे हैं तो मल्लूखां भयभीत एवं किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया और उसने तुरंत वरसिंघ को जेल से रिहा किया और उसे दूदा को सौंपा। इस प्रकार दूदा ने अपने भाई की रक्षा दुश्मनों से की और उसे मुसलमानों के चंगुल से छुड़वाया।[28] तत्पश्चात् वरसिंघ ने दूदा और राव बीका की छः दिन तक मेड़ता में स्वागत किया, तदुपरांत दूदा एवं राव बीका दोनों बीकानेर चले गये। दूदा के बीकानेर जाने कुछ समयबाद ही वरसिंघ को खाने में जहर दिया गया जिससे वरसिंघ की मृत्यु हो गई।[29]

वरसिंघ की मृत्यु के बाद उसका पुत्र सीहा मेड़ते का जागीरदार बना हालांकि सीहा योग्य नहीं था परन्तु टीका उसे ही दिया गया, राव सूजा ने सीहा की दुर्बलता लाभ उठाते हुए मेड़ते में अमल किया, तब वरसिंघ की पत्नी ने दूदा को यह समाचार भेजा कि उनकी अनुपस्थिति में राव सूजा मेड़ते में अपना प्रभाव बढ़ा रहा है सो आप शीघ्रताशीघ्र मेड़ता आओ।

दूदा पुनः छः दिन के भीतर ही अपने साथियों सहित बीकानेर से मेड़ता आया[30] और उसने रास्ते में राव सूजा के डेरों का बिगाड़ किया। इस तरह दूदा के मेड़ता आगमन की सूचना पर राव सूजा ने घेरा हटा लिया। दूदा ने आधा परगना तो सीहा को दिया और आधे परगने का प्रबंध अपने स्वयं के हाथ में लिया परन्तु सीहा तो अयोग्य था सो दूदा ने उसको रातोरात मेड़ता से रैण भेज दिया, सीहा दूदा के जीवनपर्यन्त मेड़ता में न आ सका[31] और यहीं से दूदावतों और वरसिंघोतों में ईर्ष्या शुरू हो गई।

सीहा को उक्त नगर से निकालने के उपरांत दूदा ने राव की पदवी धारण की और महेश चतुरावत को मेड़तिया बारठ नियुक्त किया।[32] राव दूदा के समय मेड़ता परगना में निम्न[33] गांव बसाये गये-

(1) डांगावास (2) तोहड़ोयाह (3) इतीबो (4) रायसलवास (5) थीरोदा नागौर रा सातला (6) चांदेलिया चुतो (7) दुगसता दुसताऊ रा भोगली (8) कमेड़िया भादुकलरो (9) रेंया का निया कसासा रा रेंया (10) तेतरवाल तीतरी नागौर री झड़ाऊ (11) गोदारोवाड़ो बीकानेर री झींथिया बडाली (12) रडु ग्लारा तगो नागौर रा राहरण (13) सोमउ वाल सोमड़ी नागौर री रो (14) बोहड़ी (15) मौकाले (16) सहेसड़े (17) घघढाणे (18) गोग पाडु बड़ी (19) ताडोली (20) चोहिला (21) सेवो

नागौर री मोडरी (22) तात गोहिलोत अजमेर रा नीलीया (23) लटियाल थीरोदा नागौर लाम्पोलाई (24) काकड़षी।

राव दूदा का स्वर्गवास वि.सं. 1554 में हुआ।[34] उपरोक्त विवरण से यही कहा जा सकता है कि राव जोधा के पुत्र राव दूदा वीर, कुशल संचालक, साहित्यप्रेमी एवं शक्ति के उपासक थे। यथा दूदा तलवार के धनी थे, इस तथ्य की पुष्टि उसके द्वारा मेघा का घात, द्रोणपुर-छापर में सुल्तान बहलोल लोदी के सेनापति सिरिया खां का वध एवं कोसाणे के युद्ध में उसके द्वारा किये गये युद्ध कार्यों से स्पष्ट होता है। राव दूदा वीर ही नहीं अपितु साहित्यप्रेमी भी था, तभी तो उसने महेशदास चतुरावत को अपने दरबारी कवि के रूप में सम्मानित किया। महेशदास चतुरावत द्वारा रचित छप्पय, कवित और दोहों के उदाहरण मुहणोत नैणसी द्वारा अपने ग्रंथ मारवाड़ रा परगनां री विगत के अंश 'बात परगने मेड़ते री' में उद्धृत किये गये हैं।

राव दूदा स्थापत्य कला का प्रेमी था। इसके द्वारा बनवाये गये स्थापत्य आज भी मध्यकालीन स्थापत्य की निधि के रूप में मेड़ता शहर व मेड़ता फलोधी में, पीपाड़ में विद्यमान है। उदाहरणार्थ मेड़ता में पुरानी कचहरी का भीतरी द्वार (जो उस समय रनिवास था), रैण दरवाजा व डांगोलाई दरवाजा जो कि उसी शैली के द्योतक था, अब नहीं है। राव दूदा के समय भगवान चतुर्भुजनाथ का मंदिर बनवाया गया था, जो आज भी वैष्णव धर्मावलंबियों के गढ़ के रूप में विद्यमान है। पीपाड़ गांव में राव दूदा द्वारा बनवाया गया तलाका गांव में ब्रह्माणी देवी का मंदिर है, जहां अद्यावधि फाल्गुन की अमावस्या को मेला लगता है, यह वीर दूदा की सिद्धिदात्री देवी ब्रह्माणी थी, जिसके आशीर्वाद से दूदा से मुसलमानी फौजों को परास्त किया। अतः राव दूदा शक्ति के उपासक थे।

वास्तव में राव दूदा पितृभक्त, प्राजरंजक थे। यदि इस समय को मध्यकालीन मेड़ता का प्रथम ऐतिहासिक स्वर्ण काल कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी क्योंकि दूदा के देहांत के उपरांत मेड़ता नगर में लगभग 150 वर्षों तक अशांति, आपसी युद्ध और अव्यवस्था व्याप्त हुई जो इतिहास के विद्यार्थी से छुपा हुआ तथ्य नहीं है। ई.स. 1461 से 1707 तक के समय में कभी पठानों के आक्रमण मेड़ता पर हुए तो तभी मुगलों और कभी मराठों के और कभी-कभी तो मेड़तियों में ही आपस में संघर्ष होते रहे।

राव दूदा के चार पुत्र एवं एक पुत्री थी, पुत्री का नाम गुलाब कंवरी था। पुत्रों की विगत - (1) वीरमदेव-राव दूदा का ज्येष्ठ पुत्र था, जिसकी कूटनीति से मालदेव को सुमेल के युद्ध में विजय श्री से वंचित होना पड़ा। (2) रायसल-ये रायसलोत शाखा के मूल पुरुष थे। (3) पंचायण-इनके कोई संतान नहीं हुई, इनका विशेष वृतांत उपलब्ध नहीं है। (4) रत्नसिंह-इनके काई पुत्र नहीं हुआ, केवल एक पुत्री हुई जो मीराबाई के नाम से विख्यात है। मीराबाई का विवाह चित्तौड़ के प्रसिद्ध राणा संग्रामसिंह के पुत्र

भोजराज से हुआ था। रत्नसिंह को निर्वाह के लिये कुड़की और बाजालीं आदि बारह गांव दिये गये थे। वि.सं. 1584 चैत्र शुक्ला 14 या (ई.स. 1527) में खनवाह के युद्ध में बाबर से लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त की। (5) रायमल-इनसे मेड़तिया की रायमलोत शाखा का आरंभ हुआ। इन्होंने रीयां की लड़ाई में वीरता दिखलाई। इनका स्वर्गवास वि. सं. 1592 में हुआ। मारवाड़ेश्वर मालदेव को इनसे बड़ा भय रहता था।

सन्दर्भ

1. *राजस्थान गजेटियर, पृ. 231, 'मीरा माधुरी के लेखक श्री बृजरत्नदास ने पृ. 3 पर लिखा है कि मेड़ता का शुद्ध नाम 'महारेता' है और यही महारेता बदला 'मेड़तंक' में और फिर हो गया मेड़ता। इसका दूसरा नाम मान्धातृपुर भी बताया जाता है किन्तु अच्छा तो यह होता कि श्री बृजरत्नदास जी अपनी मान्यता की पुष्टि ऐतिहासिक तथ्यों से करते अत: हम 'महारेता' और 'मान्धातृपुर' दोनों को मान नहीं सकते।*
2. *मुंशी देवीप्रसाद, मीराबाई का जीवन चरित्र, पृ. 49*
3. *वही*
4. *मुहणोत नैणसी द्वारा लिखित ग्रंथ 'मारवाड़ रा परगनां री विगत' का अंश 'बात परगने मेड़तेरी' पृ. 1 में लिखा है कि 'मेड़तो आद शहर छै, राजा मान्धाता रो बसायो, यूं सको कहे छै। जैसा कि नैणसी के उक्त कथन से विदित होता है कि यह बात सुनी सुनाई है, अत: नैणसी की बात अक्षरश: स्वीकार नहीं की जा सकती।*
5. *यह 'नागभट्ट' हरिश्चंद प्रतिहार मण्डोर नरेश की संतान है, जिसे नागावलोक (नाहड़राव पड़िहार) भी कहते हैं। बाउक के लेख से स्पष्ट होता है कि नागभट्ट बाउक के आठ पीढ़ी पूर्व हुआ और बाउक का समय 816 ई. श्रद्धेय गुरुवर डॉ. दशरथ शर्मा ने माना है। अत: नागभट्ट सातवीं शताब्दी में मण्डोर का शासक रहा होगा।*
6. *राजस्थान थ्रू द एजेज, डॉ. दशरथ शर्मा (प्रतिहारास ऑफ मण्डोर)*
7. *दयालदास की ख्यात, जिल्द 1, पृ. 43-44, चतुर्भुजनाथ के मंदिर का लेख (मेड़ता शहर)*
8. *बात परगने मेड़ते री, पृ. 1, मुहणोत नैणसी*
9. *सोनगरी चांपा जिसका नाम चांदकंवर था, जो वरसिंघ और दूदा की मां थी, जिसने जोधपुर में चांद बावड़ी करवाई थी, जो पुराने पट्टों में चौहान बावड़ी लिखी जाती थी। -मारवाड़ का मूल इतिहास, पृ. 104, पं. रामकरण आसोपा*
10. *मारवाड़ के प्रसिद्ध ज्योतिषी श्री चण्डूजी के यहां की जन्मपत्रियां के संग्रह में राव दूदा की जन्मपत्री विद्यमान है।*
    संवत् 1497 आषाढ सुदि 15 उ. घटी जोधा सुत दूदा मेड़थतया जन्म -जयमल वंश प्रकाश, पृ. ..., बदनौराधीश ठाकुर गोपालसिंह मेड़तिया
11. *जयमल वंश प्रकाश, पृ. 60, बदनौराधीश ठाकुर गोपालसिंह मेड़तिया*
12. *महामहोपाध्याय रायबहादुर डॉ. ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भाग प्रथम, पृ. 253-54*

13. *मुहणोत नैणसी की ख्यात द्वितीय खंड, पृ. 131-13*
14. *नरबद जब मण्डोर में राज करता था, तब रूण का स्वामी सींहड़ सांखले ने अपनी पुत्री सुपियारदे के नारियल उसके पास भेजे परन्तु जब नरबद घायल हो गया और मण्डोर का राज राणा मोकल ने रणमल को दिया और नरबद को अपने साथ मेवाड़ ले गया तब सीहड़ ने अपनी पुत्री का विवाह जैतारण के स्वामी नरसिंह सींधल से किया परन्तु नरबद की यादों से सुपियारदे ओझल न हो सकी और नरबद ने दीवाण (मोकल) से कहा कि अब वह सुपियारदे चाहता है तो दीवाण ने इस हेतु सींहड़ सांखले को पत्र लिखा परन्तु सुपियारदे का पाणिग्रहण संस्कार तो हो चुका था परन्तु सीहड़ के एक छोटी पुत्री और थी उसका विवाह नरबद के साथ होना तय हुआ जिसमें शर्त यह रखी गई कि विवाह से पूर्व सुपियारदे नरबद की आरती उतारेगी। यह बात जब नरसिंह सींधल को मालूम हुई तो उसने सुपियारदे को रूण जाने से रोका।*
    जब नरबद की बारात रूण पहुंची तो नरसिंह ने सुपियारदे को इसी शर्त पर रूण भेजा कि वह नरबद की आरती न उतारे परन्तु नरबद ने सुपियारदे को उसकी जीवन रक्षा का वचन दिया, तब सुपियारदे ने नरबद की आरती उतारी जिसके एवज में उसे अपने पति के पर घोर दुख देखना पड़ा जिसे वह न देख सकी और न इस दुख को सहन कर सकी। सुपियारदे ने नरबद को पत्र लिखा जिसमें उसने जीवन दान मांगा।
    नरबद जैतारण पहुंचा और चुपके से सुपियारदे को अपने गांव ले आया। सींधलों को जब सुपियारदे के भाग निकलने का समाचार मिला तो वे भी पीछे न रहे। उन्होंने नरबद का पीछा किया, नरबद तोउनके हाथ न आया परन्तु इसका भाई आसकरण सत्तावतने सींधलों से युद्ध किया और युद्ध में आसकरण मारा गया। नरबद के कोई संतान नहीं थी, इसलिये इसका बदला रणमल के पौत्र और जोधा के पुत्र दूदा ने मेघा को मार कर लिया।''
    -मुहणोत नैणसी की ख्यात, भाग दूसरा, पृ. 113-114 के अंश में 'नरबद सुपियारदे री बात'
15. *महामहोपाध्याय डॉ. ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भाग प्रथम, पृ. 240*
16. *दयालदास री ख्यात, जिल्द 1, पृ. 120-21*
17. *मुहणोत नैणसी, बात परगने मेड़ते री, पृ. 5*
18. *''मेड़ता (महारेता या मान्धातृपर या मेरूता या मीरता) अजमेर से 40 मील पश्चिम में और जोधपुर से 40 मील उत्तर में है, जो मीरांबाइ का देश भी कहलाता है।'' मुंशी देवीप्रसाद, मीरांबाई का जीवन चरित्र, पृ. 40*
19. *बात परगने मेड़ते री, पृ. 11, मुहणोत नैणसी*
20. *दयालदास की ख्यात, जि. 1, पृ. 108-9*
21. *मुंशी देवीप्रसाद, राव बीकाजी का जीवन चरित्र, पृ. 18-19*
22. *मुहणोत नैणसी, बात परगने मेड़ते री, पृ. 21*
23. *वरसिंघ द्वारा सांभर लूटने की साक्षी हेतु कवित्त निम्न है-*
    तांण चीर तलहुटी घणो कीयो घाटो।
    माटो फोड़ कोट घाघरो फाड़ कचुओ।।

चोहटे कर मदा गालिया अहर भड़ा अमीरस।
कनक लूटिया कनक हीरा मोती।
विपरीत चिरत तह रंग रमी, भारत भरत जोबन भरी।
वरसिंघ कान्ह गुवालियो गोपी सांभर ज्यरी।।
–मुहणोत नैणसी, बात परगने मेड़ते री, पृ. 14

24. *बात परगने मेड़ते री, पृत्र 15, मुहणोत नैणसी*
25. *'बाथ पड़ बर सिंग बांगला, हुल नै हाथी बात हुई।*
याने वरसिंघ का जब घेर लिया गया तब प्रथम राव हुल जी नरभानोत चहुवाण वहां काम आए–मुहणोत नैणसी, बात परगने मेड़ते री,
26. *वरसिंघ को जब अजमेर की पहाड़ियां में मल्लूखां ने कैद किया उसकी पुष्टि हेतु एक कवित्त है–*
मैमंतो घुमंतो सेत दांत विकराले,
ऊंचे गिरे वर जेस माह में जुरो काले।
हणेते हाथी अे हाक कीधी पुकारे,
सबल सैले सरध कूटे बाबा रे।
अजमेर दुरग असुर दल, सिंघ सजे हशाथिये।
उकट चूके कटे अजो, हुल जैत निहठा हाथिये।।
27. *मुंशी देवीप्रसाद, राव बीका का जीवन चरित्र, पृ. 82*
28. *बात परगने मेड़ते री, पृ. 18, मुहणोत नैणसी*
29. *जोधपुर राज्य की ख्यात, जिल्द 1, पृ. 125–26*
30. *मुंशी देवीप्रसाद, राव बीकाजी का जीवन चरित्र, पृ. 30–31*
31. *मुहणोत नैणसी, बात परगने मेड़ते री, पृ. 25*
32. *बात परगने मेड़ते री, पृ. ..., मुहणोत नैणसी*

राजस्थान में स्वामीभक्ति के ऐतिहासिक पहलू

डॉ. साहब राम कुमावत

राजपुताना के इतिहास में सैकड़ों वीर स्वामीभक्त हुए हैं। अंग्रेजी भाषा में Loyal शब्द है जिसका अर्थ होता है। वफादार, कर्तव्यपालक और अपने मालिक के प्रति वफादारी रखनेवाला। वहीं इतिहास में स्वामीभक्ति का अर्थ होता है। अपने राजा के प्रति वफादार एवं संकटकालीन परिस्थितियों में तन–मन व समर्पित भाव के साथ देना। राजपुतों के इतिहास में एक से एक स्वामीभक्त सैनिक हुए हैं जैसे : दुर्गादास राठौड़, झाला मानसिंह (मन्नाजी), पन्नाधाय, राव बल्लु जी, जैता और कुंपा आदि।

वीर दुर्गादास राठौड़

मारवाड़ के इतिहास में त्याग, बलिदान, स्वामीभक्ति व देशभक्ति के लिए वीर दुर्गादास राठौड़ का नाम स्वर्ण अक्षरों में अमरत्व को प्राप्त है। इन्होंने वर्षों मारवड़ के रक्षा एवं सेवा की थी। दुर्गादास राठौड़ मारवाड़ के शासक महाराजा जसंवतसिंह के मंत्री करनोत ठाकुर आसकरण राठौड़ के पुत्र थे। इनका जन्म सवत् 1695 को श्रावन शुक्ला चतुर्दशी (13 अगस्त 1638 को सालवाँ कल्ला में और पालन–पोषण लुनावा गाँव में हुआ।[1] वीर दुर्गादास ने अपने बाल्यकाल में महाराज के कर्मचारी को घोड़े सहित तलवार से काट दिया जिससे उनकी वीरता एवं निर्भीकता देखकर जसंवत सिंह जी ने अपने रक्षा दल में शामिल किया। संवत् 1731 में मुगल सल्लनत के विरुद्ध पठानों के विद्रोह को दबाने के युद्ध में महाराजा जसवंतसिंह वीरगति का प्राप्त हो गये। उस समय महाराजा के कोई पुत्र नहीं था और अजीतसिंह के जन्म के पश्चात् औरगजेब मारवाड़ को हथियाना चाहते थे। इसलिए मारवाड़ की रक्षा एवं एकता के लिए दुर्गादास राठौड़ ने अपना सब कुछ निछवार कर दिया। महाराजा अजित सिंह के युवा होने के पश्चात् मारवाड़ का कार्यभार पुन: सौंप दिया। आपने मारवाड़ की रक्षा के लिए एवं महाराजा अजीतसिंह को षडयंत्रों से बचाने के लिए पच्चीस वर्षों तक संघर्ष किया। इनकी मुत्यु 22 नवम्बर 1718 ई. को हुई और अन्तिम संस्कार शिप्रा नदी के तट पर किया गया।

वीर दुर्गादास राठौड़ की प्रशंसा में सर जदुनाथ सरकार[2] ने लिखा है कि ''उनको न मुगलों का धन विचलित कर सका और न ही मुगल शक्ति उनके दृढ़ हृदय को पीछे हटा सकी। वह एक वीर था जिसमें राजपूती साहस व मुगल मंत्री सी कूटनीति थी।''

स्वामीभक्त पन्नाधाय

जब कभी भी राजस्थान के गौरवान्वित इतिहास में विरांगनाओं को याद किया जाता है। तो ऐसी तीन स्त्रियों के नाम इतिहास में सबसे प्रमुख रूप में भूमिका निभाई है, जिनको राजस्थान के इतिहास को बदलने में अहम् योगदान माना जाता है। ऐसी ही महान स्त्री के रूप में पन्नाधाय का स्वामीभक्ति के पालन में याद किया जाता है। पन्नाधाय खीची राजपूतों की बेटी और सत्वान सिंह गहलोत (मेवाड़ राजघराने में नौकरी करते थे) को ब्याही गई थी। वीर विक्रमादित्य ने अपने नन्हे राजकुमार उदय सिंह के लालन-पालन हेतु धाय के रूप में पन्नाधाय को काम पर रखा। पन्नाधाय का एक पुत्र कुलदीप सिंह भी आयु में उदयसिंह के समान ही था। किन्ही परिस्थितियोंवश राणा संग्राम सिंह के चचेरे भाई बनवीर सिंह का नियंत्रण हो गया। ई. 1536 में उसने अपने भविष्य को सुरक्षित करने हेतु विक्रमादित्य और उसके पुत्र उदयसिंह को रात्रिकाल में निद्रा की अवस्था में मारने का प्लान बनाया। पहरेंदारों और विक्रमादित्य सिंह को जब मार दिया तब पन्नाधाय को विश्वास हो गया कि वह उदयसिंह को भी मौत के घाट उतार देगा। उसने मेवाड़ राजघराने की रक्षा हेतु अपने राजधर्म निर्वाहन करने का निर्णय लिया और पुत्र मोहत्याग कर अपने पुत्र कुलदीप को उदय सिंह के कपड़े पहनाकर उदयसिंह के पलंग पर सुला दिया और उदयसिंह को नौकरानी के साथ कूड़े की टोकरी में महल से बाहर निकाल दिया।

बनवीर सिंह ने उदयसिंह समझकर उसके पुत्र की हत्या कर दी। बनवीर सिंह चित्तौड़ का राजा बन गया। पन्नाधाय ने अपने पुत्र का अन्तिम संस्कार करके गुप्त रास्ते से उदयसिंह को लेकर कुम्भलगढ़ (मेवाड़ की पुरानी राजधानी) में जैन राजा के यहाँ शरण लेकर उदयसिंह का पालन-पोषण किया। इस प्रकार अपने पुत्र का बलिदान देकर राज्य एवं अपने स्वामी के प्रति स्वामीभक्ति का परिचय दिया। आज भी पन्नाधाय का नाम अमरत्व को प्राप्त है।

झाला मानसिंह (मन्नाजी)

इनका परिचय झाला मान या मन्नाजी एक वीर एवं पराक्रमी योद्धा थे। जिसका नाम राजस्थान के इतिहास में स्वर्णिम अक्षरों के अंकित है। 18 जून 1576 को हल्दीघाटी के युद्ध में महाराणा प्रताप के प्राण ठीक उसी प्रकार बचाये, जैसे उसके दादा झाला बीदा ने खानवा के युद्ध में राणा सांगा के बचाये थे। झाला बीदा को युद्ध के दौरान पहचान लिया गया था, क्योंकि उनके शरीर पर कम घाव थे। झाला मन्नाजी ने महाराणा प्रताप की स्थिति की गंभीरता को समझते हुए सादड़ी के जुझारू मन्नाजी ने राणा की पगड़ी लेकर अपने शीश पर पहनकर अकबर की सेना को दूर ले गये। जिससे राणा प्रताप बचने में सफल रहे।[3]

राव बल्लु जी चम्पावत

जोधपुर के राजा महाराजा गजसिंह के ज्येष्ठ पुत्र अमरसिंह थे, जिनका जन्म 12 दिसम्बर 1616 को हुआ इनकी माता का नाम मनसुख दे था। 6 मई 1638 को गजसिंह की मृत्यु के पश्चात् उनके छोटे पुत्र जसवन्त सिंह को जोधपुर का राजा बना दिया गया। शाहंजहां ने अमरसिंह राव को नागौर परगने की कमान सौंपी।[4] उस समय शाहजहां द्वारा हाथी की चराई पर कर लिया जाता था। राव अमरसिंह द्वारा यह कर देने से मना कर दिया तो शाहंजहां ने तकाजे के लिए सलामतखां को भेजा गया। सलामतखां और राव के बीच कहासुनी में सलामतखांन ने कुछ अपशब्दों का प्रयोग किया जिसके फलस्वरूप राव ने शाहंजहां के सामने ही सलामतखां का वध कर दिया। खुद शाहजहां की सेना से युद्ध करते हुए आगरा के किले में 25 जुलाई 1644 को मारे गये। राव अमरसिंह राठौड़ के शव को वापिस लाने के लिए उनके सहयोगी सैनिक श्री बल्लु चंपावत ने बादशाह से मिलने की इच्छा जाहिर की। बादशाह ने मिलने की अनुमति प्रदान कर दी। आगरा के किले के दरवाजे एक एक करके खुलते एवं बन्द होते गये। अन्त में बादशाह खुद सामने आये। बल्लु चंपावत ने बादशाह को कहा ''बादशाह सलामत जो होना था वो हो गया मैं अपने स्वामी के अन्तिम दर्शन मात्र कर लेना चाहता हूँ।'' बादशाह ने अनुमति देदी।[5]

इधर राव अमरसिंह राठौड़ के शव को लकड़ी के तख्त पर रखकर सैनिक सम्मान के साथ 20 फिट दूरी पर शोकाकुल खड़े थे। दुर्ग के बुर्ज पर शहनाई बज रही थी। बल्लू शोकपूर्ण मुद्रा में झुका और पलक झपकते ही राव के शव के साथ घोड़े की ऐड लगा दी और घोड़े को दुर्ग के पट्ठे पर चढ़ गया। दूसरे ही क्षण दुर्ग से नीचे छलांग लगा दी। मुगल सैनिक भौंचके रह गये। दूसरी तरफ 500 सैनिकों के साथ राजपुत योद्धाओं को राव अमरसिंह का पार्थिव शरीर सौंपकर बल्लु दूसरे घोड़े पर सवार होकर किले के मुख्य द्वार पर युद्ध करने आ गया। मुगल सैनिकों का रोकने हेतु बड़ी वीरता से युद्ध करता हुआ मारा गया लेकिन वो मुगल सैनिकों को रोकने में सफल रहा। आगरे के किले के उस दरवाजे का अमरसिंह दरवाजा रखा गया।

जैता और कुंपा

राजस्थान के इतिहास में जैता और कूंपा की विशेष पहचान अवश्य है। गिरी सुमेर राजस्थान के पाली जिले के जैतारण तहसील में मारवाड़ का एक छोटा सा गाँव है। सन् 1543 ई में दिल्ली सल्तनत शेरशाह सूरी के हाथ में थी। वह मारवाड़ पर अपना आधिपत्य चाहता था, इसलिए उसने जोधपुर से 90 किमी दूर गिरी सुमेर में 90 हजार सैनिकों के साथ डेरा डाल दिया। जो मेहरानगढ़ दुर्ग यानी चिड़ियाटुक की पहाड़ी पर बना था।[6] शेरशाह सूरी से युद्ध करने मालदेव गिरी सुमेर पहुंच गया। एक महिने तक दोनों सेना डेरा डाले बैठी रही। शेरशाह सूरी ने मालदेव की सेना में भीतरघात की

अफवाह फैला दी। मालदेव परेशान होकर जोधपुर कूच करने का फैसला कर लिया। युद्ध क्षेत्र से पीछे हटने के पश्चात् मालदेव के दो सेनापति जैता और कुंपा पानी पीने गये। वहीं की महिलाओं की बातें सुनकर ''मालदेव की सेना में जैता और कुम्पा मौजूद है तब तक डरने की कोई बात नहीं है।'' दोनों (आसोप ठिकाने के सरदार थे)[7] ने पुनः लौटकर कहा कि वो गिरी सुमेर छोड़कर नहीं जाना चाहते। दस हजार सैनिकों के साथ 4 जनवरी 1544 को शेरशाह सूरी के 80 हजार सैनिकों के साथ युद्ध हुआ। दोनों ने शेरशाह सूरी की सेना के होश ठिकाने लगा दिये। शेरशाह सूरी मैदान छोड़कर भागने लगा तक सेनापति खवास खान ने आकर सूचना दी कि जैता और कुंपा मारे गये। तब शेरशाह सूरी ने कहा कि मैं मुट्ठी भर बाजरे के लिए दिल्ली की सल्तनत गवां देता।''[8] विकट परिस्थितियों में भी स्वामीभक्ति का परिचय देते हुए दोनों ने अपना राजपूत धर्म का निर्वाहन किया।

जयमल पत्ता और कल्लोजी

'रजवट भूख अनोखड़ी, मरया मिटे चितौड़' 25 फरवरी 1568 को अपना बलिदान चितौड़ के लिए देकर स्वामीभक्ति का परिचय दिया। राजस्थान के इतिहास में अनेकों वीरों स्वामीभक्ति के उदाहरण हैं। जिससे राजस्थान का परिचय आज भी विश्वसनीयता एवं वफादारी के रूप में माना जाता है।

राजस्थान के इतिहास में वफादार जानवरों का विश्लेषण करना

वफादारी के लिए राजस्थान में चेतक, लीलण और केसर कालमी आदि को प्रमुखता से याद किया जाता है, जिसकी वफादार, कर्तव्यपालक और अपने मालिक के प्रति वफादारी रखने वाला होती है। वहीं इतिहास में स्वामीभक्ति का अर्थ होता है। अपने राजा के प्रति वफादार एवं संकटकालीन परिस्थितियों में तन-मन व समर्पित भाव के साथ देकर निभाया जाता है।

चेतक : महाराणा प्रताप का सबसे प्रिय घोड़ा था। चेतक में संवेदनशीलता, वफादारी और बहादुरी कूट-कूट कर भी थी। यह नीला अफगानी घोड़ा था। प्रताप की वीरता भरी कहानियों में चेतक का अपना स्थान है। चेतक की फुर्ती के कारण ही प्रताप ने कई युद्धों को सहजता से जीता था। प्रताप चेतक को अपने पुत्र की भांति प्रेम करते थे। हल्दीघाटी के युद्ध में घायल होने के पश्चात् चेतक को 21 फिट की चौड़ाई को फलांगना पड़ता है। घायल होने के पश्चात् 21 जून 1576 को चेतक ने अपने प्राण त्याग दिये। महाराणा प्रताप के मन में आजीवन चेतक की टीस रही।

लीलण : वीर तेजा जी की प्रिय घोड़ी लीलण ने अपने मालिक के प्रति अन्तिम सांस तक साथ दिया। कवियों एवं लोक भजनों में लीलण की वफादारी को बहादुरी से

याद किया जाता है।

केसर कालमी : केसर कालमी मारवाड़ी नस्ल की घोड़ी थी, जो पाबूजी की घोड़ी थी। पाबूजी की केसर कालमी घोड़ी ने अनेक विकट परिस्थितियों में उनका साथ दिया। राजस्थान के इतिहास में प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक अनेकों जानवरों ने अपनी वफादारी का परिचय दिया है। इसलिए यहाँ की मातृभूमि में स्वामीभक्ति एवं वफादारी का महत्वपूर्ण मूल्य एवं गुण विद्यमान रहा है।

सन्दर्भ

1. *Rapson, FJ The Cambridge History of India, Vol.3 2015 page 247*
2. *Sarkar, Jadunath (1901), The India of Aurangezeb (India of Aurangzeb: Topography, Statistics and Roads) Edition 3. 1949*
3. *पाण्डेय, श्याम नारायण (2013) हल्दीघाटी-झाला का बलिदान, राजसंमद जिला राजस्थान*
4. *Thomas William Beale, A oriental biographical dictionary: founded on materials collected by the late Thomas William Beale, Kraus Reprint, 1881, ... Sala'bat Khan, a nobleman who held the title of Mir Bakhshi or paymaster general in the time of the emperor Shah Jahan. He was stabbed in the presence of the emperor by a Rajput chief named Amar Singh Rathor the son of Gaj Singh ...*
5. *Rathore, Himmat Singh (2016) "Veerver Rao Amarsingh Rathore" lok Chetna prakashan, Indore MP*
6. *Majumdar, R.C. (ed.) (2006). The Mughal Empire, Mumbai: Bharatiya Vidya Bhavan, pp. 81*
7. *Sharma, GD (1975), concept of kingship and the marwar nobility during the 16th century Proceedings of the Indian History Congress Vol. 36 (1975), pp. 157-165*
8. *Mahajan, V. D. (2007). History of Medieval India, S. Chand, New Delhi*

जैसलमेर के प्रमुख व्यापारिक मार्ग एवं लड़पलाण (मौसमी विस्थापन) से विकसित व्यापार : एक विवेचन

डॉ. रविन्द्र टेलर

समन्वयात्मक संस्कृति ने आर्थिक विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। यह भू-भाग पुरातत्त्व-वेत्ताओं के अनुसार अनादि काल से ही प्राकृतिक दृष्टि से सम्पन्न रहा है। प्रारंभिक काल में सरहिन्द में चोतंगा, सरस्वती और घग्घर नामक तीन नदियाँ बहती थी, जिन्हें कालान्तर में हाकड़ा नदी के नाम से जाना गया। यह उत्तर-पश्चिमी राजस्थान में बहकर सिन्धु नदी में गिरती थी।[1] भूकम्प एवं प्राकृतिक प्रकोप के कारण इस क्षेत्र का भूमितल 20-25 फीट ऊँचा हो गया इस कारण नदियों का पानी बिखर गया। इस प्राकृतिक परिवर्तन ने जैसलमेर की आर्थिक क्रियाओं को बहुत प्रभावित किया।[2] इन प्राकृतिक परिवर्तनों ने स्थानीय निवासियों को अधिक साहसी, मेहनती एवं धैर्यवान बनाया, जिससे उनकी प्रकृति संघर्षशील बनी।

जैसलमेर एक व्यापारिक राज्य नहीं होकर मध्य एशिया एवं शेष भारत के शुष्क मार्ग में संधि स्थल था तथा शुष्क बंदरगाह के रूप में इसका प्रयोग होता था। मध्यकाल में जैसलमेर की समृद्धि का प्रमुख कारण इसका गंगा की घाटी तथा सप्त सिन्धु प्रदेश के मध्य व्यापारिक मार्ग पर स्थित होना था।[3] सिन्ध के विभिन्न प्रदेशों का माल भी जैसलमेर होकर आता था तथा राजपूताने से सिन्ध की ओर जाने वाला माल भी जैसलमेर होकर जाता था। जैसलमेर से सिन्ध और पंजाब तथा कच्छ से जोड़ने वाले मार्गो के संबंध में लक्ष्मीचंद जी सेवग ने जैसलमेर की तवारीख में दिया है (यह जेम्स टॉड से भिन्न है) यह मार्ग पानी के सहारे चलते है। जहाँ पानी के कुऐं, तालाब, कुंड आदि की व्यवस्था थी। लोग दूरी और सुविधा तथा भूमि की स्थिति को देखकर यात्रा करते थे। पैदल व ऊंट के रास्ते को पगडंडी कहा जाता था तथा बैलगाड़ी के मार्ग को चीला कहा जाता था।[4] इस क्षेत्र में रेत की अधिकता के कारण ऊंटों एवं गधों का प्रयोग किया जाता था। अनेक फारसी इतिहासकारों द्वारा भी हुमायूं के जैसलमेर आगमन का वाया फलौदी से जैसलमेर आने के मार्ग का उल्लेख किया गया है।[5] गंगा के निकटस्थ प्रदेशों और पंजाब से व्यापारिक समान जैसलमेर लाया जाता था। कोटा और मालवा की अफीम, बीकानेर का प्रसिद्ध गुड़ और जयपुर में लोटे का समान जैसलमेर होकर शिकारपुर एवं सिन्ध के प्रदेशों में भेजे जाते थे। इन स्थानों पर से अफीम, हाथीदांत रंग, नारियल, दवाईयां और

 ISSN 2321-1288

चंदन की लकड़ी एवं भागलपुर से सूखे मेवे, हीरा, इत्र एवं गरम कपड़े जैसलमेर लाये जाते थे। इसके अतिरिक्त चावल एवं गेहूं का आयात सिन्ध प्रदेश से होता था।[6]

कर्नल टॉड के प्रसिद्ध ग्रंथ 'एनाल्स एंड एंटीक्वीटज ऑफ राजस्थान' के तृतीय भाग में (ऑक्सफोर्ड 1920 में प्रकाशित) भारतीय उपमहाद्वीप में मरुभूमि पर प्रकाश डालने वाला स्केच ऑफ दी इंडियन डेजर्ट नाम से अध्याय शामिल किया है। जैसलमेर को केन्द्र बिन्दु मानकर सिन्ध और मारवाड़ को जोड़ने वाले अनेक मार्गों की जानकारी 1817 ई. तक एकत्रित कर मार्गों में पड़ने वाले गांवों की संख्या का भी उल्लेख है।

प्रमुख मार्ग

जैसलमेर-रोहड़ी भख्खर मार्ग - रोहड़ी भख्खर जैसलमेर से 100 कोस दूरी पर स्थित है। रोहड़ी से 12 कोस पर शिकारपुर व 12 कोस पर खैरपुर मीर साहब है, जिसका रास्ता कोटशाहगढ़ में से भी होकर जाता है। इस मार्ग पर स्थान-स्थान पर जलस्त्रोत है जैसलमेर से 4 कोस पर स्थित चुन्धी में मीठे जल का कुंड है छत्रेल, कुछड़ी, कोन, सोजरे, मिण्डाई, मतेरीख, सिंगरार एवं भिडो आदि स्थानों पर जलस्त्रोत उपलब्ध है, जिसमें मार्ग पर यात्रा करने वाले यात्रियों को जल, भोजन एवं रात्रि ठहराव की कोई समस्या नहीं आती थी।

जैसलमेर से हैदराबाद सिन्ध - जैसलमेर से हैदराबाद सिन्ध 100 कोस की दूरी पर स्थित है। हैदराबाद सिन्ध जाने के दो मार्ग है-प्रथम मार्ग-जैसलमेर से सता, खुल्डी, बछणाई, पुलिया, सैदाऊ, जाफराक, रणाउ, आसरी डलर, लाठी होते हुए हुए हैदराबाद सिन्ध जाता है। इस मार्ग पर भी स्थान-स्थान पर जल की व्यवस्था थी।

द्वितीय मार्ग-कोर म्हाजलार से गांव सुंदरा, राणगदेसर, चीरा बेरी, छोल, अमरकोट, साडालो, तंडा अजयारे से हैदराबाद सिन्ध आता है। यहां से यह मार्ग नगरपडूरा से केलात, बलोचिस्तान, मक्का शरीफ व केनी हिंगलाज को जाता है तथा करांची से बम्बई बंदरगाह व इंग्लैंड को जहाज जलमार्ग से जाते है।

जैसलमेर खैरपुर डहर मार्ग - खैरपुर डहर जैसलमेर से 72 कोस की दूरी पर सिथत है। यह मार्ग रामकुंडा से जाता है। रामकुंडा, लाणेला, भादासर, मोकला, सोनू, कोर, रामगढ़, खेरड़, रणाउ, घेराली, तनोट होते हुए खैरपुर डहर जाता है। यही मार्ग आगे चलकर अहमदनगर, गड़ी, बुरहानपुर, पंजाब को जाता है।

जैसलमेर बाड़मेर सुई नगरपारकर मार्ग -जैसलमेर बाड़मेर के मध्य 45 कोस की दूरी है। कर्नल टॉड के अनुसार जैसलमेर से दक्षिण दिशा में निकलता हुआ मार्ग धानुवा जाता है। धानुवा से चींचा, जसुराना, ऊंडा, सांगूर, बीझोराई, राजरोया, गूगां, भडका, कपूलरी होते हुए जाता है। जैसलमेर से बाड़मेर जाने वाला मार्ग का यह

भाग बरियाड़ा व कोटड़ा का क्षेत्र कहलाता है। कपूलरी जालेपा गांवों से बाड़मेर समीप पड़ता है।

जैसलमेर से पोकरण मार्ग – पोकरण एक बड़ा कस्बा है। इसके पश्चिम दिशा में ओडानिया से लाठी, सोढ़ाकौर, चांधन, भोजका, बापू की तलाई, मोकलात होते हुए जैसलमेर जाता है।

जैसलमेर नगरपारकर मार्ग – यह मार्ग डाबला, आकल होता हुआ आगे बढ़ता था। आकल से देवीकोट, संगूर (सागड़) होते हुए पहुँचता था। संगूर के लोग पलायन कर सिन्ध चले गये थे। यहाँ से बालोतरा जाने का मार्ग भी विभक्त होता था। एक मार्ग धनुवा, कीता, जसु, ऊंडा होते हुए जाता था। इसमें देवीकोट नहीं आता था।

मिठारी (मिठ्ठी) जैसलमेर मार्ग – मिठारी के उत्तर दिशा 10 कोस पर चेलार है वहां से समाइचों की बस्ती, नरुथली, गेड़, डाबली, अमरकोट है। गुरैरा, कोटरा होते हुए शिव पहुंचता है शिव से उत्तर दिशा में यह मार्ग जैसलमेर की ओर बढ़ता है।

जैसलमेर से खानपुर – जैसलमेर से खानपुर 73 कोस पर है। यह मार्ग बरमसर, मुलदे कंडीयाला, खाबलसर, डाबर, वराहा, न्हवर, बराबलपुर, मुरारोमा होते हुए खानपुर जाता था। खानपुर जाने का दूसरा मार्ग बहवर से मिठड़ा होकर भी जाता था।

इन मार्गों के अतिरिक्त मध्यकाल में पड़ौसी राज्यों एवं विदेशों के व्यापारिक मार्ग मिलते थे–

1. जैसलमेर से जोधपुर–वाया–कासनपीर, चांदन, लाठी तथा ओढलिया।
2. जैसलमेर से बीकानेर–वाया–बासनपीर, चांदन, भादरिया, लुहारकी, नाचना, नोख, घटियाला, गिरासर। (एक अन्य मार्ग–फलौदी, रणजीतपुर, पूगल होते हुए जाता था।)
3. जैसलमेर से अहमदनगर–वाया–खैरपुर, तनोट, कोट, सब्जलाई, रणजीतपुर।
4. जैसलमेर से मीरपुर–वाया–शाहगढ़, खैरपुर।
5. जैसलमेर से कच्छ भुज–वाया–म्याजलार, गड़रा, सिन्ध।
6. जैसलमेर से मालानी बाड़मेर–वाया–बालोतरा।
7. जैसलमेर से बालोतरा–वाया–देवीकोट, बीजोराई।

इनमें से मार्ग नं. 4, 5, 6 वर्तमान में लुप्त प्राय है, इन मार्गों में विशालकाय बालू रेत के टीले है।[8]

महारावल अमरसिंह (1660 ई. से 1700 ई.) का काल जैसलमेर का व्यापारिक दृष्टि से स्वर्णकाल माना जाता है।[9] अच्छे व्यापार के कारण राज्य को मिलने वाले राजस्व

में भी वृद्धि हुई। अमीर वर्ग पर बराड़ नामक कर लगाने का उल्लेख मिलता है।[10] व्यापारिक मार्गों की सुरक्षा हेतु स्थान–स्थान पर व्यापारिक चौकिया स्थापित की गई जिनकी जिम्मेदारी स्थानीय जागीरदारों को सौंपी जो कर वसूली का कार्य भी करते थे।

व्यापारिक कर एक स्थान पर नहीं लगकर राज्य में विभिन्न स्थानों पर भिन्न–भिन्न दरों से जातिगत आधार पर वसूल किया जाता था। कर दो प्रकार का था–सायर कर–विदेशों से आने वाली वस्तुओं पर लगता था। जो राज्य के अंदर से होकर अन्य राज्यों में निर्यात होती थी। इस कर को स्वयं महारावल भी अदा किया करते थे। व्यापारिक कर–समस्त प्रजा से भिन्न दर से वसूल किया जाता था। जिसमें सुथार, हलवाई, चमार, सब्जी बेचने वाले, लुहार प्रमुख थे। फकीर, चारण डूम एवं खामिया को करों से मुक्त रखा जाता था।[11]

लडपलाण (मौसमी विस्थापन)

लगभग पूरा राजस्थान अकाल के लिये प्रसिद्ध है किन्तु जैसलमेर तो अकाल का स्थायी आवास गृह माना जाता है। इस संदर्भ में एक दोहा प्रसिद्ध है–

पग पुगल धड़ कोटड़े, बाहां बाड़मेर।
जोयो लादे जोधपुर, ठावौ जैसलमेर।।[12]

जल के अभाव के कारण कृषिगत वस्तुओं के उत्पादन में कमी आती थी और अनाज के भाव आसमान को छूने लगते थे। इसी कारण स्थानीय निवासी आजीविका हेतु लडपलाण को (मौसमी विस्थापन) करते हुए सिन्ध एवं पंजाब जा कर शरण लेते थे। अकाल के दौरान कर्मकार जातियों का सर्वाधिक पलायन हुआ। उदाहरणार्थ–भवन निर्माण में दक्ष लोग जो पीढ़ियों में इस क्षेत्र में सेवा करते थे गजधर के नाम से पुकारे जाते थे। वे पलायन करके सिन्ध की तरफ चले गये।[13] अनेक कर्मकार जातियां–लौहार, खत्री, दर्जी, सुनार एवं कृषक जातियां भी आजीविका हेतु सिन्ध की और पलायन कर गई।[14] भोज्य सामग्री के अभाव के कारण जनसामान्य अनाज के साथ–साथ सांगरी, भुरट, बैर, फलियें एवं घास मिलाकर खाने के लिए बाध्य हो गये थे। जैसलमेर के पश्चिमी परगनों में निवास करने वाले मुसलमानों, भीलों और मेघवालों ने टिड्डियों को मारकर खाना प्रारंभ कर दिया।[15] सामान्यतया तो मौसमी विस्थापन होता था। किन्तु कुछ उदाहरण ऐसे भी मिलते है कि कुछ परिवार सिन्ध में स्थायी रूप से रहने लगे। आज जिन्हें पाकिस्तान में मेघवाल जैसलमेरिया के नाम से पुकारे जाते है।[16] एक सांगूर गांव का उल्लेख मिलता है जहाँ 60 परिवार रहते थे। 18 वीं शताब्दी में पड़े अकाल के कारण यहाँ से 45 परिवार सिन्ध की ओर चले गये।[17]

अकाल के समय मौसमी विस्थापन के कारण सिन्ध एवं पंजाब गये लोग वर्षा प्रारंभ होते ही लोग सुकाल की उम्मीद में घरों को लौट आते थे। यद्यपि कुछ अपवाद भी

मिलते है। ऐसे समय में राज्य प्रशासन द्वारा अकाल राहत कार्य कर लोगों को रोजगार उपलब्ध कराया जाता था। राजस्थान राज्य अभिलेखागार की पत्रावलियों से इसकी जानकारी मिलती है।

इस दौरान पेयजल स्त्रोतों के निर्माण पर ज्यादा बल दिया। राज्य की जनता के प्रत्येक वर्ग को उसके सामर्थ्य के अनुरूप रोजगार उपलब्ध कराया गया।[18] राज्य के सेठों द्वारा भी इस संकट की घड़ी में दानवीरता का परिचय दिया गया। अजमेर के सेठ उम्मेदमल राजमल ने ठिठुरते हुए जैसलमेर वासियों के बीच 100 कम्बलों का वितरण किया। विस्थापन के दौरान नवीन क्षेत्र (जहां लोग जाते थे) की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक स्थिति का प्रभाव उन पर पड़ता था। अत: वह उससे प्रभावित होकर उन क्षेत्रों में प्रचलित कला व संस्कृति को अंगीकृत करते थे और अपने मूल स्थान पर लौटने पर इसका प्रभाव उनकी व्याहारिक गतिविधियों में व्यापक रूप से दृष्टिगत होता था। दो संस्कृतियों के प्रभाव से नवीन संकर संस्कृति विकसित होती थी।

इस क्षेत्र के निवासी स्वालम्बी जीवन जीते थे अपने गांव में ही अपनी आवश्यकताओं की वस्तुओं को उत्पादित करते थे। इस क्षेत्र की विशेष बात यह थी कि हुनर व कला के अनुसार इस क्षेत्र में जातियां बनी है तथा बहुत बड़ी मात्रा में जातीय रूपान्तरण हुआ। इस क्षेत्र एक कहावत प्रचलित है-

'नर तो हुनर न तो खर रो खर।'

अर्थात् किसी कला के बिना आदमी गधे के समान है। यह कहावत यथार्थ रूप से चरितार्थ होती है। इस क्षेत्र के सोढ़ा राजपूत अपने शौर्य, पराक्रम, माहेश्वरी अपने व्यापार व वणिक बुद्धि, मेघवाल अपनी बुनाई व कारीगरी, खत्री अपनी रंगाई छपाई व कुम्हार अपने बेह के लिए प्रसिद्ध थे। चमड़े से बनी सिन्धण जूती, ठाटणी जूती, डीवड़ी (चमड़े की बनी जिसमें एक घड़ा पानी आता था पशुपालक प्रयोग करते थे), घी रखने के लिए टीपे, चमड़े की खड़ताल आदि प्रसिद्ध थी। इसके प्रमुख निर्माण केन्द्र-मिठी जालमकोट, चेल्हार, छाबरा, डीपला, अमरकोट, आलमसर, गडरा रोड, तालसर, मिठमाऊ, प्रमुख थे। इस क्षेत्र के मोची जिसे मडाई गांव के मेघवाल चमड़े के हुक्के, जूती, पानी की पखाल आदि अति सुंदर निर्मित करते थे।[19]

मिट्टी के बर्तन

ढाबरा - ढाल मिट्टी के विशिष्ट बर्तन जिनमें बना भोजन डालकर बच्चे वार-त्योंहार पर एक घर से दूसरे घर ले जाते थे।

बेह - मिट्टी के छोटे व बड़े शृंखलाबद्ध 10-11 बर्तनों को बेह कहते हैं जिनका उपयोग चंवरी मांडने में किया जाता है। शेखासर एवं खुहड़ी में बने मिट्टी के बर्तन भी

कलात्मक थे।[20]

सींढुणी - पानी के गागर-मौरिये (घड़े) सिर पर रखने के हेतु महिलाएं सींढुणी का प्रयोग करती थी। सींढुणी, भरत (हस्तकला) के कार्य से परिपूर्ण होती थी जिस पर कोड-टिक-सितार-मोड़ी सुंदर तरीके से गुंथे हुए होते थे और पीछे की तरफ हुगो (छेड़ो) लटकता रहता था। सींढुणी को दहेज में दिया जाना अनिवार्य होता था।

लकड़ी का सामान

इस क्षेत्र के सुथार (खाती) लकड़ी पर अद्‌भुत कलात्मक नक्काशी किया किया करते थे। इसे क्षेत्र में खेजड़ी, रोहिड़ा, कुमट और जाल के वृक्ष मिलते है जिनकी लकड़ी का प्रयोग घरेलू सामान के निर्माण में किया जाता है। लकड़ी नरम होने के कारण सुथार इस पर सहजता से खुदाई कर कलात्मक दरवाजे, खिड़कियाँ एवं फर्नीचर निर्मित करते थे। लोद्रवा, मोहनगढ़, बिकमपुर एवं कनोई के सुथार ऊंट एवं घोड़ों के पिलान निर्मित करते थे एवं सिन्ध में निर्मित किये जाते थे।[21] इस क्षेत्र में रोहिड़ा की लकड़ी से चारपाई के पागे, खिलौने, कप बनाये जाते थे।

भरत

इस क्षेत्र में कशीदाकारी को भरत कहते थे। बिछाने के लिए चद्दरें, कुशन कवर, कँचला, खलेची, सनदराणी, घोरा, मेज पोस, रूमाल आदि निर्मित किये जाते थे। कशीदा भरत में खारक, हुरम जी लिखा, कन्दड़ो भरत का एक प्रकार मुख्य नमूना है जो सुई धागे से बनता है। ऊंट के मुंह पर चढ़ाने वाला मोहरा भी टौरा (फूलों का गूंथा हुआ था जो कशीदाकारी में फूलों की तरह दिखाई देता था।) के साथ भरत कार्य से सजा हुआ होता था। जैसलमेर के मोची एवं मंडर्प ग्राम के मेघवाल ऊंटों के गोरबंध पर आकर्षक कशीदा निकालते थे।

कताई-बुनाई-रंगाई

स्थानीय निवासी आक एवं घास की पतली लकड़ी की तकनियाँ बना कर हाथ से ऊंट की जट एवं भेड़ की बरड़ी, बोरे तथा सतरंगी खड़िया कातते एवं बुनते थे। ऊंट एवं बकरी के बालों से बोरे तथा जाजम जाती थी।[22] मोटा कपड़ा, दुपट्टों तथा कम्बल बनाने का कार्य भी पर्याप्त मात्रा में होता था। यहां से कम्बल अन्य प्रदेशों में भेजे जाते थे। मुसलमान व चमार रेजे की धोलियां तथा साफे बनाते थे। रजाई का काम भी होता था। खत्री कपड़ों की रंगाई, उत्कृष्ट एवं आकर्षक ढंग से करते थे।[23] ये कपड़े सिन्ध व अमरकोट निर्यात होते थे। सागड़ ग्राम की जाजम रंगाई प्रदेश भर भी प्रसिद्ध थी।

पत्थर का काम

इस क्षेत्र में पत्थर का काम अत्यन्त सुंदर होता था। पत्थर की चौकी, कुर्सी,

प्याले, रकाबियां आदि निर्मित किये जाते थे। इनका निर्यात भी होता था।

इसके अतिरिक्त सुनार, मिस्त्री, नमक, खनन, बारूद एवं लोहे के सामान का कार्य भी होता था। इस प्रकार जैसलमेर ने व्यापारिक दृष्टि से अपना विशिष्ट स्थान बना लिया था। सिन्ध के विभिन्न प्रदेशों का माल जैसलमेर होकर मारवाड़ जाता था तथा मारवाड़ से सिन्ध जाने वाला माल भी जैसलमेर होकर जाता था। इस माल की कलात्मकता पर मौसमी विस्थापन की झलक स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होती थी। इस क्षेत्र में वस्तुएं घूम-घूम कर बेची जाती थी। जिससे लोगों का आपस में घनिष्ठ समर्थक होता था। सभी व्यवसायों के लिए पृथक-पृथक बाजार थे जैसे-वस्त्र, मिष्ठान, सुनार, रंगरेज, दर्जी, शस्त्र निर्माता आदि। पुष्पहार, पान, इत्र भी घूम-घूम कर बेचे जाते थे।

इस प्रकार व्यापारिक मार्गो पर आवागमन के साथ सांस्कृतिक हस्तातरण होता था। मौसमी विस्थापन सांस्कृतिक आदान-प्रदान को अधिक समृद्धता प्रदान करता था। मौसमी विस्थापन के दौरान आजीविका चलाने के लिए प्रचलित स्थानीय कलाओं को अपनाने ने एक नवीन संकर संस्कृति के विकास के मार्ग को उन्मुख किया जिसका प्रभाव वर्तमान तक दृष्टिगत होता है।

संदर्भ

1. *रेउ, विश्वेश्वरनाथ, मारवाड़ का इतिहास, भाग 1, पृ. 3*
2. *डॉ. नरेन्द्रसिंह, जैसलमेर राजघराने का केन्द्रीय सत्ता से संबंध, 2008, पृ. 238*
3. *श्यामलदास, वीर विनोद, पृ. 1756, टॉड जेम्स, एनाल्स एंड एंटीक्यूटीज ऑफ राजस्थान, वोल्यूम 2, पृ. 241*
4. *नंदकिशोर शर्मा, सिन्ध हिन्द का इतिहास, 2014, पृ. 68*
5. *अबुल फजल, द अकबरनामा, अनुवादक एच. बेर्वरीज, वोल्यूम 1, पृ. 182; गुल बदन बेगम, हुमायूंनामा, अनुवादक ए.सी. बेर्वरीज, पृ. 155-157*
6. *टॉड जेम्स, एनाल्स एंड एंटी क्यूटीज ऑफ राजस्थान, वोल्यूम 2, पृ. 241-242*
7. *वाटर सी.के.एम., गजेटियर्स ऑफ मारवाड़, मालानी एंड जैसलमेर, पृ. 124*
8. *डॉ. नरेन्द्रसिंह, जैसलमेर राजघराने का केन्द्रीय सत्ता से संबंध, 2008, पृ. 250*
9. *सोमानी आर. वी., हिस्ट्री ऑफ जैसलमेर, पृ. 4-5*
10. *डॉ. नरेन्द्रसिंह, जैसलमेर राजघराने का केन्द्रीय सत्ता से संबंध 1500 - 1720 ए.डी., राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर 2006 पृ. 251*
11. *सोमानी, एंटीक्यूटीज ऑफ सिन्ध, पृ. 170*
12. *रिकार्ड महकमा खास जैसलमेर, फाईल नं. 1727/1947, राज. रा. अभि. बीकानेर*
13. *फाईल नं. 172, टेलीग्राम एच.एच. गजधर वजीर सिन्ध का महारावल के नाम, दिनांक 21-09-1947, रा. रा. अभिलेखागार, बीकानेर*

14. *रिकार्ड महकमा खास जैसलमेर, फाईल नं. 1727, वोल्यूम 2, पृ. 14, रा. रा. अभि. बीकानेर*
15. *लखमीचंद, तवारीख जैसलमेर, वैदिक मंत्रालय, अजमेर, वि.सं. 1948, पृ. 212*
16. *रामचंद्र मेघवाल, तारीख रेगिस्तान, वोल्यूम, 1, सिन्धी अदबी बोर्ड, 1956, हैदराबाद*
17. *नंदकिशोर शर्मा, सिन्ध हिन्द का इतिहास, सीमान्त प्रकाशन, जैसलमेर, 2014, पृ. 70*
18. *प्रोसेडिंग्स नं. 112, फॉरेन डिपार्टमेन्ट इंटरनल-ए, सितम्बर, 1900 पृ. 10, राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली*
19. *लखमीचंद, तवारीख जैसलमेर, वैदिक मंत्रालय, अजमेर, वि.सं. 1948, पृ. 201-202*
20. *वही, पृ. 227*
21. *वही, पृ. 228*
22. *वही, पृ. 187*
23. *डॉ. नरेन्द्रसिंह, जैसलमेर राजघराने का केन्द्रीय सत्ता से संबंध 1500 - 1720 ए.डी., राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर 2006 पृ. 252*

मारवाड़ में अफीम सेवन की परम्परा : एक ऐतिहासिक अध्ययन

डॉ. भरत देवड़ा

मारवाड़ की मरुधरा अपनी संस्कृति, परम्परा एवं रस्मों रिवाज के लिए विश्व प्रसिद्ध है। मरुदेश की जीवन शैली में अफीम सेवन की परम्परा लम्बे समय से रची बसी है। यह एक आश्चर्य की बात है कि मादक पदार्थ अफीम की खेती राजस्थान के मेवाड़ और मध्यप्रदेश के मालवा क्षेत्र में अधिक होती रही है, लेकिन अफीम सेवन की परम्परा मारवाड़ में अधिक प्रचलित रही है। प्राचीन काल से अफीम का सेवन औषधि के रूप में होता रहा है। जिनमें शरीर के किसी अंग में दर्द होने पर अफीम की मालिश करना, पेचिस (दस्त) व सर्दी-जुकाम में अफीम को गर्म करके (फूला बनाकर) लेने की परंपरा रही है। अफीम कब्ज पैदा करने वाला पदार्थ है अत: युद्ध के समय मल-मूत्र रोकने के लिए अफीम पी जाती थी। वही अफीम शक्तिवर्धक मादक पदार्थ होने के कारण कालांतर में इसका प्रयोग युद्ध के समय सैनिक अपनी शक्ति का प्रदर्शन के लिए भी करने लगे थे।

मारवाड़ में अफीम की उत्पत्ति के संबंध में एक दोहा प्रचलित है कि-

अमल भैंस, ग चावल, चौथी रिजका चार।
इतरी दीया दायजै, वासंग रै दरबार।।[1]

अर्थात् कर्ण के विवाह पर राजा वासंग ने अफीम, भैंस, गेहूँ व रिजका (घोड़े के लिए हरा घास) यह चार चीजें दहेज में उसे दी थी। मारवाड़ में एक अन्य कहावत प्रचलित है-

अहिधर मुख सूं ऊपणों, अह-फीण नाम अमल।[2]

अर्थात् अफीम की उत्पत्ति सपं के मुख से उत्पन्न होने वाले झाग से हुई थी। मारवाड़ में अफीम को बोलचाल में अमल, कसूंबो, कहूंबो, कालियो आदि नामों से भी जाना जाता है।

प्रारम्भ में औषधि के रूप में काम लिए जाने वाला अफीम धीरे-धीरे मारवाड़ के शासक एवं सामन्ती वर्ग के जीवन शैली का मुख्य अंग बन गया। मुणहोत नैणसी री ख्यात में हमें अनेक वातों में राजपूत योद्धाओं एवं शासक व सामन्ती वर्ग द्वारा अफीम

सेवन के दृष्टांत मिलते है। 'सेतराम वरदाई सेनोत री वात' में हमें जानकारी मिलती है कि राजा वरदाई सेन कन्नौज का शासक था। उसका पुत्र सेतराम तीन पैसे भर (लगभग सवा पांच तोला) अफीम प्रतिदिन तीन बार खाता था। जब राजा को इसके बारे में पता चला तो वह अपने राजकुमार को कहता है-

'ताहंरा राजा कह्यो - बेटा! जके तीन पईसां भर अमल रोजीना खाय, तिणसूं काई भली होणहार नहीं। बेटा! थे बेहवाल हुआ।'[3]

अर्थात् पुत्र! जो तीन पैसों भर (लगभग सवा पांच तोला) अफीम नित्य खाता है, उससे कोई भला (पुरुषार्थ) होने वाला नहीं है। पुत्र तुम बेहाल हो गये हो। राजा के क्रोधित होने पर उसी रात राजकुमार सेतराम घर से चला जाता है एवं अन्य राजपूत राजा की सेवा में रह जाता है। जहाँ राक्षस को नियंत्रित करने हुए अपनी शक्ति का प्रदर्शन करता है।[4]

नैणसी री ख्यात में उल्लेखित 'रिणमल री वात' में वर्णन मिलता है कि राव चूंडा ने अपनी रानी मोहिल के कहने पर अपने पुत्र रणमल को अपना उत्तराधिकारी नहीं बनाकर उसे राज्य से निर्वासित कर दिया और मोहिल के पुत्र कान्हा को मण्डोर का राज दे दिया था। जब राव रणमल विदा हुआ तो अनेक राजपूत सरदार उगमणोत इंदा, ऊदा त्रिभवनसिंहोत आदि उसके साथ हो गये। आगे जहाँ रहट चल रहा था, रुककर घोड़ों को पानी पिलाया तथा रिणमल ने सरदारों के साथ अमल-पानी लिया। जब राव चूंडा की मृत्यु के बाद मारवाड़ की गद्दी को लेकर संघर्ष चल रहा था। रणमल ने राणा मोकल के सहयोग से मंडोर प्राप्त किया। रणमल का अपने ससुराल वाले सोनगरों से दुश्मनी थी। अब उसने सोनगरों को नष्ट करने की सोची-

'तद सोमवाररै दिन सोनगरा आसा-पुरी रै देहरै आय गोठ करै, सोमवारिया अमल करे। अमलां सूं छकै सू मांचां घातियां सूता घोरावै।'[5]

अर्थात् जब रणमल को पता चला कि प्रत्येक सोमवार को सोनगरा आशापुरा के मंदिर में इकट्ठे होकर अफीम की गोठ करते हैं तथा अफीम लेने के बाद वे मस्त हो जाते है। अत: रणमल ने उस समय मौके का फायदा उठाकर सोनगरों को घेर कर मार डाला।

'ऊदा ऊगमणावत ईंदा री वात' के अनुसार ऊदा रावल मल्लीनाथ जी की सेवा में था। मल्लीनाथ एवं भाद्राजून के सींधलों में संघर्ष चल रहा था। ऊदा के ससुर सोलंकी ईहड़ सींधलों की सेवा में थे। इस कारण ऊदा लम्बे समय से अपने ससुराल भी नहीं जा पाया। एक बार बालसीसर तालाब पर ऊदै के भाई सिखरै ने गोठ की।

'अमल-पांणियां चाव हुआ छै। तिसै समईये एक राजपूत बोलिया-ऊदाजी। कदै भाद्राजण ही जासो? ताहरां ऊदैजी कहनो - 'आज जासां'।'[6]

अमल के पानी का उत्सव हुआ तब एक राजपूत ऊदाजी से व्यंग्य में बोला, ''ऊदोजी कभी भाद्राजुन भी जाओगे'', तो ऊदाजी ने जवाब दिया, ''आज ही जाऊँगा।'' इसी वात में आगे जानकारी मिलती है कि ऊदा के हाथों गलती से उसका साला मारा जाता है, ऊदाजी पुन: अपने घर आ जाते है। तब सेपटो मेला सोलंकियों से उसकी पुत्री के बदले ऊदै से बदले लेने की बात कहता है तथा वह रात में ऊदा के घर को उजाड़ वापस आता है तो अफीम का आदि होने के कारण अफीम का नशा उतर जाता है तथा मेला की अफीम गिर गई थी, अब मेला कोढ़णे गांव के तालाब के किनारे सो जाता है। सिखराजी मेला का पीछा करते हैं तथा उसे मेला के अफीम की पोटली मिलती है। आगे देखने पर मेला सोता हुआ मिलता है-

ताहरां मेलै कह्यो- 'सिखराजी! हूँ तो बायड़ियो छूं। ताहरां कह्यो- 'ऊठो ठाकुरां! अमल करो। ताहरां कह्यो- 'जो अमल तो हूँ म्हारै पोतै रो खाऊं छूं, सु म्हारो पोतौ खिरियो।' ताहरां सिखरै पोतो काठि अर हाजर कियो। कह्यो- 'जी, ओ ठाकुरां रो पोतो छै, आरोगो,' ताहरां सिखरै जी मेलै रै घोड़े छागल हुती तिका आणनै मेलै नूं अमल करायो।'[7]

अर्थात् मैला सिखराजी से कहता है कि, ''मैं तो अफीमची हूँ मेरा अफीम का नशा उतर गया है।'' तक सिखराजी कहता है कि, ''यह लो अफीम।'' तो मैला कहता है कि, ''मैं तो मेरा ही अफीम खाता हूँ, मेरे अफीम की पोटली कही गिर गई है।'' तब सिखराजी उस पोटली को निकाल उसे अमल खिलाते हैं। तत्पश्चात् मैला रवाना होने पर ऊदा का भाई सिखराजी मेला का पीछा कर उसे मार गिराते हैं। इस प्रकार हमें यह जानकारी मिलती है दुश्मनी होने के बावजूद सिखराजी ने मेला को अफीम खिलाया था।

'हरदास ऊहड़ री वात' के अनुसार हरदास मोकलोत के 27 गांव सहित कोढ़ण पट्टे में था। राव शेखा व राव गांगा में जोधपुर राज्य पर अधिकार को लेकर संघर्ष चल रहा था, इस समय हरदास ऊहड़ ने राव शेखा का साथ दिया। शेखा की सेना ने बेराही गांव व गांगा की सेना ने घांघाणी में आकर डेरा डाला। राव गांगा व उसके चाचा राव शेखा के मध्य युद्ध हुआ। शेखा घायल अवस्था में युद्ध क्षेत्र में पड़ा था, तब राव गांगा ने अपने चाचा से पूछा-

'ताहरां राव गांगै पूछियो- 'सेखाजी! धरती कैरी? ताहरां राव जैतसीहजी सेखैजी ऊपर छांह कराई। अमल करायो, पांणी पायो।'[8]

अर्थात् गांगा ने शेखाजी से पूछा धरती किसकी? तब राव जैतसी ने शेखा उपर छन कराया, अमल खिलाया तथा जल पिलाया। इस प्रकार जहाँ चाचा-भतीजे में गद्दी को लेकर युद्ध होता है लेकिन अन्तत: युद्ध भूमि में भी चाचा से राव गांगा मिलता है तथा

उनके लिए अमल पानी की व्यवस्था करता है, जब राव शेखा मरणासन्न स्थिति में था। जोधपुर राज्य की ख्यात में एक दृष्टांत मिलता है कि विक्रम संवत् 1588 की ज्येष्ठ सुदी 5 को जब राव गांगा महल के झरोखे के पास बैठकर अफीम के साथ-साथ ठण्डी हवा का सेवन कर रहे थे, उसी समय मालदेव ने धक्का देकर झरोखे से गिराकर अपने पिता को मार दिया।[9] मारवाड़ के राज परिवार में अफीम सेवन एक परम्परा सी बनी हुई थी। मारवाड़ के महानायक दुर्गादास ने अजीतसिंह को बचाने के लिए मुगल सेना के साथ लम्बा संघर्ष किया। वीर दुर्गादास से मुगल सेना ही नहीं बल्कि औरंगजेब भी घबराता था जिसका वर्णन निम्न लिखित दोहे में भी मिलती है-

दुर्गो आसकरण रो, नित उठ बागां जाय।
अमल औरंग रो उतरे, दिल्ली धड़का खाय।।[10]

अर्थात् दुर्गादास की वीरता का प्रभाव इतना था कि उसका नाम सुनते ही औरंगजेब का अमल उतर जाता एवं दिल्ली का सिंहासन डोलने लग जाता है।

इस प्रकार प्रारम्भ में अफीम सगाई-शादी समारोह, मरण-मिलन, मेलजोल, समझौतों एवं रणभूमि जैसे अवसरों पर ही प्रयुक्त होता था। इसलिए मांगलिक अवसरों पर 'अमल गालणा' एक शुभ लक्षण माना जाता था। जिसका एक सोरठा प्रचलित है-

बढै पुराणा बैर, सगपण ह्वै जिण सूं सही।
जिणनै कुण कै जैर, काळौ इमरत किसनिया।।[11]

अर्थात् जिससे पुरानी दुश्मनी समाप्त हो जाती है एवं जिससे सगाई सही हो जाती उसे जहर कौन कहता है यह तो काला अमृत है। एक अन्य सोरठें में अफीमची अफीम सेवन के पक्ष में अपनी बात रखता है-

अमलड़े रा घूंट, प्रभाते पीधा नहीं।
बे अवतर सी ऊँट, राम दवारे राजीया।।[12]

अर्थात् अफीमची अफीम सेवन को सही बतलाते हुए कहता है कि ''प्रात:काल जो अमल नहीं लेता, वह अगले जन्म में ऊँट बनता है।'' अत: अफीमची हमेशा अफीम सेवन को मान-मर्यादा व प्रतिष्ठा का प्रश्न समझता एवं वह अफीम की बुराई कभी नहीं सुनना चाहता।

अफीम सेवन का प्रचलन अंग्रेजों के समय में अधिक बढ़ा तथा इसका प्रयोग शासक वर्ग एवं शासकीय वर्ग की जातियों में बहुत अधिक होने लगा। ईस्ट इण्डिया कम्पनी अफीम का निर्यात चीन को करती थी। अफीम के अधिक उत्पादन एवं बढ़ते तस्कर व्यापार के परिणामस्वरूप 1828 ई. में अफीम की कीमतों में भारी गिरावट आई। तत्पश्चात् कम्पनी शासन ने मेवाड़, कोटा व बूंदी से 1824-25 ई. में अफीम की खेती

पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए संधि की लेकिन बढते तस्कर व्यापार के कारण 1829–30 में उक्त अफीम संधियां समाप्त कर दी गई। अब अंग्रेजों ने इन देशों रियासतों से निर्यात होने वाली अफीम पर चूंगी कर लगा दिया। इससे भी अफीम का तस्कर व्यापार बढ़ा। मारवाड़ में अफीम मेवाड़, कोटा व बूंदी क्षेत्र से ही आती थी। अंग्रेजी अफीम नीतियों के परिणामस्वरूप चीन के समान ही भारत में भी अफीम का तस्कर व्यापार बढ़ा, यहाँ के लोगों में अफीम सेवन की प्रथा बढ़ी।[13] अफीम की गिरती कीमतों एवं बढ़ती तस्करी के कारण अब धीरे–धीरे अफीम का शासक वर्ग के साथ–साथ आमजन द्वारा भी सेवन अधिक किया जाने लगा। कर्नल जेम्स टॉड ने अपने यात्रा वृतांत में मारवाड़ में अफीम के व्यवसाय एवं अफीम सेवन का वर्णन किया है। उसने माना कि अफीम के उत्पादन एवं उसके व्यवसाय में वृद्धि के कारण अफीम की कीमत लगातार घटती चली गई जिसके परिणामस्वरूप अब गरीब से गरीब आदमी भी इसका सेवन करने लग गया। कर्नल जेम्स टॉड ने माना है कि राजपूतों की शक्ति का नाश अफीम के सेवन की परम्परा के परिणाम स्वरूप हुआ है।[14] अब धीरे–धीरे अंग्रेजों की अफीम नीति की आलोचना होने लगी थी। दादाभाई नौरोजी ने 1880 ई. में भारत सचिव को एक पत्र लिखा कि इंग्लैण्ड में सरकार ने अफीम के प्रत्येक उत्पादन पर 'जहर' का लेबल लगाने के आदेश दे रखे थे और वही सरकार चीन व भारत जैसे दूसरे देशों की मानव जाति के एक बड़े भाग को इस 'जहर' से 'भ्रष्ट' तथा 'चरित्रहीन' बना रही है।[15] ऐसा अंग्रेज कर वसूली के लाभ के लिए कर रहे थे। अंग्रेजी नीति की तीव्र आलोचना होने पर अफीम पर रॉयल कमीशन की नियुक्ति 1893 ई. में की गई। लेकिन इसका कोई फायदा नहीं हुआ।[16]

वैशाख सुदी तृतीया यानि अक्षय तृतीया को मारवाड़ में एक त्यौहार के रूप में मनाया जाता रहा है। प्रतिवर्ष मारवाड़ के राज दरबार एवं जागीरदारों के घरानों में अक्षय तृतीया का उत्सव मनाया जाता था। 1818 ई. में मारवाड़ पर अंग्रेजी प्रभुसत्ता स्थापित होने से पूर्व अक्षय तृतीया के उत्सव पर अफीम का सेवन नहीं होता था लेकिन बाद में अक्षय तृतीया के अवसर पर राज दरबार में अफीम सेवन एक परम्परा सी बन गई। जोधपुर राज्य की हकीकत बहियों में अक्षय तृतीया के उत्सव की जानकारी मिलती है।

'वैशाख सुदी 3 शुक्र संवत् 1823 मुकाम गढ़ जोधपुर ठाकुर जी श्री बालकृष्ण जी ..... आखातीज से दरबार दोपेहर ऊपर दोय घड़ी वाजीयां पछै हुवो, फते महेल में सिरदार, खवास, पासवान, मुतसदी सारा श्री हजुर आया परगना सु खजानो आयो।'[17]

संवत् 1823 यानि 1766 ई. में महाराजा विजयसिंह जी के समय मारवाड़ में अक्षय तृतीया के उत्सव की जानकारी मिलती है इसमें मारवाड़ के विभिन्न ठिकानों से

लगान आने की जानकारी भी मिलती है लेकिन अफीम सेवन की जानकारी नहीं मिलती है। इसी प्रकार विक्रम संवत् 1844 के अक्षय तृतीया के दरबारी उत्सव में अफीम सेवन की जानकारी नहीं मिलती है।[18] इस प्रकार अठारवीं शताब्दी में अक्षय तृतीया के उत्सव पर सामान्यत: अफीम सेवन की जानकारी नहीं मिलती लेकिन 19वीं शताब्दी में राजपूताना पर अंग्रेजी प्रभूसत्ता स्थापित होने के बाद इस अवसर पर अफीम सेवन की परम्परा अधिक व्यापक होती चली गई।

'वैशाख सुदी 3 संवत् 1880.....श्रीजी अमल में पांतीया सु उठ सीरदारां नि सीख देव ऊपर पधारिया।'[19]

अर्थात् महाराजा मानसिंह जी के समय अफीम के बाद पांतीया यानि खाना भी हुआ था। मारवाड़ महाराजा सरदारों को विदा करके ऊपर गये। 1857 की क्रांति के कारण मारवाड़ महाराजा तख्तसिंह व जागीरदारों में संबंध अच्छे नहीं थे, अत: इस समय अक्षय तृतीया का उत्सव नहीं हुआ।[20]

'मिती वैशाख सुद 3 संवत् 1925 मुकाम गढ़ जोधपुर आखातीज रा उछव रो दरबार हुवो..... तिलक री तासली कुंकु चावल री नाज ..... आखातीज रो अमल गाळण रो ने खार भंजण रा मेवो कोठार सु आवतो.....खीची जोराहर सिंह जी अमल नै खार भंजार कियो।'[21]

अर्थात् विक्रम संवत् 1925 यानि 1868 ई. में जोधपुर गढ़ में महाराजा तख्तसिंह के समय अक्षय तृतीया की पूजा के अफीम गलाकर उसका सेवन किया गया। अफीम कड़वी होती है अत: मुँह मीठा करने के लिए कोठार से मेवे भी मंगाये गये।

'मिती वैशाख सुद 3 संवत् 1994 रा तारीख 22 अप्रैल सन 1939 रा मुकाम राईकाबाग। आखातीज रो उछब आज हुवो, तीलक तासली रो दस्तुर प्रभात रा पुणा आठ बजीया रा हुयो.....श्रीजी साहब पोसाख फेंटो केसरीया, नीचे लाल धारीया रो ने अचकन पेहन पधराया, खांडो हाथ में ..... व्यास देवराज तीलक कीयो ने, तीवरी प्रो। (प्रोहित) देवीसिघ आरती कीवी.....पछे राव राजा मोवनसिंह जी, नरपत सिंघजी, हणवतसिंघ जी हाजर था तीणा री फेा अमल री मनवार अठे कीवी पछे सीनामा वाला कमराजे पधारने विराजीया.... श्रीजी तीलक तासली रो दस्तुर हुआ.....दरी चानणी री बिछावत हुय मसनद लागी मसनद रे डावी बाजु गलीचो नीमारो श्री महाराजा वारे बैठक सारू बीछीयो. .....खींची गणपतसिंघ हाजर होने अमल आठ बजीयारा सरू करायो पेला गालीयो उणरी मनवार आसीया तेजदान री कराई, पछे श्री महाराजा री बाद में, सरदार री..... महाराजा श्री उम्मेदसिंह जी ..... मसनद को विराज अमल री मनवार गलीयोडो..... सारा री कराई खारभंजण बंरीजीया।'[22]

अर्थात् अक्षय तृतीया को तिलक तासली का दस्तुर हुआ, मारवाड़ महाराजा उम्मेदसिंह जी केसरिया साफा व अचकन पहन कर दरबार में आये, पूजा के बाद महाराजा मसनद (अफीम गलाने का यंत्र) के पास बैठकर सभी सरदारों, अधिकारियों को अपने हाथ से अफीम पिलाई। इस प्रकार हकीकत बहियों से अक्षय तृतीया के अवसर पर मारवाड़ के शासकों, सामन्तों, सरदारों आदि के द्वारा बड़ी मात्रा में अफीम सेवन की जानकारी मिलती है। 18वीं शताब्दी मे अक्षय तृतीया के उत्सव पर सामान्यत: अफीम सेवन की जानकारी नहीं मिलती लेकिन मारवाड़ अंग्रेजी आधिपत्य की स्थापना के पश्चात् अक्षय तृतीया पर होने वाला अफीम सेवन का उत्सव दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही चला गया। हालांकि इस उत्सव को महाराजा के उसके सामन्तों, सरदारों आदि से जुड़ने का माध्यम बताया गया लेकिन इससे मारवाड़ में अफीम सेवन की परम्परा का विस्तार ही हुआ। अक्षय तृतीया के अवसर पर अमल (अफीम) के दस्तूर के लिए चांदी की ताशली में तरल अफीम रखा जाता था। महाराजा स्वयं दरबार में बैठकर अपने हाथ से युवराज, राव राजाओं, सरदारों, जागीरदारों आदि को वरियता के अनुसार बारी-बारी से तरल अफीम अपनी हथेली से देते थे। मारवाड़ शासक वर्ग के समान ही मारवाड़ के जागीरदार वर्ग भी अक्षय तृतीया के अवसर पर अफीम के उत्सव का आयोजन करते थे। जागीरदारों के दरीखाने में ग्रामवासी आते तथा जागीरदार उन्हें अपने दाएं हाथ की हथेली से तरल अफीम पिलाता था। सम्मानपूर्वक ग्रामवासी जागीरवासी के हाथ को अपने 'साफे' को खोलकर उसके पल्लू से हाथ साफ करते थे। अफीम की इस सभा को 'रेयाण' भी कहा जाता था।

मारवाड़ के आमजन द्वारा भी अफीम का प्रयोग एक औषधि के रूप में उपयोग के साथ-साथ विशेष उत्सवों पर समारोहपूर्वक अफीम सेवन की परम्परा रही है। यदि दो व्यक्तियों या समूहों में झगड़ा या मनमुटाव हो जाता तो पंच लोग अफीम दिलाकर आपस में एक-दूसरे में समझौते करवाते। एक-दूसरे के हाथ से अफीम लेने से माना जाता है कि पुरानी दुश्मनी समाप्त हो जाती थी।[23] विवाह-सगाई में भी अफीम की मनुहार के बाद ही सगाई की बात पक्की मानी जाती थी। सगाई-संबंध के गवाह के रूप में ग्रामीणों को अफीम का हेला (न्योता) किया जाता रहा है। विवाह, पुत्र जन्म, दामाद के घर पर आने आदि उत्सवों पर आमजन द्वारा अफीम का सेवन किया जाता रहा है।[24] मृत्युपरांत शोक-संतप्त परिवार से मिलने आने वाले रिश्तेदारों को भी बारह दिनों तक अफीम की मनुहार की जाती रही है।[25]

इस प्रकार मारवाड़ के आमजन में अफीम सेवन व अफीम के मनुहार की परम्परा अभी भी विद्यमान है। अफीम खाने के दो तरीके प्रचरित है। इसमें एक तो अफीम को गुड़ के साथ मिलाकर ठोस टुकड़े बनाकर खाते हैं, जिसे अमल कहा जाता

है। वही दूसरा अफीम को पानी के साथ मिलाकर उसे कपड़े से छानकर मनुहार करते है, उसे कसुम्बा कहा जाता है।[26] अमल को गलाने के लिए पहले लकड़ी के खल में बांटा जाता है, फिर लकड़ी के बने विशेष उपकरण जिसके दोनों तरफ अफीम छानने के लिए ऊन के फिल्टर बने होते है, जिसे 'तोपा' भी कहा जाता है, जिससे तरल अफीम छानी जाती। लकड़ी के उपकरण के ऊपर बीच में मंदिरनुमा आकृति में शिवलिंग स्थापित होता है। अफीम का प्रथम भोग शिव को ही लगाया जाता है। इस लकड़ी पर नक्काशी करके सर्प, चांद सूरज, शिव-पार्वती आदि की आकृतियाँ भी बनाई जाती है। आज कल लकड़ी के स्थान पर ऐलूमिनियम का भी यह स्टैण्ड बनाया जाने लगा है।[27]

अफीम की सभा (रियाण) में सर्वप्रथम एक मुख्य व्यक्ति हाथ की हथेली में तरल अफीम लेता है तथा दाएँ हाथ की अनामिका से हथेली में भरे हुए अफीम से छींटा देता है। इसे रंग देना कहा जाता है। इसमें ब्रह्म, शिव से लेकर देश के राजाओं विभिन्न इतिहास पुरूषों को काव्य भाषा में रंग देते हुए स्मरण किया जाता है। जो इस प्रकार है-

मुसा वाहन गजवदन, हरण रोग हमेस।
अमलां पैला आपनै, गाढ़ा रंग गणेश।।
रंग राम! रंग लक्ष्मन, दशरथ रा कँवराने।
लंका लूटी सोवनी, आलिजा भवराने।।
रंग कर्ण नै, भीम नै, भीष्म नै सो बार।
मरूधर भूपत मान नै, रंग हो करोड़-हजार।।[28]
रंग उदयपुर रै राणा नै, रंग रूप नगर रै ढाणा नै।
रंग मंडोवर री बाड़ी नै, रंग आबू री झाड़ी नै।।
रंग माल री रानी नै, रंग गंगा रा पाणी नै।
रंग हम्मीर रे हठ नै। रंग चोहटण रे मठ नै।।
रंग बूंदी री हाडी नै, रंग जसवंत री लाडी नै।
रंग तुलसी दास संत नै, रंग कानीया कंथ नै।।
रंग आबु रा पहाड़ा नै, रंग नीम्बाज रा कीवाड़ा नै।
रंग साकड़ला रा शूरा नै, रंग झांवर रा जूंजारा नै।।
रंग भीम रा अफाण नै, रंग अर्जुन रा बाण नै।
रंग सालमसिंह झाला नै, रंग खांडिया काळा नै।।
रंग पाबू रै भाळा नै, रंग सोनिगरा री आन नै।।[29]

जै कोई बीदो करो तो सवाईसिंह चम्पावत किया ज्यों करजो। जे कोई हट जाळो तो राजा मानसिंह जालीयो ज्यूं जालजो। जे कोई दारू पीयो तो बागे कोटड़ियों पीतो ज्यूं पीजो। जे काई केसरिया करो तो आउवे बखतावर कीदो ज्यूं करजो। जे कोई घोड़ा

दौड़ावों तो बघड़ावता दौड़ाया ज्यूं दौड़ायीजो। जो कोई दाताड़ी करो तो जगदे परमार जी करयो ज्यूं करजो। जे कोई घरा धणी सू रीसणो करो तो उदादे भटियाणी कियो ज्यूं करसो।[30] अंत में भगवान महादेव (शिव) की जय बोली जाती है। अफीम को शिव का प्रसाद माना जाता है। इसी कारण अफीम सर्वप्रथम शिव को ही चढ़ाई जाती है। इस प्रकार इस रंग देने की परम्परा में ईश्वर, राजा, इतिहास पुरुषों आदि सभी को याद किया जाता है। तत्पश्चात् अफीम लेने की शुरूआत होती है। नियमित अफीम लेने वालों को तीन बार हथेली भर कर अफीम दी जाती है। इसे 'तेड़ा' कहते हैं। बड़े अफीमचियों को तृप्त करने के लिए हाथ की हथेली की अंगूठे को जोड़कर एक छोटी तलाई का रूप दिया जाता है। इस प्रकार की भरपूर हथेली को 'खोबा' कहा जाता है। अधिक 'खोबे' पीने वाले लोगों की चर्चा 'रेयाण' में विशेष रूप से होती है। जिस अफीमची की मनुहार भारी पड़ रही हो तो वह काव्यमयी भाषा में रंग देना प्रारम्भ कर देता है। रंग देते हुए आधा अफीम छींटे देकर ही कम कर देता है। जितना अफीम आवश्यक लगता है, उतना ही पीता है। लेकिन पंरपरानुसार जब तक अफीम समाप्त न हो जाए, हथेली को बिना हिलाए सामने की तरफ रखना पड़ता है। जब किसी अफीमची को 'अमल' ज्यादा लेना होता है, तो वे अपने निकट बैठे किसी सबल अफीमची के मुँह में जबरदस्ती अफीम दे देते, जिसके प्रतिक्रिया में वह दुगुनी मात्रा में सूखी अफीम उसके मुँह में डाल देता, जिसके लिए वह पहले से तैयार रहता है। रेयाण की समाप्ति के बाद अफीम की कड़वाहट को दूर करने के लिए मिश्री, बताशे आदि से मुँह मीठा करवाया जाता है। इसे खारभंजणा कहा जाता है।[31]

अफीम का सेवन जो राज परिवार से शुरू हुआ उसने धीरे-धीरे सम्पूर्ण मारवाड़ के ग्रामीण परीवेश को इससे झकड़ लिया। उत्तर मध्यकालीन डिंगल-काव्य तथा ऊमरदान चारण (विक्रम संवत् 1908 से 1960) के काव्य 'अमल रा औगण' में हमें अफीम सेवन की हानियों की जानकारी मिलती है। तत्कालीन कवि ऊमरदान चारण समाज में फैल रहे अफीम के जहर पर आज से 125 वर्ष पूर्व अपनी रचना में इसके दुर्गुणों का वर्णन कर दिया था। डिंगल काव्य में तो अफीम को नाग-झाग (सर्प का जहर), पोस्त (नरक), नागफैण, कालौ आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। अफीम सबसे बड़ा नशा माना जाता है क्योंकि इसका आदी मनुष्य आसानी से छुटकारा नहीं पा सकता। ये उक्ति लोक प्रचलित-

आफू हंदै रूंखड़ै, चढै सो उतरै नाहि।[32]

अर्थात् अफीम का आदी यदि कोई व्यक्ति एक बार हो जाता है तो उससे यह छूटता नहीं है।

डाकण मंत्र अफीम रस, तसकर नै जूवाह।
पर घर हिलगी पदमणी, मिटसी पांच मुवाह।।[33]

अर्थात् डाकन, जादू, अफीम का रस, तस्करी, जुआ तथा वैश्यावृत्ति पांचों में लिप्त मनुष्य का स्वभाव उसकी मृत्यु से ही छूटता है।

कालांतर में जब अफीम के खतरनाक नशे का जाल जब पश्चिमी राजस्थान में पराकाष्ठा पर पहुँच गया तब ऊमरदान जी चारण कवि ने 'अमल रा औगण' नामक शीर्षक से एक मार्मिक काव्य-कृति की रचना की और उसे जनता में प्रचारित किया। प्रारंभ में तो कई लोग नाराज हुए, लेकिन बाद में अधिकांश लोगों ने इसे समाज का यर्थाथ-चित्रण कहकर अंगीकार कर लिया। इस कृति में यथार्थ का चित्रण, आत्म-चेतावनी, सामाजिक और राजनीतिक परिदृश्य, अंग्रेजों की कूटनीति तथा साधारण परिवारों पर पड़ने वाले इसके दुष्परिणामों का सटीक वर्णन हुआ है। उनकी रचना के सभी छन्द मार्मिक एवं महत्त्वपूर्ण है। जिनमें से कुछ निम्न लिखित है-

गैले बहता गुड़ पड्या, अैलै अमली आप।
लै लै करतां लागग्यौ, पैलै भव रौ पाप।।[34]

अर्थात् अफीमची अफीम के नशे में इतना मस्त हो जाता है कि वह अपनी सारी शुद्ध-बुद्ध खो देता है। मनुहार-मनुहार में ही सहज भाव से वह अफीम का नशा सीख कर अपना मनुष्य जीवन अंधकार में डाल देता हैं।

नाग रा झाग पीवै विलज, झांक आग चख में झड़ै।
अंगरेज मुलक दाबण अड़ै, ऐ जूंवां सूं आथडै।।[35]

अर्थात् शासन वर्ग में बढ़ते अफीम सेवन पर कवि लिखता है कि यहाँ के निर्लज लोगों ने अफीम रूपी विष पी-पीकर अपनी शक्ति बर्बाद कर दी है। जिसके परिणामस्वरूप अंग्रेज अपने देश पर अधिकार करने में लगे हैं तथा ये अफीमची जूंआ के समान किल-बिला रहा है।

इस प्रकार कवि ऊमरदान ने 'अमल रा औगण' में अफीमचियों का स्वयं संताप-पश्चाताप, बड़े अफीमचियों के प्रति अनादर भाव, इससे गृहस्थी चलाने में आने वाली बांधाओं तथा 'अमल रे रंग' की प्राचीन परम्परा के निर्वाह को अप्रासंगिक बताकर समाज में अफीम के सेवन से पड़ने वाले दुष्परिणामों का वर्णन किया है।

इस प्रकार मारवाड़ में अफीम सेवन की परम्परा लम्बे समय से चली आ रही है। मध्यकाल में राजा, सामन्त, राज दरबार के बड़े अधिकारी, पुरोहित वर्ग एवं राजपूत जाति के योद्धाओं द्वारा इसके सेवन की जानकारी मिलती है। लेकिन आधुनिक काल में विशिष्ट व्यक्ति विशेष के साथ-साथ आमजन भी अफीम सेवन करने लगा मध्यकाल में अफीम महंगा व अच्छी गुणवत्ता वाला था लेकिन ब्रिटिश शासन की नीतियों के परिणामस्वरूप मारवाड़ में अफीम की तस्करी बढ़ी तथा अधिक उत्पादन के कारण अफीम अब सस्ती कीमतों पर मिलने लगा। वर्तमान में बड़े-बुजुर्गों के साथ-साथ युवा

वर्ग भी अफीम सेवन का आदी बनता जा रहा है, जो एक चिंता का विषय है। वर्तमान में सभी समाज एवं प्रत्येक वर्ग अफीम को एक सामाजिक बुराई के रूप में स्वीकार कर चुका है। इस परिस्थिति में अफीम सेवन परम्परा के खिलाफ एक जन चेतना जागृत करने के लिए कवि उमरदान चारण के अनुमोल काव्य रचना 'अमल रा औगण' राम बाण सिद्ध हो सकती है।

सन्दर्भ

1. *m.patrika.com, feb. 24, 2018, Reporter : Nidhi Mishra*
2. *वही*
3. *साकरिया, बदरीप्रसाद, मुंहता नैणसी री ख्यात, भाग-3, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, 2014, पृ. 193*
4. *वही, पृ. 193-206*
5. *वही, पृ. 134*
6. *वही, पृ. 257*
7. *वही, पृ. 261, 262*
8. *वही, पृ. 81-82*
9. *जोधपुर राज्य की ख्यात, जिल्द 1, महाराजा मानसिंह पुस्तिक प्रकाश शोध केन्द्र, जोधपुर, पृ. 63*
10. *तंवर, डॉ. एम.एस., जोधपुर ए कल्चरल कैपिटल ऑफ राजस्थान, हिम्मत प्रकाशन, जोधपुर, 2008, पृ. 51*
11. *कविया, डॉ. शक्तिदान, उमरदान-ग्रंथावली, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2014, पृ. 39*
12. *कविया, डॉ. शक्तिदान (सम्पादक), राजिया रा सोरठा (मूल रचियता कृपाराम बारहठ)*
13. *जैन, डॉ. एम.एस., आधुनिक राजस्थान का इतिहास, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 2010, पृ. 111-112*
14. *ठाकुर, केशव कुमार (अनुवादक), टॉड लिखित राजस्थान का इतिहास, आदर्श हिन्दी पुस्तकालय, इलाहाबाद, 1965, पृ. 510*
15. *नौरोजी, दादाभाई, पावर्टी एण्ड अन ब्रिटिश रूल इन इण्डिया, पृ. 189-90*
16. *जैन, डॉ. एम.एस., पूर्वोक्त, पृ. 114*
17. *हकीकत बही संख्या - 1, संवत् 1821-30, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर (ऑनलाइन रेकार्ड), वैशाख सुदी तृतीया संवत् 1823 की जानकारी*
18. *हकीकत बही संख्या - 5, संवत् 1846-50, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर (ऑनलाइन रेकार्ड), वैशाख सुदी तृतीया संवत् 1844 की जानकारी*
19. *हकीकत बही संख्या-10, संवत् 1871-80, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर (ऑनलाइन रेकार्ड), वैशाख सुदी तृतीया संवत् 1880 की जानकारी, पृ. 93*

20. *भाटी, नारायण सिंह, महाराजा तख्तसिंह री ख्यात, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, 1993, पृ. 263*
21. *हकीकत बही संख्या-27, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर (ऑनलाइन रेकार्ड), वैशाख सुदी 3 संवत् 1925 की जानकारी, पृ. 206*
22. *हकीकत बही संख्या-58, विक्रम संवत् 1994-95, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर (ऑनलाइन रेकार्ड), वैशाख सुदी तृतीया संवत् 1994 की जानकारी, पृ. 391-392*
23. *सनद परवाना बही नं. 117, विक्रम संवत् 1907, राजस्थान राज्य, अभिलेखागार बीकानेर, (ऑनलाईन जोधपुर राज्य रेकार्ड), पृ. 66*
24. *परिहार, डॉ. विनीता, सोसाइटी इन ट्रांजिशन, प्रिंटवेट पब्लिकेशन, जयपुर, 1989, पृ. 176*
25. *मुंशी देवी प्रसाद, रिपोर्ट मर्दुमशुमारी राज मारवाड़, भाग-1, जोधपुर, 1894, पृ. 24*
26. *शर्मा, गोपीनाथ, सोशियल लाईन ऑफ मिडिवल राजस्थान, आगरा, 1968, पृ. 155*
27. *राजूराम जी गहलोत (मेरे मामाजी), गांव कोसाणा, द्वारा दी गई जानकारी के अनुसार*
28. *तंवर, महेन्द्र सिंह, पूर्वोक्त, पृ. 51*
29. *महेन्द्र सिंह तंवर, महाराजा पुस्तक प्रकाश शोध केन्द्र जोधपुर द्वारा उपलब्ध करवाये गये रियाण के एक मौलिक विडियो के अनुसार*
30. *राजूराम जी गहलोत (मेरे मामाजी), गांव कोसाणा, द्वारा दी गई जानकारी के अनुसार*
31. *वही*
32. *कविया, डॉ. शक्तिदान, पूर्वोक्त, पृ. 39*
33. *वही एवं बसतोजी कृत 'अमली रासौ'*
34. *कविया, डॉ. शक्तिदान, पूर्वोक्त, पृ. 188*
35. *वही, पृ. 191*

करणी माता : स्थानीय लोक देवी से राज्य देवी

डॉ. मोनिका

मध्यकालीन राजस्थान में अलग-अलग स्थानों पर अनेक लोक देवी-देवताओं के व्यक्तित्त्व व कार्यों के इर्द-गिर्द एक अलग प्रकार की धार्मिकता का उभार राजस्थान के धर्म के क्षेत्र में महत्वपूर्ण बदलाव का प्रतीक था। आज इन देवी-देवताओं के प्रसिद्ध स्थलों पर विभिन्न क्षेत्रों के अनुयायी इन लोक देवी-देवताओं से जुड़े वार्षिक मेलों में बढ़-चढ़कर भाग लेते हैं तथा दिन-प्रतिदिन की समस्याओं के निवारण की आशा रखते हैं। इन लोक देवी-देवताओं में करणी माता तथा उससे जुड़ी धार्मिकता अपना विशेष स्थान रखती है जिसे सामान्यत: जांगल देश की लोक देवी कहा जाता है।

दूसरे स्थानीय लोक देवी-देवताओं की भांति करणी माता भी एक ऐतिहासिक पात्र थी। करणी माता के ऐतिहासिक जीवन का पुनर्निर्माण काफी दुष्कर कार्य है क्योंकि उपलब्ध विवरणों में तथ्यों के साथ काल्पनिकता, किंवदंतियों का समय-समय पर जुड़ाव हुआ है। फिर भी हमारे पास करणी माता के सम्बन्ध में जो कथावाचन, किंवदंतियाँ हैं उनका दूसरे स्रोतों से तुलनात्मक अध्ययन तथा इनके आलोचनात्मक अध्ययन से हम ऐतिहासिक घटनाओं को निकाल कर उन मान्यताओं को जान सकते हैं जिन परिस्थितियों में ये एक दैव्य रूप में विख्यात हुई।[1] अत: करणी माता से जुड़े चमत्कार व किंवदंतियों को मात्र काल्पनिक मानकर खारिज नहीं किया जा सकता।

करणी माता का जन्म विक्रमी संवत 1444 अश्विन शुक्ल 7, शुक्रवार दिनांक 20 सितम्बर 1387 ई. को मारवाड़ (जोधपुर) राज्य के फलौदी क्षेत्र के पास सुवाप ग्राम में चारण कुल के मेहाजी किनिया के घर चारणी रूप में हुआ। करणी माता कोई पौराणिक देवी नहीं है, अपितु चारण कुल में चारणी रूप मे उत्पन्न हुई थी।[2] इसलिए राजस्थानी लोक मान्यता के अनुसार देवी रूप में अवतार को अधिक महत्व दिया गया।

बीकानेर क्षेत्र को मध्यकाल में जांगल देश कहा जाता था। बीकानेर राज्य में कोई सघन जंगल नहीं है। जल की कमी के कारण पेड़ भी यहाँ कम है।[3] अकाल, सूखा ज्यादा पड़ता है। ऐसी घटनाओं से कृषक व पशुपालक समाज के लिए साधनों का अभाव रहता है। अकाल सूखे की भयानकता को 19वीं शताब्दी के लेखकों ने भी लिखा है टॉड इसे महान प्राकृतिक आपदा (बीमारी) कहता है।[4] 17वीं शताब्दी में भी इस क्षेत्र में अकाल, सूखा पड़ने के प्रमाण मिलते हैं। यहाँ एक लोकप्रिय कहावत है कि अकाल

के पैर पुगेल में है, इसका धड़ मेड़ता में, इसका पेट बीकानेर में जो कभी-कभार जोधपुर की भी यात्रा करता है व जैसलमेर में उसका स्थायी निवास होता है।[5] वास्तव में बीकानेर पशु चारागाह क्षेत्र था जहाँ उत्तर पश्चिमी की पशुपालक जातियाँ अपने गायों आदि के साथ यहाँ आते थे। अत: यहाँ निरन्तर बर्हिप्रवास की क्रिया से लोग निरन्तर स्थान बदलते रहते थे यह एक वार्षिक घटना होती थी जिसमें लोग ऋतुवास के लिए अपने पशुधन को साथ लेकर चलते थे।[6] पशुपालन की क्रिया कृषिकार्य की तुलना में अधिक प्राथमिकता रखती थी।

करणी माता इन पशुपालक और खेतिहर लोगों की दिन-प्रतिदिन की समस्याओं से गहरे रूप से जुड़ी थी तथा उनकी समस्याओं का निवारण करने वाली देवी का रूप थी।[7] ये समस्याएँ, जो पशुओं के लिए चारागाह की तलाश, पानी की तलाश, उनका उचित प्रबन्धन, संरचना से जुड़ी थी। करणी माता के बारे में प्रसिद्ध है कि अपने परिवार एवं बड़े पशुधन के झुंड, कुछ महत्त्वपूर्ण भक्तों, नौकरों के साथ जांगल देश के वीरान रेगिस्तान की ओर सभी के साथ देशनोक के मरुधान में पहुंची, जिसे करणी माता ने तत्काल ही अपनी बसावट के लिए शुभ स्थान के रूप में स्वीकार कर लिया।[8] यह क्षेत्र लम्बे समय से जारी अव्यवस्था तथा गतिरोध की स्थिति से गुजर रहा था। यह स्थिति आक्रमणकारी राठौड़ की युद्ध पद्धति और प्राचीन स्थानीय, प्रभुत्ववादियों, स्वायतशाही के मध्य थी। दोनों क्रमश: राजशाही तथा जनजातीय संबंध रखते थे। इस प्रकार की अस्त-व्यस्त सामाजिक व राजनीतिक स्थिति पूर्ण अवतार के अवतरित होने का उचित समय दर्शाती है। शीघ्र ही देशनोक इस क्षेत्र का एक प्रमुख तीर्थ केन्द्र बन गया जहाँ यहाँ के स्थानीय लोग दर्शन करने आते थे व अपनी समस्याओं का हल आशीर्वाद के रूप में प्राप्त करते हैं।

राव बीका के आगमन से पूर्व ही जांगल प्रदेश के प्रतिकूल भौतिक वातावरण में पशुपालक एवं कृषक समुदायों की जलाशयों एवं चारागाहों की खोजकर्त्ता (उनके हितों की रक्षार्थ) के रूप में चारण जाति की करणी माता एक लोकप्रिय प्रभावशाली धार्मिक चरित्र बन चुकी थी। निम्न वर्गों के बीच उसकी ख्याति काफी अधिक थी। करणी माता से जुड़ी किस्सों, बातों, कहानियों में करणी को निम्न वर्गों के हितों की रक्षक के रूप में दिखाया गया है तो कुछ में एक धार्मिक संगठनकर्त्ता के रूप में तथा कुछ किस्सों में एक चमत्कारी पात्र के रूप में एक दैव्य रूप में दिखाया गया है। दैव्य स्वरूप प्रदान करने के प्रयास बीका के इस क्षेत्र में आगमन से पूर्व हो चुके थे। करणी की सबसे बड़ी उपलब्धि लूटमारी अभियानों से रक्षार्थ रूप में 'देशनोक' क्षेत्र की स्थापना करना था। देशनोक एक पवित्र स्थल का दर्जा प्राप्त कर चुका था तथा सभी क्षेत्रों जातियों के लोग उसके अनुयायी बन चुके थे। देशनोक क्षेत्र का राजनीतिक आधिपत्य राव कान्हा के

अधीन था। उसने करणी माता के पशुओं को जल स्रोतों से वंचित करने की कोशिश की जिससे उनके मध्य वाद-विवाद हुआ, उसकी हठ की सजा उसे अपनी मृत्यु से चुकानी पड़ी। एक महत्त्वपूर्ण कार्य जो उन्होंने अपने जीवन काल में किया वह था ओरण क्षेत्र (पवित्र जंगल) की रक्षा का कार्य। देशनोक नगर बसने के बाद ओरण क्षेत्र की रक्षा को लेकर चिंता हुई। इसलिए इन्हें ओरण क्षेत्र को सुरक्षित रखने के लिए विचार किया कि जंगल में जाल के पेड़ों की जगह झड़बेड़ी के वृक्ष आ जाए तो नगरवासी इन्हें नहीं काटेंगे। गोधन के लिए चारा भी मिल जाएगा। तब करणी जी के प्रताप से झड़बेरियां उत्पन्न हुई और धीरे-धीरे जाल के वृक्ष सूख गए। इसके बाद करणी ने नियम बनाया कि ओरण क्षेत्र से कोई भी लकड़ी तोड़ने की चेष्टा न करे। तब से लेकर आज तक इस आज्ञा का पूरा सम्मान किया जा रहा है। इस प्रकार करणी माता एक पर्यावरणविद की भूमिका भी निभाती है और जंगल की महत्ता को दर्शाती है जो आज के संदर्भ में प्रासंगिक है। इस प्रकार करणी माता ने देशनोक क्षेत्र को न केवल अपनी कर्मस्थली के रूप में स्वीकारा, बल्कि अपना सम्पूर्ण जीवन इस क्षेत्र के विकास में अर्पित कर दिया।

जांगल क्षेत्र ने सामाजिक, आर्थिक बदलाव के जटिल दौर में पूर्वमध्यकाल में प्रवेश किया था तथा वहाँ राजनैतिक आधिपत्य के लिए अनेक राजपूती वंश सक्रिय थे जिनमें सांखले, चौहान, जोहिला, परमार आदि का उल्लेख हुआ है। परन्तु किसी भी राजपूती शाखा को यहाँ की परिस्थितियों में अपने स्थायी आधिपत्य की स्थापना में सफलता नहीं मिल पा रही थी। राठौड़ आक्रमणकारी बीका ने इस क्षेत्र में स्थायी आधिपत्य कर दूसरे राजपूती वंशों को न केवल अपने अधीन किया अपितु वह गैर-राजपूती वर्गों का भी इस राज्य-निर्माण की प्रक्रिया में समर्थन जुटाने में सफल रहा। इस क्षेत्र की राजनीति में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाकर करणी माता ने राजनीतिक उथल-पुथल को शांत करने में सहयोग दिया। वस्तुत: करणी माता के सभी कार्यों में स्थानीय जनता का हित ही मूल तत्व था। स्थानीय शासकों ने भी करणी माता के कार्यों में बाधा नहीं डाली, अपितु उसके अच्छे कार्यों व इच्छाओं का सम्मान किया। करणी माता की भूमिका को बीकानेर राज्य के गठन विस्तार तथा अस्तित्व के लिए महत्त्वपूर्ण माना जाता है। अभियानों के मार्ग दर्शन, प्रतिस्पर्द्धी राजपूतों के साथ गठबन्धन से लेकर राज्य की वैधानिकरण की स्थायी प्रक्रिया में करणी माता द्वारा बीकानेर के संस्थापक राव बीका को मार्ग दर्शन किया गया। वास्तव में करणी माता एवम् राव बीका के बीच सम्बन्धों को तत्कालीन आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में देखा जा सकता है।[9]

करणी माता पशुचारी समाज की रक्षक के रूप में इस नतीजे पर पहुँची होगी कि जांगल प्रदेश के पशुपालक समुदायों को चले आ रहे राजपूती लूटमारी अभियानों एवं राठौड़ वंशी के आरम्भ हुए अभियानों से तभी बचा जा सकता है यदि इस क्षेत्र में किसी

एक राजपूती राठौड़ की सत्ता की स्थापना हो। इसीलिए विभिन्न क्षेत्रों को राव बीका के अधीन लाने के प्रयासों में करणी माता ने हर स्तर पर उल्लेखनीय भूमिका निभाई। राठौड़ राव बीका द्वारा करणी माता के प्रभावों को स्वीकार करना तथा अपनी आराध्य देवी के रूप में स्थान देना, उसे करणी माता की योजना में उपयुक्त बैठाते थे। बीका अपने पूर्वज चूँडा, रिड़मल तथा पिता जोधा की तरह करणी माता का अनन्य भक्त था। जांगल प्रदेश के आगमन में वह मंडोवर होता हुआ सीधा देशनोक पहुँचा, जहाँ उसने करणी माता के दर्शन किये, करणी माता ने उसे आशीर्वाद देते हुए कहा- ''तेरा प्रताप जोधा से सवाया बढ़ेगा और बहुत से भूपति तेरे चाकर होंगे।'' वहाँ से वह चांडासर आदि स्थानों पर अपना अधिकार जमाता हुआ कोड़मदेसर में जाकर रहा। जहाँ उसने अपने को 1472 ई. में राजा घोषित किया फिर उसने जांगल पहुँचकर सांखलों के 84 गांव अपने अधीन कर अपनी सेना और राज्य का विस्तार बढ़ाना शुरु किया। बीका की यह आरम्भिक सफलता भी करणी माता के साथ सम्बन्धों को पुष्ट करती है। यह भी सम्भव है वह अपनी सफलताओं में करणी माता का समर्थन ढूंढ रहा हो। बीका के आरम्भिक अभियान इतने सफल नहीं रहे तथा पुन: करणी माता के सहयोग की आवश्यकता ने बीका करणी माता को एक अभियान की संयुक्त नेता बना दिया।

करणी माता की अनुमति प्राप्ति करने के बाद बीका ने देशनोक क्षेत्र को अपने अभियानों की रूपरेखा का आधार बनाया तथा राज्य-निर्माण की प्रक्रिया में हमेशा अपने मार्गदर्शन के लिए बीका ने करणी माता की सलाह ली। जांगल प्रदेश में जाट वर्ग-पशुपालक, कृषक वर्ग के रूप में एक बहुत बड़े गैर-राजपूती प्रभावशाली वर्ग के रूप में स्थापित था, जब बीका ने जांगल क्षेत्र में प्रवेश किया था। जाट समुदायों राजपूती वर्गों की लूटमारी नीति तथा सामुदायिक महत्त्व के जलाशयों एवं चारागाहों पर राजपूतों के आधिपत्य के प्रयासों से बहुत अधिक दवाब में रह रहे थे। अधिकांश जाट समर्पित रूप से करणी माता के भक्त थे।[10] बीका की प्रगति में जाटों द्वारा बहुत बड़े बाधक बनने की सम्भावना थी। बहुत से जाट जो करणी माता के अनुयायी थे उन्होंने बीका की अधीनता स्वीकार की।

एक अलग विशेषता जो दिखाई देती है वह है बीका का स्थानीय जनता से सौहार्दपूर्ण संबंध जिससे सम्पूर्ण राठौड़ राज्य का चरित्र बनता है। यह कल्याणकारी चरित्र भी करणी माता का ही प्रभाव था क्योंकि वह सारी जनता को अपने बच्चों के समान मानती थी। इसलिए बीका इस विषय में अत्यधिक सचेत था और इसे वैधता की अनुष्ठान प्रक्रिया में अच्छे ढंग से इस्तेमाल किया। जैसे कि जब बीका ने नए राज्य की स्थापना के लिए राज्याभिषेक की रस्म का आयोजन किया, इसी अवसर पर नए राज्य के सबसे प्रभावशाली स्थानीय जाट से टिक्का (प्रतीक) लेने की शुरुआत की गई।[11] यह

प्रथा स्थानीय लोगों को नए राज्य में भागीदारी का अहसास दिलाती थी तथा स्थायी सम्बन्धों को जोड़ती थी। करणी माता के आशीर्वाद से बीका का जाटों पर आधिपत्य हुआ। चाहे कोई स्थानीय स्थानीय शासक हो या राठौड़ परन्तु कम लोगों के समूह से एक बड़े क्षेत्र पर आधिपत्य स्थापित करना अत्यंत कठिन प्रक्रिया थी। इसके लिए एक प्रकार के नैतिक समर्थन की आवश्यकता थी। इसी आवश्यकता के आधार पर बीकानेर राज्य और करणी माता मंदिर के आपसी संबंधों का श्री गणेश हुआ। इसी क्रम में राव बीका ने करणी माता को अपने वंश की कुलदेवी घोषित किया। उसने देशनोक व उसके भीतरी प्रदेश को करणी माता व उसके आने वाले वंश के लिए सांसण (सांसण वह भूमि होती है जिसे राजपूत राजा अपने चारणों को उपहार स्वरूप भेंट देते थे, वह करमुक्त होती थी) जागीर के रूप में मान्यता दे दी। करणी माता का बीका के प्रति कोमल व्यवहार का मुख्य कारण स्थानीय जनता को राहत दिलाना था जो लूट-मार से त्रस्त थी। इस प्रकार करणी माता ने हर प्रकार के कार्य में राव बीका को सहयोग व समर्थन दिया। यही नहीं परवर्ती शासकों को भी मंदिर अपना समर्थन देने से कभी पीछे नहीं हटा।

करणी माता का स्थानीय स्तर पर काफी व्यापक आधार था। वह पशुपालक, कृषक समुदायों में काफी लोकप्रिय थी तथा इनकी समस्याओं के निवारण में उसकी भूमिका मुख्य थी। इसलिए बीकानेर राज्य के आरम्भ से लेकर विभिन्न शासकों के साथ जुड़ी करणी माता के ऐतिहासिक एवं गैर ऐतिहासिक (राजनैतिक अभियानों में) तथ्यों, बातों, कहानियों का जो लिखित या जुबानी रूप से प्रचलित है उनका विश्लेषण, राज्य निर्माण व उसके साथ साथ उसके वैधानिकरण की प्रक्रिया को सही परिप्रेक्ष्य में, समझने के लिए, अति आवश्यक हो जाता है। ये जुड़ाव-करणी माता व बीकानेर राज्य के साथ बीकानेर राज्य के निर्माण एवं विकास के सन्दर्भ में करणी समुदायों में राठौड़ों की सत्ता की सहमति तथा बदले में इन समुदायों की राठौड़ों पर निर्भरता का सूचक थे, क्योंकि दोनों एक दूसरे से शक्ति प्राप्त कर रहे थे।

बीका के सभी विजयी अभियानों में करणी माता की स्वीकृति इस तथ्य की पुष्टि करती है। मैक्स हारकोर्ट ने बीकानेर राज्य के निर्माण को करणी माता के प्रयासों का ही प्रतिफल माना है तथा राव बीका द्वारा हर निर्णय को उसके परामर्श का परिणाम माना है।[12] यह ठीक है कि राव बीका ने जब जांगल के देशनोक में प्रवेश किया तो करणी माता राजपूती एवं गैर राजपूती समुदायों में काफी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी थी। जाट, पुंगल के भाट्टी आदि उसका आशीर्वाद प्राप्त करते थे। परन्तु करणी माता के कार्य वास्तव में बीका के विजयी अभियानों में सहायता देने की तुलना में बीकानेर राज्य को वैधानिकता प्रदान करने में महत्वपूर्ण थे। बीकानेर के इतिहास में आगे चलकर करणी माता जी बीकानेर के नरेशों के लिए एक महान शक्ति व पथ प्रदर्शक बनी रही। करणी

माता के आदेशानुसार राव बीका चाण्डासर के निकट 3 वर्ष तक रहा तथा चांडासर में अपना अधिकार जमाकर देशनोक चला गया तथा वहाँ पर करणी जी के दर्शन किए।[13] राव बीका ने करणी माता के दैवीय स्वरूप को ही स्वीकार नहीं किया अपितु देशनोक और उसके आस-पास के क्षेत्र को सांसण भूमि के रूप में दे दिया।[14] करणी माता के साथ अपने आपको जोड़कर इस प्रकार बीका ने उसके अनुयायियों के बीच भी राज्य को वैधानिकता दिलाई। इस प्रकार हम देखते हैं कि करणी माता की सहायता (आशीर्वाद) एवं परामर्श से बीका ने देशनोक के आस-पास के काफी क्षेत्र को अपने आधिपत्य में ले लिया और इस प्रकार अपने आगे के अभियानों की नींव रखी।[15] करणी माता ने बीका को स्थानीय ठिकानेदारों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापना के लिए प्रेरित किया। वैवाहिक सम्बन्धों का राजपूती धर्म (मूल्यों) में महत्त्वपूर्ण स्थान था, जो किसी भी राजपूती वंश के सामाजिक एवं राजनैतिक प्रभावों में वृद्धि का प्रभावी माध्यम माना जाता था।

देशनोक में स्थित करणी माता का मन्दिर मध्यकालीन भक्ति की विचारधारा में विशेष स्थान रखता है। रातीघटी नामक स्थान पर 1485 ई. में बीका ने करणी जी के हाथों से गढ़ की नींव रखवाई। जहाँ करणी जी के हाथ से शिलान्यास करवाया गया, वहीं श्री करणी माता का मंदिर बना हुआ है।

इस प्रकार करणी माता की स्थानीय लोक देवी से राज्य देवी का तक की यात्रा में, लोक देवी स्वरूप की निरंतरता है तो बदलाव के रूप में राज्य देवी का दर्जा। देशनोक के करणी माता मंदिर में सभी जातियों व धर्मों के लोग करणी जी का नैमित्तिक पूजन श्रद्धा भाव से करते हैं ऐसा सर्व-धर्म सम्भाव का उदाहरण अन्यत्र देखने को नहीं मिलता।

संदर्भ

1. *जिंग्लर, नार्मन पी. 'मारवाडी हिस्टोरिकल क्रोनिकल : सोर्सिज ऑफ सोशल एण्ड कल्चरल हिस्टरी ऑफ राजस्थान' I.E.S.H.R., 13(2), 1976 पृ. 219-243*
2. *सिढ़ायच दयालदास, ख्यात देश दर्पण, (अनुवादित) के.के.जैन. राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, 1986, पृ. 18; हारकोर्ट, मैक्स 'दी देशनोक करणी माता टैम्पल एण्ड पालीटिकल लेजीटीमिसी इन मिडिवल राजस्थान', साऊथ एशिया, भाग XVI, स्पेशल एडिसन, 1993, पृ. 35*
   चौदह सौ चम्मालवे, सातम शुक्रवार।
   आसौज मास उजाल पख, आई लियो अवतार।।
   इस तरह से शिलालेख श्री करणी मंदिर देशनोक पर अंकित दोहे से करणी माता जन्म की पुष्टि होती है।
3. *ओझा, गौरीशंकर बीकानेर राज्य का इतिहास, भाग-2, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, 2007, पृ. 35-35*

4. टॉड, कर्नल जेम्स राजस्थान का इतिहास, (अनु.) बलदेव प्रसाद मिश्र एंव ज्वाला प्रसाद मिश्र, (संपा.) मुंशी देवी प्रसाद, भाग-2, जयपुर, 1987, पृ. 424-425
5. गहलोत, जगदीश सिंह राजस्थान का सामाजिक जीवन, हिन्दी साहित्य, जोधपुर, 1974, पृ. 108-109
6. अर्जदास्ता पोष सुदी 9 vs. 1745/k1 688AD आषाढ़ सुदी 2, vs 1761/k1704 बीकानेर अभिलेखागार, बीकानेर।
7. चन्द्रशेखर, फोक एण्ड पेस्टोरल डिटीज ऑफ मेडिवल राजस्थान एण्ड दी हिस्ट्री आफ दी कल्ट ऑफ पाबूजी (अप्रकाशित, शोध अध्ययन) इतिहास विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक, 2014 प्रस्तुत शोध अध्ययन में स्थानीय लोकदेवी देवताओं के उभार का वर्णन किया गया है।
8. बार्हस्पतय, किशोर सिंह श्री करणी चरित्र, श्री करणी मंदिर प्रकाशन, देशनोक, बीकानेर, चतुर्थ संस्करण, 2007, पृ. 110
9. देवडा, जी.एस.एल. 'अनवायरमेंटल क्रासिस एण्ड सोशल डीसमेमबरमेण्ट इन नोर्थवेस्ट इण्डिया डयूरिंग दी प्री कोलोनियल पीरियड', 1 ओकेजनल पेपर, हिस्ट्री एण्ड सोसायटी, न्यू सीरिज 3, नेहरू मेमोरियल म्यूजियम एण्ड लाइब्रेरी, 2012, 1-3, 22
10. हारकोर्ट, मैक्स वही, पृ 38-38
11. टॉड, कर्नल जेम्स वही, पृ 371
12. हारकोर्ट, मैक्स वही, 40-43
13. दयालदास, सिढ़ायच वही, पृ. 3; पाउलेट, पी.डब्लयू. गजेटियर ऑफ दी बीकानेर स्टेट, कलकता, 1874, पृ. 2-3
14. मैक्स हारकोर्ट, वही, पृ. 40
15. मैक्स हारकोर्ट, वही, पृ. 42

कान्हड़दे प्रबन्ध में वर्णित समाज : एक अध्ययन

डॉ. (श्रीमती) प्रेरणा माहेश्वरी

कवि पद्मनाभ कृत कान्हड़दे प्रबन्ध पश्चिमी राजस्थानी भाषा का महत्वपूर्ण महाकाव्य है। नागर ब्राह्मण कवि पद्मनाभ ने जालौर के शासक अखैराज के आश्रय में इसकी रचना संवत् 1512 में की।[1] इसका प्रमुख वर्ण्य विषय अलाउद्दीन खिलजी और चौहान वंश के वीर कान्हड़दे एवं उसके पुत्र वीरमदे के साथ हुए युद्ध है।[2] विभिन्न ऐतिहासिक ग्रन्थों में भी जालौर के पतन का उल्लेख मिलता है।[3] कान्हड़दे प्रबंध में पद्मनाभ ने विस्तृत और व्यापक समाज की कल्पना की है जहाँ विभिन्न सामाजिक वर्णों और जातियों के लोग साथ-साथ रहते हैं।

वर्ण व्यवस्था - विभिन्न वर्णों का उल्लेख करते हुए पद्मनाभ ने लिखा है कि जालौर नगर में वेद, पुराण और शास्त्रों का अध्ययन करने वाले ब्राह्मण[4], छत्तीस राजवंशी क्षत्रिय[5], व्यापार में रत वणिक[6] एवं सभी अठारह वर्णों के लोग निवास करते हैं।[7]

वसइ नगर गिरि ऊपरि घणउं, किसूं वर्णवउं तलहटी तणउं।
वेद पुराण शास्त्र अभयसइ, इस्या विप्र तिणि नयरी वसइ।। (4/9)
विद्या वाद विनोद अपार, विनय विवेक लहइ सुविचार।
राजवंश वसइ छत्तीस, छिन्नू गुण लक्षण बत्तीस।। (4/10)
च्यारि वर्ण उत्तम जाणीया, विवहारीया वसइ वाणीया।
वुहरइ वीकइ चालइ न्याय, देसाउरि करइ विवसाय।। (4/12)
घांची मोची सूई सूतार, वसइ नगर मांहि वर्ण अढ़ार।। (4/19)

पद्मनाभ ने भीनमाल नगर के ब्राह्मणों के बारे मे लिखा है कि उस नगर में पैंतालीस हजार ब्राह्मण हैं। वे अपने हृदय से चार वेद, छः वेदांग और अष्ट व्याकरणों का स्मरण करते हैं। नगर के ब्रह्मपुरी हिस्से में श्रीमाली ब्राह्मणों के पूज्य गोत्र रहते हैं। हर घर में अग्निहोत्र होते हैं। वे अपने घरों में नित्य यज्ञ का भाग इंद्र आदि देवताओं को अर्पित करते हैं।

पद्मनाभ ने क्षत्रियों का वर्णन करते हुए उन्हें पच्चीस वर्ष से अधिक और पचास वर्ष से कम आयु का बताया है। वे उदार प्रवृत्ति के होते हैं। संग्राम में शांत व धीर होते हैं। वे शत्रु को पूर्व चेतावनी के बिना दंड नहीं देते हैं। वे अपने स्वामी के कार्य को पूर्ण करने वाले होते हैं।

राजवंशी क्षत्रियों का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है कि वे सच्चे क्षत्रिय के छियानवें गुणों और बत्तीस लक्षणों से युक्त होते हैं। वे अपने आचरण में कोई हीन व नीच कर्म कभी नहीं करते हैं। कवि ने लिखा है कि ध्रुव तारा चंचल हो सकता है किन्तु वीर लोग अपना प्रण नहीं तोड़ते हैं।[8]

पदमनाभ पंडित भणइ, जउ ध्रू चंचल होइ।
सज्जन जे अंगीकरइ, वचन न चूकइ तोइ।। (4/113)

और अपने प्राणों की परवाह नहीं करते हैं क्योंकि वे यश और नाम को अर्जित करते हैं।[9]

पदमनाभ पंडित भणइ, जउ जस संपति होइ।
अंग तणउ आदर किसउ, वीर न वंछइ सोइ।। (4/141)

जो सुकुलीन व साहसी होते हैं वे मरणोपरांत भी अपने प्रण को नहीं तोड़ते हैं। जो वीर अपनी सत्य निष्ठता का मार्ग नहीं छोड़ते हैं, वे सदैव अलौकिक शक्तियों को प्राप्त करते हैं।[10]

जे सुकुलीणा साहसी, ते मरणि न मूंकइ माण।
मस्तक ऊपराठउं थयुं वीर तणउं चहूआण।। (4/323)

पद्मनाभ ने व्यापार में संलग्न बनियों का उल्लेख किया है। वे धन के लेन देन और विभिन्न वस्तुओं के विक्रय में ईमानदारी से काम लेते हैं। वे अन्य देशों से भी व्यापार करते हैं। बहुत सी विदेशी वस्तुएं थलमार्ग और जलमार्ग द्वारा सभी दिशाओं से पहुंचती हैं। इन कार्यों को करने वाले व्यापारी वीसा और दसा कहलाते हैं। जिनको उच्चकोटि का व्यापारिक ज्ञान है। जालौर में कुछ सरावगी, जौहरी, लेखाकार, पंसारी है।[11]

फडीया दोसी नइ जवहरी, नामि नेस्ती कामई करी।
विवध वस्तु हाटे पामीइ, छत्रीसइ किरीयाणां लीइ।। (4/14)

सुल्तान अलाउद्दीन की सेना में कवि ने भोई (पानी लाने के लिये), मेहर, ठाठिया (कुंडे ढोने वाले) कहार, कमानी (तीर बनाने वाले), पखालिया (पखालों में पानी लाते थे) वणिक, घांची (तेल वाले), मोची, गांछा (छबड़ी बनाने वाले), सुथार, भटियारे (रसोइया) घाटघड़ा (बरतन बनाने वाले), लुहार सिलावट (पत्थर तोड़ने वाले) चूनारा, बोहरा (कर्ज देने वाले) कागल कूटा, त्रांबाहिड़ा (तांबे के बरतन बनाने वाले), बनजारा, भंगी, उलगाणा (दास) अदि का उल्लेख किया है।[12]

भोई मेहर अनइ ठाठीया, चालई काहर कमाणी।
च्यारी सहस साथइ सांचरीया वहइ पषाली पाणी।। (2/87)

त्रीस सहस कटकीया वाणीया साथई वस्तु चलावइ।
गाडे चडी चालती घाणी घांची षेडत आवइ।। (2/88)
मोची गांछा नइ सतूआरा, साथइ चालइ माली।
दरजी बाबर ऊड चालीया, च्यारि सहस तंबोली।। (2/89)
बगनीघड़ा कावडि चालइ, भाटी वहइ षमार।
पांच सहस चालइ भठीयारा, घाटघडा लोहार।। (2/90)
सवे सिलावट सांचरइ साथि, छोह वहइ चूनारा।
चालइ वुहरा कागलकूटा, हीर तणा तूनारा।। (2/91)
लाष बिच्यारि वाणिजू चालइ, बार लाष उलगाणा।
करकटीया हबसी भाथाइत, फरसीधर सपराणा ।। (2/92)

पारिवारिक जीवन -

पद्मनाभ ने विभिन्न पारिवारिक मान्यताओं का वर्णन किया है। पद्मनाभ ने कान्हड़दे और उसके लघु भ्राता मालदेव के प्रेम का उल्लेख करते हुए लिखा है कि राजा का अपने भाई से इतना प्रेम था जितना कि राम व लक्ष्मण या हनुमान व सुग्रीव के बीच था। मालदेव स्वयं के हाथों से भाई कान्हड़दे के सिर पर चंवर ढुलाता है।[13]

पित्रीवट जे साहस धीर, मालदेव छइ लहुडउ वीर।
जिसी प्रीति लषमण नइ राम, राज अनरेइ एहवी माम।। (4/56)
जिसी प्रीति हणूया सुग्रीव, जाणे नही जूजूआ जीव।
सीकरि छत्र चमर ढालीइ, साचइ न्याइ लोक पालीइ ।। (4/57)

पति-पत्नी के संबंधों को जन्म-जन्मान्तर का संबंध बताते हुए कवि ने अलाउद्दीन की पुत्री खोजा लाडण[14] का कुंवर वीरमदे के प्रति प्रेम को प्रदर्शित किया है। अंत में वीरमदे के युद्ध में वीरगति प्राप्त कर लेने पर उसके साथ विवाह न होने पर भी राजकुमारी यमुना नदी में जल समाधि ले लेती है।[15]

यमुना नदी जई तिणि वार, मस्तक तणु करिउ संस्कार।
मरण भणी एकमनी थई, मा मंदिरि मोकलावा गई।।
पातसाइनइ चलणे लागि, वेगि संचरी आयस मागि।। (4/331)

परिवार में माता-पिता की आज्ञा को महत्वपूर्ण समझा जाता था। पद्मनाभ ने लिखा है कि जब हिंदू बंदी तुर्की शिविरों में अपने पापकर्मों को याद करते हैं तो वे कहते हैं कि क्या हमने अपने माता-पिता की आज्ञा का पालन नहीं किया था।[16]

कइ अम्हे मायबाप नवि मान्या, वेदवंचन ऊथाप्यां।
कइ अम्हे एकादशी नवि कीघी, विप्रदान नवि आप्यां।। (1/162)

परिवार में पत्नी की सलाह का महत्वपूर्ण स्थान था। जब सामियाणा दुर्ग में शत्रु सरोवर जल को दूषित कर देता है और जल की समस्या हो जाती है तो समियाणा शासक सांतलसिंह अपनी रानियों से इस समस्या समाधान के लिए विचार विमर्श करता है।[17]

जे हुइ मोटा राणा राइ, तेहे जल विण षिण न रहाइ।
सांतल इसूं विमासी करी, तेडी पूछी अंतेउरी ।।
राणी भण्इ विमासउ किस्यूं, अम्हे सवे जमहरि पइसिस्यूं।
हीदू तणइ मानीइ गाइ, तेह तणउं लोही जल माहि।। (2/145-146)

विवाह संस्कार -

पद्मनाभ ने विवाह संस्कार का वर्णन करते समय कई रीति-रिवाजों का उल्लेख किया है। इनमें विवाह मंडप में भोजन करना, चंवरी में बैठना, हथलेवा संस्कार, दहेज प्रथा आदि प्रमुख है।[18]

नवि देस्यूं वेवाही मान, नहीं आवइ तुरकांणइ जान
मेरु सिषर जउ त्रूटी पडइ, चाहुआण चउरी नवि चडइ ।।
हाथेवालइ हाथ नवि धरु, नही बइसूं जिमणं माहिरुं। (3/133-134)

शिक्षा -

पद्मनाभ ने भीनमाल नगर में श्रीमाली ब्राह्मणों के द्वारा चौदह विधाओं-चार वेद, छः वेदांग (शिक्षा, छंद्, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और कल्प) पुराण, मीमांसा, न्याय और धर्मशास्त्र, अठारह पुराणों, आयुर्वेद, भरत संगीत, ज्योतिष, पिंगल, राजनीति, नाटक और अन्य कलाओं तथा ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का अध्ययन एवं अध्यापन का उल्लेख किया है।[19]

भिन्नमालनूं किस्यूं वषाण, विद्या चउद अढार पुराण।
आयुर्वेद भरह संगीत, ज्योतिष पिंगल विषय विनीत।। (3/24)
बाजी नाटक विद्या घणी, ब्रह्मपुरी चहूआणा तणी।
श्रीमालीनां गिरुआं गोत्र, घरि घरि अवसथ अग्निहोत्र।। (3/25)

पद्मनाभ ने गुरु शिष्यों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि ब्राह्मण अपने वस्त्रों को सुखाने के लिए धूप से बचाव के लिए अपने वस्त्रों को उड़ाते हुए चलते थे। तंबालू (तांबे का ढोल) बजाते हुए उनके शिष्य अपना पाठ याद करते हुए उनके पीछे पीछे चलते थे।[20]

भेटयां पातिक जाइ नासि, धोती ऊगाइ आगासि।
साजां त्रंबालू छइ हाथि, सष्य भणंता जाइ साथि।। (3/27)

जौहर प्रथा -

पद्मनाभ ने तत्कालीन समाज में प्रचलित जौहर प्रथा का उल्लेख किया है।

सांतल सिंह के अंतिम संग्राम के लिए जाने पर उसकी रानियों ने तुरंत समयानुकूल वस्त्र धारण किए, आभूषणों से सुसज्जित किया, चंदन काष्ठ मंगवाई और राम नाम का स्मरण करते हुए जौहराग्नि में प्रवेश कर गई।[21]

इसूं कही नवि लाई वार, राणी सवि करया सिणगार।
चंदनकाठ आणीउ घणउ, तिहां परिवार मिलिउ तेह तणउ।। (2/151)
साहस प्रभावि एतली आहि, राणी पइठी जमहर माहि।
राम राम वाणी उच्चरइ, सजन लोक सवि आंसू षिरइ।। (2/152)

कान्हड़दे की मृत्यु होने पर उसकी रानियों जइतलदे, भावलदे, उमादे व कमलादे ने जौहर संस्कार की तैयारियां की। स्नान करने के पश्चात् सूर्यदेव को अर्घ्य देकर वे जौहर में कूद पड़ी।[22]

चंदनकाठ अगर नइ तुलसी, बीली आमली आणी।
करी सनान देव आदितनइ अर्घ दीइ सवि राणी।। (4/239)
हाहाकार हूउ तिणि वेलां, राणी जमहरि पइसइ।
सरलइ सादि सहू हरि बोलइ, जमहर इणि परि दीसइ।। (4/240)

इनके अतिरिक्त अन्य जातियों की स्त्रियां जालौर दुर्ग में जौहराग्नि में प्रवेश कर जाती है। उस दिन एक हजार पांच सौ चौरासी जौहर ज्वालाएं प्रज्वलित होती है।

खान पान -

पद्मनाभ ने उलूगखान द्वारा पाटन की जीत के बाद वहां उपलब्ध फल और सब्जियों का वर्णन किया है। इनमें कच्चे खजूर, दाख (द्राक्ष) कच्चे नारियल, सुपारी, खजूर, गन्ना, अदरक, जमीकंद आदि प्रमुख है।

पद्मनाभ ने राजकुमारी खोजा लाडण द्वारा अपने पिता अलाउद्दीन को दी गई जालौर की विस्तृत जानकारी का वर्णन किया है। कवि ने लिखा है कि परोसे जाने वाले व्यंजनों में सेव, सुहाली, लड्डू, मांडा, तले हुए पापड़, विभिन्न प्रकार की मिठाइयां, सूखी सब्जियां-बड़ी चावल, तली हुई पापड़ी, पंचधार लापसी, अति गाढ़ा मलाईदार दही मुख्य थे।[23] भोजन के बाद सेवक पान परोसते हैं।

सेव सूंहाली लाडू गल्या, आछा मांडा पापड तल्या।
पा जे षडक सालणे वडी, कूरकपूर तली पापड़ी। (4/50)
पंचधार लापसी कंसार, धान रसोई भाव अढार।
अति ऊजलां ढेपालां दही, भुंजाई ए राउल लही।। (4/51)

अलाउद्दीन के जालौर सैन्य अभियान के अवसर पर भी कवि ने भोज्य सामग्री का वर्णन किया है। उस समय प्रति लाख सैनिकों के लिए दस हजार रसद की दुकानों

की व्यवस्था की गई, जहां कोई भी चवला, मूंग, नमक, आटा, गुड़ और घी प्रचुर मात्रा में प्राप्त कर सकता था। इसके अतिरिक्त कोई भी खांड (चीनी), खाद्य तेल, मिर्च, सब्जियाँ, सूजी, अजवायन, जीरा भरपूर मात्रा में प्राप्त कर सकता था। इनके अलावा बेसन, वीराहली, तिल, काचरी, सौंफ, अदरक, जमीकंद, केले, बिजौरा, अचार, नींबू, पिंडखजूर, सुपारी, सूखे अंगूर, साबू, रीठा, आंवला सभी चीजें उपलब्ध थी और दुकानदारों के द्वारा पूरी ईमानदारी से तौली जाती थी।[24]

लाष लाष साहणनी वाट, दस दस सहस दीवाणी हाट।
लाभइ चाउल मूंग नइ लूण, आटा गुल छी षाइ कूण।। (4/75)
लाभइ षांड तेल नइ मिरी, करइ सालणां लाभइ सुरी।
अजमा जीरां लाभइ बहू, वेसण विरहाली लइ सहू।। (4/76)
लाभइ नवी तिली नइ विही, कोठीबडां तणी काचरी
आदां सूरण केलां हुआं, बीजोरां दाडिम लींबूआं।। (4/77)
लाभइ षारिक फोफल द्राष, वली नालीयर लाभइ लाष।
लाभइ साबू नइ कंटोल, हाटि, हाटि छइ निरतां तोल।। (4/78)

वेशभूषा –

पद्मनाभ ने सैनिकों की वेषभूषा का वर्णन करते हुए लिखा है कि उन्होंने नये साबटू (सोने की कशीदाकारी किए हुए रेशमी वस्त्र) पहन रखे हैं। मेघवर्णी साफे उनके सिर पर बंधे हुए हैं। उन्होंने अपने पांवों में अपने-अपने नाप के अनुसार जूतियाँ (मोजड़ा) पहन रखी है। उनके खंडा और पटा गजवेलि (स्टील) के बने हुए हैं और आगे पीछे लटके हुए हैं।[25] उनकी तलवारों की मूंठे सोने की बनी हुई है। उनके कंधों पर सख्त और मजबूत ढालें लटकी हुई है। हीरे-जड़ित कटारियां उनकी कमर पर बंधी हुई लटक रही है। इसी प्रकार यति, जोगी और कापड़ी गेरुआं रंग के वस्त्र (कांथड़ी) पहनते हैं। जालौर के बाजार का वर्णन करते हुए कवि लिखता है कि शौलों पर कशीदा करने वाले पटवा और सालवी अपने उत्पादों को बेचते हैं और बेचने के लिए नए-नए उत्पाद लाते हैं।[26]

नगरि मांडवी वारु पीठ, आछी षेरा चोल मजीठ ।
पाठसूत्र पटूआ सालवी, बुहरइ वस्त अणावइ नवी।। (4/15)

आमोद प्रमोद के साधन –

जालौर नगर का वर्णन करते हुए पद्मनाभ ने लिखा है कि वहां निश्चित समय पर उत्सव मनाये जाते हैं एवं नाटक प्रदर्शित किए जाते हैं। नृत्य नाटिका में पात्र नाचते और गाते हैं।[27]

आठ पुहर नित पूजा करइ, ईडे ध्वजावस्त्र फरहरइ।
बलतइ वारि हुइ नितु जात्र, नाटक नृत्य नचावइ पात्र।। (4/22)

बाजार में कई खुले चौक व ऊंचे-ऊंचे चबूतरे हैं। इन पर रावत नित्य पासा खेलते हैं। कान्हड़देव की राजसभा का वर्णन करते समय कवि ने अनेक वाद्ययंत्रों जैसे परवावज, तात, वितत, धन, शुषिर पंचवर्ण का वर्णन किया है।[28]

गल्यां पीतल रतांजणी तणा पषावज धौंकार करइ छइ।
नृत्यकी पात्र नृत्य करइ छइ। ततवितत घनशुषिर पंचवर्ण वाजित्र वाजइ छाइ।

सामियाणा के शासक सांतलसिंह के किले में नित्य नृत्य एवं गायन का उल्लेख मिलता है। वाद्य यंत्रों में वीणा और मृदंग को बजाया जाता था।[29]

गढ़ ऊपरि नितु हुइ पेषणां, सुणीइ वेणि मृदंग।
नितु उछव नितु पाउल नाचइ, नितु नितु नवला रंग।। (2/116)

इस प्रकार पद्मनाभ ने समाज के विराट स्वरूप का चित्रण किया है जिसके सदस्यों का दृष्टिकोण मात्र परिवार या कुटुम्ब तक सीमित नहीं है। एक दूसरे की आवश्यकता को पूर्ण करने हेतु वे परस्पर सहयोग की भावना से कार्य करते हैं। फलस्वरूप संबंधों की व्यापकता के दर्शन होते हैं। निष्कर्षत: इस रचना में वर्णित समाज देशप्रेम, सात्विक सत्यप्रेम और सद्भावना जैसे मूल्यों को स्थापित करता है।

संदर्भ

1. *भाटी, नारायण सिंह (सं.), राजस्थानी साहित्य का मध्यकाल, जोधपुर, 2016, पृ. 253*
2. *बांकीदास री ख्यात, जयपुर, 1956, पृ. 150*
3. *मुहता नैणसी की ख्यात- भाग प्रथम, जोधपुर, 2010, पृ. 166*
4. *कवि पद्मनाभ विरचित कान्हड़दे प्रबन्ध, राजस्थान पुरातत्त्व मंदिर, जयपुर, 1953, खण्ड 4, पृ. 164*
5. *वही, खण्ड 4, पृ. 164*
6. *वही, खण्ड 4, पृ. 164*
7. *वही, खंड 4, पृ. 166*
8. *वही, 4/113, पृ. 185*
9. *वही, खण्ड 4, पृ. 191*
10. *वही, खण्ड 4, पृ. 228*
11. *वही, खण्ड 4, पृ. 165*
12 *वही, खंड 2, पृ. 80-81*
13. *वही, खण्ड 4, पृ.173-174*
14. *पद्मनाभ ने अलाउद्दीन की पुत्री को सीताइ, (तृतीय खण्ड, पृ. 126) खोजा लाडण (तृतीय खण्ड, पृ. 143) एवं फिरोजा (चतुर्थ खंड, पृ. 162) नामों से संबोधित किया है।*

15. *कवि पद्मनाभ विरचित कान्हड़दे प्रबन्ध, राजस्थान पुरातत्त्व मंदिर, जयपुर, 1953, खण्ड 4, पृ. 230*
16. *वही, खण्ड 1, पृ. 34*
17. *वही, खण्ड 2, पृ. 93*
18. *वही, खण्ड 3, पृ. 130*
19. *वही, खण्ड 3, पृ. 105*
20. *वही, खण्ड 3, पृ. 105*
21 *वही, खण्ड 2, पृ. 94*
22. *वही, खण्ड 4, पृ. 211–212*
23. *वही, खण्ड 4, पृ. 172*
24. *वही, खण्ड 4, पृ. 178*
25. *डॉ. विन्ध्यराज चौहान, भारत का लियोनिडास सोनिगिरा वीरम दे चौहान, जालौर, पृ. 101*
26. *कान्हड़दे प्रबंध, खण्ड 4, पृ. 165*
27. *वही, खण्ड 4, पृ. 166*
28. *वही, खण्ड 3, पृ. 157*
29. *वही, खण्ड 2, पृ. 86*

सामंती समाज एवं उपाश्रित तबके में बाबा रामदेव के प्रति आकर्षण

डॉ. तमेघ पंवार

रामदेवरा भक्ति एवं आस्था के क्षेत्र पश्चिमी राजस्थान में अपना एक अलग स्थान रखता है। पोकरण के नजदीक होने के कारण इसके महत्व में और अधिक वृद्धि हुई है क्योंकि पोकरण पूर्व मध्यकाल से ही एक ऐतिहासिक केन्द्र रहा है। रामदेवरा एवं पोकरण पश्चिमी राजस्थान के प्रमुख व्यापारिक मार्गों पर स्थिति होने के कारण इनकी पहचान सम्पूर्ण भारत में रही है। यह व्यापारिक मार्ग प्राचीन काल से चले आ रहे हैं जिससे यहाँ पर अनेक व्यापारियों का आना जाना भी रहा है। कर्नल टॉड ने भी रामदेवरा को एक प्रमुख व्यापारिक नगर एवं मरुस्थल का हृदय कहा है। टॉड ने अनेक प्राचीन कालीन व्यापारिक मार्गों का उल्लेख किया हैं। टॉड ने कराची–बंदर, टट्ठा, मुलतान, शिकारपुर, कच्छ आदि स्थानों से रामदेवरा को जुड़ा होना बताया है।[1] मुहंता नैणसी ने भी इन मार्गों से मिलने वाले टैक्स का उल्लेख किया है।[2] प्रो. घनश्याम लाल देवड़ा ने भी पोकरण को अनेक राजमार्गों से भी जुड़ा होना बताया है।[3] इन सभी व्यापारिक मार्गों पर अलग–अलग संस्कृति के लोगों का आना स्वाभाविक था। इसलिए रामदेवरा अनेक संस्कृतियों के समिश्रण का केन्द्र माना जा सकता है। स्वयं बाबा रामदेव के साहित्य में इन मार्गों पर व्यापारियों के आने–जाने का उल्लेख मिलता है। लक्खी बणजारे की कहानी उनके रात्रि जम्मों में गाई जाती है। जिसमें लखी बणजारे द्वारा रूणीचा के पास व्यापारी मार्ग पर चलते हुए झूठ बोलना भारी पड़ा। 'लखी बणजारों आयो रै, मिश्री रो लूण बिणायों रै'[4], 'बिणजारा बीरा म्हारा थूं बाळद खोल, कहीं भर लायो रे।'[5] यहाँ बणजारे को 'लखी प्रदेश' का बताया गया है। प्रो. घनश्याम लाल देवड़ा ने लक्खी जंगल (काला जंगल) भटनेर के पास बताया है।[6] अर्थात् लक्खी प्रदेश से भी उनके समय व्यापार किया जाता रहा है जिसका व्यापारिक मार्ग रूणीचा होकर गुजरता था। राजस्थान में वर्तमान में यह जगह 'रामदेवरा' के नाम से प्रसिद्ध है जबकि राजस्थान के बाहर मुख्य रूप से गुजरात में 'रूणीचा' के नाम से प्रसिद्ध है। बाबा रामदेव के भजनों में वर्तमान में भी 'रूणीचा' का उल्लेख आता है। रूणीचा रा धणिया अजमाल जी रा कंवरा'[7], 'रूणीचा' नाम एक कुएँ के नाम पर पड़ा है। सोना राम बिश्नाई ने बताया है कि ''रूणीचे कुएँ के कारण इस गाँव का नाम 'रूणीचै' (रूणीचौ) था।''[8] बाद में बाबा रामदेव के नाम पर इस जगह का नाम 'रामदेवरा' अर्थात् रामदेव का स्थान पड़ा।

बाबा रामदेव का समय राजस्थान में भक्ति आन्दोलन के उत्कर्ष का काल कहा जा सकता है। अनेक संतों एवं पीरों की विचलित करने वाली बातों से आमजन आहत था। बाबा रामदेव ने ऐसी अनेक विचारधाराओं को नकार कर समन्वयवादी विचारधारा को आगे बढ़ाने का कार्य किया जिससे वह लोगों के मुख्य आकर्षण के विषय रहें। मुस्लिम धर्म के प्रचार-प्रसार में एक सार्वभौमिक विचारधारा उस समय पश्चिमी राजस्थान में पनप रही थी जो एक लोक संत या देवता के रूप में सामने आई। बाह्य जातियों के हमले एव लूट-मार निरन्तर जारी थी। यह अलग बात है कि बाद में ये सभी हमारी सामयिक संस्कृति के अभिन्न अंग बन गए। 'सोढायण' में उल्लेख आता है कि अनेक जातियाँ हिन्दू धर्म को छोड़कर मुसलमान बन गयी थी।[9] गोपीनाथ शर्मा ने भी बताया है कि इस्लाम का प्रभाव भी हिन्दू धर्म की जड़ों को हिलाने काम कर रहा था।[10] इस समय इस्लाम एवं सूफी सम्प्रदाय से प्रभावित संत परम्परागत रूढ़िवादिता से हटकर एवं जाति व्यवस्था से ऊपर उठकर, बात कर रहे थे। इसलिए जातीय विभेद से प्रताड़ित आमजन का ध्यान उनकी तरफ जाना स्वाभाविक था। बांकीदास की ख्यात में उल्लेख आया है कि इस्लाम एवं सूफियों ने अधिकांश राजस्थान पर अपना प्रभाव जमा लिया था।[11] ''जाति-प्रथा, सामाजिक व्यवस्थाएँ, पारिवारिक मान्यताएँ, लोक-प्रचलन, शास्त्रानुमोदित विधि-विधान और पूर्व-परिपाटियों के परिणामस्वरूप सामाजिक जीवन अस्पष्ट, अनुपयोगी, कष्टप्रद और निस्सार हो गया था।''[12] ऐसी विकट परिस्थितियों में समाज को एक समाज सुधारक की आवश्कयता थी जो सभी के लिए समान रूप से समान अधिकारों की आवाज उठा सके। समाज को एक ऐसे मजबूत व्यक्ति की आवश्यकता थी जो सांमती भी हो, परोपकारी भी हो साथ ही साथ उच्च वर्ग से हो जिसके हृदय में अछूतों एवं हाशिये पर पड़े लोगो के लिए दया का भाव हो। शोषित, प्रताड़ित एवं अपमानित हासिये पर पड़ा समाज समानता, सद्भावना एवं अस्मिता को पाने के लिए तरस रहा था। यह कार्य बाबा रामदेव ने किया इसलिए वह आज भी समाज सुधारक के रूप में आकर्षण का कारण बने हुए है।

बाबा रामदेव के समय उच्च वर्ग की वर्ग विभिन्नता एवं छुआछूत जैसी हीन प्रथाओं का उन्होंने खुल कर विरोध किया। उन्होंने ऐसे विचारों का प्रतिपादित किया जो सांमत, अमीर एवं गरीब दोनों के पथ प्रदर्शक हो एवं दोनों के विचारों में सामंजस्य पैदा करने में सहायेक सिद्ध हो। मध्यकाल के भक्ति आन्दोलन पर नजर डाले तो सभी संतों ने एक विचाराधारा के रूप में अपने मतों को प्रतिपादित नहीं किया है। सभी के विचारों में लौकिक आवश्यकता एवं समय विशेष की जरूरत हमें नजर आती है जो सभी को समान एवं सार्वभौमिक बनाती हो। इसी सार्वभौमिकता ने समाज के सभी वर्गों को एक साथ बांध कर रखा है। बाबा रामदेव ने समाज में इस विचारधारा के चलते सार्वभौमिकता पर बल दिया। मध्यकाल में भक्ति आन्दोलन के संतों के विचारों में बहुत अधिक

सद्भावना हमें दिखाई देती है। हालांकि भक्ति आन्दोलन की उत्पत्ति एक ऐसे इलाके से हो रही थी जहां से रेगिस्तान तक प्रसारित होना संभव नहीं था परन्तु बाबा रामदेव ने इस काम को बहुत अधिक आसान कर दिया था।

बाबा रामदेव के मूलभूत सिद्धान्त ऐसे थे जो उन पर ही नहीं बल्कि पूरे भक्ति आन्दोलन पर समग्र रूप से लागू होते थे - पहले, धार्मिक विचारों के बावजूद जनता की एकता को स्वीकार करना; दूसरे, ईश्वर के सामने सबकी समानता; तीसरे, जाति प्रथा का विरोध; चौथे, यह विश्वास कि मनुष्य और ईश्वर के बीच तादात्म्य, प्रत्येक मनुष्य के सद्गुणों पर निर्भर करता है, न कि उसकी ऊँची जाति अथवा धन-सम्पति पर; पाँचवे, इस विचार पर जोर दिया कि भक्ति ही आराधना का उच्चतम स्वरूप है; और अंत में कर्मकांडों, मूर्तिपूजा, तीर्थाटनों और अपने को दी जाने वाली यंत्रणाओं की निंदा। इन सभी को समान रूप से पश्चिमी राजस्थान में प्रसारित करने में बाबा रामदेव का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इसलिए वहां के आमजन ने भक्ति की इस सरल विचारधारा को समझने में कोताई नहीं की एवं वह सभी समाजों में आकर्षण का विषय रहें। भक्ति आन्दोलन में बाबा रामदेव को मुख्य धारा में तो स्थान नहीं मिला परन्तु लोक देवता के रूप में प्रत्येक समाज में उनका आकर्षण एवं उनकी प्रसिद्धि हमेशा बनी रही। उन्होंने सरल लौकिक भाषा में दर्शन एवं साहित्य को सबके सामने रखा जो तत्कालीन समय की आवश्यकता थी। गोपीनाथ शर्मा ने भी बताया है कि संत एवं रहस्यवादियों ने परम्परागत भक्ति को नकार कर एक नई अवधारणा आम जन के सामने पेश की। यह संत बंधनों एवं धर्मों से परे थे एवं आमजन के सामने एक नई विचारधारा को रखना चाह रहे थे।[13] संत बाबा रामदेव ने भी इसी प्रकार का कार्य किया।

बाबा रामदेव का व्यक्तित्व बचपन से आमजन को आकृष्ट करता आ रहा है। उनके साथ जुड़े अलौकिक पर्चों ने उनको प्रसिद्धि दिलाई एवं साथ-साथ समाज के प्रत्येक वर्ग को अपनी ओर आकृष्ट किया। प्रो. सोनाराम विश्नाई ने बाबा रामदेव के प्रमुख 13 अलौकिक पर्चों का उल्लेख किया है। जिसमें उन्होंने बाल अवस्था में ही अपनी माता को अलौकिक पर्चे के माध्यम से प्रभावित किया था।[14] बचपन से ही बाबा रामदेव के प्रति लोगों का आकर्षण तो रहा ही है परन्तु उनकी समाधिस्थ हो जाने के बाद इस परम्परा में और अधिक वृद्धि हुई।

बाबा रामदेव ने विशेषत: उस समाज को अधिक महत्व दिया जो आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ था। उन्होंने नैतिक दृष्टि से ही नहीं बल्कि व्यवहार में भी उस समाज के साथ उठना एवं बैठना शुरू किया जिससे स्वीकार्य वर्ग को बहुत आपत्ति होती थी। परन्तु बाबा रामदेव ने सामाजिक बंधनों को दरकिनार करते हुए समान समाज को अधिक महत्व दिया। इसलिए वह हासिये पर पड़े समाज के प्रमुख आकर्षण का केन्द्र रहे हैं। हांलकि उनके परिवार में यह परम्परा उनके उनके दादा रिणसी जी के

समय से दिखाई देती है। 'खिवण मेघवाल' एवं 'रिणसी' के संबन्धों की चर्चा स्वामी गोकुल दास ने अपनी पुस्तक 'मेघवंश का इतिहास' में विस्तार से की है। जहां पर उन्होंने रिणसी जी को खिवंण मेघवाल के सामने लाचार बताया है। वहीं से रिणसी जी को शम्स पीर द्वार 'पीर' की उपाधि से विभूषित किया गया था।[15] भंवर मेघवंशी रिणसी जी के बाद बाबा रामदेव के पिता जी 'अजमाल जी' को भी 'पीर' बताते है एवं सायर मेघवाल के बहुत करीबी बताते है।[16] इसलिए यह कहा जा सकता है कि बाबा रामदेव एवं उनके पूर्वजों के प्रति निम्न समाज का आकर्षण बहुत पहले से होता आया है जिसको बाबा रामदेव ने जारी रखा।

बाबा रामदेव के समय को ध्यान में रखते हुए नारी सम्मान की कल्पना करना बहुत कठिन है। परन्तु बाबा रामदेव ने नारी सम्मान का विशेष रूप से ध्यान रखा इसलिए बाबा रामदेव को 'स्त्री सम्मान' के रूप में भी प्रमुख रूप से याद किया जाता रहा है। उनके समाधिस्थ हो जाने के बाद तो अनेक स्त्रियाँ उनकी भक्तिन बन गई जिसमें रूपादे, हेमीबाई आदि प्रमुख है। बाबा रामदेव स्वयं ने एक निम्न वर्ग की कन्या को अपनी बहन बनाकर समाज में मिसाल कायम की। 'डाली बाई'[17] इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। निम्न वर्ग की कन्या को अपनी समाधि से पहले मान्यता देना उनकी बहुत बड़ी उदारता कही जा सकती है।

इसी प्रकार संत शिरोमणी 'रूपादे' का पर्चा भी मारवाड़ में विख्यात है। हालांकि उच्च वर्ग ने बाबा रामदेव को पूर्ण रूप से कभी भी स्वीकार्य नहीं किया, परन्तु बाबा रामदेव की परोपकारी भावना एवं सार्वभौमिक विचारों के सामने हमेशा नतमस्तक रहा है। इसलिए 'रूपादे' के विरुद्ध किये गये अनेक षडयंत्र विफल हो गये है। किसी भी उच्च वर्ग की स्त्री का निम्न वर्ग के घर भक्ति के लिए जाना उस समय का क्रान्तिकारी परिवर्तन कहा जा सकता है। बाबा रामदेव के प्रति उच्च वर्ग की स्त्रियों को भक्तिमय वंदन विशेष उल्लेखनीय कहा जा सकता है। मेघवालों के घर रूपादें के जाने पर उच्च वर्ग के अपमान को रात्रि जम्मों में 'रूपादे की बेल' में विस्तार से गाया जाता है ''सत री तणी खो दी थे रोणी, अकरम कोम थे कमाया, महल छोड़ थे गया मेघा घर, म्होनें लाज लजाया''[18]। रावळ मालदे का बाबा रामदेव के प्रति समर्पण भी आम बात नहीं हैं ''इण पंथ में ले जाओ पदमणी, थै रहिया घणा दिन छांना''[19]। इस प्रकार के प्रसंग ही बाबा रामदेव को आमजन के प्रति आकृष्ट करते हैं।

रूपादे एवं रावळ मालदे की तरह 'हरजी भाटी' भी एक चर्चित व्यक्तित्व रहे हैं। हरजी भाटी प्रथम व्यक्ति है जिन्होंने बाबा रामदेव को आमजन के सामने विस्तार से प्रस्तुत किया। उन्होंने बाबा रामदेव के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को स्वरमय कर प्रस्तुत किया जिसको 'महिमा साहित्य' कहा जा सकता है। उनकी श्रद्धा एवं बाबा रामदेव के प्रति विश्वास अपार हैं। उन्होंने विपुल साहित्य की रचना की जो वर्तमान में रात्रि जम्मों में

गाया जाता है। इस रसमय साहित्य ने वर्तमान तक बाबा रामदेव के प्रति आमजन की आस्था को अडिग बनाये रखा हैं। 'हरजी भाटी' को बाबा रामदेव द्वारा दिया गया अलौकिक पर्चा[20] भी इस साहित्य में हरजी भाटी द्वारा स्वयं संगीतबद्ध कर गाया गया है। हरजी भाटी के प्रत्येक भजन में बाबा रामदेव के प्रति श्रद्धा एवं विश्वास झलकता है ''बड़ा-बड़ा बिड़तदों राम भारा, आप सहि म्हें नवलख तारा, म्हें मिणधारी लिया थौरा लारा''[21]। इस प्रकार की पंक्तियां बाबा रामदेव के प्रति प्रत्येक वर्ग का आकर्षण और अधिक बढ़ा देती है। जोधपुर शासक विजयसिंह[22] (1752-1793 ई.) एवं हरजी भाटी संवाद भी बाबा रामदेव के रात्रि जम्मों में विस्तार से गाया जाता रहा है। इस संवाद के द्वारा ही उच्च वर्ग में बाबा रामदेव का आकर्षण और अधिक बढ़ गया था एवं बाबा रामदेव के भक्ति एवं दर्शन के प्रसार-प्रचार को मान्यता मिल गई थी। ''बापजी राजा विजयसिंग परसों मोंगे, परचों नहीं है पिंडतों रे पास''[23]। इस प्रकार के अनेक वृत्तान्त बाबा रामदेव को आमजन के प्रति आकृषित करते हैं।

हालांकि हरजी भाटी द्वारा 'महिमा साहित्य' की रचना करने के बाद बाबा रामदेव से वास्तविक जम्मा पद्धति का पूर्ण रूप से हनन हो चुका है। बाबा रामदेव के समाधिस्थ होने एवं हरजी भाटी द्वारा महिमा साहित्य की रचना के मध्य लगभग 300 साल का लम्बा समय दिखाई देता हैं जिसमें बाबा रामदेव से सम्बन्धित प्रमुख 24 प्रमाणों को गाया जाता था जो वर्तमान में लगभग विलुप्त हो गया है। बाबा रामदेव के 24 प्रमाणों को उनका मूल साहित्य माना जाता है। हालाँकि उनसे सम्बन्धित अनेक प्रकार का साहित्य वर्तमान में प्रचलित है परन्तु वह उनके भक्तों द्वारा बाबा रामदेव द्वारा ही स्वयंरचित साहित्य माना जाता है। प्रमुख भजनी एवं उनके प्रमुख भक्त उनके 24 प्रमाणों को उन्हीं के द्वारा कथना (रचना) बताते हैं। इसलिए देखा जाए तो इन प्रमाणों में भक्ति एवं दर्शन के सम्पूर्ण पुट दिखाई देते हैं। उनसे सम्बन्धित अन्य लौकिक साहित्य में केवल उनके चमत्कारों एवं उनकी महिमा का बखान किया गया है। सोनाराम बिश्नाई ने भी उनके 24 प्रमाणों को उनका मूल लौकिक साहित्य माना है। उनको राजस्थान का प्रथम राजपूत कवि बताया है जो संत के साथ-साथ एक कवि भी था। उन्होंने उनसे सम्बन्धित लौकिक साहित्य को तीन भागों में विभाजित किया है- स्वयं बाबा रामदेव के नाम से प्रचलित लोक साहित्य, बाबा रामदेवजी के भक्त कवियों के नाम से प्रचलित लोक साहित्य एवं अनाम लोक साहित्य (यह शुद्ध रूप से लोक-मानस द्वारा निर्मित लोक साहित्य है)।[24] यही 24 प्रमाण या प्रवाण रात्रि जम्मों के दौरान गाये जाते हैं। बाबा रामदेव के यही 24 प्रमाण किसी एक धर्म एवं सम्प्रदाय से सम्बन्धित नहीं है इनमें 'सार्वभौमिकता' नजर आती है। ऐसी 'सार्वभौमिकता' शायद ही किसी संत के काव्य रचना में दिखाई देती हो। उनके द्वारा रचित माने जाने वाले 24 प्रमाणों में गुरू, ब्रह्म, माया, जगत, आत्मा, परमात्मा, सृष्टि की उत्पति, योग, ज्ञान, मोक्ष, अवतार आदि का समन्वय दिखाई देता है। इसी रसमयी साहित्य ने बाबा रामदेव के प्रति आकर्षण को और

अधिक बढ़ाया है एवं आमजन को उनके प्रति जोड़कर रखा है। इन 24 प्रमाणों को बाद में अनेक संकलनकर्ताओं द्वारा संकलित किया गया है जिसमें स्वामी गोकुलदास[25], शंकरपुरी[26] एवं सोनाराम बिश्नाई[27] प्रमुख है। हालांकि क्षेत्रीय विशेषता की वजह से अनेक शब्दों में बदलाव हो गया है इसलिए प्रमाणों की मूल भावना आहत हुई। अलग-अलग लेखकों के द्वारा संकलित प्रमाणों में विभिन्नता दिखाई देती है।

बाबा रामदेव हिन्दू समाज के लिए ही नहीं बल्कि मुसलमानों के लिए भी आकर्षण का केन्द्र रहे हैं। उनके लौकिक साहित्य में मक्का-मदीना से पांच पीरों का आना एवं बाबा रामदेव की परीक्षा लेना चर्चित है। उन पांच पीरों को बाबा रामदेव द्वारा दिया जाने वाला अलौकिक पर्चा भी रात्रि जम्मों में विस्तार से गाया जाता रहा है। लौकिक साहित्य के आधार पर यह बताया गया है कि इन्हीं पांचों पीरों ने बाबा रामदेव से प्रभावित होकर उनकों 'पीरों के पीर' की उपाधि से विभूषित किया था। इसलिए बाबा रामदेव को 'रामसापीर' के नाम से अधिक जाना जाता है। नैणसी ने भी 'मारवाड़ रा परगनां री विगत' में 'रामसापीर'[28] के नाम से ही सम्बोधित किया है। बाबा रामदेव की समाधि भी पीरों की भाँति ही दिखाई देती है। हरजी भाटी ने भी उनको कई बार 'पीर' कह कर सम्बोधित किया है-''बापजी थौने पीर कहों या परमेश्वर''। अतः बाबा रामदेव को जितना हिन्दू धर्म में महत्व मिला उतना ही मुस्लिम धर्म में भी उनको महत्व दिया गया।

सन्दर्भ

1. *टॉड, कर्नल ले. कर्नल, एनल्स एण्ड एन्टीक्वीटीज ऑफ राजस्थान, भाग-3, रूटलेडज एण्ड केगन पॉल, लि. लंदन, 1923, पृ. 1272*
2. *नैणसी, मुंहता, (सं.) फतहसिंह, मारवाड़ रा परगनां री विगत, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, संवत् 1969, पृ. 308*
3. *देवड़ा, घनश्याम लाल, राजस्थान इतिहास के अभिज्ञान रूप, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, तृतीय संस्करण, 2019, पृ. 230-232*
4. *रात्रि जम्मों में लखी बणजारे का वृत्तान्त सुनाया जाता है कि किस प्रकार उसने बाबा रामदेव से माफी माँगी और बाबा रामदेव द्वारा उसको किस प्रकार अनुगृहीत किया गया।*
5. *यह बन्नालाल रचित भजन है जिसको कानाराम देपन (देचू) रात्रि जम्मों में गाते हुए नजर आते हैं। जिसमें लखी बणजारे का उल्लेख किया गया है। देखें- https://youtu.be/EIgtw4-HJWk*
6. *देवड़ा, घनश्याम लाल, राजस्थान इतिहास के अभिज्ञान रूप, पृ. 3*
7. *बारहठ, लक्ष्मीदत्त, रामदेव लीलामृत, श्री रामेदव स्टोर्स, जोधपुर, रजि. नं. 906/1953।*
8. *बिश्नोई, सोना राम, बाबा रामदेव की प्रामाणिक जीवनी, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, प्रथम संस्करण, 2012, पृ. 31*
9. *कविया चिमनजी कृत, सोढायण, शक्तिदान कविया (सं.), राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, प्रथम संस्करण, 1966, पृ. 79*

10. *शर्मा, गोपीनाथ, राजस्थान थ्रू द एजेज, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, 1990, पृ. 339*
11. *बांकीदास री ख्यात, (सं.) नरोत्तमदास स्वामी, राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मंदिर, जयपुर, प्रथम संस्करण, सवंत् 2013, पृ. 167*
12. *शुक्ल, दिनेश चन्द्र एवं ओंकार नारायण सिंह, राजस्थान की भक्ति परम्परा एवं संस्कृति, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, प्रथम संस्करण, 1992, पृ. 14-15*
13. *शर्मा, गोपीनाथ, राजस्थान थ्रू द एजेज, पृ. 339*
14. *बिश्नोई, सोना राम, बाबा रामदेव इतिहास एवं साहित्य, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, द्वितीय संस्करण, 2008, पृ. 85-91*
15. *दास, स्वामी गोकुल, मेघवंश इतिहास (ऋषि पुराण), प्रकाशक- सेवादास ऋषि, अलख स्थान डूमाड़ा, अजमेर, तृतीय संस्करण, संवत् 2039, पृ. 151-167 पंवार, तमेघ, पश्चिमी राजस्थान में उपाश्रित पंथ की समतामूलक विचारधारा का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक आधार : बाबा रामदेव के विशेष सन्दर्भ में, जिज्ञासा (शोध पत्रिका), वॉल्यूम 23-24, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, पृ. 81-89*
16. *मेघवंशी, भंवर, मेघवंशी बाबा रामदेव, रिखिया प्रकाशन, भीलवाड़ा, द्वितीय संस्करण, 2016, पृ. 24-25*
17. *दास, स्वामी गोकुल, मेघवंश इतिहास (ऋषि पुराण), पृ. 201*
18. *गांव सेतरावा, बाबा रामदेव मंदिर रात्रि जम्मा, रूपादे री बेल, गायक दमाराम, आसरलाई (जोधपुर)*
19. *क्षीरसागर, डी.बी., संत शिरामणि राणी रूपांदे और मल्लीनाथ, राजस्थानी ग्रन्थागार, द्वितीय संस्करण, 1914, पृ. 29*
20. *दास, स्वामी गोकुल, मेघवंश इतिहास (ऋषि पुराण), पृ. 217*
21. *रात्रि जम्मा, बाबा रामदेव मंदिर, गांव तलिया चौरड़ियां, गायक भोजाराम पन्नु*
22. *रेउ, पं. विश्वेश्वर नाथ, मारवाड़ का इतिहास, भाग-प्रथम, महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश, जोधपुर, पुनः मुद्रण, 1999, पृ. 371*
23. *रात्रि जम्मा, चेनाराम पुत्र श्री मोमता राम, गांव चौरड़िया, भजन गायक दमाराम, आसरलाई (जोधपुर)*
24. *बिश्नोई, सोना राम, बाबा रामदेव इतिहास एवं साहित्य, पृ. 107।*
25. *श्रीरामदेवजी महाराज कृत चौबीस प्रमाण, (संकलनकर्त्ता) स्वामी गोकुल दास, प्रकाशक-सेवादास 'ऋषि' डूमाड़ा अजमेर, षष्ठम संस्करण, संवत् 2024*
26. *श्रीरामदेव श्रीमुख प्रमाण, (संग्रहकर्ता) शंकर पुरी एवं रामस्वरूप शर्मा, श्री पुस्तक भण्डार, मदनगंज, किशनगढ़, संवत् 2021*
27. *बिश्नोई, सोना राम, बाबै की वांणी, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, तृतीय संस्करण, 2015*
28. *नैणसी, मुंहता, (सं.) फतहसिंह, मारवाड़ रा परगनां री विगत, पृ. 291*

ठिकाना रोहिट के दस्तावेजों में सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन - एक अध्ययन

नयना आचार्य

साधारणत: ठिकाना शब्द का अर्थ निवास करने एवं मुख्यालय से है, परन्तु व्यवहारिक रूप में जागीर के पट्टे का व मुख्य गांव जिसमें जागीरदार सपरिवार निवास करता है, वहीं से जागीर के दूसरे गांवों का शासन प्रबन्ध संचालित करता है और उस गांव पर उसके वंशधरों का अधिकार रहता है। वह गांव ठिकाना कहलाता है।[1] मारवाड़ में राव जोधा पूर्व तक ठिकाना व्यवस्था का कोई स्पष्ट स्वरूप नहीं था। राव जोधा ने कठोर परिश्रम के उपरान्त अपने प्रान्त (राज्य) की सुरक्षा हेतु तथा मारवाड़ के शासन तंत्र को सुव्यवस्थित रूप चलाने हेतु अपने भाइयों और पुत्रों में भूमि वितरित की। इस प्रकार राव जोधा अपनाई गई भूमि वितरण की प्रथा से मारवाड़ में ठिकाना व्यवस्था का उद्‌भव हुआ। इससे राठौड़ों की कई शाखाएं और उपशाखाएं उदित हुई। इन शाखाओं और उपशाखाओं से अनेक ठिकाने अस्तित्व में आये।

मारवाड़ के ठिकानों में रोहिट का ठिकाना चांपावत राठौड़ों का था। यह जोधपुर-पाली मार्ग पर जोधपुर से 40 कि.मी. तथा पाली से 31 कि.मी. की दूरी पर स्थित है। रोहिट पाली जिले में स्थित है।

चांपावत राठौड़ों के मूल पुरुष चांपाजी थे। वे राव रणमल के तृतीय पुत्र थे। उन्होने राठौड़ सत्ता को सुदृढ़ करने तथा उसके वंश के गौरव में अभिवृद्धि करने के लिए त्याग और निस्वार्थ भावना से सेवाएं दी थी। उन्होनें राव जोधा के साथ मिलकर जोधपुर की स्थापना में सहयोग दिया था। राव जोधा की ओर से उन्हें भाई-बंट में कापरड़ा और बनाड़ मिला था।[2] चांपाजी के वंशजों में क्रमष: भैरूदास, जैसा, मांडण और गोपालदास थे। गोपालदास के आठ पुत्रों ने अलग-अलग सैन्य अभियानों में अपना बलिदान देकर चांपावतों का इतिहास गौरवपूर्ण बनाया। उन्हीं आठ पुत्रों के वंशजों का खूब विस्तार हुआ और उन्हें अनेक ठिकाने मिले। गोपालदास के पुत्रों में दलपतसिंह के वंशज आईदानोत चांपावत कहलाये। रोहिट आईदांनोत चांपावत का ठिकाना था।[3]

सर्वप्रथम 1622 ई. महाराजा गजसिंह प्रथम ने दलपतसिंह चांपावत को 84 गांवों सहित रोहिट की जागी दी थी।[4] दलपतसिंह ने 1658 ई. में महाराजा जसवन्तसिंह प्रथम के साथ मिलकर औरंगजेब के विरुद्ध उत्तराधिकार युद्ध (उज्जैन के निकट धर्मत्त के

युद्ध) में भाग लिया था। 1665 ई. दलपतसिंह की मृत्यु के बाद उनका पुत्र कल्याणदास जी रोहिट की गद्दी पर बैठे। उस समय रोहिट की रेख 22,500/- रुपये थी।[5]

महाराजा जसवन्तसिंह प्रथम की मृत्यु के बाद 1679 ई. में रोहिट पर शाही सेना ने अधिकार कर लिया था। दलपतसिंह पुत्र शक्ति सिंह आईदांनोत को महाराजा अजीतसिंह ने 1708 ई. में रोहिट की जागीर दी। उसकी रेख 18,500/- रुपये थी। यह कदीमी पट्टा था।[6]

शक्तिसिंह के पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों में क्रमश: भगतसिंह कल्याणसिंह, इन्द्रसिंह, अचलसिंह, सुरताणसिंह, गिरधारी सिंह, रणजीतसिंह, दलपतसिंह, विक्रमसिंह और मानवेन्द्रसिंह रोहिट की गद्दी पर बैठे। वर्तमान में सिद्धार्थ सिंह रोहिट के ठिकानेदार है।[7]

रोहिट का ठिकाना द्वितीय श्रेणी का था। ठिकाना दस्तावेजों का विश्लेषणात्मक अध्ययन करने से हमें ठिकाना की सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की जानकारी मिलती हैं। यह दस्तावेज राजस्थानी शोध संस्थान चौपासनी में संग्रहित हैं।

सामाजिक रीति-रिवाज और परम्पराएँ

ठिकाना के दस्तावेजों से वैवाहिक संस्कार, सांस्कृतिक रीति रिवाज और शोक संबंधी परम्पराएं की जानकारी मिलती है। जो निम्नलिखित हैं :-

ठिकानेदारों को प्राप्त ताजीम कुरब और सिरोपाव

मारवाड़ के शासक अपने ठिकानेदारों की सेवाओं और सैन्य अभियानों में दिये गये योगदान के लिए सम्मानित करने हेतु विशेष पुरस्कार दिये जाते थे। ये पुरस्कार तामीज और कुरब कहलाते थे। जिन्हें ये प्राप्त होते थे ताजीमी ठिकानेदार कहा जाता था।[8] इन पुरस्कारों से जहाँ एक और शासक के प्रति अटूट निष्ठा उत्पन्न होती थी तो दूसरी ओर ठिकानेदारों के लिए ये गौरव की बात थी वे शासक के द्वारा सम्मानित होते थे।

(i) ताजीम से तात्पर्य है इज्जत और सम्मान। यह सम्मान मारवाड़ के ठिकानेदारों को उनके द्वारा की गयी सेवाओं के बदले महाराजाओं द्वारा प्रदत्त की जाती थी। इसके अन्तर्गत विशेष दरबार में ठिकानेदारों द्वारा उपस्थित होने पर शासक खड़े होकर शिष्टाचार का निर्वाह करता था।[9] यह दो प्रकार होती थी :-

1. इकवेड़ी ताजीम - ठिकानेदार जब दरबार में उपस्थित होता था। तब उसके आगमन के समय महाराजा खड़े होकर उसका अभिवादन स्वीकार करता था। यह शिष्टाचार इकेबड़ी ताजीम कहलाता था।[10]

2. दोवड़ी ताजीम - इस स्तर के ठिकानेदार के आगमन और प्रस्थान दोनों समय महाराजा खड़े होकर उनका अभिवादन स्वीकार करते थे।[11] ठिकाना रोहिट को

दोवड़ी ताजीम प्राप्त थी।12

(ii) कुरब – महाराजा द्वारा यह विशेष सम्मान ठिकानेदारों को विशेष दरबार में उनके आगमन पर दिया जाता था। वह कुरब कहलाता था।[13] शासक द्वारा ठिकानेदारों को कई प्रकार कुरब दिये जाते थे। जैसे – बाँह पसाव को कुरब, हाथ का कुरब आगे घोड़ो खड़ण रो कुरब, रंग इनामत का कुरब, छड़ी इनामत का कुरब और जीकारा का कुरब आदि।[14]

1. बाँहपंसाव – ठिकानेदार जब महाराजा के सामने उपस्थित होता था तो वे अपनी तलवार उनके पैरों के पास रखकर उनके अचकन के पल्ले को छूकर अभिवादन करते थे। महाराजा ठिकानेदार के कंधे पर हाथ रखकर उनकी अगवानी करते थे।[15] इसका तात्पर्य यह था कि शौर्य युग में उनके कंधों पर राज्य के भार का संकेत था जो संरक्षण काल में सांमत के लिए अभय का संकेत था। रोहिट के ठिकानेदारों को सर्वप्रथम बाँहपंसाव का कुरब ठाकुर भगवतसिंह संगतसिंह आईदांनोत को महाराज विजयसिंह के (1752–1793 ई.) समय संवत 1820 (1763 ई.) दिया गया था।[16] उसके पश्चात् रोहिट के ठाकुर सुरताणसिंह को आषाढ़ सुद 9 बुधवार संवत् 1896 (1839 ई.) को महाराजा मानसिंह द्वारा बाँहपसाव का कुरब इनायत किया गया था।[17] संवत् 1900 (1843 ई.) महाराजा मानसिंह के समय रोहिट जागीरदार को बाँह पसाव का कुरब इनायत किया गया था।[18]

2. हाथ का कुरब – ठिकानेदार द्वारा दरबार में आने पर वह जब महाराजा के अचकन के पल्ले को छूकर जब अभिवादन करते थे तब महाराजा ठिकानेदार के कंधे पर हाथ लगाकर अपने छाती तक ले जाते थे।[19] रोहिट ठाकुर कल्याण सिंह का सेवाओं से प्रसन्न होकर महाराजा विजयसिंह ने उनको संवत 1841 (1784 ई.) को हाथ का कुरब दोहरा इनायत किया था।[20] संवत् 1908 (1851 ई.) महाराजा तख्तसिंह ने ठाकुर सुरताण सिंह अचलसिंह को और उनके तीनों भाइयों को तथा राठौड़ देवी सिंह अचलसिंह को बांह पंसाव का दोहरा कुरब तथा सामली ओल में बैठने का कुरब (अर्थात महाराजा के सामने दायीं और बायीं और बैठने का सम्मान अथवा कुरब) इनायत किया गया।[21]

3. घोड़ा आगे खड़ण का कुरब – इसमें जागीरदार को रथों के आगे या महाराजा की सवारी के आगे घोड़ा हांकने का कुरब दिया जाता है।[22] ठाकुर कल्याण सिंह को संवत 1841 (1784 ई.) महाराजा विजयसिंह ने घोड़ा आगे खड़ण रो कुरब प्रदान किया गया था।[23]

(iii) सिरोपाव – मारवाड़ के राजपरिवार की तरफ से सांमतों को पुरस्कृत करने हेतु सिरोपाव भेंट किये जाते थे। यह सम्मान और पुरस्कार उन्हें शासन में सहयोग देने, युद्ध में वीरता दिखलाने एंवम् उनकी साहित्यिक सेवाओं के पारितोषिक स्वरूप उनमें

उत्साह की वृद्धि करने के लिए दिये जाते थे। यह परम्पराएँ मुगल दरबार में प्रचलित थी, जिसका अनुसरण मारवाड़ के शासक सूरसिंह ने किया था।[24] सिरोपाव कई प्रकार होते है, जैसे हाथी सिरोपाव, पालकी सिरोपाव, घोड़ा सिरोपाव, सादा सिरोपाव, कण्ठी दुपट्टा सिरापाव ..... आदि।[25] सिरोपाव में हाथी सिरोपाव सर्वोच्च होता था। इसमें वस्त्रों के साथ प्राप्त कर्त्ता 780 रुपये प्रदान किये जाते थे। निम्न वस्तुओं की कीमत सिरोपाव के रूप में दी जाती थी।[26]

1.	हाथी	–	500 रुपये
2.	कण्ठी	–	85 रुपये
3.	दुशाले	–	75 रुपये
4.	सिरपेच	–	65 रुपये
5.	दुपट्टा	–	80 रुपये
6.	पेची मदिल	–	11 रुपये (यह एक ही रंग का कपड़ा होता है, बहुरंगी नहीं जो 17–20 मीटर लम्बा होता है, यह पेचे का ही एक प्रकार है, जिसके एक तरफ जरी की सुनहरी पटी पूरी लम्बाई तक बनी हुई होती है।)
7.	खिनखाब	–	8 रुपये (यह जरीदार रेशमी कपड़ा)
8.	दो थान फूलगिरी	–	6 रुपये
	कुल	–	780 रुपये

हाथी सिरोपाव रोहिट के ठाकुर दलपतसिंह को महाराजा उम्मेदसिंह ने 21 अगस्त 1941 को इनामत किया था।[27] यह सिरोपाव विवाह के अवसर पर दिया जाता था तो 150 रुपये जामा और कमरबन्ध के मिलाकर 849 रुपये दिये जाते थे। इसमें से दुशाले के 75 रुपये और फूलगिरी के थान के 6 रुपये काट लिये जाते थे। महाराजा के भाई–बन्धुओं को विवाह के अवसर हाथी सिरोपाव के 1000 रुपये दिये जाते थे।[28]

जिस प्रकार शासक अपने ठिकानेदारों की सेवाओं और सहयोग से प्रसन्न होकर उनको सिरोपाव देता था, उसी प्रकार ठिकानेदार भी अपनी कर्मचारियों की सेवाओं से प्रसन्न होकर विवाह के अवसर पर उनकी विशेष साहित्यिक सेवाओं और महत्वपूर्ण कार्यों में योगदान देने के लिए सिरोपाव देता था। जिसके सूत्र बही स. 1191 में मिलते है, जैसे संवत 1990 (1933 ई.) कार्तिक सुद को खेतड़ी के मोहम्मद खान को सिरोपाव में 1 पेचा (साफा जिसका मूल्य 1.50 रुपये का) एक केसरिया दुपट्टा, एक फलगिरी थान और 15 रुपये रोकड़ प्रदान किये गये। दरोगा चतरभुज को सिरोपाव में एक साफा और 10 रुपये रोकड़ दिये गये।[29]

खान-पान और पहनावा

रोहिट की ख्यात और रोहिट की तवारिख के अनुसार यहाँ के निवासी ज्वार और बाजरी का खाने में अधिक प्रयोग करते थे। यद्यपि वहाँ पर चना, मूंग, मोठ, तिल और गेंहू भी पैदा होता था।[30] गाँव के पुरुष बड़ीया, अंगरखी, पाग और धोतीया (धोती) पहनते थे। कपड़ा रेजा लटी (लट्ठा जैसा मोटा कपड़ा) का इस्तेमाल करते थे।[31]

महिलाओं की स्थिति

हमारी सामाजिक व्यवस्था में महिलाओं को पुरुषों की तुलना में कम महत्व दिया गया है। इसलिए ठिकाने के दस्तावेजों में जहाँ पर भी ठकुरानियों का उल्लेख होता था वह केवल उनकी खांप जैसे - चौहानजी, भटियाणी जी, खंगोरत जी ..... इत्यादि का उल्लेख मिलता है। जहां तक साधारण महिलाओं का प्रश्न है उनके नाम का उल्लेख नहीं मिलता है अपितु उनके नाम का उल्लेख पुरूषों के नाम से हुआ है। बही स. 998, बही सं. 1017 में इसके सूत्र मिले है। जैसे गंगाराम की बहु, ज्वारा की बहु, हीरा की बहु, जुमर की बहु और श्री धूल चंद की बहु ..... इत्यादि।[32]

सती प्रथा

ठिकाने में सती प्रथा की जानकारी रोहिट की तवारिख और चांपावतों के इतिहास में मिलती है। रोहिट की तवारिख के अनुसार सतियों की दो छतरियां बनी हुई है जैसे-

1. संवत 1843 (1786 ई.) वैशाख माह सुद 6 सोमवार को राज श्री 108 श्री ठाकुर संगतसिंह आईदांनोत की पत्नी विजय कंवर (जो चौहान ठाकुर राजसिंह रोहेचा की पुत्री थी) उनके सती स्थल पर छतरी का निर्माण कराया गया।
2. संवत् 1843 (1786 ई.) वैशाख माह सुद 6 सोमवार राज श्री 108 श्री भगतवसिंह संगतसिंह आईदांनोत की पत्नी श्री भटियाणी ब्रजकंवर (भाटी ठाकुर सांवतसिंह बालरवा की पुत्री थी) उनके सती स्थल पर छतरी का निर्माण करवाया गया।[33]
3. ठाकुर भगवतसिंह सगतसिंह आईदांनोत के पुत्र हरिदास की मृत्यु पिता के जीवन काल में हो गई थी। उनकी पत्नी सिरेह कंवर भटियाणी जो ठाकुर जैतसिंह उदयभाणोत की पुत्री थी। पति की मृत्यु पर सती हुई थी।[34]

अफीम का प्रचलन

ठिकाना दस्तावेज न. 1061 में ठिकाने में अफीम के प्रचलन का और व्यापारियों से अफीम खरीदने के सूत्र मिलते हैं जैसे - संवत 1942 पौष वद 4 को जोधपुर के मूथा किसन चंद से 4 रुपये अफीम खरीदी गई जो कोटा के महाजन मूथा नेमीचन्द के हस्ते भेजी गई थी।[35] संवत 1942 फाल्गुन सुद 15 (होली) के अवसर पर 3 रुपये की अफीम मनुवार में खर्च की गई।[36]

ठाकुर सुरताण सिंह की संवत 1934 (1877 ई.) में मृत्यु होने पर शोक परम्पराओं में 6.75 रुपये की अफीम, 7.75 रुपये का तम्बाकू और 1 रुपये का जर्दा खर्च की जानकारी मिलती है।[37]

अभिवादन का तरीका

यहाँ के लोग मारवाड़ी बोली बोलते हैं। आपस में मिलने पर राम-राम के द्वारा अभिवादन करते हैं। जब ठिकानेदार की कोठड़ी में मिलने जाते हैं, तब मुकुन्द जी की जय से अभिवादन करते है।[38] ठिकाना दस्तावेज 1018 के अनुसार ठिकाना त्यौहार के अवसर पर प्रजा से प्रति घर 1 आना 2 पैसे जवारी लाग देने के सूत्र मिलते हैं, (जवारी लाग-अभिवादन के बदले दिया जाने वाला द्रव्य) अपना मूल्य जैसे- जाट जयराम से-)।।, चौधरी हुक्मा से-)।।, सीरवी नेको-)।।, माली पेमा स-)।। ..... इत्यादि।[39]

घोड़ी लाग

ये लाग (कर) सुनार जाति में पुत्र के विवाह के अवसर पर घोड़ी चढ़ने पर लिया जाता था। इस कर में प्रजा द्वारा दरख्वास्त करने पर ठिकानेदार द्वारा इसको कम किया जाता था और कई बार विवाह के अवसर पहले से चली आ रही परम्पराओं का पालन भी किया जाता था। इसके सूत्र बही स. 1108 में मिलते है, जैसे - ठाकुर दलपतसिंह के समय 13.11.1936 को सुनार शिवलाल पुत्र दौलादिसे ने ठाकुर साहब से यह दरख्वास्त की कि उसके पुत्र के विवाह के अवसर घोड़ी लाग (31 रुपये ली जाती थी) में छूट दी जाये क्योंकि वह इतनी लाग नहीं दे सकता है। ठाकुर साहब ने उसकी दरख्वास्त को स्वीकार कर घोड़ी लाग को कम करके 7 रुपये लेने का आदेश दिया।[40]

चैत्र वदि 4 संवत 1994 30.3.1938 इस तरह के सूत्र भी मिलते हैं जिसमें पहले से चली आ रही परम्पराओं का निर्वाह किया जाता था। व्यक्ति विशेष को उसमें छूट नहीं दी जाती थी, जैसे 20.03.1938 को ठिकाने की समस्त प्रजा ने ठाकुर दलपत सिंह से यह दरख्वास्त की। मैणा सुनार को हमेशा की तरह विवाह के बन्दौला में घोड़ा नहीं दिया जाये सिर्फ सामेला (अतिथियों के सत्कार) में घोड़ा दिया जाये। वह सामेला परम्परा के अनुसार ठाकुर की कोठड़ी के सामने से नहीं ले जाने दिया जायें। ठाकुर दलपतसिंह ने इस दरख्वास्त स्वीकार कर पूर्व की परम्परा को बनाये रखने का आदेश दिया।[41]

राखी का त्यौहार

बही संख्या 1191 में राखी के त्यौहार पर राखी भेजने की जानकारी मिलती है, जैसे संवत् 1990 (1933 ई.) को रोहिट की बाई जी लाल साहिब ने अपने तीनों भाइयों के लिए 3 सोने की जड़ाऊ राखियाँ, मिठाई और तीन नारियल के गोले अजमेर भेजे।[42]

सीमंत संस्कार - (अगरणी का दस्तूर)

यह संस्कार गर्भावस्था के तीसरे, पाँचवें अथवा सांतवें महिने में किया जाता है। बही संख्या 1191 में लाड़ी जी भटियाणी साहिबा के सीमंत संस्कार (डोरे का दस्तूर) के आयोजन की जानकारी मिलती है। जिसके अनुसार संवत् 1990 (1933 ई.) कार्तिक वद 13 मंगलवार को लाड़ी जी साहिबा राज श्री भटियाणी के सांतवें महिने सीमंत संस्कार में उनकी लिए पीले रंग की पोशाक बनाने का 5 रुपये रोकड़, बादाम, पिस्ता, खारके गोला, किशमिश, मिश्री, पताशा और मिठाई से उनकी खोल भरी गई। दादी जी साहिबा के तरफ से 1 रुपीया तथा कामदार रूपकरण जी की तरफ से भी 1 रुपीया और नारियल दिया गया।[43] इस अवसर ठिकाने के इष्ट देव मुकन्द जी के मन्दिर में भेंट का 1 रुपीया, भैरू जी के थान पर पूजापा का 1 रुपीया तथा दारू की एक बोतल भेंट करने की जानकारी मिलती है। इस अवसर घी, बाट और गुड़ से लापसी बनाई गई थी। इस संस्कार के समय श्री भटियाणी के सिर के ऊपर से एक खाजरू (बकरा) तीन बार अंवार कर (सिर के ऊपर से बकरे को घूमाकर ले जाना) अमर किया गया। इस अवसर पर आरती के लिए 1 रुपीया, व्यास मिश्री लाल को 1 रुपीया तथा व्यास जी को सीख में 2 रुपये दिये गये।[44]

ठिकाने में विवाह के अवसर पर महाराजा द्वारा किये गये दस्तूर

मारवाड़ के ठिकानेदारों के परिवार में विवाह के समय जब महाराजा उनके यहाँ पधारते है कुछ दस्तूर उनके द्वारा किये जाते हैं। जिसके सूत्र जोधपुर राज्य की हकीकत बही जो संवत् 1995-1996 की महाराजा उम्मेदसिंह के काल की है उसमें मिलते हैं। जिसके अनुसार जेठ वद 9 संवत् 1995 तारिख 13 मई 1939 ई. रोहित ठाकुर दलपत सिंह के पुत्र विवाह के अपसर गोठ आयोजन किया गया।[45] इसमें महाराजा श्री उम्मेद सिंह, महारानी साहिबा और महाराज कुंवर रोहित पधारे। इस अवसर महाराजा द्वारा 32 रूपये कलश में डाले गये। रोहित ठाकुर की ओर से स्वागत करने वाली महिलाओं के कलश 25 रुपये, गाँव की महिलाओं द्वारा कलश लेकर स्वागत करने पर उनके कलश 7 रुपये डाले गये। (वस्तुत: यह अतिथियों के स्वागत सत्कार की एक परम्परा है। जिसमें सुहागित महिलाएं अथवा कन्याएं सिर पर कलश उसमें नीम की टहनियाँ लगाकर नगर अथवा गाँव की सीमा पर अथवा प्रांगण पर राजा और अन्य प्रतिष्ठित व्यक्तियों का किया जाने वाला आदर सत्कार होता था इस आदर सत्कार के लिए उनके कलश में शगुन के रूपये डालने की परम्परा है।)

इस अवसर महाराजा और महारानी तरफ रोहित ठाकुर, ठकुरानी, मांजीसा, उनके पुत्रों, पुत्रवधू और पुत्री को रुपये दिये गये उसका उल्लेख भी मिलता है, जैसे -

1. रोहित ठाकुर को - 200 रुपये

2. ठकुरानी साहिबा को - 125 रुपये
3. ठाकुर साहब की माताजी को - 125 रुपये
4. उनके विवाहित पुत्र को बटन का सेट और पुत्रवधू को 125 रुपये।
5. उनके तीनों छोटे पुत्रों को 51 रुपये के हिसाब 153 रुपये तथा उनकी पुत्री बाईजी साहिब को 51 रुपये दिये गये।[46]

धार्मिक परम्पराएँ

रोहिट की तवारिख के अनुसार गाँव में सभी जाति के लोग रहते थे। वे अपने-अपने धर्म का पालन करते थे, जैसे- जैन लोग पार्श्वनाथ को मानते थे, माहेश्वरी जाति के शिव पूजक है उनके ईष्ट देव रूंगनाथजी है। शेष गाँव वाले शिव धर्म को मानते है उनके ईष्ट देव महादेव जी है। यहाँ ठिकानेदार शिव भक्त है परन्तु उनके ईष्ट देव मुकुन्द जी (कृष्ण का रूप) है।[47] तवारिख के अनुसार गाँव में छोटे-बड़े मिलाकर 9 मन्दिर बने हुए है। जिसमें से दो बड़े मन्दिर शिखर युक्त है और पत्थर से बने हुए हैं। एक रूंगनाथजी का मन्दिर और दूसरा महादेव का मन्दिर जिसको सातलपुरी जी ने बनवाया था। दोनों ही मन्दिर 150 वर्ष पुराने है। शेष छोटे मन्दिर पक्की ईंटों से बने हुए है।[48] ठिकाने की धार्मिक परम्पराओं के सूत्र झीथड़ा की ख्यात में मिलते हैं। झीथड़ा गाँव सोजत से 10 कोस पश्चिम में स्थित है।[49] झीथड़ा की ख्यात एक ओर रामानंद सम्प्रदाय की कूबा शाखा के उद्गम के सूत्र मिलते है, वही दूसरी तरफ भक्त कूबाजी के जीवन के विभिन्न पहलूओं और उनके चमत्कारों के विषय में जानकारी मिलती है।[50]

भक्त कूबाजी के चमत्कारों की ख्याति को सुनकर कांकाणी ठिकाने के ठाकुर आईदांनसिंह चांपावत उनके दर्शन के लिए झीथड़ा का गाँव पधारे। उन्होंने फिर झीथड़ा को अपना गुरुद्वारा घोषित किया। वहाँ से मुकुन्द जी मूर्ति लाकर कांकाणी में स्थापित किया। जो आज भी स्थित है। आईदांनोत चांपावत राठौड़ आज भी विवाह और गमी के अवसर पर गुरूद्वारा में भेंट भेजते है।[51] गुरुद्वारा के महंत की मृत्यु होने पर मातमपुरसी करायी जाती है। ठिकाने में ठाकुर जब गद्दी पर बैठते है तब प्रथम महंत जी महाराज कंठी बांध कर दुपट्टा ओढ़ाते हैं उसके बाद दूसरे लोग पगड़ी का दस्तूर करते हैं।[52]

रोहिट ठाकुर भगवंतसिंह चांपावत के अनुरोध पर महाराजा विजयसिंह ने संवत् 1817 को झीथड़ा गाँव का पट्टा गुरुद्वारे के नाम कर दिया तब से जोधपुर राजघराने का इस सम्प्रदाय से जुड़ाव हो गया। उन्होनें समय-समय महंत जी महाराज दुशाला ओढ़ाकर रोकड़ रुपये भेंट में देकर करके उनका सम्मान किया था।[53] ठिकाना दस्तावेज 1191 और 1112 के अनुसार श्री दादी जी साहिबा खंगारोहत और ठाकुर सुरतांण सिंह की मृत्यु होने पर झीथड़ा के गुरुद्वारा में रूपये और पद भेजने की जानकारी मिलती है।[54] भक्त कूबाजी द्वारा स्थापित गुरुद्वारा में राम और कृष्ण दोनों की समान रूप से भक्ति और

पूजा-अर्चना की जाती हैं। राम-कृष्ण का नाम जपना, मोह-माया का त्याग, साधु-सन्तों की सेवा करना इस सम्प्रदाय का मूल मंत्र है। इस गुरुद्वारे में जाति-पांति का भेदभाव नहीं किया जाता है।

शोक परम्पराएँ

मृत्यु एक शाश्वत् सत्य है। जिसका सामना सभी को करना पड़ता है। ठिकानेदार की मृत्यु पर उसके सम्पूर्ण ठिकाने में शोक छा जाता है। प्रत्येक खांप और उसके ठिकाने की अपनी शोक संबंधी परम्पराएँ होती है। ठिकाना दस्तावेज 1191 और 1112 में शोक संबंधी संस्कारों का उल्लेख मिलता है। जो निम्नलिखित है -

संवत् 1990 (1942 ई.) फाल्गुन सुद 14 शनिवार दोपहर दो बजे दादीजी साहिबा खंगारोहत जी (जो ठाकुर गिरधारीसिंह की पत्नी थी। उनका नाम विजय कंवर था उनके नाम का नाम ठाकुर शिवसिंह इन्दसिहोत था) तबीयत ज्यादा खराब होने पर उनसे 51 रुपये का धर्म पुण्य कराया गया।[55] (यह धर्मार्थ संकल्प है। यह कहा जाता है कि दानपुण्य से मृतक की आत्मा को शांति और मुक्ति मिलती है। मृत्यु के समय तकलीफ कम होती है) इनकी मृत्यु सवा चार बजे हुई। तीये के दिन जागीर के गांवों तथा उनके भाईयों, भतीजों एवं गनायतों को काल आखरियाँ (मृत्यु की सूचना) भेजी गई।[56]

रोहिट के गांवों अरणीया, तीगरा, भाखरीवाला, लालकी आदि से महिलाएं और पुरुष कांण करने के लिए आये (मृतक के घर वालों के शोक में संवेदना प्रकट करने जाने की प्रथा काण प्रथा कहलाती है)। उनकी भष्मी गंगा में प्रवाहित करने के लिए पुरोहित देव किशन जी हरिद्वार गय। गरुढ़ पुराण का पाठ कराया गया था जिसमें पाल ठाकुर ने 2 रुपये और खेजडला ठाकुर ने 5 रुपये भेंट किये गये।[57] ठाकुर सुरताणसिंह संवत् 1934 (1877 ई.) में कार्तिक वद 10 को राम शरण जोधपुर में हुए थे इस अवसर पर 2 रुपये आटा, तैल और गुड़ के बने गुलगुले कुत्तों को खिलाये गये। 12 दिनों में खाना बनाने के लिए हलवाई जोधपुर से बुलाया गया था। किराणा का सामान पाली से खरीदा गया था। पद और रोकड़ रुपयों के दान के साथ 1 गाय दान, 1 अश्व दान, 1 गज दान और 1 पालकी का दान किया गया था।[58] ठिकानेदार की मृत्यु होने पर किले में एक टंक नौबत बंद रखी जाती है।[59]

इस प्रकार ठिकाना दस्तावेजों का अध्ययन करने हमें वहाँ की अनेक परम्पराओं की जानकारी मिलती है। उस समय निर्वाह किये जाने संस्कारों की भी जानकारी मिलती है। ठिकाना राज्य का ही एक भाग होता था इसलिए मारवाड़ के राठौड़ों के राजवंश में जिस प्रकार की परम्पराएं होती थी ठीक उसी प्रकार की परम्पराएँ चांपावत राठौड़ों की आईदानोत खांप में भी मिलती है। जो उसके सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न पहलुओं को उजागर करती है।

सन्दर्भ

1. *डॉ. विक्रमसिंह भाटी, मध्यकालीन राजस्थान की ठिकाना व्यवस्था, पृ. 13, जोधपुर, 2001*
2. *सं. डॉ. नारायण सिंह भाटी, मारवाड़ रा परगना री विगत, भाग-1, पृ. 38, जोधपुर 1968*
3. *डॉ. हुकम सिंह भाटी, झीथड़ा की ख्यात, पृ. 25-39, जोधपुर, 2014*
4. *डॉ. मोहनसिंह कानोता, चांपावतों का इतिहास, भाग-3, पृ. 616, जोधपुर, 2007*
5. *वही, पृ. 617*
6. *वही, पृ. 749*
7. *वही, पृ. 755-763*
8. *प्रो. आर.पी. व्यास, आधुनिक राजस्थान का वृहत्त इतिहास, भाग 1 पृ. 316-317*
9. *डॉ. महेन्द्र सिंह नगर, मारवाड़ के राजवंश की सांस्कृतिक परम्पराएँ, भाग1 पृ. 168 जोधपुर 2001*
10. *वही, पृ. 167*
11. *वही, पृ. 167*
12. *पाली के परगना गांव रोहिट की ख्यात, बस्ता न. 12, फाइन न. 36, इमेज न. 43-44, महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश जोधपुर में संग्रहित*
13. *प्रो. आर.पी. व्यास, आधुनिक राजस्थान का वृहत्त इतिहास, भाग-1, पृ. 316-317 जयपुर, 1998*
14. *सं. फतहसिंह, मारवाड़ रा परगनां री विगत, भाग-2, पृ. 484-485, जोधपुर 1969*
15. *डॉ. महेन्द्रसिंह नगर, मारवाड़ राजवंश की सांस्कृतिक परम्पराएं, भाग-1, पृ. 167*
16. *आर.के. सक्सेना, अप्रराटूर्स ऑफ द राठौड्र्स पृ. 156, जोधपुर, 2006*
17. *सं. डॉ. महेन्द्र सिंह तंवर, मारवाड़ के शासकों द्वारा प्रदत्त सम्मान द्धसिरोपाव, ताजीम एवं कुरबऋ पृ. 98, जोधपुर, 2018*
18. *वही, पृ. 110*
19. *डॉ. महेन्द्र सिंह नगर, मारवाड़ के राजवंश की सांस्कृतिक परम्पराएं, भाग-1, पृ. 167*
20. *आर.के. सक्सेना, अप्रराटूर्स ऑफ द राठौड्र्स पृ. 251*
21. *सं. डॉ. महेन्द्र सिंह तंवर, मारवाड़ के शासकों द्वारा प्रदत्त सम्मान (सिरोपाव, ताजीम एवं कुरब) पृ. 157*
22. *सं. डॉ. महेन्द्र सिंह तंवर, मारवाड़ के राजवंश की सांस्कृतिक परम्पराएं, भाग 1, पृ. 175*
23. *आर.के. सक्सेना, अप्रराटूर्स ऑफ द राठौडर्स पृ. 251*
24. *डॉ. महेन्द्रसिंह नगर, मारवाड़ के राजवंश की सांस्कृतिक परम्पराएँ, भाग-1, 232*
25. *वही, पृ. 233-236*
26. *वही, पृ. 233*
27. *वही, पृ. 237*
28. *वही, पृ. 233*
29. *बही सं. 1991 भाई-गिनायत के सिरोपाव की बही संत्र 1989-2000 पृ.12, राजस्थानी शोध संस्थान चौपासनी में संग्रहित है*

30. *ठिकाना रोहिट की तवारिख बस्ता न. 13, फाइल न. 16, इमेज न. 48, महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश संग्रहित है*
31. *वही, इमेज न. 48*
32. *बही, स. 998, सं. 2006 रोहिट में घासमारी मालसेरिणो, झंपी खरखर आदि, पृ. 2*
33. *ठिकाना रोहिट की तवारिख, बस्ता न. 13, फाइल न. 16, इमेज न. 59-60*
34. *ठिकाना रोहिट की तवारिख, बस्ता न. 13, फाइल न. 16, इमेज न. 59-60*
35. *बही सं. 1061 सं. 1942, अफीम के जमा खर्च की बही, पृ. 1*
36. *बही, पृ. 7*
37. *बही 1112 संवत् 1934, ठाकुर सुरतांणसिंह की मृत्यु के जमा-खर्च की बही, पृ. 10*
38. *ठिकाना रोहिट की तवारिख(इमेज न. 55*
39. *बही सं. 1018 सं. 2003, रोहिट गांवों की झंपी, मालसेरिणो, घासमारी, खरखर कर की बही, पृ.2*
40. *बही सं. 1108, 1914-1927 ई. इकरारनामा, हुकमनामा की बही, पृ. 112*
41. *वही, पृ. 111*
42. *बही सं. 1191, संवत् 1989-2000, भाई-गिनायत के सिरोपाव की बही, पृ. 13*
43. *वही, पृ. 14*
44. *वही, पृ. 14*
45. *सं. डॉ. विक्रम सिंह भाटी, परम्परा, भाग 168, पृ. 26, जोधपुर 2017*
46. *वही, पृ. 30*
47. *रोहिट की तवारिख, इमेज न. 48*
48. *वही, इमेज न. 48*
49. *डॉ. हुक्मसिंह भाटी, झीथड़ा की ख्यात, पृ. 65, जोधपुर 2014*
50. *वही, पृ. 65*
51. *वही, पृ. 115-116*
52. *वही, पृ. 123*
53. *वही, पृ. 118-120*
54. *बही सं. 1191 पृ. 60, बही 1112 पृ. 20*
55. *बही सं. 1191 पृ. 61*
56. *वही, पृ. 62*
57. *वही, पृ. 63-65*
58. *बही सं. 1112 पृ. 1-15*
59. *रोहिट की ख्यात, इमेज न. 43, सं. डॉ. सद्दीक मोहम्मद, राजस्थानी - हिन्दी शब्द कोश, जोधपुर, 2002*

मण्डोर के राव जी की गैर

डॉ. प्रतिभा सांखला

देश का प्रमुख त्योहार होली को राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों में प्रदेश वासी अलग-अलग एंव पारम्परिक तरीके से मनाते हैं। लोक पर्व पर जोधपुर शहर के गली-मोहल्ले रंगों में डूब जाते हैं। चंग व ढोल की थाप पर फाग के गीतों की स्वर लहरियाँ शहर से गांव तक सुनाई देती हैं समूचा शहर कई दिनों तक फाल्गुन के नशे की खुमारी में डूबा रहता है। होली के दूसरे दिन धूलंडी को मंडोर क्षेत्र में निकाली जाने वाली ऐतिहासिक 'राव जी की गैर' का आकर्षण आज भी बरकरार है।[1]

जोधपुर नगर से लगभग 9 किलोमीटर दूर उत्तर दिशा में चौथी शताब्दी ई. के समय बसा हुआ 'माण्डव्यपुर' नामक छोटा सा नगर स्थित है, जो अब मण्डोर के नाम से जाना जाता है[2] यहाँ की होली अपने आप में अनूठी, पारम्परिक और ऐतिहासिक है। होली से करीब एक महीने पहले माघ पूर्णिमा की रात्रि के समय मण्डोर गाँव की होली चौक में मण्डोर निवासियों द्वारा होलिका दहन हेतु मुहूर्त के अनुसार (खेजड़ी वृक्ष की शाखा डांडा) रीति रिवाज से स्थापित किया जाता है। इस होलिका का होली दहन तक पूर्णरूप से ध्यान रखा जाता है तथा सजाने के लिये गोबर के उपले (कण्डे) बनाने का काम पूरे माह क्षेत्रवासी करते हैं। फाल्गुन सुदी पंचम तिथि को मण्डोर गांव के सभी बेरों (बस्तियों) के निवासी ढोल एंव चंग लेकर अपने-अपने घरों से निकलते हैं तथा इस पर्व पर प्रथम बार इन साजों पर थाप देते है। फिर साजों को लेकर अपनी-अपनी गैर निकालते हैं।[3] राजस्थान के होली नृत्यों के संदर्भ में 'घेर' 'गैर', 'गेहर' एक महत्त्वपूर्ण शब्द है। गोल घेरे में होने के कारण इसका नाम 'घेरा' पड़ा होगा जो कि आगे चलकर धीरे-धीरे गैर कहा जाने लगा।[4] यह नृत्य अपनी चमत्कारिता के लिए बहुत प्रसिद्ध है।[5] इस नृत्य की संगति में प्रयुक्त प्रमुख वाद्य ढोल, चंग, ढपली होते है। इन गैरो में बुजुर्ग, युवा और बच्चे उत्साह के साथ रात्रि के समय गाते बजाते है। होली के दस दिन पहले से ढोल बजने शुरू हो जाते है। ढाका (ढोल) पर युवा, बुर्जुग सभी उत्साह के साथ गीत गाते है। मंडोर में माली जाति की अनेक बस्तियाँ (बेरे) है जिन्हें बेरा भी कहते हैं। होली से पहले यदि इन बेरों में किसी के घर गमी में (मौत) हुयी होती है तो आस-पास के बेरों (बस्तियों) के लोग उनको अपने यहाँ लाते हैं और शोक तुड़वाने का काम करते हैं, ताकि शोकग्रस्त परिवार भी होली के त्यौहार की खुशी मना सके।[6] इस विशेष तिथि को

डाका पांचम कहा जाता है। इसके बाद लगातार होली दहन तक हर रात्रि को होली के फाग गाये जाते हैं। फाल्गुन सुदी पूर्णिमा की रात को जब होलिका दहन होता है तब सभी जगह होलिकाओं का दहन हो जाता है। तब मण्डोरवासी पम्परागत रूप से अपने-अपने बेरों (बस्तियों) की गैरें लेकर होलिका दहन के लिये खेतों से (खेजड़ी वृक्ष की शाखा) डांडा लेने अर्धरात्रि को गाते बजाते हुए निकलते हैं। इस अवसर पर हर बस्ती के होली चौक में महिलायें लूर (फाल्गुन के गीत) गाती हैं। मण्डोर क्षेत्रवासी इस पूरी रात को बिना सोये होलिका दहन का पर्व मनाते हैं। पैरों में पायड़े (घुंघरू) बांध कर नाचते एवं गाते हैं। फिर तड़के चार बजे सभी मिलकर होलिका दहन करते हैं। इस प्रकार करीब एक महीने पहले स्थापित मण्डोर गांव की होलिका (डांडा) को अर्द्धरात्रि (मुहर्त के अनुसार) दहन किया जाता है जिसमें पूरे मण्डोर गांव के निवासी उत्साह पूर्वक भाग लेते हैं।[7]

राव महोत्सव

होली के दूसरे दिन धूलंडी को मंडोर क्षेत्र से निकाली जाने वाली ऐतिहासिक 'राव जी की गैर' का आकर्षण आज भी बरकरार है।[8] सदियों पूर्व प्रारम्भ हुआ राव जी का मेला अपने आप में अनूठा, परम्परागत एवं मण्डोर की सांस्कृतिक पेशकश है, इसमें हजारों की संख्या में मण्डोरवासी उत्साह पूर्वक भाग लेते हैं।[9] राव जी के मेले की तैयारियों को लेकर पूरे मंडोरवासियो में उमंग और उत्साह रहता है। फागुन सुदी पंचमी से ढोल बजाकर होरियों का गायन शुरू किया जाता है। राव जी के मेले का इंतजार लोगों को पूरे साल रहता है।[10] मंडोर में मारवाड़ के राजपूत जागीरदारों की ही भांति ईशर निकालने की प्रथा प्रचलित है। होली के दूसरे दिन मंडोर में माली समाज के बंधु ढोल बजाते गाते फाग खेलते हैं।[11] सभी बस्तियों की गैरें पारम्परिक परिधानों (धोती, साफा, अंगरखा) से सजधज कर फाल्गुनी गान, ढोल, चंग और घुंघरूओं की झंकार से गेरिये अपने हाथों में विभिन्न प्रकार के कृषि औजार, लाठियों और बल्लम लेकर घेरदार नृत्य से अद्‌भुत एवं उत्तेजक दृश्य प्रस्तुत करते हैं।[12]

मारवाड़ के पूर्व इतिहास में बहीभाट की बहियों में इस घटनाक्रम को तथ्यात्मक रूप से दर्ज किया हुआ है, जिसके अनुसार तत्कालीन समय में मारवाड़ की राजधानी मण्डोर पर तुर्कों (मुसलमान) ने मारवाड़ के शासक को खदेड़ कर कब्जा कर लिया था, इस पर पर राव चूंडा एवं हेमा (माली) के मध्य हुई गुप्त मंत्रणा के अनुसार विक्रम संवत् 1449 पोष वदी दशम के दिन राव हेमा ने कृषकों के भेष में मण्डोर आकर लगान देने तत्कालीन राजस्व अधिकारी जो कि मण्डोर में तुर्कों का प्रतिनिधि नियुक्त था, को सन्देश भिजवाया कि एक साथ 100-150 बेलगाड़ियाँ लगान अदा करने हेतु आई है, इस पर तुर्की सैनिकों सहित तुरन्त वसूली के लिये पहुँचे, सायं की गोधुली बेला के समय राव

हेमा ने बैलगाड़ियों में छिपे कृषकों के भेष में सैनिकों के साथ हमला बोल दिया। भारी मार-काट के बाद तुर्क जान बचा कर भाग गये।[13]

जोधपुर में गहलोत माली ज्यादा हैं। ये अपनी पीढ़ियां कूचेरे के गहलोत राव ईसरदास से मिलाते हैं। जो तुर्कों के डर से मुसलमान हो गया था। उसकी औलाद में से हेमा माली जो वालेसर के ईंदों का प्रधान था, राव चूंडा जी को मंडोर का राज दिलाने की कोशिश में शामिल था, उसको राव जी ने मंडोर अमल हो जाने पर अपने इकरार के माफिक जो पोष वदि 10 संवत् 1449 को थाने सालोड़ी में किया गया था मंडोर के पास बहुत सी जमीन माफी दी थी।[14] इस घटना को आज भी राव भाटों की बहियों में अत्यन्त सुन्दर दोहे के रूप में अंकित है जो इस प्रकार है -

हेमा घोड़ो जोत, गुड़बेल दान दिनो
तुरकवी तोड़ हिन्दवाणी राव ने तिलक दी नै
गढ़ पलट (फतह) किना,
गढ़ मण्डोर के खेड़े,
राव चुड़ा के वार।[15]

इस ऐतिहासिक घटनाक्रम के पश्चात् राव चूंडा ने राव हेमा को एक दिन का राव (राजा) बनने का अधिकार दिया। उसके बाद से यह राव उत्सव पम्परागत रूप से पिछले 627 वर्षों से निरन्तर हर्षोल्लास से मनाया जाता रहा है।[16] आज भी गहलोत परिवार में से किसी एक को राव याने ईशर बनाकर ले जाते हैं।[17]

मंडोर क्षेत्र में रामा शामा के दिन निकाली जाने वाली ऐतिहासिक 'राव जी गैर' का आकर्षण आज भी बरकरार है। पहले फूल बाग क्षेत्र का व्यक्ति ही राव बनता था, बाद में राव जी की पदवी खोखरिया बेरा वालों ने खरीद ली। तब से खोखरिया वासी हरकावत गहलोत (माली) ही राव बनाए जाते हैं[18] जो आज तक निरन्तर जारी है। इस उत्सव के प्रारम्भ में मंडावता बेरा बस्ती की गैर मन्दिर में पूजा अर्चना करके रावजी गैर खोखरिया बेरा चौक पर पहुंचती है, बस्तीवासी जहां इनकी प्रतीक्षा करते हैं। उसके पश्चात् दोनों गैरें साथ-साथ मण्डोर गांव के परम्परागत रावजी मार्ग से चलते हुए बड़ा बेरा स्थित (संतोक जी बेरा) राव जी के चबूतरे पर पहुँचती है। जहाँ राव राजा का चयन गाँव के चौधरी (बुजुर्ग) परिवार के वंशजों द्वारा किया जाता है। वर्तमान में तिल जी के पुत्र संतोषसिंह गहलोत एवं धनजी के पुत्र हेमसिंह गहलोत साल दर साल बारी-बारी से राव जी को छापा लगा कर उनका चयन करते हैं।[19] राव जी के गैर में खोखरिया बेरे का व्यक्ति ही राव बनता है। कुँवारे को राव की पदवी नहीं दी जाती है।[20] राव जी के चयन में राव बनने वाली व्यक्ति का विवाहित, नृत्य में प्रवीण और हृष्ट-पुष्ट होना जरूरी है। राव तय होने के बाद उसकी पीठ पर पहचान के तौर पर थापा मांड देते हैं और रंगों से

सरोबार कर फूलमालाएँ पहनाकर हाथ में मूसल थमाया जाता है।[21] इस प्रकार छापा लगाने के पश्चात् रावजी को गुलाबी रंगों से सराबोर कर फूल पत्तियों से सजाया जाता है और परम्परागतानुसार पंचामृत पिलाया जाता है। यह मान्यता है कि राव के अच्छे नृत्य प्रदर्शन से जमाना (फसल) अच्छा या बुरा हो इसका निर्धारण होता है।[22] राव जी की गैर में मंडावता बेरा की ओर से सुरक्षा की जिम्मेदारी संभाली जाती है ताकि राव राजा की सवारी सुरक्षित रूप से मंडोर उद्यान तक पहुँच सके।[23] इनके पीछे क्रमशः गोपी बेरा, बेड़ा बेरा, आमली बेरा, पदाला बेरा की गैरे जुड़ जाती है। राव जी की गैर जब भलावता बेरा पहुँचती है तब राव जी के भाईपा के बस्तीवासी इनका राव गली में जबरदस्त स्वागत कर माहौल को भाव विभोर कर देते हैं। मण्डोर चौराहे पर पहुँचने पर राव जी के आगे क्रमशः सबसे आगे मण्डोर बस्ती की गैर, फुलबाग, नागौरी बेरा और भीयाली बेरा की गैर इनकी प्रतिक्षा करती हैं। इस प्रकार ये सभी गैरें राव जी की सवारी के परम्परागत मार्ग से होकर मंडोर उद्यान के अजीत पोल से होती हुयी मंडोर स्थित राजकीय संग्रहालय परिसर में पहुँचती है।[24]

राव जी की गैर जब मंडोर में प्रवेश करती है तो गैर वाले अश्लील गायन भी गाते हैं। इस अवसर पर क्षेत्र के तीन पीढ़ी के लोग अर्थात् दादा, बेटा और पोता भी श्लील और अश्लील गायन साथ-साथ गाते हैं। चंग के ढोल की छाप के साथ घुंघरू पहनकर कर नाच गायन होता है। हजारों लोगों की उपस्थिति में राव जी को कुण्ड तक सुरक्षित पहुँचाने का दुष्कर कार्य नागौरी बेरा की गैर करती है। इसके बाद नाग गंगा के पवित्र पानी के कुण्ड में हर्षोल्लास के साथ राव जी कूद पड़ते हैं। इसके साथ ही दूसरी गैरों के गैरिये भी कुंड में कूद पड़ते हैं तथा जोश में फतेह गान करते हैं। लोहे की डोलचियों में कुंड का पानी भरकर एक दूसरे पर पानी व रंग फैंकते हैं। ऐसी मान्यता है कि नाग गंगा कुण्ड के जल की छीटें अपने आप लगने से साल भर बीमार नही होते है।[25] पहले नाग कुण्ड में कूदने वाले सभी विवाहित होते थे लेकिन अब कुंवारे भी कूद जाते हैं।[26] पानी की मार के चलते पहले लोग राव बनने से डरते थे। इससे बचने के लिए राव बनने वाला व्यक्ति पीठ पर तराजू के पलड़े बाँध लेता था। मंडोर गाँव के चौधरी की ओर से राव की सगुन के तौर पर ढाई किलो और साथ में नहाने वालों को सवा-सवा किलो गुड़ बाँटा जाता था।[27] इसके पश्चात् एकत्रित लोग एक दूसरे को होली की शुभकामनाएँ देते हैं और धीमे और थके कदमों से अपने-अपने घरों की ओर लौटने लग जाते हैं। तब तक अंधेरा गिरने लग जाता है।[28]

देश की आजादी के पूर्व तक इस अवसर पर तत्कालीन मारवाड़ रियासत के महाराज एवं उनकी रानियाँ मय दासियों के गैर के पर्व को देखने के लिये स्वयं उपस्थित होते थे तथा मण्डोर रेल्वे स्टेशन मार्ग स्थित हवाला कोटड़ा भवन के आगे दरबार लगाकर

गुड़ एंव ताजे गेहूँ की घूघरिया गेरियों को प्रदान करते थे तथा गांव के चौधरियों को सम्मानित करते थे। वर्तमान समय के मण्डारे गांव के चौधरी घराने के वंशज इस परम्परा को निन्तर निभाते आ रहे हैं।[29]

डंडिया गैर

धुंलड़ी के बाद आम तौर पर होली का त्यौहार समाप्त मान लिया जाता है, लेकिन मंडोर क्षेत्र में इसके बाद डंडिया गैर का दौर चल पड़ता है। क्षेत्र की सभी बस्तियों (बेरों) में बारी-बारी से घेरा बनाकर गैरिये भांति-भांति के स्वांग रच कर नृत्य करते हैं, घेरे के बीच के बीच में ढोल वादन के साथ ताल मिलाकर जब डंडिये टकराते हैं तो देखने वाले के शरीर में रोमांच की एक लहर सी दौड़ जाती है। उषाकाल के समय होली के पुराने एवं पारम्परिक धूंसा, लाल केसा, मीठो खरबूजो इत्यादि गीतों के गायन से माहौल खुशनुमा बन जाता है। इनके साथ ही ये सभी भगवानों के श्रृंगार रस, वीर रस, लोक गीत, घरेलू सम्बन्धों पर भी गीत भी गाये जाते हैं और ये अपने आप में हमारे आस-पास की संस्कृति को समेटे होते हैं। गैर में गाये जाने वाले सारे गीत अलग-अलग अलग प्रान्तों के इतिहास की संस्कृति को समेटे हुए होते हैं।[30]

राव महोत्सव की मुख्य विशेषता यह है कि इसके प्रारम्भिक काल से समाज के पूर्वजों द्वारा बनायें नियमों से ही राव राजाजी की गैर निकाली जाती है। इस परम्परा में सुई के बराबर भी बदलाव नहीं हुआ है। बस पहले रावजी की गैर में मुख्य आठ बेरे की गैर ही भाग लेती थी, अब इसमें नागौरी बेरा, पटाला बैरा व अन्य बेरे भी जुड़ गये हैं।[31] मंडोर की होली व राव की गैर पूरे मारवाड़ में अनूठी है बदलाव की बयार के बावजूद मंडोरवासी इस परम्परा को दिल से निभाते हैं।[32]

सन्दर्भ

1. *राजस्थान पत्रिका, पत्रिका प्लस, दिनांक 19/3/2019, पृ. 04*
2. *गुप्ता, मोहनलाल, राजस्थान (जिले वार सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक अध्ययन), पृ. 56*
3. *साक्षात्कार द्वारा जानकारी, श्री विनोद जी गहलोत, भलावता काबेरा मण्डोर*
4. *जयसिंह नीरज, राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा, पृ. 139.*
5. *बाड़मेर गजट, प्रकाशन 2000, पृ. 41*
6. *साक्षात्कार द्वारा जानकारी, श्रीमती जीवनलता सांखला उर्फ मायाजी नागौरी बेरा*
7. *माली सैनी संदेश, अंक 152, दिनांक 28 फरबरी 2018, पृ. 04*
8. *राजस्थान पत्रिका, पत्रिका प्लस, दिनांक 19/03/2019, पृ. 04*
9. *माली सैनी संदेश, अंक 152, दिनांक 28 फरवरी 2018, पृ. 13*
10. *राजस्थान पत्रिका, पत्रिका प्लस, 19 मार्च 2019, पृ. 04 (महेन्द्रसिंह गहलोत का साक्षात्कार)*
11. *'आजाद' बलदेव सिंह, सैनी क्षत्रिय समाज का इतिहास, पृ. 27*
12. *साक्षात्कार द्वारा जानकारी, श्री विनोद जी गहलोत, भलावता का बेरा, मण्डोर*

13. वही
14. रिपोर्ट मरदुमशुमारी राजमारवाड़, भाग 3, 1891 ई., पृ. 90
15. माली सैनी संदेश, अंक 152, दिनांक 28 फरवरी, पृ. 13.
16. वही, पृ. 13
17. 'आजाद' बलदेवसिंह, सैनी क्षत्रिय समाज का इतिहास, पृ. 37
18. राजस्थान पत्रिका, पत्रिका प्लस दिनांक 19 मार्च 2019, पृ. 04
19. साक्षात्कार द्वारा जानकारी, श्री विनोद जी गहलोत भलावता का बेरा
20. राजस्थान पत्रिका, पत्रिका प्लस दिनांक 19 मार्च 2019, पृ. 04 (जगदीश गहलोत, अध्यक्ष मंडावता बेरा का साक्षात्कार)
21. वही, (गोपीकिशन गहलोत, संरक्षक मंडावता बेरा का साक्षात्कार)
22. साक्षात्कार द्वारा जानकारी की श्री हरि सिंह जी आर्य, अम्बाला बेरा मण्डोर, गैर गायक
23. राजस्थान पत्रिका, पत्रिका प्लस दिनांक 19 मार्च 2019, पृ. 4 (जगन्नाथ गहलोत का साक्षात्कार, इनको भी तीन बार राव राजा बनने का अवसर मिला)
24. राजस्थान पत्रिका, पत्रिका प्लस, दिनांक 19 मार्च 2019, पृ. 04
25. माली सैनी संदेश, अंक 152, 28 फरवरी 2018, पृ. 14
26. साक्षात्कार द्वारा जानकारी प्राप्त, श्री कपिल आर्य, बारला वास, मण्डोर
27. राजस्थान पत्रिका, पत्रिका प्लस, दिनांक 19 मार्च 2019, पृ. 04
28. साक्षात्कार द्वारा जानकारी, श्री विनोद गहलोत, भलावता बेरा, मण्डोर
29. माली सैनी संदेश, अंक 152, दिनांक 28 फरवरी 2018, पृ. 14.
30. साक्षात्कार द्वारा जानकारी, श्री हरिसिंह जी आर्य–अम्बाला बेरा मंडोर, गैर गायक
31. साक्षात्कार द्वारा जानकारी, श्री कपिल आर्य – बारला वास, मण्डोर
32. राजस्थान पत्रिका, पत्रिका प्लस, दिनांक 19 मार्च 2019, पृ. 64.

राजस्थान की विस्मृत राजकुमारी देवलदे

डॉ. सोमेश कुमार सिंह

राजस्थान के इतिहास में रणथम्भौर और चौहान शासक हम्मीर का महत्वपूर्ण स्थान है। तराईन के युद्ध के पश्चात् रणथम्भौर में गोविन्द ने शासन स्थापित किया था। गोपीनाथ शर्मा गोविन्द को पृथ्वीराज का पुत्र बताते हैं।[1] गोविन्द के पश्चात् वाल्हण, प्रल्हादन और वीर नारायण रणथम्भौर के सिंहासन पर बैठे। वीर नारायण को इल्तुतमिश की सेना से मुकाबला करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।[2] इल्तुतमिश ने वीर नारायण की हत्या करवा दी।[3] वीर नारायण के उत्तराधिकारी वागभट्ट ने तुर्कों से रणथम्भौर की रक्षा की। वागभट्ट के बाद जय सिंह या जैत्रसिंह गद्दी पर बैठा, उसने भी अपने वंश की प्रतिष्ठा को बनाए रखा। हम्मीर देव जैत्रसिंह के तीसरे पुत्र थे। 1282 में हम्मीर का राज्यभिषेक हुआ।

तात्कालिक ग्रन्थों के वर्णन से ज्ञात होता है कि पृथ्वीराज चौहान की पराजय के बाद उसके उत्तराधिकारियों ने तुर्कों पर आक्रमण व प्रत्याक्रमण द्वारा अपनी स्वतन्त्रता को बनाए रखने का प्रयास किया। अजमेर के पतन के बाद रणथम्भौर पृथ्वीराज के उत्तराधिकारियों के क्रियाकलाप का केन्द्र बना। विदेशी आक्रमणकारियों के द्वारा किये गऐ बर्बर आक्रमणों के बीच इस दुर्ग ने जहाँ भारत के महान स्वतन्त्रता सेनानियों के खून को बहते देखा है वहीं अपने वर्तमान के स्वार्थ व सुख के लिये राष्ट्र की भावी सन्तानों के अस्तित्व को दाव पर लगाने वाले चन्द गद्दारों को भी इस दुर्ग ने देखा है। रणथम्भौर का दुर्ग भारत के उन महत्वपूर्ण दुर्गों में रहा है जिस पर अधिकार करने की लालसा आक्रान्ताओं के मन में हमेशा बनी रही थी।

1296 ई. में अलाउद्दीन खिलजी अपने चाचा जलालुद्दीन की हत्या करके दिल्ली का शासक बना। 1299 ई. में गुजरात विजय के बाद अलाउद्दीन ने राजस्थान पर आक्रमण किया। उसके राजस्थान आक्रमणों में रणथम्भौर, जालौर, सिवाना, चित्तौड़ प्रमुख है। 1299 में उलुगखाँ, नुसरत खाँ के नेतृत्व में एक विशाल सेना रणथम्भौर विजय के लिये भेजी गयी। यहाँ विचारणीय प्रश्न यह कि है। अलाउद्दीन के रणथंभौर आक्रमण का कारण क्या था? अधिकांश इतिहासकार अलाउद्दीन के रणथम्भौर आक्रमण का कारण हम्मीर देव द्वारा मंगोल शरणार्थियों को रणथम्भौर के दुर्ग में शरण देना मानते हैं। ऐसे इतिहासकारों का कहना है कि अगर हम्मीर मंगोल शरणार्थियों को शरण नहीं देते तो

अलाउद्दीन रणथम्भौर पर आक्रमण नहीं करता, परन्तु इतिहासकारों का यह मत पूर्ण सत्य नहीं है। अलाउद्दीन ने गुजरात, चित्तौड़, सिवाना, जालौर पर भी आक्रमण किया था। इन भारतीय रियासतों ने किसी भी शरणार्थियों को शरण नहीं दी थी। अलाउद्दीन स्वभाव से अत्यन्त क्रूर, विलासी व धर्मान्ध शासक था। वासना, विश्वासघात, हत्या उसकी नीति के अंग थे। अलाउद्दीन ने उन राज्यों पर अवश्य आक्रमण किया है जहाँ कि किसी रानी या राजकुमारी की सुन्दरता उसे कानों तक पहुँची थी। चित्तौड़ की तरह रणथम्भौर आक्रमण का एक प्रमुख कारण हम्मीर की बेटी देवलदे को प्राप्त करना था। अलाउद्दीन की देवलदे को प्राप्त करने की कुटिल नीति का विस्तृत वर्णन हमें फारसी ग्रन्थ तारीख-ए-किला रणथम्भौर नामक ग्रन्थ में मिलता है। इस ग्रन्थ के लेखक हीरानन्द कायस्थ है। इस ग्रन्थ के सम्पूर्ण अध्ययन से ज्ञात होता है कि हम्मीर की दो पुत्रियां थी। बड़ी पुत्री का नाम रमा देवलदे तथा दूसरी पुत्री का नाम केवलदे था। इस ग्रन्थ में हमें हम्मीर के किसी पुत्र की जानकारी नहीं होती, परन्तु कवि जोधराज कृत हम्मीर में हम्मीर के पुत्र का भी उल्लेख मिलता है[4], किन्तु तारीख-ए-किला रणथम्भौर ग्रन्थ में हम्मीर के किसी पुत्र का उल्लेख नहीं है। इस ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि हम्मीर की पुत्री देवलदे अत्यन्त बुद्धिमान, दूरदर्शी व निश्चल चरित्र की थी। चूंकि राजा हम्मीर के कोई पुत्र नहीं था इस कारण हम्मीर इन्हीं पुत्रियों को अपन पुत्र समझते थे और इन्हें हर प्रकार की सुविधा प्रदान करने की कोशिश करते थे।[5] ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि एक ब्राह्मण ने किसी तरह हम्मीर के महल तक पहुँच कर हम्मीर का विश्वास जीता था चूंकि ब्राह्मण का कहना था कि वह ज्योतिष भी जानता है इस कारण हम्मीर ने ब्राह्मण को बताया था कि उसके दो पुत्रियाँ हैं तथा कोई पुत्र नहीं है। ब्राह्मण ने हम्मीर की दोनों कन्याओं से मिलने की इच्छा व्यक्त की ताकि राजकुमारियों की हस्तरेखा देखकर राजकुमारियों का भविष्य बताया जा सके। हम्मीर ने दोनों राजकुमारियों को ज्योतिषी के सम्मुख प्रस्तुत किया।[6] देवलदे को देखकर ब्राह्मण ने उसे देवी का अवतार बताया। ब्राह्मण ज्योतिषी का हम्मीर को सुझाव था कि देवलदे की सेवा में ही उसकी भलाई है वह देवलदे को पुत्र समान ही माने। हम्मीर वैसा ही करे जैसा देवलदे चाहती है उसकी तरफ से चिन्तित न हो। ज्योतिषी ने हम्मीर को यह भी बताया की देवलदे हमेशा धर्म व ईश्वर की उपासना में दृढ़ रहेगी।[7] ज्योतिषी ने हम्मीर को बताया कि 30 वर्ष की उम्र में देवलदे का विवाह होगा। राव हम्मीर अपनी पुत्री देवलदे के बारे में जानकर प्रसन्न हुए वे स्वयं भी अपने लिये देवलदे को भाग्यशाली मानते थे क्योंकि देवलदे के पैदा होने पर हम्मीर का माण्डू प्रदेश पर अधिकार हो गया था।[8]

ब्राह्मण ज्योतिषी की बातों पर विश्वास करते हुए हम्मीर ने माण्डू प्रदेश से प्राप्त होने वाली समस्त आय देवलदे के खर्चो के लिये दे दी। देवलदे को शिक्षित करने के

लिये भीमसेन नामक शिक्षक की नियुक्ति की गयी।[9] ग्रन्थ के अध्ययन से ज्ञात होता है कि देवलदे ने शीघ्र ही इतनी शिक्षा प्राप्त करली कि वह अपने गुरु से भी ज्यादा जानने लगी।[10] वह पशु-पक्षियों की बोलियों को समझने लगी। नृत्य-गान में पारंगत हो गई।

इस ग्रन्थ से समकालिन त्यौहारों व उत्सवों की जानकारी भी प्राप्त होती है। ग्रन्थ के अध्ययन से ज्ञात होता है कि एक बार देवलदे ने एक पहाड़ी पर झूला डलवाने की इच्छा व्यक्त किया। हम्मीर ने देवलदे की इच्छा पूरी करने के लिये नदी किनारे एक पहाड़ पर लौहे के कड़े लगवाए। नक्कारों की जंजीरों से राजकुमारी के लिये झूला डलवाया गया।[11] तीज के अवसर पर मेले के आयोजन की भी घोषण की गई। मेला प्रबन्धन के लिये हम्मीर ने अधिकारियों की नियुक्ति की। इन्तजाम पूर्ण होने पर देवलदे महल की रानियों और अन्य स्त्रियों के साथ मेले का आनन्द लेने पहुँची। गाँवों की स्त्रियाँ भी मेले में पहुँची। तीज के अवसर पर स्त्रियाँ सज-धज कर मेले में पहुँची। देवलदे ने मेले में पहुँचने वाली स्त्रियों की सुविधा के लिये सभी सम्भव उपाय किये जिससे मेले में पहुँचने वालों को कोई कष्ट न हो। ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि देवलदे इतनी लज्जालु प्रकृति की थी कि वे अपने माता-पिता से भी लज्जा करती थी तथा इसी लज्जा शीलता के कारण तीज के अवसर पर भी अत्यन्त साधारण वस्त्र धारण किये थे। स्त्रियों के आग्रह करने पर तथा यह समझाने पर कि तीज जैसे त्यौहार पर श्रृंगार करने पर किसी को आपत्ति नहीं होगी, देवलदे ने श्रृंगार करने का निश्चय किया। देवलदे के श्रृंगार का वर्णन करते हुए लेखक लिखता है "अन्त में उनके आग्रह से देवलदे ने स्नान किया, चोटी बांधी तथा मांग में मोती भरे। ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे काला मेघ निकल आया हो और अपने सिर व केशों में कस्तुरी भरे हुए हो। केशों को उसने काले सर्प की तरह खोल दिया। कानों में कुण्डल पहनकर वह तारों के बीच चन्द्रमा जैसी शोभनीय लगने लगी।[12] हाथों में दो कंगन व वेणी के पीछे लटकती हुई दो मोतियों की लड़ियाँ सहस्त्रों मोतियों के हार के समान थी। अन्त में देवलदे सुन्दर मोर की तरह नखरे करती हुई बाहर निकली और अपने रूप और लावण्य को अनकों आभूषणों से सुसज्जित किया और अपने चाँदी जैसे शरीर पर अनकों प्रकार के इत्र व सुगन्धियों से भरा ..... और नाना प्रकार के आभूषणों से अपनी सुन्दरता में वृद्धि की ..... ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे प्रलय उसकी दृष्टि में भरा हो और उसके ललाट पर पड़ी सलवटों से ऐसा प्रतीत होता था कि आपत्ति व कष्ट की ज्वालाऐं निकल रही हो।"[13]

परन्तु तीज का यह उत्सव व राजकुमारी का उसमें भाग लेना रणथम्भौर के लिये विपत्ती का कारण सिद्ध हुआ। ग्रन्थ में चन्देरी के एक बँजारा व्यापारी का उल्लेख मिलता है। यह व्यापारी 9 मन काजल लेकर मेले में उपस्थित हुआ। मेले में उपस्थित महिलाओं ने एक-एक उँगली काजल अपनी आँखों में लगाया, यहाँ तक कि काजल

खत्म हो गया। बन्जारे के अनुमान के अनुसार 4 लाख 86 हजार स्त्रियों ने काजल का प्रयोग किया था। बन्जारे ने काजल का कोई मूल्य प्राप्त नहीं किया किन्तु जब हम्मीर को इस बात की सूचना मिली तो उसने बन्जारे को बुलाकर उसके काजल का भुगतान किया।[14]

यह बंजारा कुछ दिनों बाद दिल्ली पहुँचा। अलाउद्दीन के दरबार में पहुँच कर उसने तीज के मेले व देवलदे की सुन्दरता की प्रशंसा सुल्तान से की।[15] ग्रन्थ के लेखक का यह वर्णन चित्तौड़ के राघव चेतन की घटना से मिलता जुलता है। बंजारे ने देवलदे की सुन्दरता का जिस प्रकार वर्णन किया कि अलाउद्दीन राजकुमारी को बिना देखे ही प्राप्त करने को लालायित हो उठा। ग्रन्थ को पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि अलाउद्दीन ने देवलदे को प्राप्त करने के लिये ही रणथम्भौर पर आक्रमण किया था।[16]

सम्भवत: बंजारे द्वारा देवलदे की सुन्दरता की जानकारी प्राप्त होने के बाद ही अलाउद्दीन ने रणथम्भौर पर आक्रमण करके देवलदे को प्राप्त करने का प्रयास किया। जांघराज कृत हम्मीर रासो से ज्ञात होता है कि अलाउद्दीन ने हम्मीर को सन्देश भिजवाया था कि यदि वह अपनी देवलरानी की बेटी चन्द्रकला को उसे सौंप दे और क्षमा मांग ले तो हम्मीर को क्षमा किया जा सकता है–[17]

चन्द्रकला देवलि कुँवरि, पारसि महिमा साह
माँगत साह अलावदी, अब लै मिलयों आय

हम्मीर रासो से ज्ञात होता है कि सुल्तान का यह प्रस्ताव हम्मीर को चुभ गया था। क्रोधित हम्मीर ने सुल्तान को सन्देश भिजवाया था कि यदि सुल्तान को अपने प्राण प्यारे हैं तो वह अपनी प्रिय चिमना बेगम को उसके पास भेज दे और दिल्ली लौट जाये अन्यथा परिणाम विपरीत निकलेंगे।[18] हम्मीर रासो में देवलदेवी को हम्मीर की पत्नी व चन्द्रकला को उसकी पुत्री बताया गया है।

तारीख–ए–किला रणथम्भौर से ज्ञात होता है कि सुल्तान ने हम्मीर के समक्ष जो प्रस्ताव भेजा था उसमें देवलदे को सौंपने की शर्त मुख्य थी। अन्य शर्तों में उसने एक लाख अरवारोही व धन भी हम्मीर से मांगा था। हम्मीरायण के अनुसार भी सुल्तान ने कुमारी देवलदे से विवाह करने तथा धारू तथा मारू नामक नर्तकियों को भेजने का आदेश दिया था। हम्मीर हठीले जिनका कर्ता कवि मल्ल था, और जिसकी नकल मूधड़ा राजरूप ने संवत 1768 में देशलोक में की, उसके अनुसार सुल्तान ने देवलदे से विवाह, घारू, मारू नृतकियो का समर्पण, हाथी–घोड़े और द्रव्य आदि की मांग की थी।[19] अलाउद्दीन ने इस प्रस्ताव को लेकर मेहलनसी नामक वैश्य को हम्मीर के पास भेजा था।[20] मेहलनसी ने हम्मीर को अलाउद्दीन की सारी शर्तें बताई थी। इन शर्तों को सुनकर हम्मीर क्रोधित हो उठे। खिलजी के दूत महलनसी से हम्मीर ने कहा कि सुल्तान उसे

गजनी का दुर्ग, उलूग खाँ, थट्टा व तेलंग का प्रदेश व मरहठा रानी सुपुर्द करें। यदि सुल्तान उसकी शर्त नहीं मानता तो वह युद्ध के लिये तैयार है।[21] स्पष्ट है कि हम्मीर किसी भी स्थिति में न तो सुल्तान की कोई शर्त मानने को तैयार थे न ही वे युद्ध करने से बचना चाहते हैं। हम्मीर ने अलाउद्दीन के दूत मेहलनसी को तुरन्त दुर्ग से चले जाने का आदेश दिया।

समकालीन ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सुल्तान देवलदे को प्राप्त करने के लिये किसी भी हद तक जाने को तैयार था। परन्तु खिलजी अच्छी तरह जानता था कि भारतीय राजा किसी भी तरह अपनी स्त्रियों को उसे सौंपने को तैयार नहीं होंगें। उसको डर था कि अगर उसने सीधे आक्रमण द्वारा देवलदे को छीनने का प्रयास किया तो देवलदे उसके हाथ नहीं आवेगी। खिलजी भारत की जौहर परम्पराओं से अच्छी तरह से परिचित था। वह नहीं चाहता था कि देवलदे जैसी भारतीय नारी उसके हरम में पहुँचे बिना जौहर कर ले। जिन्दा देवलदे को प्राप्त करना अलाउद्दीन का प्रथम लक्ष्य था। अत: दूतों के असफल होने पर उसने एक और कुटिल नीति का आश्रय लिया जिसके अन्तर्गत उसने दो कूटनियों को देवलदे के पास भेजने का निर्णय किया। ये दोनों कूटनियाँ किसी भी नारी को किसी भी पर पुरूष से मिलवाने की योग्यता रखती थी। अलाउद्दीन इन कूटनियों के माध्यम से सीधे ही देवलदे से सम्पर्क स्थापित करके उसे अपने साथ निकाह करने को तैयार करना चाहता था। इस काम के लिये अलाउद्दीन ने ऐसी दो कूटनीयों को तैयार किया था जो कि हिन्दू विद्या जैसे वेदशास्त्र, नाच–गान, ज्योतिष के साथ–साथ छल–कपट के लिये कुख्यात थी। अलाउद्दीन ने उन्हें अच्छे वस्त्र व आभूषणों के साथ देवलदे को प्राप्त करने के लक्ष्य के लिये रणथम्भौर भिजवाया था। इन दोनों कूटनीयों का यह कहना था कि वे रोते हुए व्यक्ति को हंसा सकती है तथा मित्र को शत्रु व शत्रु को मित्र बना सकती है। 16 वर्ष की ये दोनों कूटनीयाँ वेश बदल कर अपने लक्ष्य की प्राप्ति में जुट गई। तारीख–ए–किला रणथम्भौर के लेखक ने इन दोनों के षड्यन्त्रों के बारे में विस्तृत रूप से लिखा है। लेखक का कहना है कि देवलदी को अलाउद्दीन के हरम में लाने के षड्यन्त्र के लिये उन्होंने मोटी–मोटी पुस्तकें हाथ में ली, गले में मोतियों की माला पहन कर शुभ–मुहूर्त में दुर्ग की दिशा में निकल गई। यदि कोई व्यक्ति रास्ते में उनके गन्तव्य के बारे में जानना चाहता था तो उनका कहना होता था कि उन्हें राजकुमारी देवलदे ने आमन्त्रित किया है। दुर्ग के द्वार पर पहुँच कर उन्होंने ईश्वर उपासना का ढोंग किया। शीघ्र ही इन दोनों कूटनीयों की सूचना देवलदे तक पहुँची। अपने स्वभाव के अनुसार राजकुमारी ने इन दोनों को महल में आने तथा वार्ता करने की अनुमति प्रदान कर दी। राजकुमारी की यह गम्भीर भूल थी। राजकुमारी के सम्मुख पहुँच कर इन दोनों स्त्रियों ने विद्वान होने का ढोंग रचा तथा देवलदे को खूब आशीर्वाद दिया। शीघ्र ही दोनों

कूटनीयाँ देवलदे का विश्वास जीतने में सफल रही। देवलदे ने उन दोनों कूटनीयों से उनका वंश व नाम जानना चाहा। देवलदे यह भी जानना चाहती थी कि इतनी छोटी उम्र में उन दोनों ने सन्यास ग्रहण क्यों किया है। कूटनीयों ने बड़ी चालाकी से एक कहानी देवलदे को सुनाई। इन दोनों ने देवलदे को बताया कि 12 वर्ष की अवस्था में उनका विवाह हो गया था। वे उड़ीसा की रहने वाली है, उनके पिता व चाचा वहीं के राजा है। जब उनके पति तीर्थ यात्रा पर गए तो कुछ जमीदारों ने उनके महल पर कब्जा कर लिया। पाँच वर्ष तक उन्होंने अपने पति की प्रतिक्षा की किन्तु जब उनके पति वापस नही लौटे तो उन्होंने अच्छे वस्त्र, भोग-विलास का त्याग कर दिया तथा संसार से विरक्ति ले ली तथा ईश्वरोंपासना में लग गयी। वे अपने पति की खोज में निकली हैं अगर उनके पति मिल जाते हैं तो वे पुन: गृहस्थ जीवन अपना लेगी अन्यथा आजीवन तीर्थयात्रा करती रहेगी। उन्होंने देवलदे को बताया कि अभी तक वे उड़ीसा के जगन्नाथ जी, अयोध्या, काशी, बद्रीनाथ, केदारनाथ की तीर्थ यात्रा पूरी कर चुकी है तथा अब आगे उनका गोमती नदी में स्नान करने, गिरनार पर्वत की यात्रा करने का विचार है। इन यात्राओं के बाद वे नीम का थाना, सीकर, आबू, गोदावरी व सेतु बंध रामेश्वरम आदि स्थानों की तीर्थ यात्रा करेगी। अपनी कहानी सुनाने के बाद दोनों कुटनीयों ने देवलदे को उकसाने के प्रयास शुरू किये। उन्होंने देवलदे को समझाया कि यदि कोई स्त्री 12 वर्ष से अधिक अपने पिता के यहां रहती है तो उसके पिता को शाप लगता है और ऐसा पिता मृत्यु के बाद नरक का भागी बनता है। कूटनियों ने देवलदे के अभी तक विवाह न होने पर आश्चर्य व्यक्त किया। देवलदे ने उन्हें बताया कि एक विद्वान ब्राह्मण के कहने पर उसके पिता ने उसका विवाह 30 वर्ष की उम्र में करने का निर्णय लिया है परन्तु कूटनियों ने देवलदे को भड़काया कि हम्मीर उसके विवाह में असावधानी कर रहे है तथा उसके पिता क्रूर व निर्दयी है। राजकुमारी कूटनीयों की अर्नगल बातों से परेशान हो उठीं। उसने स्पष्ट कर दिया कि वह 30 वर्ष से पूर्व विवाह नहीं करेगी। अगर उसके पूर्व उसके पिता भी उसका विवाह करने का प्रयास करतें हैं तो वह आत्महत्या कर लेगी[22] कूटनियों ने राजकुमारी को समझाया कि तीस वर्ष तक वृद्धावस्था आ जाती है तब विवाह का कोई मतलब नहीं रह जाता। स्त्री तो केवल 20 वर्ष तक ही युवती रहती हैं। कूटनियाँ राजकुमारी को भड़काने का एक और प्रयास करती है। उन्होंने देवलदे के समक्ष कन्नोज के राजकुमार से विवाह कर लेने का प्रस्ताव किया किन्तु देवलदे ने कूटनीयों को बताया कि उसके पूर्वज पृथ्वीराज ने आखिरी बार वहाँ की कन्या का अपहरण करके विवाह किया था। ये दोनों कूटनीयां देवलदे को पथभ्रष्ट करने में कोई कसर बाकी नहीं रखना चाहती थी। देवलदे ने दोनों को चेतावनी दी कि वे इस तरह की व्यर्थ बात उससे न करें किन्तु धूर्त स्त्रियों ने पुन: राजकुमारी के सामने एक प्रस्ताव रखा कि यदि राजकुमारी चाहे

तो वह उनके साथ तीर्थयात्रा पर चले सम्भवत: तीर्थ से लौटने पर राजकुमारी विवाह पर सहमति दे दे।

किन्तु इस प्रस्ताव से कूटनीयों की गहरी धूर्त चाल थी वे राजकुमारी को तीर्थ के माध्यम से किले के सुरक्षित घेरे से बाहर निकाल अलाउद्दीन को सौपना चाहती थीं। क्रोधित देवलदे ने दोनों को डराते हुए कहा था कि इस तरह की बात करते उन्हें शर्म नहीं आती। धूर्तस्त्रीयों का कहना था कि वे शुभचिन्तक होने के कारण ये बात कह रही है।

अनेक प्रयासों के बाद भी देवलदे को डराया नही जा सका अन्त में दोनों धूर्त स्त्रियों ने देवलदे पर सीधा आरोप लगाया कि उसी के कारण अलाउद्दीन ने दुर्ग का घेरा डाला है यानि दुर्ग के संकट के लिये राजकुमारी ही जिम्मेदार है। उसके पिता स्वयं उसे अलाउद्दीन को सौंप सकते हैं अत: पिता के निर्णय से पूर्व ही उसे उस स्थान से चले जाना चाहिये।[23] जब सुल्तान उसे वहाँ नहीं देखेगा तो स्वयं वापस लौट जावेगा। सारा युद्ध उसी के लिये लड़ा जा रहा है।

तारीख-ए-किला रणथम्भौर में वर्णित इस घटना को पढ़ने पर ऐसा लगता है कि अलाउद्दीन की रणथम्भौर आक्रमण राजकुमारी देवल को प्राप्त करने के लिये ही था। ग्रन्थ में आगे लिखा है कि देवलदे ने कूटनीयों को करारा जवाब दिया था। उसने कहा था कि उसके पिता उस पर न्यौछावर है। इस युद्ध में उसके पिता या तो स्वयं मर जावेंगे या अलाउद्दीन को मार देंगे। कूटनीयों ने पुन: देवलदे को उकसाया था कि जब कुसमय आता है तो मनुष्य अपनी सन्तान को भी बलिदान कर देता है। सुल्तान अपने दृढ़ निश्चय के बिना नहीं लौटेगा। उसने अपनी खड़ग की शक्ति से अनेक पराक्रमी राजाओं का मान-मर्दन करके उन्हें अपना सेवक बना लिया है तथा उनकी कन्याओं से विवाह किया है। कूटनीयों ने देवल को बताया कि अलाउद्दीन को दिन-रात केवल उसी का विचार है और केवल उसी कारण दोनों तरफ के लाखों सैनिक मृत्यु को प्राप्त हो रहे हैं। आखिरी में कूटनीयों ने राजकुमारी को चेतावनी दी कि अलाउद्दीन उसे बलपूर्वक ले जावेगा।[24] कूटनीयों का कहना था कि देवलदे को ऐसा कोई कार्य नही करना चाहिये जिससे समस्त राज्य उजाड़ हो जाय और दुर्ग चला जाय तथा उसकी भी मृत्यु हो जाय। कूटनीयों ने देवल को स्वयं सुल्तान के पास जाने का प्रस्ताव हम्मीर के समक्ष रखने का सुझाव दिया। कूटनीयों का कहना था कि देवलदे सुल्तान के पास जाती है तो सुल्तान उसे पटरानी बना देगा।[25] सम्भवत: इन दोनों धूर्त स्त्रीयो की बातों का असर देवलदे पर हुआ होगा। कुछ ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि राजकुमारी ने खून खराबा रोकने के लिये अपना विवाह सुल्तान से करने का प्रस्ताव हम्मीर के समक्ष किया था।[26]

कूटनीयों की बातों से क्रोधित देवलदे ने कूटनीयों को दण्डित करने का आदेश दिया। दोनों कूटनीयों के बाल काट कर अपमानित कर उन्हें दुर्ग से निकाल दिया जाता

है। निराश होकर कूटनीयां अलाउद्दीन के पास जाकर सारा हाल बताती हैं। क्रोधित अलाउद्दीन ने अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये किले का घेरा और मजबूत किया। किले को जीतने के लिये उसने कुछ भारतीयों को भी खरीद लिया। दुर्ग में धीरे-धीरे खाद्य सामग्री की कमी होने लगती है। खुजाइनुल फुतुह ग्रन्थ से किले में अन्न संकट की जानकारी प्राप्त होती हैं।

समकालीन ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि हम्मीर के अनेक विश्वस्त व्यक्ति कुछ लालच में अलाउद्दीन की ओर मिल चुके थे। निराश हम्मीर ने गद्दारों से परेशान होकर यह आदेश दिया था कि जो भी लोग दुर्ग के बाहर जाना चाहतें है वे दुर्ग से बाहर जा सकते हैं। दुर्ग के अन्दर केवल वे ही रूकें जो उसके साथ मरने को तैयार हों। हम्मीर महाकाव्य से ज्ञात होता है कि हम्मीर के परिवार की स्त्रीयॉ रानी रंग देवी के साथ चिता में चलकर भष्म हो गई-

पक्ख ऊजरो चैत सुदि,
तिथि नौंमी, सनिबार
बीस सहस्त्र छत्री मरे
अबला जरी हजार।।[27]

हम्मीर रासो के अनुसार इस युद्ध में 20 हजार राजपूत योद्धा वीर गति को प्राप्त हुए थे। यह युद्ध चैत सुदी नवमी, शनिवार को हुआ था। विद्यापति रचित पुरुष परीक्षा में भी जौहर का मार्मिक विवरण मिलता है।[28] रणथम्भौर के इस विभत्स जौहर का मार्मिक चित्रण डॉ. वी.एस. भटनागर ने अपने ग्रन्थ में भी किया है।[29]

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या अलाउद्दीन मंगोल शरणार्थियों को वापस सौंपने से रणथम्भौर से वापस लौट सकता था। इस प्रश्न का उत्तर अलाउद्दीन के द्वारा किये आक्रमणों व उसकी कामुक वृति में निहित है। उसके अधिकांश आक्रमणों में उसका उद्देश्य हिन्दू नारियों को प्राप्त करना प्रतीत होता है। हम्मीर से उसने जो मांगे रखी थी उसमें देवलदे की मांग प्रमुख थी। अलाउद्दीन के गुजरात, देवगिरी, चित्तौड़ आक्रमण भी भारतीय स्त्रियों को प्राप्त करने के लिये ही था। अतः हमें यह स्वीकार करना होगा कि मात्र मंगोल शरणार्थियों को वापस लेना ही अलाउद्दीन के आक्रमण का उद्देश्य नहीं था उसका वास्तविक उद्देश्य राजकुमारी देवलदे को प्राप्त करना था किन्तु वह अपने लक्ष्य में सफल न हो सका।

सन्दर्भ

1. *राजस्थान का इतिहास, गोपीनाथ शर्मा, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा, पृ. 125*
2. *वही*

3. *वही*
4. *हम्मीर रासो, जोधराज कृत, अनु डॉ. कृष्णवीर सिंह, ग्रंथ विकास, जयपुर 2007, पृ. 63*
5. *तारीख ए किला रणथम्भौर, मूल लेखक हीरानन्द कायस्थ, अनुवाद आर.के. सक्सैना, संघी प्रकाशन, जयपुर 1993, पृ. 33*
6. *वही, पृ. 33*
7. *वही, पृ. 34*
8. *वही*
9. *वही*
10. *वही*
11. *वही*
12. *वही*
13. *वही*
14. *वही, पृ. 36*
15. *वही, पृ. 36*
16. *वही, पृ. 36*
17. *हम्मीर रासो, जोधराज कृत, अनु. डॉ. कृष्णवीर सिंह, वही, पृ. 62*
18. *हम्मीर रासो, वही, पृ. 63*
19. *तारीख ए किला रणथम्भौर, वही, पृ. 46*
20. *वही*
21. *वही*
22. *वही, पृ. 59*
23. *वही, पृ. 60*
24. *वही, पृ. 61*
25. *वही*
26. *Hammira of Rathambhor, Harbilas Sarda, 2010, P. 35*
27. *हम्मीर रासो, जोधराज कृत, अनु डॉ. कृष्णवीर सिंह, पृ. 61*
28. *तारीख ए किला रणथम्भौर, वही, पृ. 77*
29- *Selected papers on History and Culture of medieval Rajasthan, P. 45, Published by Liteary Circle, 2019*

राजस्थान का ऐतिहासिक परिदृश्य : संस्कृत के संदर्भ में

एकता

राजस्थानी साहित्य मुख्यत: संस्कृत एवं राजस्थानी भाषा से प्राप्त होती है। वैदिक संस्कृत भाषा में साहित्य सृजन की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है, उसी परम्परा का निर्वाह राजस्थानी साहित्य सृजन में भी दृष्टिगोचर होता है। राजस्थान में महाराणा कुंभा से राजसिंह (1433-1480 ई.) के कालक्रम में कई संस्कृत ग्रन्थ उपलब्ध हुये जिनमें से मुख्यत: संगीतराज, सूडप्रबंध, चण्डीशतक वृत्ति, कामराजरतिसार इत्यादि इस श्रेणी में आते है।[1]

राजस्थानी लोक साहित्य के संस्कृत साहित्य से मध्यकालीन धार्मिक, सामाजिक जीवन की स्वतंत्र जानकारी हमें 'हम्मीर महाकाव्य' से मिलती है। बीकानेर के लोगों के रहन-सहन, आमोद-प्रमोद, भोजन, उत्सव इत्यादि का विवरण हमें 'सदाशिव भट्ट' द्वारा रचित 'राजविनोद' से प्राप्त होता है। भट्टि द्वारा रचित 'भट्टी-काव्य' में हमें 15वीं सदी के जैसलमेर की राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। एकलिंग महात्म्य जो कि कान्ह व्यास द्वारा रचित है इस में 15वीं सदी के समाज संगठन का ज्ञान इस से उत्तम किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं मिलता। इसी प्रकार 16वीं शताब्दी के 'कर्मचन्द्रवंशोत्कीर्तन काव्यम्' जयसोम द्वारा रचित- इस समय की धार्मिक और सामाजिक संस्थाओं की जानकारी प्रदान करने वाला ग्रन्थ है।[2]

'राज रत्नाकर' प्रशस्ति में महाराणा राज सिंह के समय के समाज का चित्रण मिलता है, वहीं 'अमरकाव्य वंशावली' व 'अमरसार' जैसी पुस्तकों से मेवाड़ के आनन्द-प्रमोदक व जन-जीवन की जानकारी प्रदान करती है। राजस्थान में संस्कृत साहित्य को आगे बढ़ाने में यहां के राजा महाराजाओं का अक्षुण योगदान रहा है। इतिहास समाज का दर्पण होता है इस के माध्यम से हमें देश, इतिहास, जाति-उत्थान पतन, वंशानुक्रमों, यश-अपयश शासकों की उपलब्धियों की जानकारी मिलती है, इन्हीं में संस्कृत साहित्य भी ऐसा जिस से राजाओं के उपलब्धियों, युद्धों, जीवनक्रम की जानकारी मिलती है। राजाओं द्वारा अपने कार्यों को प्रशस्ति के माध्यम से लिखवाये जाते हैं, जो साहित्य जानने के अच्छे स्रोत हैं।

इनमें मुख्य- गीत-गोविन्द, बाणभट्ट, श्री कान्हव्यास, मण्डन रणछोड़ भट्ट, 'तैलंग', रूप भट्ट, महेश प्रमुख रहे। प्रमुख साहित्यकार जिन्होंने संस्कृत साहित्य का वर्णन किया जिनमें मुख्य- डॉ. मोतीलाल मेनारिया, डॉ. सीमा राठौड़, वीर-विनोद जो की 'श्यामलदास' जी द्वारा रचित तथा गौरीशंकर हीराचंद ओझा द्वारा भी संस्कृत साहित्य सृजन में योगदान दिया।

संस्कृत साहित्य के प्रमुख ग्रन्थ-

(1) संगीतराज-यह ग्रन्थ महाराणा कुंभा द्वारा विरचित सभी ग्रन्थों में वृहतम् एवं सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में अनेक पाण्डुलिपियां उपलब्ध है जिसमें किसी रचनाकार का नाम 'कुभकर्ण' मिलता है तो किसी का 'कालसेन'। इस ग्रन्थ की रचना महाराणा कुम्भा द्वारा की गई है, जिसका उल्लेख एकलिंग की दक्षिण द्वार प्रशस्ति में हुआ है।[3]

यह ग्रन्थ भारतीय संगीत का परिचयात्मक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में 5 कोश है। जिसके प्रत्येक कोश में 4-4 उल्लासों का विवरण है। इस ग्रन्थ में 1600 श्लोकों का संग्रह है। इसमें 5 रत्नकोश, 20 उल्लास व 80 परीक्षणों में इसे विभाजित किया है-

1. पाठ्यरत्नकोश
2. वाद्य रत्न कोष
3. रसरत्नकोष
4. गीतरत्नकोश
5. नृत्य रत्न कोष

(2) सूड प्रबन्ध-यह गीतगोविन्द का संगीतात्मक प्रकरण है। इस ग्रन्थ का उल्लेख महाराणा कुंभा के समय ग्रन्थ 'एकलिंगमहात्म्यम्' के काव्यमय खण्ड की 'कुंभास्तुति' में दिया गया है साथ ही इसका उल्लेख 'कीर्ति स्तम्भ' में भी मिलता है।

(3) गीतगोविन्द की रसिक प्रिया टीका-यह जयदेव कृत टीका है जिस पर रसिक-प्रिया टीका महाराणा कुंभा द्वारा लिखित है। यह टीका साहित्य व संगीत का संयोग है। इसमें राग-रागनियों का विवरण मिलता है। इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति राजस्थान राज्य प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, उदयपुर के ग्रंथाक- 1744/1 पर उपलब्ध है।[4]

(4) चण्डीशतक वृत्ति-यह ग्रन्थ महाकवि 'बाणभट्ट' कृत 'चण्डीशतक' की टीका की प्रतिकृति है। इसमें कुल 102 श्लोक है जिसमें महाराणा कुम्भा का विशद विवेचन किया है। यह ग्रन्थ चण्डिका देवी की उपासना से सम्बन्धित है। यह ग्रन्थ संगीतशास्त्रीय ज्ञान का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है।

यह ग्रन्थ राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान के ग्रथांक 94 पर उपलब्ध है जहां से प्रकाशित हुआ है।

(5) कामराजरतिसार–इस ग्रन्थ में गीत, वाद्य, नृत्य संगीत की तीनों विधाओं का उल्लेख मिलता है। इस ग्रन्थ के 18वें श्लोक में कुम्भा को 'संगीतराज का कर्त्ता' एवं 21 श्लोक में 'नाटकराज' का कर्त्ता वर्णित किया है। इस ग्रन्थ में कुम्भा को एक लेखक रूप में परिचित किया है।

उपरोक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त टीकायें भी मिली किन्तु इनकी कोई पाण्डुलिपि उपलब्ध नहीं है। इनमें से मुख्य है- संगीतरत्नाकर टीका, संगीतकदीपिका एवं संगीत मीमांशा इत्यादि।

प्रमुख साहित्यकार-

(1) अत्रि भट्ट एवं महेश भट्ट–ये महाराणा कुंभा के राज्याश्रित कवि थे जो संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे। इन के द्वारा 'कीर्ति स्तम्भ' प्रशस्ति की रचना की जिनकी मृत्यु के बाद इनके पुत्र महेश भट्ट द्वारा इस प्रशस्ति का कार्य पूरा किया गया।[5] महेश भट्ट द्वारा-एकलिंगजी की दक्षिण द्वार प्रशस्ति वि.स. 1545 व रामस्वामी मंदिर जावर की प्रशस्ति वि.स. 1554 व घोसुण्डी श्रृंगार देवी प्रशस्ति 1561 की भी रचना की गई। कुंभा के अतिरिक्त ये रायमल के समकालीन थे। रायमल द्वारा इन्हें 'रत्नखेड़ा ग्राम' दान में दिया।

(2) सूत्रधार मंडन–ये संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे जो कि महाराणा कुम्भा के समकालीन थे। ये भारतीय वास्तुकला के संपादकों में सब से महत्त्वपूर्ण विद्वान रहे। मंडन द्वारा संहिता विषयों पर लेखन किया जिसमें न केवल शिल्प, वास्तुकला, बल्कि ज्योतिष, शकुन, अंग, भूमि-परीक्षण जैसे इत्यादि विषय शामिल रहे है।[6]

मंडन कृत रचनायें[7]-

1. प्रासाद मंडन (शिल्पकला)
2. वास्तु मंडन (वास्तुकला)
3. रूप मंडन (मूर्तिकला)
4. देवमूर्ति प्रकरण (प्रतिमा लक्षण व प्रतिमा निर्माण) उल्लेख
5. राजवल्लभ मंडन (सामान्य नागरिकों के आवासीय गृहों को लेकर राजप्रासाद एवं नगर रचना) का उल्लेख।
6. वास्तुसार-इसमें दुर्ग, भवन, नगर निर्माण नियमों की जानकारी मिलती है।[8]

(3) चक्रपाणि मिश्र–ये महाराणा प्रताप के दरबारी पंडित थे। इन्हें वेद, उपनिषद्, धर्मशास्त्रों के अच्छे विद्वान थे व संस्कृत के प्रमुख साहित्यकारों में से एक माने जाते है। इनके प्रमुख ग्रन्थ-विश्व वल्लभ, मुहूर्तमाला, राज्याभिषेक पद्धति हैं।[9]

(4) रणछोड़ भट्ट 'तैलंग'-इनके द्वारा 'राजप्रशस्ति महाकाव्यम्' की रचना की गई। यह महाराणा राजसिंह की आज्ञा पर बनाया गया अभिलेख है जो संस्कृत भाषा का सबसे लम्बा अभिलेख है जो कि 25 पत्थरों पर बना है जिसमें 24 सर्ग तथा 1106 श्लोक है। इस राज प्रशस्ति से हमें बापा रावल से राजसिंह तक मेवाड़ राजाओं की जानकारी तथा महाराणा प्रताप के भाई (शक्ति सिंह) तथा मुगल मेवाड़ संधि की जानकारी मिलती है।[10]

(5) सदाशिव नागर–सदाशिव द्वारा 'राज-रत्नाकर' महाकाव्य लिखा गया जिसमें 23 सर्ग है। यह एक ऐतिहासिक महाकाव्य है। ये महाराणा राजसिंह के समकालीन थे। इस ग्रन्थ में महाराणा राजसिंह द्वारा कांकरोली के निकट राजसमुद्र के निर्माण एवं उस के प्रतिष्ठा महोत्सव से सम्बन्धित है। इस ग्रन्थ की रचना 1677 ई. में हुई।[11]

अन्य प्रमुख संस्कृत साहित्यकार-

(1) श्री कान्हव्यास- एकलिंग महात्म्य
(2) पं. जीवन्धर- अम्मार (अमरसार)
(3) रघुनाथ पालीवाल - जगतसिंह काव्यम्
(4) जयानक- पृथ्वीराज विजय
(5) नयन चन्द्र सूरी- हम्मीर महाकाव्य
(6) जयसिंह सूरी- हम्मीर मदभर्दन
(7) सूर्यमल्ल मिसण - वंश भास्कर
(8) सोमदेव - ललित विग्रहराज

संस्कृत साहित्य का महत्त्व-

विश्वभर की समान्त प्राचीन भाषाओं में संस्कृत का सर्वप्रथम और उच्च स्थान है। विश्व साहित्य की पहली पुस्तक (ऋग्वेद) इसी भाषा की देन है।[12] भारतीय संस्कृत का रहस्य इसी भाषा में निहित है, अंत इस भाषा के अध्ययन बिना हम भारतीय संस्कृति का पूर्ण ज्ञान कभी प्राप्त नहीं कर सकते। संस्कृत अनेक प्राचीन एवं अर्वाचीन भाषाओं की जननी मानी जाती है। राजस्थान के सांस्कृतिक, राजनीतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक, सामाजिक इत्यादि क्षेत्रों की सम्पूर्ण जानकारी हमें संस्कृत साहित्य से उपलब्ध होती है।[13] संस्कृत भाषा को 'अमरभाषा', 'देववाणी' भी कहा जाता है।[14]

सन्दर्भ

1. *श्यामलदास, वीर-विनोद भाग-प्रथम, उदयपुर*
2. *राठौड़, डॉ. सीमा, महाराणा कुंभा की भारतीय संगीत को देन, जोधपुर, 2001*

3. असावा, गौरीशंकर, 15वीं शताब्दी का मेवाड़, जयपुर, 1986.
4. ओझा, गौरीशंकर, हीराचंद, उदयपुर राज्य का इतिहास भाग प्रथम, जोधपुर, 1994
5. शर्मा, डॉ. देवीदत्त, मेवाड़ का धार्मिक साहित्यिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, उदयपुर, 1989
6. श्यामलदास, वीर विनोद भाग प्रथम, उदयपुर, 1886.
7. कुम्भकर्ण, चण्डीशतक,, ग्रंथाक-9 (राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, उदयपुर में संरक्षित)
8. राठौड़, डॉ. सीमा, महाराणा कुम्भा की भारतीय संगीत को देन, जोधपुर, 2001
9. डॉ. तारामंगल, महाराणा कुम्भा और उनका काल, जोधपुर, 1984
10. शर्मा, डॉ. लता, रसरत्नकोश, दिल्ली, 2011
11. असावा, गौरीशंकर, 15वीं शताब्दी का मेवाड़, जयपुर, 1986
12. श्रीवास्तव, डॉ. बलराम, रूपमंडन, जोधपुर, 1992, अध्याय प्रथम, श्लोक-2
13. मण्डन, राजवल्लभ, अध्याय प्रथम, श्लोक-1, रा.प्रा.वि.प्र., उदयपुर में संग्रहित प्रतिलिपि का प्रथम पत्र।
14. जोशी, डॉ. मनोरमा, महाराणा अमरसिंह प्रथम और उसका समय, उदयपुर, 1992

जोधपुर राज्य में परम्परागत जल स्रोतों का प्रबन्धन (अभिलेखागारीय बहियों के संदर्भ में)

डॉ. सुखाराम

जोधपुर राज्य में जगह-जगह बने पारम्पिरिक जल स्रोत राज्य के शासकों, सेठों, बंजारों, साधु-संतों व स्थानीय निवासियों के जल संग्रहण के कार्यों की याद दिलाते हैं। कुएँ, तालाब और बावड़ी आदि जल स्रोत न केवल स्थानीय लोगों की प्यास बुझाते थे, बल्कि आसपास के गांवों व कस्बों में जलापूर्ति के साधन थे। परम्परागत जल स्रोतों का निर्माण, रख-रखाव तथा प्रबन्धन जोधपुर राज्य तथा स्थानीय लोगों द्वारा मिलकर किया जाता था। प्राचीन लेखों, शोधपत्रों, प्रशंसापत्रों तथा अभिलेखागारीय बहियों से पता चलता है कि जोधपुर राज्य में सदियों से वर्षा जल संग्रहण के परम्परागत जलीय स्रोत थे और उनका उच्च कोटि का प्रबन्धन था। 'ऐसी आब पाशी का प्रबन्ध देशी राज्यों में बहुत कम पाया जाता है।'[1] मारवाड़ में प्राप्त जल स्रोत कई प्रकार के थे- कुंड, कुएँ, बावड़ी, झालरे, टोभा, तालाब, नाडा-नाडी, टांके, झील, नहरें, बाँध आदि। कुएँ कई प्रकार के होते थे जैसे चांच, कोसीटा, कोहर, अरट, पावटा आदि। इनमें से कई जल स्रोतों का निर्माण राज्य द्वारा किया गया, किन्तु अधिकांश स्रोत आम जनता द्वारा ही बनवाए गए थे। इनके निर्माण में समाज के सभी वर्गों की सहभागिता होती थी। ये स्रोत धार्मिक, सामाजिक, सैन्य, कृषि व अन्य व्यावसायिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। धर्मशाला, गौशाला, मंदिर व मस्जिद आदि सभी के अपने-अपने जल संसाधन होते थे।[2] मारवाड़ राज्य के जल स्रोतों में मुख्यत: कुएँ थे जिनकी कुल संख्या 55640 थीं। इनमें से 40946 मीठे पानी के तथा बाकी के खारे पानी के थे। 35150 कुएँ पक्के तथा 20490 कुएँ कच्चे थे।[3]

प्रस्तुत शोधपत्र में अभिलेखागारीय बहियों के विशेष संदर्भ में जोधपुर राज्य के जल प्रबन्धन पर प्रकाश डाला गया है। इन अभिलेखागारीय बहियों में खास रूक्का परवाना बहियाँ तथा सनद परवाना बहियाँ प्रमुख है। इन बहियों में राज्य व आम जनता द्वारा मिलकर परम्परागत जल स्रोतों का प्रबन्ध का विस्तार से विवरण मिलता है जो इस प्रकार से है-

1. महाजन व्यापारियों द्वारा परम्परागत जल स्रोतों का निर्माण व मरम्मत का कार्य किया जाता था। इसके बदले राज्य की ओर से इन व्यापारियों को व्यापारिक

सुविधाएँ व छुटें प्रदान करके उन्हें प्रोत्साहित किया जाता था ताकि वे अधिक से अधिक कुओं, बावड़ियों व तालाबों का निर्माण करे।[4]

2. यदि किसी व्यक्ति द्वारा नया गांव बसाकर वहाँ कोई तालाब/कुआँ खुदवाया जाता या पहले से बसे गांव में पानी के संकट को दूर करने के लिए कोई कुआँ खुदवाता तो उसे राज्य द्वारा पुरस्कृत किया जाता था।[5]

3. यदि किसी सार्वजनिक जल स्रोत के सम्बन्ध में दो पक्षों या गांवों के मध्य पानी को लेकर कोई विवाद हो जाता तब राज्य की ओर से इस विवाद के निपटारे हेतु स्पष्ट आदेश दिए जाते थे, जिससे उस जल स्रोत के पानी का ठीक प्रकार से उपयोग हो सके। ऐसे राज्यादेशों में विभिन्न पक्षों के लिए पानी के उपयोग का समय व स्थान तय कर दिए जाते थे।[6]

4. राज्य प्रशासन की पानी के छोटे-छोटे मुद्दों पर भी कड़ी नजर रहती थी। गांव के चौधरियों द्वारा पीह[7] बढाए जाने के विरुद्ध भी चौधरियों को यथास्थिति बनाए रखने के आदेश किए गए।8

5. कई बार किसी तालाब या कुएँ की अवस्थिति कई गांवों के मध्य होती थी और उसके चारों ओर के गांवों के लोग उस पानी का उपयोग करते थे। तब उन्हें उस जलीय स्रोत के रख-रखाव की सामुहिक जिम्मेदारी निभानी होती थी। इस हेतु राज्यादेश था कि पड़ौसी गांवों के लोग प्रतिवर्ष, प्रतिघर एक आदमी जाकर तालाब की मिट्टी निकाला करे।[9]

6. राज्य द्वारा जल स्रोतों के रख-रखाव, साफ-सफाई, मरम्मत, मिट्टी की खुदाई इत्यादि कार्यों के लिए एक सुनिश्चित व्यवस्था होती थी। इन कार्यों हेतु राज्य की ओर से समय-समय पर आदेश जारी किए जाते थे।[10]

7. ऐसे व्यक्ति की मृत्यु, जिसका कोई वारिस या उत्तराधिकारी न हो और वह अपने पीछे धन-सम्पत्ति छोड़ गया हो तो ऐसे धन का उपयोग भी निवाण[11] के रख-रखाव व निर्माण आदि के लिए किया जाता था।[12]

8. जोधपुर राज्य में समय-समय पर कई स्थानों पर मेलों का आयोजन होता था। इन मेलों में बड़ी संख्या में व्यापारी, आमजन व पशुधन एकत्र होते थे जिनके लिए पीने योग्य पानी की कोई कमी न हो, इस हेतु राज्य प्रशासन व स्थानीय व्यापारियों द्वारा कुएँ, तालाब व प्याऊ इत्यादि की व्यवस्था की जाती थी।[13]

9. राज्य की आम जनता तथा पशुओं के लिए पीने के लिए पानी की कमी वाले स्थानों पर अलग-अलग कुओं के निर्माण व संचालन की व्यवस्थाएं भी की जाती

थी। मीठे पानी के कुओं पर आम जनता तथा खारे पानी के कुओं पर पशुओं के पानी पीने की व्यवस्थाएँ की जाती थीं।[14]

10. राज्य प्रशासन व लोगों द्वारा गायों के पीने के पानी के लिए विशेष व्यवस्थाएँ की जाती थीं।[15]

11. राज्य के अधिकांश गांवों में लोग अपने सामुदायिक प्रयासों द्वारा कुएँ, तालाब व बावड़ियों का निर्माण तथा उनसे पानी निकालने की व्यवस्था स्वयं करते थे। अत: पानी के मामले में राज्य के अधिकतर गांव स्वावलम्बी व आत्मनिर्भर थे।

12. कुओं, बावड़ियों व तालाबों का निर्माण शासक, समाज के किसी सेठ, समृद्ध व्यक्ति या सामुहिक रूप से गांव के लोगों द्वारा किया जाता था। अपने नाम को अमर बनाने के लिए इन जल स्रोतों का निर्माण की परम्परा थी।[16]

13. आमजन को तालाबों का पानी पीने पर कोई शुल्क या कर नहीं देना पड़ता था। लेकिन कुओं के पानी पर शुल्क देना पड़ता था। क्योंकि तालाब तो वर्षा जल से स्वत: ही भर जाते थे, लेकिन कुओं की जुताई कर उनसे पानी निकाला जाता था। कुओं की जुताई राज्य प्रशासन या गांव के लोगों द्वारा करवाई जाती थी।[17]

14. कुओं, बावड़ियों व तालाबों से पानी की चोरी को रोकने के लिए इन पर पहरा बिठाया जाता था।[18]

अंतत: यह कहा जा सकता है कि जोधपुर राज्य में परम्परागत जल स्रोतों के प्रबन्ध की एक अनूठी व्यवस्था थी। जिसमें राज्य के शासकों, सेठ-साहूकारों व आमजन ने यश व पुण्य कमाने के लिए समय-समय पर इन जल स्रोतों का निर्माण करवाया तथा इनके संचालन का उत्तम प्रबन्ध भी किया।

संदर्भ

1. *जगदीश सिंह गहलोत, मारवाड़ का इतिहास, मानसिंह पुस्तक प्रकाश, जोधपुर, 1991, पृ. 174*
2. *महेन्द्रसिंह नगर, मारवाड़ की जल संस्कृति, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2011, पृ. 20*
3. *वही, पृ. 22*
4. *महाजन व्यापारियों द्वारा तालाब की मरम्मत हेतु धन दिए जाने पर महाराजा तख्तसिंह द्वारा व्यापारियों को कुछ सुविधाएँ प्रदान की गई थीं। खास रूक्का परवाना बही सं. 09, वि.सं. 1901/1844 ई. जोधपुर रिकॉर्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, पृ. 30,एफ-2*
5. *वीकानेर रे गांव सूरपुरे रो सामी डूंगरपुरी नराणपुरी गांव जांजोलाई आय वससी नै गांव रा लोगां रे पाणी पीवण सारू कुवो 1 नवो खुदाय नैं बंधावसी सुं डूंगरपुरी नराणपुरी नुं जांजोलाई री धरती वीघा अखरे तीन सो दिरावण रो हुकम हुवो है। सनद परवाना बही सं. 05, वि.सं. 1823/1766 ई. जोधपुर रिकॉर्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर,*

पृ. 58,एफ–1

6. नागौर परगने के गांव लूणदा व सुखवासणी के बीच बांकिया नामक एक कुआँ था। इसके पानी को लेकर दोनों गांवों में झगड़ा कई वर्षों से चल रहा था। जब यह मामला जोधपुर दरबार के पास पहुँचा तो इस झगड़े को समाप्त करने हेतु निर्देश दिये गए–दो प्रहर दिन व दो प्रहर रात को पहले सुखवासणी वाले पानी निकालेंगे तथा बाद के दो प्रहर दिन व दो प्रहर रात को लूणदा वाले पानी निकाल सकते है। साथ ही पास में स्थित तालाबों में पशुओं के पानी पीने की व्यवस्था दरबार द्वारा दी गई। सनद परवाना बही सं. 05, वि.सं. 1823/1766 ई. जोधपुर रिकॉर्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, पृ. 36,एफ–1, 2

7. पीह कुएँ का प्रबन्ध देखने या जोतने वाले लोगों द्वारा जल के उपयोग पर लिया जाने वाला एक कर था। गांव के कुछ लोगों को इस कर से छूट होती थीं। पीह को समय–समय पर बढ़ा दिया जाता था। लेकिन शिकायत पर राज्य द्वारा हस्तक्षेप कर उचित कार्यवाही की जाती थी।

8. नागौर के गांव राजोद के भौमिंया ने स्वयं की पीह व गांव बगड़ के भगत खेमदास ने गायों की पीह मांगे जाने के विरोध में दरबार को शिकायत की, तब दरबार ने यथास्थिति बनाए रखने के आदेश दिए। सनद परवाना बही सं. 05, वि.सं. 1823/1766 ई. जोधपुर रिकॉर्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, पृ. 112,एफ–2, पृ. 122,एफ–2

9. नागौर परगने के गांव चूंटीसरा के भगत सदाराम की प्रार्थना पर जोधपुर दरबार द्वारा यह व्यवस्था दी गई। सनद परवाना बही सं. 17, वि.सं. 1833/1776 ई. जोधपुर रिकॉर्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, पृ. 19,एफ–2

10. जोधपुर दरबार द्वारा नागौर शहर के दो प्रसिद्ध तालाबों–बखतसागर व समस तालाब की मिट्टी निकालने के आदेश कचेड़ी नागौर को दिए गए। गांव के तालाबों व कुओं व बावड़ियों की साफ–सफाई व प्रतिवर्ष मिट्टी निकालने का काम गांव के लोगों द्वारा नि:शुल्क किया जाता था। सनद परवाना बही सं. 17, वि.सं. 1833/1776 ई. जोधपुर रिकॉर्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, पृ. 24,एफ–2

11. निवाण से तात्पर्य है परम्परागत जल स्रोत, तालाब, कुएँ, बावड़ी, झालरा इत्यादि।

12. नागौर के पारड़िया गांव के चुतराराम जाट की मृत्यु के बाद उसका कोई वारिस नहीं था और वह 205 रु. अपने पीछे छोड़ गया था। अत: राजगमिता कानून के अनुसार दरबार ने 92 रु. 25 पैसे उसके मृत्युभोज हेतु खर्च करने तथा बाकि रूपये नागौर कचेड़ी में जमा करवाकर इन रूपयों को निवाण के कार्यों में खर्च करने का आदेश दिया। सनद परवाना बही सं. 17, वि.सं. 1833/1776 ई. जोधपुर रिकॉर्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, पृ. 27,एफ–1

13. मूंडवा के मेले में पानी हेतु तालाबों व कुंओं के साथ–साथ तीन प्याऊओं की व्यवस्था की गई। सनद परवाना बही सं. 17, वि.सं. 1833/1776 ई. जोधपुर रिकॉर्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, पृ. 36,एफ–1

14. नागौर में पशुओ के पीने के पानी के लिए चार कुएँ तथा शहर के लोगों के पीने के पानी के लिए दरबार की ओर से जुतवाए गए। सनद परवाना बही सं. 17, वि.सं. 1833/1776 ई. जोधपुर रिकॉर्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, पृ. 44, एफ–2, 50,एफ–2

15. सनद परवाना बही सं. 17, वि.सं. 1833/1776 ई. जोधपुर रिकॉर्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, पृ. 72,एफ–1

16. कुएँ, तालाब व बावड़ियों के निर्माण के पीछे का उद्देश्य पुण्य कमाने के साथ–साथ अपना व अपने पूर्वजों का नाम अमर करना होता था। क्योंकि हमारे धार्मिक ग्रंथों में पानी पिलाने का बहुत पुण्य माना जाता है।

17. कुएँ से पानी निकालने के लिए कुएँ की जुताई करनी पड़ती थी जिसके लिए बैल, ऊँट, लाव, चड़स व अन्य मानवीय संसाधनों की आवश्यकता होती थी। इसके बदले में कुएँ की जुताई करने वालों द्वारा पानी के उपयोग के अनुसार शुल्क लिया जाता था जिसे पी, पीह या पाणीपीछ कहते थे।

18. कुओं, बावड़ियों व तालाबों से पानी की चोरी की आशंका बनी रहती थी। जिसमें पड़ोसी गांव के लोग या बाहर से आए हुए पशुओं जैसे भेड़ों के रेवड़, बंजारों की गायों के टांडे जिनमें हजारों की संख्या में पशु होते थे। इनके पानी पी जाने पर गांव के पानी का बजट बिगड़ जाता था। अत: इसे रोकने के लिए गांव द्वारा पहरेदार लगाकर पानी की रखवाली की जाती थी।

मेवाड़ राज्य के सिंचाई कार्यों का ऐतिहासिक एवं अनुसंधानपरक अध्ययन (उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्द्ध 1874-1921)

डॉ. नारायण लाल माली

भारत में प्राचीनकाल से ही राज्य द्वारा सिंचाई के लिए तालाब, नहरें एवं कुओं का निर्माण करवाकर भूमि की उर्वरता एवं उपज में वृद्धि किये जाने के प्रमाण मिलते रहे हैं। प्राय: सभी शासक नहरें, तालाब, कुएँ, बावड़ियाँ, जलाशय आदि का निर्माण करवाना अपना दायित्व समझते थे। इस तथ्य के प्रमाण विभिन्न ऐतिहासिक स्रोतों से प्राप्त किये जाते हैं। सिंधु सभ्यता से संबंधित पुरास्थल धोलावीरा में 16 तालाब वर्षा जल एकत्र करने के लिए बनाये गये थे।[1] आर. एस. बिष्ट को हरियाणा की सरस्वती घाटी में ताम्रश्म युगीन, नहरों तथा तालाबों से सिंचाई करने के साक्ष्य मिले हैं।[2] वैदिक काल में भी खेतों को नहरों द्वारा सींचा जाता था।[3] इसी प्रकार जूनागढ़ अभिलेख से पता चलता है कि मौर्य सम्राट चंद्रगुप्त ने गिरनार में सुदर्शन झील का निर्माण करवाया और इससे नहरें निकलवाई तथा रूद्रदामन एवं गुप्त सम्राट स्कन्दगुप्त ने इस झील का पुनर्निर्माण करवाया।[4] 'हाथी गुम्फा अभिलेख' यह सूचित करता है कि कलिंगाधिराज खारवेल ने अपने राज्याभिषेक के पाँचवें वर्ष प्रजा हितार्थ अपनी राजधानी तक जलवाहक नहरें निर्मित करवाई।[5] हर्ष के शासन काल में भी सिंचाई के लिए राज्य की ओर से प्रबंध किया जाता था।[6] दक्षिण भारत में चोल शासकों ने भी सिंचाई के लिए तालाबों का निर्माण करवाया और उनसे नहरें निकलवाई। राजेन्द्र प्रथम ने सिंचाई के लिए अनेक योजनाएँ बनाई तथा लगभग चालीस किलोमीटर लम्बे एक जलाशय का निर्माण करवाया। इस तालाब से काफी दूर तक सिंचाई की जाती थी।[7] सल्तनत काल में फिरोज तुगलक ने सतलज और यमुना नदियों से दो नहरें निकलवाई जो लगभग सौ मील लम्बी थी। जिससे इस क्षेत्र के किसान साल में दो फसल खरीफ और रबी उगा सकते थे, बाद में अकबर ने इनकी मरम्मत करवाई और शाहजहाँ इन्हें दिल्ली तक ले गया।[8]

राजस्थान में वर्षा के जल को लेकर विशेष सतर्कता दिखाई पड़ती है। वर्षा का जल नदी-नालों के माध्यम से बहकर अन्य राज्यों में चला जाता था। अत: स्थायी जल आपूर्ति, कृषि, पेयजल, व्यापार-वाणिज्य तथा पशुपालन के लिए शासकों द्वारा जलाशयों का निर्माण करवाया गया। मेवाड़ में प्राचीन समय से ही शासकों द्वारा सिंचाई के लिए

 ISSN 2321-1288

कुओं और छोटे तालाबों का निर्माण करवाया जाता रहा था।[9] यहाँ के शासकों ने जल संसाधनों को प्राथमिकता देते हुए उनके निर्माण पर बहुत धन व्यय किया। मेवाड़ के शासक भोगादित्य ने एकलिंगजी में शिव मंदिर के पास 'भालि' नामक जलाशय बनवाया। आशादित्य ने 'गंगोदव' नामक तीर्थकुण्ड बनवाया। कालभोज ने अत्यधिक धन व्यय करके 'इन्द्र सरोवर' का निर्माण करवाया। बाप्पा ने धांसा ग्राम में 'बाप्पसर' नामक तालाब बनवाया।[10] महाराणा खेता ने गोगुन्दा की महासतियाँ में खेतला तालाब बनवाया। महाराणा लाखा के शासनकाल में ही एक बन्जारे द्वारा पिछोला झील का निर्माण करवाया गया।[11] महाराणा कुम्भा ने चित्तौड़ में रामकुण्ड, बसन्तपुर में सात जलाशय तथा अचलेश्वर में एक सरोवर का निर्माण करवाया। कुम्भा ने चित्तौड़ में मंदाकिनी कुण्ड और एकलिंगजी में करंजी कुण्ड भी बनवाया। महाराणा रायमल ने 'राम', 'शंकर' और 'समयासंकट' नामक तीन जलाशय बनवाये। राणा सांगा ने बाप्पा द्वारा बनवाये हुए सूर्यकुण्ड को विस्तार देकर उसकी मरम्मत भी करवायी। यह देखा जाता है कि शासकों ने स्वयं रुचि लेकर जलाशयों का निर्माण करवाया। भूमि प्रदान करते समय पट्टों में जल संसाधन निर्माण की शर्त तथा पड़त भूमि पर कुआँ खुदवाने के पश्चात् ही कच्चे किसान को पक्के किसान की श्रेणी में मानकर उन्होंने इस कार्य हेतु जन सामान्य को भी प्रेरित किया।[12]

इन जलाशयों के निर्माण का उद्देश्य अकाल के दौरान लोगों को रोजगार, पशुओं एवं मनुष्यों को पेयजल उपलब्ध होने से पुण्य लाभ तथा भूमि की सिंचाई से अधिक लगान प्राप्त करना होता था। अत: राज्य द्वारा अधिकाधिक भूमि में सिंचाई सुविधा उपलब्ध करवाने के प्रयास किए गए। इसके लिए अनेक नये तालाबों का निर्माण करवाया गया तथा पूर्व में निर्मित तालाबों की मरम्मत भी करवायी गयी। राज्य कभी-कभी जनता से पैसा एकत्रित करके भी तालाबों का निर्माण करवाता था, मगर अधिकांशत: राजकोष से तालाबों के निर्माण व मरम्मत के लिए पैसा जारी किया जाता था। सिंचाई के लिए तालाबों के निर्माण पर खर्च को किसानों से बिना ब्याज के किस्तों में वसूल किए जाते थे या फिर राज्य द्वारा सिंचित भूमि पर लगान बढ़ाकर भी उस खर्च की वसूली की जाती थी।

रायपुर के हाकिम भण्डारी ने तालाब निर्माण के फायदे गिनाते हुए राज्य से अनुरोध किया कि ''सगरेव गाँव में तालाब निर्माण पर राज्य ने 5000 रुपये खर्च किए, जिससे लगान में 2000 रुपये सालाना वृद्धि हुई। मोखमपुरा गाँव में तालाब बानाने पर 3000 रुपये व्यय किए गए, जिससे लगान में 1000 रुपये सालाना वृद्धि हुई। कैमून गाँव में भी तालाब मरम्मत पर 5000 रुपये व्यय करने पर लगान 1000 रुपये सालाना बढ़ा। अत: तालाबों की मरम्मत के लिए राशि जारी की जावे।[13] इसी प्रकार माहोली का

तालाब फूट गया था, जिसे राज्य ने 3500 रुपये खर्च करके पुन: बंधवाया तथा देवबाड़ा के बंदे की मरम्मत पर भी 1250 रुपये व्यय किए गए। इन दोनों की मरम्मत से सिंचित भूमि में वृद्धि होने से 1050 रुपये सालाना लगान ज्यादा मिलने का अनुमान लगाया गया।[14]

राज्य द्वारा तालाबों के निर्माण या मरम्मत पर खर्च राशि को गाँव वालों से सालाना या छ: माही किस्तों पर पुन: वसूला जाता था। खेरोदा तालुक्के के नीमड़ी गाँव के तालाब की मरम्मत पर 500 रुपये व्यय किए गए तथा उदयसागर के नीचे एक नाडी बंधवाई गई। इन कार्यों पर खर्च रूपये गाँव वालो से वसूल किए गए, जबकि लगान भी 300 रुपये ज्यादा मिलने की उम्मीद की गई।[15] पुर परगने के ओझागर गाँव में तालाब मरम्मत हेतु गाँव वालों को 200 रुपये दिए गए, जिन्हें 50 रुपये सालाना किस्त के रूप में वसूला गया।[16] रेलमगरा के हाकिम को दूरया गाँव में तालाब मरम्मत के लिए 401 रुपये बिना ब्याज के दिए गए, जिसे सालाना पाँच किस्तों में वसूला गया और लगान भी 150 रुपये सालाना बढ़ने का अनुमान लगाया गया।[17]

रीछेड़ गाँव में तालाब निर्माण के लिए कोठारी छगनलाल ने राज्य से 25,000 रुपये देने का अनुरोध किया। तालाब बनने पर लगान में 4000 रुपये सालाना वृद्धि होने का आश्वासन दिया गया। लगान में पर्याप्त वृद्धि होने के आश्वासन पर ही राज्य ने तालाब निर्माण के लिए धनराशि स्वीकृत की।[18] माण्डल तालाब की मरम्मत हेतु गाँव वालों के अनुरोध पर 7000 रुपये इस शर्त के साथ दिए गए कि वे दस साल में बिना ब्याज के रुपये वापस जमा करा देंगे तथा लगान में भी वृद्धि होगी।[19]

तालाब मरम्मत के लिए राज्य गाँव के प्रतिष्ठित व्यक्तियों को रुपये दे देता था, जिसे वे सिंचाई कार्यों में ही अपनी इच्छानुसार खर्च कर सकते थे। इसके लिए उन्हें राज्य को एक शपथ पत्र देना होता था, जिसमें राज्य द्वारा प्रदत्त राशि की किस्तें समय पर चुकाने का उल्लेख होता था। तेला गाँव के प्रतिष्ठित व्यक्तियों मीमाराम, नोला और उदा पटेल ने तालाब की रपट बंधवाने के लिए 2001 रुपये राज्य से बिना ब्याज के उधार लिए तथा उन्हें निम्नानुसार जमा करवाने का शपथ पत्र दिया[20]—

क्र.सं.	वर्ष	कुल किस्त (रुपये में)	सियाली की (फसल में)	उनाली की (फसल में)
1.	सम्वत् 1924	201	101	100
2.	सम्वत् 1925	300	150	150
3.	सम्वत् 1926	300	150	150
4.	सम्वत् 1927	300	150	150
5.	सम्वत् 1928	300	150	150
6.	सम्वत् 1929	300	150	150
7.	सम्वत् 1930	300	150	150
	07 वर्षो में	2001	1001	1000

इसी प्रकार पोटलां परगने के रालीखेड़ा गाँव के लोगों को तालाब मरम्मत हेतु 500 रुपये, 50 रुपये सालाना की किस्त चुकाने का शपथपत्र देने पर दिए गए। तालाब की मरम्मत होने पर सालाना 100 रुपये लगान वृद्धि का अनुमान लगाया गया।[21] सराड़ा तहसील के गोपालपुरा गाँव के किसानों ने राज्य से तालाब की मरम्मत करवाने का अनुरोध किया। किसानों ने निवेदन किया कि तालाब की मरम्मत होने से सिंचित क्षेत्र बढ़ेगा, जिससे राज्य को 'छटो-बाँटो ' (1/6 सिंचाई कर) मिलने से लगान में भी वृद्धि होगी तथा मरम्मत का रूपया भी वे पाँच वर्ष में चुका देंगे।[22] राज्य ने राशमी जिले के डिंडोली गाँव के किसानों को तालाब मरम्मत के लिए 5000 रुपये किस्त चुकाने एवं सालाना 500 रुपये लगान में वृद्धि होने के आश्वासन पर दिए।[23]

राज्य द्वारा तालाबों के निर्माण एवं मरम्मत के लिए बिना ब्याज के रुपये दिये जाते थे, जिसे किसानों की सुविधानुसार पुन: किस्तों में वसूल किया जाता था। सिंचित क्षेत्र में वृद्धि होने से राज्य के लगान में भी वृद्धि होती थी तथा पैदावार में वृद्धि से किसानों को भी लाभ होता था। बीरमावास गाँव में तालाब बनवाने पर राज्य का लगान 300 रुपये से बढकर 1000 रुपये होने का अनुमान लगाया गया तथा गाँव वालों ने तालाब निर्माण में खर्च राशि को किस्तों में चुकाने का शपथ पत्र भी दिया।[24]

1885-86 ई. में राज्य द्वारा सिंचाई कार्यों पर 68,000 रुपये व्यय किए गए। उदयपुर के दक्षिण पहाड़ी क्षेत्र में अनेक छोटे-छोटे तालाबों के निर्माण एवं राजसमन्द बाँध से सिंचाई नहर निकालने पर 45,000 रुपये खर्च किए गए, जिससे 25,000 बीघा भूमि में सिंचाई होने का अनुमान लगाया गया। 23,000 रुपये तालाबों की मरम्मत पर व्यय किए गए।[25] 1889-90 ई. में तालाबों की मरम्मत पर राज्य ने बहुत अधिक धन व्यय किया, जिसमें से[26] -

11,881 रुपये 12 आने काँगणी तालाब की मरम्मत पर व्यय।

4,439 रुपये 08 आने कपासन तालाब की मरम्मत पर व्यय।

8,064 रुपये 2 आने, 12 पैसे आरणी तालाब की मरम्मत पर व्यय।

5,593 रुपये 12 आने धमाणिया तालाब की मरम्मत पर व्यय।

13,754 रुपये माण्डल तालाब की मरम्मत पर व्यय ।

7,358 रुपये 4 आने, 2 पैसे शम्भूगढ़ तालाब की मरम्मत पर व्यय किए गए ।

1890-91 ई. में नये तालाबों के निर्माण एवं सिंचाई नहर के कार्यों पर 1,63,165 रुपये व्यय हुए। पहाड़ी क्षेत्रो में सिंचाई के लिए छोटे-छोटे तालाबों के निर्माण पर 16,000 रुपये व्यय किए गए। अमरवासी में नये तालाब के निर्माण पर 18,000 रुपये व्यय हुए, जिससे 1,000 बीघा भूमि सिंचित होने का अनुमान लगाया गया। उदयपुर में कनाट बन्ध और उसकी पानी आपूर्ति नहर पर 1,27,000 रुपये खर्च किए गए।[27]

1904-05 ई. में नये तालाबों के निर्माण एवं सिंचाई नहर के कार्यों पर 17,651 रुपये खर्च किए गए। जयसमन्द झील से एक नहर निकाली गई, जिससे 1000 एकड़ जमीन में सिंचाई होने का अनुमान लगाया गया।[28] 1910-1911 ई. में खेमली तालाब से सिंचाई के लिए एक नहर निकाली गई।[29] 1913 ई. में चीकलवास नहर की मरम्मत पर 500 रुपये व्यय किए गए। 716 रुपये खेमली तालाब की नहर की मरम्मत पर खर्च हुए। भीलवाड़ा तालाब की मरम्मत पर 3,375 रुपये एवं चीकलवास नहर को चौड़ी करने पर 27,780 रुपये व्यय किए गए।[30]

ऐसे उल्लेख प्राप्त होते हैं कि, राज्य सिंचाई कार्यों के लिए जो धनराशि व्यय करता था, उस राशि की किस्त किसानों से वसूल की जाती थी तथा साथ ही सिंचित भूमि पर सिंचाई कर भी लिया जाता था। सिंचाई कर को 'छटो-बाँटो ' कहा जाता था, जो उपज का 1/6 भाग होता था तथा नकद में यह तीन रूपये आठ आने प्रति बीघा होता था। रेलमगरा परगने के किसानों और इसी परगने के लड़पचा गाँव के किसानों ने तालाब की मरम्मत करवाने का अनुरोध किया, साथ ही उन्होनें यह भी निवेदन किया कि राज्य या तो उनसे मरम्मत खर्च वसूले या तीन रुपये आठ आने प्रति बीघा पिलाई लें। वे किस्त तथा पिलाई दोनों नहीं देंगे।[31]

थामसन जब सिंचाई विभाग का इंजीनियर था, तब उसने कई नये तालाबों का निर्माण करवाया व मरम्मत करवाई, मगर सिंचाई विभाग द्वारा तालाबों की मरम्मत से पहले किसानों से एक शपथपत्र लिखवाया जाता था, जिसमें सिंचाई कार्यों पर खर्च रुपये किस्तों में चुकाने का उल्लेख होता था। यहाँ उल्लेखनीय बात यह है कि जिस गाँव के किसान सिंचाई कार्यो पर खर्च रुपये चुकाने के लिए तैयार नहीं होते थे, वहाँ मरम्मत का नया कार्य नहीं करवाया जाता था। पालरी गाँव के तालाब की मरम्मत नहीं करवाई गई, क्योंकि वहाँ के किसान तालाब का मरम्मत खर्च देने के लिए तैयार नहीं हुए थे।[32]

खर्च की वसूली के मामले में शासक कोई समझौता नहीं करते थे। जब माण्डल के तालाब की मरम्मत का खर्च जब गाँव वालों ने देने से इन्कार कर दिया, तो विभाग ने भीलवाड़ा के हाकिम को गाँव वालों से लगान सहित 2,000 रुपये वसूल करने के

आदेश दिए।[33] अमरवासी गाँव के तालाब से सिंचित भूमि पर सिंचाई कर लागया गया एवं खण्डेल व शम्भूगढ के तालाब की मरम्मत का खर्च भी किसानों से वसूल किया गया।[34]

तालाब निर्माण या मरम्मत की राशि प्राय: राज्य द्वारा बिना ब्याज के वसूल की जाती थी। मगर कभी-कभी इस पर ब्याज भी लिया जाता था। रामा का खेडा गाँव के तालाब की मरम्मत पर 400 रुपये खर्च किए गए, जो आठ आने सैकड़ा ब्याज सहित सालाना किस्तों में किसानों से वसूल किए गए।[35]

राज्य की ओर से किसानों को कुएँ खोदने और गहरा करवाने के लिए ऋण दिया जाता था, जिसे किसानों की सुविधानुसार किस्तों में वसूल किया था। भीलवाड़ा जिले के मंगलपुरा गाँव के किसान रूपा व रामा ने भीलवाड़ा के हाकिम से कुआँ खोदने के लिए 500 रुपये, उधार दिलवाने का अनुरोध किया। ये पैसा उन्होंने सालाना 100 रुपये की पांच किस्तों में चुकाने का आश्वासन दिया। हाकिम ने महकमा खास से अनुमति लेकर दोनों किसानों को कुआँ खोदने के लिए 500 रुपये कर्ज के रूप में दिए।[36]

कभी कभी गाँव का कामदार या हाकिम कुआँ खोदने या गहरा करवाने के लिए राज्य से रुपयों की एक मुश्त मंजूरी लेकर उसे किसानों में आवश्यकतानुसार वितरित करता था। मुँगाणा गाँव के किसानों को सम्वत् 1942 में कुएँ गहरे करवाने के लिए 1500 रुपये का कर्ज निम्नानुसार वितरित किया गया[37]-

100 रुपये नगदी पटेल को,
100 रुपये दोला अहीर को,
100 रुपये सोला पटेल को,
50 रुपये पेमा अहीर को,
100 रुपये बरदी अहीर को,
50 रुपये भामरी जाट को,
50 रुपये तेजा जाट को,
50 रुपये नंदा पटेल को,
25 रुपये नोला पारीक को,
50 रुपये दोला जाट को,
100 रुपये चेना गुर्जर गौड़ ब्राह्मण को,
25 रुपये रामकिशन ब्राह्मण को,
50 रुपये केसा जाट को,
25 रुपये लच्छीराम जाट को,
50 रुपये जालम राम तेली को,
50 रुपये दोला परसा जाट को,

50 रुपये मेघा दला जाट को,
50 रुपये मोडा बलाई को,
25 रुपये नंदा जाट को,
75 रुपये बलदेव हेड़ा साधु को,
100 रुपये शाह तिलोक मण्डोवरा को,
25 रुपये मोती सुथार को,
25 रुपये घीसा सुथार को,
25 रुपये माना सुथार को,
25 रुपये नानजी गाडरी को,
25 रुपये जोधा गाडरी को,
50 रुपये शिवलाल ब्राह्मण को,
25 रुपये नसुली पीनारा को,
25 रुपये नोली पीनारा को कुएँ खोदने के लिए दिए।

1500 रुपये

फसल पकने के बीच में पानी की कमी होने पर राज्य कुओं को गहरा करवाने के लिए किसानों को ऋण देता था जिससे किसानों को भी नुकसान नहीं होता था।[38]

राज्य कुएँ खोदने के लिए किसानों को दिए गए तकाबी ऋण पर कभी-कभी ब्याज भी वसूल करता था। कुम्भलगढ़ के हाकिम की सिफारिश पर राज्य द्वारा कीका, लाला, भेरा, हेमा, फूला आदि किसानों को कुएँ खोदने के लिए 150 रुपये का ऋण सालाना चार किस्तों में आठ आना सैंकड़ा ब्याज सहित वापस चुकाने की शर्त पर दिया गया। कुओं के गहरा होने पर लगान में 50 रुपये की वृद्धि होने की उम्मीद की गई तथा पशुओं के लिए पीने के पानी की व्ययवस्था भी हो गई।[39]

1899-1900 ई. में अकाल के दौरान राज्य ने किसानों को कुएँ गहरे करवाने के तथा नए कुएँ खोदने के लिए 1,52,297 रुपये आठ आने स्वीकृत किए। किसानो ने इनमें से 76,661 रुपये दो आने कुओं पर खर्च किए।[40]

मेवाड़ की अर्थव्यवस्था कृषि पर टिकी हुई थी। बरसात की थोड़ी सी भी कमी से जब खरीफ या रबी की फसल को नुकसान पहुँचता था तो अकाल की आशंका उत्पन्न हो जाती थी एवं किसानों का पलायन शुरू हो जाता था।[41] राज्य द्वारा किसानों के पलायन को रोकने के लिए अधिकाधिक भूमि को सिंचित करने और फसलों के लिए पानी उपलब्ध करवाने का प्रयास किया जाता था। शासकों द्वारा जलस्रोतों के निर्माण एवं

मरम्मत पर ध्यान देने से किसानों के सामने जीविका का संकट उत्पन्न नहीं होता था और राज्य को भी लगान की हानि नहीं उठानी पड़ती थी। फसल पकने के बीच में पानी की कमी होने पर कुओं को गहरा करवाने के लिए राज्य द्वारा किसानों को ऋण उपलब्ध करवाया जाता था।[42]

महाराणा राजसिंह (1652-1680 ई.) द्वारा निर्मित 'राजसमन्द बाँध' एवं महाराणा जयसिंह (1680-1698 ई.) द्वारा निर्मित 'जयसमन्द बाँध' से किसानों को सिंचाई के लिए पानी उपलब्ध करवाया गया। जयसमन्द से नहरों द्वारा लगभग 12,000 एकड़ भूमि में सिंचाई होती थी। राजसमन्द से भी 1884-86 ई. के दौरान सिंचाई के लिए नहरें निकाली गई, जिससे लगभग 2,000 एकड़ भूमि में सिंचाई होती थी।[43]

प्राय: शासक उन सिंचाई कार्यों में रुचि रखते थे, जिससे किसानों के साथ-साथ राज्य के लगान में भी वृद्धि होती थी। महाराणा सज्जनसिंह ने (1874-84 ई.) सिंचाई कार्यों पर काफी ध्यान दिया। उन्होंने सिंचाई कार्यों के विस्तार के लिए कैम्पबेल थामसन की सिंचाई इंजीनियर के रूप में नियुक्ति की। महाराणा सज्जनसिंह ने ढ़ेबर झील, उदयसागर तथा राजसमन्द से नहरें निकलवाई तथा अनेक तालाबों का निर्माण करवाया एवं पुराने तालाबों की मरम्मत भी करवाई।[44]

1904 ई. में मेवाड़ में 'सिंचाई विभाग' का गठन किया गया तथा प्रतिवर्ष सिंचाई कार्यों के लिए एक लाख उदयपुरी रुपये खर्च करने का प्रावधान किया गया।[45] मेवाड़ के शासक समय-समय पर सिंचाई कार्यों की प्रगति की जानकारी लेते रहते थे कि वर्ष विशेष में कितनी जमीन में सिंचाई हुई ओर सिंचाई से कितनी आमदनी हुई।[46]

शासकों द्वारा सिंचाई व्यवस्था पर ध्यान देने का कारण यह था कि किसान जमीन छोड़कर न जायें और राज्य को भी राजस्व की हानि न हो। इसलिए राज्य द्वारा तालाब बनवाए जाते थे और उनकी मरम्मत करवाई जाती थी।[47] राज्य द्वारा नये तालाब बनाने या पुरानों की मरम्मत करवाने से पूर्व किसानों के हितों की अपेक्षा इस बात पर अधिक ध्यान दिया जाता था, कि इससे राज्य के राजस्व में कितनी वृद्धि होगी। हाकिम द्वारा तालाब बनाने से पूर्व पर्याप्त लगान वृद्धि की रिपोर्ट देने के बाद ही तालाबों के लिए धनराशि की मंजूरी दी जाती थी।[48]

राज्य द्वारा सिंचाई कार्यों पर व्यय राशि किसानों से पुन: किस्तों में वसूल की जाती थी तथा सिंचित भूमि पर 'छटो-बांटों' (1/6) नामक सिंचाई कर भी वसूल किया जाता था।[49] राज्य द्वारा सिंचाई कार्यों के लिए खर्च राशि की पुन: वसूली के साथ-साथ सिंचाई कर भी लेना किसी भी प्रकार न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता था। यह गरीब किसानों पर दोहरा भार था।

राशमी जिले के डिंडोली गाँव के तालाब की मरम्मत के लिए राज्य द्वारा 5000 रुपये की मंजूरी तभी दी गई, जब किसानों ने सालाना 500 रुपये की किस्त चुकाने तथा

सालाना 500 रुपये लगान में वृद्धि होने का आश्वासन दिया।[50] ऐसा लगता था कि शासकों को किसानों के हितों की अपेक्षा व्यय राशि की पुनः वसूली एवं लगान वृद्धि की चिंता ज्यादा रहती थी।

रेलमगरा के किसानों ने तालाब की मरम्मत के लिए महाराणा से अनुरोध किया, साथ में यह भी स्पष्ट कर दिया कि वे लगान के अतिरिक्त तीन रुपये आठ आने प्रति बीघा पिलाई देंगे, लेकिन तालाब मरम्मत पर खर्च राशि की किस्त नहीं देंगे। यदि किस्त देंगे तो पिलाई नहीं देंगे।[51] पालरी के तालाब की मरम्मत आवश्यक होने पर भी उसकी मरम्मत नहीं की गई, क्योंकि गाँव वाले तालाब मरम्मत का खर्च देने के लिए तैयार नहीं थे।[52] जिससे यह स्पष्ट होता है कि राज्य सिंचाई कार्यों पर राशि खर्च करते समय किसानों के हित की अपेक्षा स्वयं के हानि-लाभ पर अधिक विचार करता था।

तालाबों पर व्यय राशि की वसूली के समय राज्य द्वारा कभी-कभी ब्याज भी लिया जाता था। रामा का खेड़ा गाँव के तालाब पर व्यय 400 रुपये किसाने से आठ आने सैकड़ा ब्याज सहित वसूल किये गये।[53] कुएँ खोदने एवं गहरे करवाने के लिए भी राज्य द्वारा किसानों को ऋण उपलब्ध करवाया गया, मगर किसानों को दिया गया ऋण किस्तों में पुनः वसूल करने तथा साथ ही सिंचित भूमि पर लगान बढ़ने से राज्य को लाभ होता था। सिंचाई कार्यों में लगाया गया पैसा एक प्रकार से राज्य का 'निवेश' (Investment) होता था, जो मूल पूँजी व ब्याज साहित तथा लगान वृद्धि के रूप में बोनस सहित राज्य को पुनः प्राप्त होता था। 'जल स्रोतों के लिए धन मुहैया करवाना' राज्य का किसानों के प्रति हित चिंतन दर्शाता है, मगर धनराशि की किस्तों में पुनः वसूली को उचित नहीं कहा जा सकता। साथ ही व्यय रूपये ब्याज सहित वसूल करना किसान हितों पर कुठाराघात था, जबकि लगान में वृद्धि से राज्य द्वारा खर्च धनराशि का उसे प्रतिफल मिल जाता था।

मेवाड़ में प्राचीन समय से ही सिंचाई के लिए शासकों द्वारा जलस्रोतों के निर्माण और नहरें निकलवाने के प्रमाण मिले है, किन्तु आलोच्यकाल में ब्रिटिश प्रभाव के कारण किसानों को अधिकाधिक सिंचाई सुविधा उपलब्ध करवाने का प्रयास किया गया, ताकि सिंचाई सुविधा उपलब्ध होने से किसान नकदी फसलें कपास, गन्ना, तम्बाकू तथा अफीम पैदा कर ब्रिटिश हितों की पूर्ति कर सके, साथ ही राज्य का जनकल्याणकारी स्वरूप भी सामने आ सके।

उपलब्ध ऐतिहासिक स्रोत ये दर्शाते हैं कि राज्य ने सिंचाई कार्यों पर धनराशि वहीं व्यय की, जहाँ लगान बढ़ने की संभावना थी तथा जहाँ के किसान व्यय राशि किस्तों में पुनः चुकाने को तैयार थे। इस प्रकार सिंचाई कार्यों से किसानों की अपेक्षा राज्य को अधिक लाभ हुआ, लेकिन यह भी सही है कि सिंचाई सुविधा बढ़ने से किसानों को भी फायदा हुआ, पैदावार में वृद्धि हुई और उनका पलायन भी रोका जा सका।

संदर्भ

1. *किरण कुमार थपल्याल, सिंधु सभ्यता, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ, 2003, पृ. 18*
2. *उपर्युक्त, पृ. 203*
3. *मजुमदार, रायचौधुरी, दत्त, भारत का वृहत्त इतिहास, मैक मिलन, 2006, पृ. 28*
4. *राजबली पांण्डेय: प्राचीन भारत, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, 2010, पृ. 305*
5. *रोमिला थापर, भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, 1989, पृ. 83*
6. *राजबली पांण्डेय, प्राचीन भारत, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, 2010, पृ. 356*
7. *आर.एन. पाण्डेय, प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, प्रयाग पुस्तक भवन इलाहबाद, 2009, पृ. 473*
8. *सतीश चंद्र, मध्यकालीन भारत (दिल्ली सल्तनत 1206-1526), जवाहर पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2013, पृ. 121*
9. *ए.एफ. पिन्हें, हिस्ट्री ऑफ मेवाड़, बुक्स ट्रेजर, सोजती गेट, जोधपुर, पृ. 69*
10. *ईश्वरसिंह राणावत, मेवाड़ के जल संसाधान आलोचनात्मक अध्ययन (16वी.-17वी. शताब्दी), पृ. 66*
11. *गौ.ही. औझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 1, राजस्थानी ग्रंन्थागार, सोजती गेट, जोधपुर, 1996, पृ. 261*
12. *सी. ई. येट, मेवाड़ गजेटियर, पृ. 63*
13. *महकमा माल, सम्वत् 1932, ब. नं. 47, फा. नं. 236, क्रमांक 2730, रायपुर के भण्डारी का महकमा खास को पत्र वैशाख सुद 1, सम्वत् 1932 (राजस्थान राज्य अभिलेखगार, बीकानेर)*
14. *महकमा खास की रिपोर्ट, सम्वत् 1934, (रा.रा.अ.बी.)*
15. *वही*
16. *महकमा माल, सम्वत् 1934, ब. नं. 58, फा. नं. 91, क्रमांक 4290, मेहता पन्नालाल का पत्र, काती बीद 14, सम्वत् 1934 (रा.रा.अ.बी.)*
17. *महकमा माल, सम्वत् 1934, ब. नं. 58, फा. नं. 93, क्रमांक 4293, मेहता पन्नालाल का पत्र, काती सुदी 4, मेहता पन्नालाल का पत्र, काती बीद 14, सम्वत् 1934 (रा.रा.अ.बी.)*
18. *वही, फा. नं. 94, क्रमांक 42 95, कोठारी छगनलाल का पत्र, काती बद सम्वत् 1934 (रा.रा.अ.बी.)*
19. *महकमा माल, सम्वत् 1934, ब. नं. 58, फा. नं. 95, क्रमांक 4296, (रा.रा.अ.बी.)*
20. *उदयपुर बक्शीखाना बही, क्रंमाक 251, (रा.रा.अ.बी.)*
21. *महकमा माल, सम्वत् 1934, ब. नं. 61, फा. नं. 67, क्रमांक 4457, (रा.रा.अ.बी.)*
22. *महकमा माल, सम्वत् 1930, ब. नं. 33, फा. नं. 226, क्रमांक 705, (रा.रा.अ.बी.)*
23. *महकमा माल, सम्वत् 1934, ब. नं. 63, फा. नं. 196, क्रमांक 4511, (रा.रा.अ.बी.)*
24. *महकमा माल, सम्वत् 1936, ब. नं. 67, फा. नं. 18, क्रमांक 4639, (रा.रा.अ.बी.)*
25. *रिपोर्ट ऑन द पॉलिटिकल एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ द राजपुताना स्टेट्स 1885-86, पृ. 221*

26. *महकमा माल, सम्वत् 1944, ब. नं. 122, फा. नं. 161, थामसन का महकमा खास को पत्र, 15.09.1890 (रा.रा.अ.बी.)*
27. *रिपोर्ट ऑन द पॉलिटिकल एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ द राजपुताना स्टेट्स 1890-91, पृ. 181*
28. *एनुअल रिपोर्ट ऑफ द मेवाड़ स्टेट 1904-05, पृ. 11*
29. *उपर्युक्त, 1911-12, पृ. 189*
30. *महकमा माल, सम्वत् 1970, फा. न. 361 (रा.रा.अ.बी.)*
31. *महकमा माल, सम्वत् 1953, ब. नं. 149, फा. न.255, क्रमांक 9266, (रा.रा.अ.बी.)*
32. *महकमा माल, सम्वत् 1944, ब. नं. 122, फा. न.161, क्रमांक 6679, थामसन की रिपोर्ट, 12 मार्च, 1888 (रा.रा.अ.बी.)*
33. *वही, क्रंमाक 6673, महकमा खास को हाकिम भीलवाड़ा का पत्र नं. 464, भादवा सुद 10, सम्वत् 1947*
34. *महकमा माल, सम्वत् 1944, ब. नं. 122, फा. न.161, थामसन का महकमा खास को पत्र, 15.09.1890 (रा.रा.अ.बी.)*
35. *महकमा माल, सम्वत् 1944, ब. नं. 122, फा. न.161, (रा.रा.अ.बी.)*
36. *महकमा माल, सम्वत् 1939, ब. नं. 89, फा. न.172, क्रमांक 5473, (रा.रा.अ.बी.)*
37. *महकमा माल, सम्वत् 1941, ब. नं. 100, फा. न.201/12, क्रमांक 5964, रा.रा.अ.बी.*
38. *वही*
39. *महकमा माल, सम्वत् 1955, ब. नं. 224, फा. न. 294, क्रमांक 0287, (रा.रा.अ.बी.)*
40. *उयपुर फेमिन रिकॉर्डस, सम्वत् 1956, ब. नं. 7, फा. न. 55, (रा.रा.अ.बी.)*
41. *गजेटियर मेवाड़ (ह.लि.), पृ. 161*
42. *महकमा माल, सम्वत् 1941, ब. नं. 100, फा. न. 201/12, क्रमांक 5964, (रा.रा.अ.बी.)*
43. *के.डी. अर्सकिन, ए. गजेटियर ऑफ द उदयपुर स्टेट, पृ. 02*
44. *ए. एफ. पिन्हें, हिस्ट्री ऑफ मेवाड़, पृ. 69, बुक्स ट्रेजर सोजती गेट जोधपुर*
45. *पॉलिटिकल एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ द मेवाड़ स्टेट 1904-05*
46. *महकमा खास, सम्वत् 1970, मिसल नं.227, (रा. अ. उ.)*
47. *महकमा खास , सम्वत् 1973, मिसल नं. 52, (रा. अ. उ.)*
48. *महकमा माल, सम्वत् 1932, ब. नं. 47, फा. नं. 236, क्रमांक 2730, रायपुर के भण्डारी का महकमा खास को पत्र वैशाख सुद 1, सम्वत् 1932 (रा.रा.अ.बी.)*
49. *महकमा माल, सम्वत् 1930, ब. नं. 33, फा. नं. 226, क्रमांक 1105, (रा.रा.अ.बी.)*
50. *महकमा माल, सम्वत् 1934, ब. नं. 63, फा. नं. 196, क्रमांक 4511, (रा.रा.अ.बी.)*
51. *महकमा माल, सम्वत् 1953, ब. नं. 199, फा. नं. 255, क्रमांक 9266, (रा.रा.अ.बी.)*
52. *महकमा माल, सम्वत् 1944 ब. नं. 122, फा. नं. 161, क्रमांक 6673, (रा.रा.अ.बी.)*
53. *वही*

पदराड़ा : पाटकेपद्र

अजय मोची

यह गांव सायरा परगने में गोगुन्दा से 28 कि.मी. उत्तर पूर्व दिशा में सायरा के पास स्थित है। यह गांव बहुत पुराना है तथा मध्यकाल में बहुत बड़े शहर 'पाटन शहर' के रूप में था। पाटन शहर का विस्तार गोगुन्दा से दक्षिण में ओगणा-झाड़ोल तक तथा गोगुन्दा से उत्तर दिशा में सायरा पलासमा तक था। गोगुन्दा से उत्तर दिशा में जसवन्तगढ़-घटेश्वरी माता से लेकर, तरपाल, श्रीमालियों की मादड़ी, सुथार मादड़ा, पालीदाणा, नान्देशमा, ढोल, कमोल, पदराड़ा, मादड़ी, रावों का सायरा, सेमड़, सायरा, पलासमा 'पद्मनाथ मंदिर', जरगा पर्वत तक एक विस्तृत शहर फैला हुआ था।

यहाँ लोकमान्यताओं में कहा जाता है कि इस पाटन शहर का केन्द्र पुनावली गांव में स्थित हनुमान मंदिर था तथा इसके 2 श्मशान थे। दक्षिणी छोर का श्मशान जैलाणी गांव में तथा उत्तरी छोर का श्मशान पलासमा वराही माता मंदिर के समीप था।[1] पदराड़ा काफी पुराना गांव है, जो मुख्य मार्ग से पश्चिम दिशा में चित्रावास, रावछ, कड़ेच मार्ग पर स्थित है। घाटी की तलहटी में बसा हुआ है। वर्तमान गांव से 1 कि.मी. दूर मुख्य मार्ग पर हंसराज-वत्सराज का मंदिर स्थित है। पहले पदराड़ा गांव इसी मंदिर के आस-पास बसा हुआ था। प्राकृतिक कारकों भूकम्प आदि के कारण नवीन गांव घाटी में बसा हुआ है।

यहाँ अन्य जनश्रुति यह भी है कि ''इस नगरी पर नरवर नाम का राजा शासन करता था। यह उक्त राजा की राजधानी थी। यहाँ वैष्णव, शैव, शाक्त व जैनों के कई मंदिर बने हुए थे, जिनकी संख्या 64 थी। उस समय जबरदस्त भूकम्प आया, जिससें सारे मंदिर टूट गये व धरती में समा गये। इनके अवशेष आज भी देखने को मिलते हैं। कुछ मंदिर वर्तमान में भी बने हुए है, जहाँ पूजा होती हैं।''[2] नरवर या नरवाहन नामक शासक मेवाड़ में अल्लट (आलु) का पुत्र था, जो वि.सं. 1008 से 1030 (ई. 951-973) के मध्य शासन करता था।[3] नरवाहन बहुत शक्तिशाली शासक था। जिसनें आहाड़ तथा नागदा दोनों राजधानियों को समृद्ध बनाया था।[4] आहाड़ व नागदा दोनों गोगुन्दा के पास ही आते थे। आहाड़ व नागदा के समकक्ष इनका भी विस्तार हुआ है। यहाँ 11-12 वीं शताब्दी के कई मंदिर मिलते हैं, जिससे उक्त काल में मंदिरों सभ्यताओं का विकास देखने को मिलता है। उक्त समय अनुमानत इन मंदिरों का निर्माण होना सत्य प्रतीत होता

है। हंसराज-वत्सराज (कृष्ण व बलराम) मंदिर के प्रागंण में बड़ा वट वृक्ष है, जिसके नीचे 20 मंदिरों के दबे होने का अनुमान ग्रामीण बताते हैं। आज भी यहाँ पुराने किले या गढ़ी की नींव, ईटों के ढेर व मंदिरों के अवशेष मिल जाते हैं। मंदिर परिसर थोड़ा ऊँचाई (3-4 फीट) पर बना हुआ है।

परकोटे से सुरक्षित द्वार के भीतर जाते ही बायीं तरफ बावड़ी है, जिसे आधा बंद कर दिया है। बावड़ी को बंद करने तथा जीर्णोद्धार में पुराने मंदिरों के अवशेषों, शिलाखण्डों (तराशे हुए) का प्रयोग किया गया है। बावड़ी के पास भी कई मंदिरों के अवशेष इत्यादि पड़े हुए है। बावड़ी को 'ठाकुर जी की बावड़ी' कहा जाता है। बावड़ी तथा वट वृक्ष के नीचे टूटे हुए प्राचीन मंदिर निकलते है, जिन्हें लोग नींव सहित एक से दूसरे स्थान पर ले गये। गणपति की प्राचीन प्रतिमा भी मिली, जिसे मंदिर गर्भगृह में सुरक्षित रखा है। इस विष्णु मंदिर के पीछे खेतों में जैन मंदिरों के अवशेष देखने को मिलते है।[5] उक्त मंदिर बहुत कलात्मक रहे होंगे लेकिन वर्तमान में इनका कुछ पता नहीं चलता है।

मंदिर के अन्दर जाने हेतु तोरणद्वार आता है। उक्त तोरणद्वार मुख्य मंदिर के बिल्कुल सामने है। यह द्वार कलात्मक है व दो स्तम्भों का बना हुआ है। इसके स्तम्भ नीचे से चौकोर लगभग 2-2.5 फीट लम्बे-चौडे है। इन पर ज्यामितिय आकृतियाँ अलंकृत है। ऊपर चारों तरफ छोटे श्रुतिमुख की बनावट है। उसके ऊपर यह स्तम्भ अष्टकोणीय है। ऊपर चौकी है, जिस पर चतुर्भुज कीचक है, जो चारों ओर बने हुए हैं। इसके ऊपर शिलाखण्ड है, जिस पर मध्य भाग में चतुर्भुज विष्णु की बैठी अवस्था में प्रतिमा स्थापित है। इसके दोनों तरफ दो सेवक हैं। पूरा तोरणद्वार कलात्मक है तथा चारों तरफ उत्कृष्ट आकृतियाँ बनी हुई है। दोनों तरफ विष्णु स्थानक रूप में है।

उक्त तोरणद्वार पर दाहिने स्तम्भ पर लेख 3 पंक्तियों में लिखा हुआ है। पूरे स्तम्भ पर रंगरोहन होने से लेख बहुत घीस गया है। उक्त लेख में सं. 1127 या 1227 पौष जीर्णोद्धार शब्द ही पड़ने में आ रहे है। उक्त सं. में इस तोरणद्वार का निर्माण हुआ होगा। ग्रामीणों से पूछने पर पता चला की उक्त समय यहाँ ठाकुर पद्मसिंह का शासन था, जिसने इसका निर्माण करवाया था।[6] तोरण द्वार से पूर्व 4 सीढियाँ जो बड़े-बड़े प्रस्तर खण्डों से बनी है उसके पास सामाजिक स्थिति बताने वाला स्तम्भ है। यह तीन तरफ से घिस चुका है लेकिन सामने वाला भाग अभी स्थिर बचा हुआ है। इस पर घोड़े पर सवार व्यक्ति की आकृति है। उक्त आकृति के नीचे 2 पंक्तियों का लेख स्थित है। उस लेख में संवत् ११७९ वर्षे (सं. 1179-1123 ई.) लिखा हुआ है। उक्त लेखों से यह स्थान बहुत प्राचीन होना पता लगता है। मंदिर की जगती (प्लेटफार्म) भी बड़े-बड़े शिलाखण्डों से बना हुआ है।

मंदिर का भाग बहुत बड़ा है तथा यहाँ पंचायतन मंदिर होने के प्रमाण है। पंचायतन मंदिर की परम्परा 7-8 शताब्दी के बाद शुरू हुई। इससे पहले शैव, शाक्त, सौर (सूर्य) व वैष्णव मंदिर अलग-अलग बनते थे। आदि गुरु शंकराचार्य ने सभी देवों की पूजा एक स्थान पर करने हेतु पंचायतन मंदिरों की परम्परा शुरू की थी। मूल मंदिर अगर विष्णु का है तो शैव, शाक्त, व सौर के मंदिर चारों तरफ होंगे। 'सभी देव एक हैं' का भाव इन मंदिरों से उत्पन्न होता है। यहाँ मूल मंदिर हंसराज-वत्सराज का है तथा चारों ओर गणेश, देवी, शिव व सूर्य के मंदिर है।[7] मूल मंदिर के बाई तरफ शाक्त मंदिर, है जिसकी प्रतिमा काले पत्थर की है। छोटा मण्डप व चार स्तम्भों युक्त, शिखरबद्ध मंदिर है। यह मंदिर दक्षिण की तरफ मुख वाला है। इसके सामने उत्तर दिशा के मुख वाला गणेश मंदिर है, जो माता के मंदिर के समान है। मूल मंदिर के पीछे बाई तरफ (उत्तर) शिव का मंदिर है, जिसे वर्तमान में नवीन बना दिया गया है। यह गुम्बद युक्त शिखर मंदिर अन्य लघु मंदिरों से भिन्न है। इसका मण्डप बड़ा तथा चारों तरफ सीमेन्ट की कलात्मक जालियां लगी हुई हैं। इसका मुख पश्चिम की तरफ है तथा शिवलिंग है।

मंदिर के दक्षिण में शिखरयुक्त चौथा मंदिर सूर्य मंदिर है। गर्भगृह में श्वेत पाषाण (स्थानीय बलुवा पत्थर) से निर्मित 1½-2 फीट ऊंची सूर्य की प्रतिमा है। सूर्य प्रतिमा के दोनों तरफ देव बने हुए है, जो स्थानक है। सूर्य चतुर्भुज है, जिसके दो हाथों में पुष्प है। सूर्य के पैरों में जूते भी पहने हुए हैं। पास में स्थित प्रतिमा अलग प्रतीत होती है। एक प्रतिमा खड़ी अवस्था में जिसकी बनावट जैन प्रतिमा के समान लग रही है। भद्रबाहु की खड़ी प्रतिमा के समान उक्त प्रतिमा जैन प्रतिमा होगी, जो खुदाई के समय सूर्य प्रतिमा के साथ ही मिली होगी। अत: तीनों प्रतिमाओं को एक साथ लगा दिया है। सूर्य प्रतिमा के पैरों के पास में 4 आकृतियाँ बनी हुई है, जिसमें सम्भवत: 2 स्त्री आकृति सूर्य की पत्नियाँ सावित्री व छाया व अन्य 2 आकृतियाँ उनके पुत्र कुबेर व शनि के रूप में हो सकती है। मुख्य मंदिर दो है, जो एक समान प्रतिमा वाले है।

इन मंदिरों का नाम हंसराज-वत्सराज पड़ने व मध्य वाला प्रमुख मंदिर वत्सराज होने के पीछे जनश्रुति है। हंसराज व वत्सराज, नाम विष्णु के 1008 नामों में नहीं आते है। लोग कहते हैं कि दो भाईयों हसंराज व वत्सराज जिसमें वत्सराज छोटा था। उन्होंने यह मंदिर बनवाये थे। देखा जाए तो यह कृष्ण-बलराम के मंदिर प्रतीत होते है। जनश्रुति यह है कि दोनों भाई थे। मंदिर का निर्माण हो रहा था। किसी कारणवश वत्सराज दूर चला गया। उसकी खोज भी की गई, लेकिन उसका पता नहीं चला। एक दिन सूचना मिली की वत्सराज आ रहा है। हंसराज ने वत्सराज के स्वागत हेतु 9 द्वार बनवाये। छोटे-भाई के नाम पर मुख्य मंदिर बनाया व स्वयं के लिए सभामण्डप वाला छोटा मंदिर बनवाया।[8]

मुख्य मंदिर में 4 सीढ़ी चढ़कर सभामण्डप पर पहुँचा जाता है। पूरा मंदिर विष्णु की चतुर्भुज प्रतिमाओं, सुर सुन्दरियाँ से भरा हुआ है। 8 स्तम्भों वाले मण्डप के मध्य में गरूड़ की प्रतिमा है, जो काफी प्राचीन है। इसे खण्डित तथा चोरी कर ले जाने से बचाने हेतु ग्रामीणों ने मार्बल से ढक दिया है। वितान स्तम्भों पर किचकों व सुर सुन्दरियाँ बनी हुई है। गर्भगृह के द्वार पर दो किचक, शंख व कमल युक्त डिजाइन वाला मण्डोरक भाग है। गर्भगृह के द्वार के ऊपर काले पत्थरों की 2-2.5 फीट ऊंची परिकर युक्त विष्णु की चारभुजा वाली प्रतिमा है। यह मंदिर पश्चिम मुख वाला है तथा 'वत्सराज' कहलाता है।

इसके दक्षिण दिशा में उत्तर मुख वाला मंदिर हंसराज का है। वत्सराज मंदिर से बाहर निकलकर इस मंदिर में जाया जाता है। इस मंदिर में परिकर युक्त काले ग्रेनाइट पत्थर की 3-4 फीट ऊंची प्रतिमा है। इसके चारों तरफ दशावतार है तथा ऊपर वाले हाथों में गदा व चक्र स्पष्ट दिखाई देते हैं। वाघा धारण होने से प्रतिमा का पूर्ण रूप दिखाई नहीं देता है। दोनों प्रतिमाएँ एक समान सुन्दर हैं लेकिन हंसराज की प्रतिमा अधिक सुन्दर है। पूरा मंदिर प्रांगण प्राचीन तथा मध्यकालीन इतिहास व कला से भरा हुआ है, जिसे वर्तमान में सफेद रंग से पोत दिया है। वट-वृक्ष तथा कुँए के पास 5-6 समाधियाँ बनी हुई हैं, जिन पर शिवलिंग नन्दी बने हुए है। यह शायद यहाँ के पूजारी वर्ग की होगी। मंदिर के पीछे व दक्षिण दिशा में पुरानी ईटों व मंदिरों के बहुत सारे ढ़ेर पड़े हुए हैं। लगभग 2-3 बीघा क्षेत्र में बस्ती तथा मंदिरों के अवशेष पड़े हुए हैं। इस क्षेत्र में हर जगह पर उत्खनित सामग्री युक्त टीले व उत्कीर्ण प्रस्तर खण्ड देखने को मिल जाते हैं।

इन सभी के पास बड़े वटवृक्ष के नीचे एक प्राचीन बावड़ी मिली है, जो काफी बड़ी व रेहट युक्त है। इस बावड़ी से आज भी खेतों में सिंचाई इत्यादि होती है। इस बावड़ी का नाम 'काजल बावड़ी' है। पूछने पर ज्ञात हुआ की यह बावड़ी इस पाटन नगर की प्रमुख बावड़ी थी। पहले पदराड़ा गाँव जिसे 'पाटकेपद्र' कहा जाता है, वह यहीं बसा हुआ था। यह नगर इतना विशाल था कि पानी भरने हेतु स्त्रियाँ यहाँ आती थी तो उन्हें लम्बी लाइन लगानी पड़ती थी। लम्बी लाइन तथा समय ज्यादा लगने के कारण स्त्रियाँ यहाँ बैठकर 'काजल' बनाती थी।[9]

पहले काजल बनाने हेतु घी के दीपक के ऊपर किसी कटोरी या पात्र को रख दिया जाता था। दीपक की लो से उक्त कटोरी, पात्र पर काजल की कालिमा इकट्टी होने लगती थी। उक्त कालिमा को बाद में किसी डिब्बी में भरकर प्रयोग किया जाता था। आखों को ठण्डक देने हेतु घी तथा अगर किसी को परेशान करना है तो सरसों के तेल से बने दीपक की काजल लगाने से आंखों में जलन आदि दोनों तरीके होते थे।[10] इस कारण पूरा दीपक जलने तक औरते वहाँ जल भरती थी तथा बाद में पात्र को धो देती थी। धोने पर कुछ काजल के अंश बावड़ी में भी जाते थे। अत: काजल बनाने व धोने के कारण

उक्त बावड़ी का नाम काजल बावड़ी पड़ा है। इस बावड़ी के आस पास भी विस्तृत रूप से कुओं तथा नहर की व्यवस्था है।यहाँ पुरानी दीवारों, ईटों आदि के अवशेष मिल जाते है। इस स्थान पर फाल्गुन शुक्ल एकादशी पर दो दिवसीय मेला लगता है। पहला दिन मंदिर में तथा दूसरे दिन बावड़ी पर मेला लगता है। पदराड़ा काफी महत्वपूर्ण नगर था जिसे महाराणा कुम्भा से भी जुड़ा हुआ माना जाता है। कुम्भाकालीन सबसे पहला लेख यहीं मिला था। इस लेख में इस जगह को 'पाटकेपद्र' संज्ञा दी गई है।[11]

उक्त लेख में वइसरा (वत्सराज) द्वारा मंदिर का निर्माण होना उल्लेख है। यह स्थान महत्वपूर्ण है तथा यहाँ की बस्ती बहुत विशाल थी। यहाँ उक्त हंसराज-वत्सराज मंदिर के अलावा खेड़ा देवी व अज्ञात शिव मंदिर भी है। खेड़ा देवी का मंदिर हंसराज-वत्सराज मंदिर से आगे चित्रावास मार्ग पर मंदिर से 2 कि.मी. की दूरी पर दक्षिण दिशा में बना हुआ है। छोटे से तालाब के मुहाने पर एक मार्ग चित्रावास जाता है तथा दूसरा मार्ग गांव (भीलों की बस्ती) में जाता है। कुछ मकानों के पास ऊँचे स्थान पर खेड़ा देवी का मंदिर बना हुआ है। इस मंदिर की जगती 3 फीट ऊंची है तथा यह भी टीले पर बना हुआ है, जिसमें ईंटों व पुराने पत्थरों के ढेर देखने को मिलते हैं। वर्तमान में इस मंदिर का नवीन निर्माण हो रहा है। मंदिर के बाहर पुरानी दीवारों ईटों आदि के ढेर दिखाई देते हैं। जिससे मंदिर के विस्तार व भव्यता का पता चलता है।

मंदिर का सम्पूर्ण निर्माण नवीन है लेकिन खेड़ा देवी की प्रतिमा वाला गर्भगृह पुराना ही लगता है। लगभग एक या डेढ़ फीट की माता की प्रतिमा छोटे से गर्भगृह में है, जिसे वाघा पहनाया हुआ है। वाघा हटाने पर पता चला की यह महिषासुर मर्दिनी की प्रतिमा है, जिसमें महिष मर्दन व हाथ में त्रिशुल लिए माता का रूप है। प्रतिमा काफी पुरानी है तथा मालीपन्ना लगाने से और भी घिस गई है। घिस जाने से इसका पूर्ण रूप दिखाई नहीं दे रहा है। प्रतिमा के पास दो त्रिशूल लगे हुए हैं तथा उसके पास में पुरानी मुर्तियाँ खण्डित अवस्था में पड़ी हुई है। प्रतिमा के बाहर दो पुराने पत्थर लगे हुए है जो प्राचीन मंदिर के अवशेष प्रतीत होते हैं।

मंदिर के पीछे पहाड़ी का क्षेत्र है तथा जगह-जगह पुराने अवशेष देखने को मिल जाते है। उक्त पहाड़ी को ग्रामीण 'मामादेव' के रूप में पूजते हैं। पूर्व मंदिर काफी बड़ा होगा, जिसका अन्दाजा वर्तमान में मंदिर को जगती को देखकर लगाया जा सकता है। उक्त मंदिर के पीछे चित्रावास का क्षेत्र आ जाता है, जो गरासिया जनजाति का क्षेत्र है।

इस मंदिर से पूर्व शिव का विशाल मंदिर बना हुआ है, जिसका मुख पूर्व दिशा में है। यहाँ दो मंदिर दिखाई देते है। पहला प्रमुख मंदिर व दूसरा उसके समीप दक्षिण दिशा में देवी (महिषासुर मर्दिनी) का मंदिर दिखाई देता है। उक्त मंदिर हंसराज-वत्सराज मंदिर से चित्रावास मुख्य मार्ग पर उत्तर दिशा में सड़क के 3-4 फीट ऊँचाई पर यह

मंदिर बना हुआ है। प्रवेश करने पर दक्षिण दिशा में देवी का छोटा मंदिर है, जिसमें महिषासुर मर्दिनी की प्रतिमा है। मंदिर छोटा, लेकिन सुन्दर बना हुआ है। उसके गर्भगृह पर गणेश की प्रतिमा भी है। उक्त मंदिर का मुख उत्तर दिशा में है। वर्तमान में सीताफल व अन्य पेड़ों के उगने से मंदिर का शिखर क्षतिग्रस्त हो चुका है। मंदिर पहले शिखरबद्ध था तथा इसका शिखर पत्थरों व ईंटों से बना हुआ है। इसके उत्तर दिशा में हनुमान की प्रतिमा खुले में लगी हुई है। पहले यहाँ भी मंदिर रहा होगा लेकिन समय के कारण यह गिर गया होगा। हनुमान प्रतिमा 3 फीट ऊंची है तथा पुराने शिलाखण्ड पर चिपका रखी है ताकि उसे क्षति नहीं पहुँचे। हनुमान का एक हाथ ऊपर व दूसरा हाथ कमर पर है। प्रतिमा बहुत पुरानी है तथा खुले में रहने व मालीपन्नों आदि से सम्पूर्ण रूप से घिस गई है। प्रतिमा के पास मंदिरों के अवशेष व बड़ी आकार की ईंटों का फर्श बना हुआ। उक्त ईटें 11-12 वीं शताब्दी की प्रतीत होती है। उक्त दो मंदिरों के देखकर लगता है कि यह भी पंचायतन मंदिर रहा होगा। दो मुख्य मंदिर तो दिखाई दे रहे हैं लेकिन मंदिर के पीछे अन्य 2 मंदिरों का कुछ निशान या प्लेटफार्म भी दिखाई नहीं दे रहा है। शायद इस मंदिरों के गिर जाने पर पत्थरों व प्रतिमाओं को नींव सहित कहीं ओर ले जाया गया हो। मुख्य मंदिर में जाने से पूर्व बहुत से प्रस्तर खण्ड बिखरे हुए पड़े हैं, जिससे यहाँ पचायतन मंदिर होने के प्रबल प्रमाण है।

इस मंदिर को लोग 'फूटा राम मंदिर' कहते हैं, लेकिन यह शिव मंदिर है। इसके पीछे तथा चारों तरफ शिव की ध्यानस्थ प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं जिससें उक्त मंदिर शिव मंदिर है। लोग हनुमान की प्रतिमा तथा कहीं-कहीं प्रतिमाओं के घिस जाने पर वानर समझने से इसे राम का मंदिर कहते हैं। कुल 16 स्तम्भों पर टिका सभामण्डल बहुत सुन्दर है। सभी स्तम्भों किचक तथा वितान युक्त है। मंदिर की जगती 2-3 फीट की है। तीन बड़े प्रस्तर खण्ड की सीढियाँ चढ़कर मंदिर के सभामण्डप में प्रवेश होता है। सीढियों पर दोनों तरफ द्वारपाल बने हुए है। मण्डप भाग बड़े-बड़े पत्थरों से बना था जिसे वर्तमान में भूमाफियों व मूर्ति तस्करों द्वारा तोड़ दिया गया है। सभामण्डप का गुम्बद बहुत सुन्दर व कलात्मक है, जिसमें सुर सुन्दरियाँ बनी हुई हैं। मंदिर की कला बहुत सुन्दर है तथा जगत व सास बहु मंदिर के समान प्रतीत होती हैं। गर्भगृह का द्वार पत्थर का कलात्मक बना हुआ है। उक्त द्वार पर गणेश की प्रतिमा है तथा सम्पूर्ण द्वार ज्यामितीय अलंकरण युक्त है। द्वार पर दो युगल तथा एक पुरुष आकृति बनी हुई है। गर्भगृह में वर्तमान में कोई शिवलिंग या प्रतिमा नहीं है, साथ ही पूरा गर्भगृह खुदा हुआ है। देखने पर यही लगता है कि चोर व तस्करों ने उक्त मंदिर की प्रतिमाओं तथा शिवलिंग को खोद दिया होगा।

आमजन में यह भी कहावत है कि मंदिर में धन छुपाया होता है। अत: धन के लालच में लोगों न इतने सुन्दर व विशाल मंदिर को तहस-नहस कर दिया है। गर्भगृह के

पीछे की दीवार जिस पर कोई प्रतिमा होगी उसे भी लोगों में तोड़ दी है। इस कारण इस मंदिर को 'फूटा मंदिर' कहा जाता है। मंदिर के बाहर व अन्दर आकर्षक सुर सुन्दरियाँ बनी हुई है। उक्त मंदिर पर एक लेख भी मिला जिस पर ''संवत् 1210 (1157 ई.) वर्ष कार्तिक कुल पति का सावित'' अंकित हैं। उक्त लेख अस्पष्ट है तथा गर्भगृह के पास शिलाखण्ड पर लिखा हुआ है। उक्त मंदिर में सभी जगह शिव की प्रतिमाएँ योगी व ध्यान मुद्रा में बनी हुई हैं।

उक्त मंदिर का शिखर टूटा हुआ है लेकिन शिखर की बनावट हंसराज-वत्सराज व सास-बहु मंदिर नागदा के समान जालीनुमा है। मंदिर के अवशेष चारों तरफ बिखरे हुए है। उक्त मंदिर के उत्तर दिशा में एक बावड़ी भी मिली है। उक्त बावड़ी को वर्तमान में 'सुथारों की बावड़ी' भी कहा जाता है। बावड़ी काफी पुरानी है लेकिन व्यवस्थित बनी हुई है। उक्त बावड़ी बड़े-बड़े प्रस्तर खण्डों से बनी है जिसका मुख उत्तर दिशा में है। उत्तर दिशा में मुख होने से उक्त समय नगर की बसावट उत्तर दिशा में होना प्रतीत होता है। उक्त बावडी बड़ी तथा नीचे तक जाने हेतु सीढियाँ बनी हुई है।

उक्त बावड़ी पर ताके भी बनी हुई है, लेकिन इस पर कोई लेख नहीं है। बावड़ी के पत्थरों पर कारीगरों ने अपने नाम लिखे हुए है। उक्त बावड़ी पर रहट भी है। उक्त बावड़ी व मंदिर का निर्माण एक ही समय होना प्रतीत होता है। पहले यह बावड़ी दबी हुई थी। सुथार लोगों ने इस जमीन को खरीदा तो खुदाई में उक्त बावड़ी मिली। इस बावड़ी तथा शिव मंदिर के मध्य दो प्राकृतिक कुएं भी है, जो भी पुराने है।

इस स्थान पर इतने बड़े नगर तथा विशाल मंदिर श्रृंखला होने के पीछे भौगोलिक तथ्य है। यह अरावली के सपाट भाग पर स्थित है। साथ ही यहाँ पत्थरों की बड़ी खदान भी है। यहाँ चित्रावास मार्ग पर आज भी काले ग्रेनाइट की खदान है, जहाँ मूर्तियों को बनाने हेतु काला पत्थर आसानी से मिल जाता है। साथ ही यह आदिवासी लोगों से जुड़ा हुआ, जो श्रमिक के रूप में कार्यरत होते थे। यहाँ पास में ही सफेद बलुआ पत्थर के बड़े-बड़े पहाड़ है, जो मंदिर निर्माण में प्रयोग आते थे। यहाँ से काले पत्थरों को निकाला जाता था तथा नान्देशमा गांव में मंदिरों व मूर्तियों का निर्माण किया जाता था। पदराड़ा से चित्रावास, रावछ होता हुआ मार्ग स्वरूपगंज, सिरोही तथा नालों से मार्ग गोड़वाड़ निकलता था। अत: व्यापारिक केन्द्र होने से यहाँ विकास अधिक होना स्पष्ट होता हैं।

इसके आस-पास कई ऐसे स्थान है जो प्राचीनता से भरे हुए है। इतना बड़ा नगर कैसे अस्तित्व से गया, इसके पीछे लोग किसी ऋषि के श्राप से भी जोड़ते है। लोग कहते है कि एक बार एक सिद्ध ऋषि यहाँ पर भिक्षा मांगने हेतु आया था। लेकिन उसे भिक्षा नहीं मिली। जिससे क्रुद्ध होकर उस ऋषि ने 'पाटन को पट जाने' का श्राप दे दिया था। इसके बाद भूकम्प आने पर पूरी नगरी भूमि में पट गई।[12]

अज्ञात मंदिर, मादडी

पदराड़ा से ढोल-कमोल मार्ग पर पदराड़ा चौराहे पर 1 कि.मी की दूरी पर पहाड़ी पर एक मंदिर का सभामण्डप दिखाई देता है। उक्त मंदिर की जगह को स्थानीय लोग 'देव स्थान मादडी' कहते हैं। ग्रामीण बताते हैं कि यह स्थान पदराड़ा का ही हिस्सा था तथा यहाँ भी बहुत सारे पुराने मंदिर थे। अम्बामाता मंदिर के पास से यहाँ जाया जा सकता है। अम्बामाता का मंदिर भी काफी पुराना मंदिर है। मुख्य मार्ग से संकरा मार्ग इस मंदिर के लिए जाता है। अम्बा माता मंदिर भी तलहटी पर स्थित है जो प्राचीन मंदिर अवशेषों के टीले पर स्थित है। अम्बा माता मंदिर का नवीन निर्माण किया गया है, जिसके नीचे तथा सभामण्डप वाले भाग पुराने मंदिरों के अवशेषों पर बने हुए हैं। मंदिर के नींव की खुदाई के समय कई पुराने मंदिरों के स्तम्भ, तक्षण युक्त पत्थरों व ईंटों का ढेर निकला था, जिसका आकार 15 X 3 X 15 लम्बी है जो 11-12 वीं शताब्दी के प्रतीत होती है। उक्त प्रकार की ईंटें पदराड़ा के मंदिरों में भी मिलती हैं। उक्त मंदिर में प्रवेश करने पर मण्डप में उत्तर दिशा की तरफ हनुमान जी की बड़ी प्रतिमा है। यह प्रतिमा पदराड़ा वाली हनुमान मूर्ति के समान है लेकिन उससे थोड़ी बड़ी है। प्रतिमा एक हाथ में संजीवनी बूटी वाला पर्वत उठाये हुए है। प्रतिमा काफी पुरानी है तथा मालीपन्ना से श्रृंगार कर रखा है। यह छोटी देवरी में स्थित है, जिसका मुख दक्षिण दिशा में है।

उक्त मंदिर में अम्बा माता की प्रतिमा वर्तमान में नवीन है। पहले यहाँ पुरानी प्रतिमा थी, जिसे खण्डित होने पर जल में प्रवाहित कर दिया गया था। मंदिर का गर्भगृह छोटा व पुरानी शैली का प्रतीत होता है। मंदिर की नींव पक्की बड़ी ईंटों से बनी हुई है। उक्त मंदिर के पीछे टीला है जिस पर मंदिरों के अवशेष इधर-उधर बिखरे पड़े हुए हैं। यहाँ से उक्त पुराने सभा मध्य तक जाने में 300 मीटर पहाड़ी पर चढ़ना होता है। सम्पूर्ण मार्ग पर ईंटों के ढेर व मंदिर प्रस्तर दिखाई देते हैं। बड़े-बड़े स्तम्भ व किचकों की खण्डित प्रतिमा यहाँ-वहां पड़ी हुई है।

उक्त सभामण्डप 12 शिलाखण्डों वाला है तथा वर्तमान में जर्जर अवस्था में है। यह मंदिर काफी भव्य रहा होगा क्योंकि इसका सभामण्डप सुन्दर व विशाल है तथा मंदिरों के अवशेष देखकर यह विशाल प्रतीत होता है। सभामण्डप की जगती 1-1 फीट की है। सभामण्डप का गुम्बद वृताकार तथा डिजाइन युक्त है। जगह-जगह किचक की आकृति बनी हुई है। सभामण्डप का गर्भगृह घिरा हुआ है तथा कोई भी मूर्ति या प्रतिमा के अवशेष नहीं मिलते है। सभामण्डप पर गर्भगृह वाले भाग पर ऊपर 3 पंक्तियों वाला बड़ा लेख लिखा है। यह लेख काफी ऊपर है तथा अस्पष्ट है। उक्त लेख संवत् १४७५ (सं. 1475-ई. 1418) ज्येष्ठ सुदि का है। उक्त लेख काफी बड़ा है तथा इसमें सिदि पुत्र नामा केतसी (कैनसी) हतो वीरू नाम लाट कण दे पुत्र ऊराणो कमों आदि शब्द पढ़ने में आ रहे। उक्त लेख महाराणा लाखा के समय का है। उक्त मंदिर का निर्माण या जीर्णोद्धार करवाने वाले कुल का वर्णन लिखा है। उक्त स्थान पर किसका मंदिर था यह

तो ज्ञात नहीं लेकिन मंदिरों के अवशेषों में केवल धड़ भाग वाली जैन मूर्ति मिली है, जिसके मस्तक पर नाग स्वरूप अंकन किया हुआ है। शायद यह प्रतिमा इस मंदिर या अन्य किसी मंदिर की होगी क्योंकि यहाँ बहुत से मंदिरों के अवशेष पड़े हुए हैं। उक्त स्थान पर उत्खनन व पुरातत्व विभाग द्वारा सर्वेक्षण से अधिक जानकारी प्राप्त हो सकती है। इसके पास में ही नवीन वराई माता का मंदिर भी बना हुआ है। इस प्रकार पदराड़ा का क्षेत्र प्राचीन पाटन का प्रमुख केन्द्रिय भाग था, जो वर्तमान में अतीत व ग्रामीणों की यादों में सिमटा हुआ है। सम्पूर्ण भोराट व सेहरा प्रान्त के निवासी अपने क्षेत्र को पाटन नाम से ही जानते हैं तथा गोगुन्दा से लेकर पलासमा तक प्रत्येक गांव वाले स्वयं के क्षेत्र को 'पाटन' कह कर ही सम्बोधित करते है। पाटन के केन्द्र 'पाटकेपद्र' जो वर्तमान में पदराड़ा बन गया। इस क्षेत्र का विस्तृत अध्ययन व उत्खनन अतिआवश्यक है। यह क्षेत्र अथाह भण्ड़ार को लिए हुए है जो पर्यटकों के साथ इतिहासविदों को अपनी तरफ आकर्षित करेगा।

संदर्भ

1. *व्यक्तिगत साक्षात्कार, देवकृष्ण पालीवाल, प्रधानाचार्य, रा.उ.मा.वि., विसमा, निवास स्थान, नान्देशमा, आयु 45 वर्ष, समय दोपहर 3 बजे, दिनांक 25.05.2019*
2. *वही*
3. *हुकमसिंह सिंह भाटी, सिसोद वंशावली एवं राजस्थान के रजवाड़ों की वंशावलियें, प्रताप शोध प्रतिष्ठान, उदयपुप प्रथम, पृ. 64*
4. *गौरीशंकर हीराचंद ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, चतुर्थ संस्करण, 2015, पृ. 125-129*
5. *व्यक्तिगत साक्षात्कार, किशन पालीवाल, आयु 28 वर्ष, स्थानीय निवासी, पदराड़ा, हंसराज-वत्सराज मंदिर प्रांगण, पदराड़ा, समय दोपहर 3 बजे, दिनांक 12.05.2017*
6. *वही*
7. *नारायणलाल शर्मा, हंसराज मंदिर पदराड़ा लेख, भाग-2, 10.11.2016*
8. *नारायण लाल शर्मा, हंसराज मंदिर लेख, भाग-3, 17.1.2016*
9. *व्यक्तिगत साक्षात्कार, देवकृष्ण पालीवाल*
10. *व्यक्तिगत साक्षात्कार, गोटालाल कुम्हार, आयु 90 वर्ष, निवास स्थान गोगुन्दा, समय दोपहर 2.00 बजे, दिनांक 12.05.2018*
11. *गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान के इतिहास के स्त्रोत, पुरातत्व भाग, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, तैईसवा संस्करण, 2016, पृ. 134*
12. *व्यक्तिगत साक्षात्कार, रामलाल सोनी, आयु 85 वर्ष, निवास स्थान, पदराड़ा, समय दोपहर 3.30 बजे दिनांक 12.05.2017*

Prof. Gajanand Chaudhary Prize

अज्ञात प्राचीन मचीन्द ग्राम का मन्दिर

डॉ. हेमेन्द्र चौधरी

मचीन्द गांव राजस्थान में नाथद्वारा उपखण्ड में एवं राजसमंद जिले में स्थित है। यह नाथद्वारा से 30 किमी. दूर तथा राजसमंद से 45 किमी. दूर है। यह ग्राम खमनोर तहसील में आता है। मचीन्द गांव के पश्चिम में गोगुन्दा तहसील, उत्तर में कुंभलगढ़ तहसील, दक्षिण में बड़गांव तहसील तथा पूर्व में राजसमंद तहसील आती है।

महाराणा प्रताप ने मेवाड़ के जिन पहाड़ी स्थानों पर अपना कार्यक्षेत्र बनाया, इनमें मचीन्द, कोल्यारी, पानरवा, जावर और बलुआ ग्राम विशेष उल्लेखनीय है। मचीन्द हल्दीघाटी के समीप होने से सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान रहा है। मचीन्द गावं की उदयपुर से दूरी 75 किमी. है। उदयपुर से जाने के लिए एक रास्ता कुंभलगढ़ मार्ग में कठार ग्राम के निकट बाघेरी के नाका से होकर जाता है और दूसरा रास्ता खमनोर से मालेला ग्राम होकर जाता है।

मचीन्द गांव से पश्चिम की ओर पहाड़ों की तलहटी में मचीन्द्रनाथ की धुणी से पहले एक बरसाती नाले के किनारे एक प्राचीन मन्दिर है। मन्दिर भग्नावस्था में है। मन्दिर के रख-रखाव के अभाव में इसके चारों ओर पेड़-पौधे, झाड़िया, कांटें आदि उग आए है। साँपों एवं अन्य छोटे मोटे जानवरों का बसेरा हो चुका है एवं जर्जरित अवस्था में है। यद्यपि वर्तमान में राणापूंजा का स्मारक राजस्थान सरकार द्वारा बनाया गया, इस स्मारक के निकट, इसी परिसर में मन्दिर आ गया है तो इस कारण यह स्मारक परकोटे के भीतर आकर सुरक्षित हो गया है।

मन्दिर के गर्भगृह में मूल प्रतिमा का अभाव है। मन्दिर के बाह्य भाग वेदिका भाग पर अनेक मातृ देवियों की प्रतिमाएं स्थापित है जिनमें सप्त मातृकाओं में ब्रह्माणी, माहेश्वरी, वैष्णवी, चामुंडा, इन्द्राणी, कौमारी आदि की प्रतिमाएं, षड़गौरी में पार्वती, सावित्री, पद्मावती, उमा आदि की प्रतिमाएं तथा नव दुर्गा में महालक्ष्मी, क्षेमकरी, हरिसिद्धी, सर्वमंगला आदि मातृ शक्तियों की प्रतिमाएं हु अपने आयुद्यों सहित लक्षित है।[1] इस मन्दिर के गर्भगृह के प्रवेश के पैनल में एक मातृ शक्ति की मूर्ति, जिसमें आयुध नही है, परन्तु वह सिंह पर आरूढ़ है, साथ ही पैनल में दायी तरफ कृशकाय पेट

वाली मातृ देवी की प्रतिमा है, ये चामुण्ड़ा की प्रतिमा है। इसी के साथ नीचे के क्रम में एक मूर्ति जिसके नीचे वराह वाहन को अंकन किया हुआ है यह वाराही की प्रतिमा है।[2]

इस मन्दिर के आठों दिशाओं में स्थापित दिग्पाल के स्थान पर महिला दिग्पाल अर्थात दिग्पाल पत्नी की प्रतिमाएं स्थापित है, जिनकी आयुधों से पुष्टि होती है, जिनमें मुख्यत: एन्द्री, ब्राह्मी, अग्नि-पत्नी, यम-पत्नी, वरूण-पत्नी, रुद्र-पत्नी, वैष्णवी आदि की प्रतिमाएं हैं। इन प्रतिमाओं में कहीं-कहीं वाहनों का भी अंकन कर रखा है। पुरुष दिग्पाल की संख्या नहीं के बराबर है। पुरुष दिग्पाल में इन्द्र, ब्रह्मा, रुद्र, विष्णु की प्रतिमाएं है।[3]

इस प्राचीन मन्दिर का प्रवेश द्वार पूर्व दिशा की तरफ है और पश्चिम दिशा में गवाक्ष के नीचे नृत्य करती हुई गणेश की मूर्ति है। इस मूर्ति के नीचे तीन मातृ शक्तियों की प्रतिमाएं हैं तथा दायीं तरफ स्थानक अवस्था में चर्तुभुजी मूर्ति जिनके दायें हाथ में खड़ग, पीछे वाले हाथ में आयुध स्पष्ट नही है, बायें हाथ में क्रमश: ढाल और मुंड है तथा नीचे श्वान मुंड की ओर मुँह उपर किये बैठा है, यह चामुंडा की प्रतिमा है।[4]

मन्दिर के चारों तरफ अंकित मातृ देवियों की प्रतिमाएं के आधार पर कहा जा सकता है कि यह मन्दिर मातृ देवी को समर्पित रहा होगा। वर्तमान में यहां के निवासी भी इसी बात पर जोर देते है कि यह मन्दिर देवी का मंदिर है।

इस प्राचीन मन्दिर की पीठ काफी ऊपर है। यह मन्दिर चारों तरफ से लगभग वर्गाकार फैला हुआ है। इस मन्दिर के आन्तरिक भाग में कोई भी मूर्ति प्राप्त नहीं हुयी है लेकिन बाह्य भाग में चारों तरफ वेदिका एवं मण्डोवर भाग पर अनेक देवी-देवताओं की मूर्तियों का अंकन है। इस मन्दिर का निर्माण नागर शैली के मन्दिर स्थापत्य के अनुसार किया गया है। इस मन्दिर के जगती के उपर पीठ है, उसके उपर गजथर भाग है। गजथर के उपर नरथर भाग है, जहां पर तत्कालीन सामाजिक जीवन को दर्शाने वाली अनेक मूर्तियों का अंकन किया हुआ है। इसके उपर वेदिका भाग, मण्डोवर भाग है। संभवत: शिखर एवं आमलक भी जरूर होगा, परन्तु वो समय के साथ ध्वस्त हो गये है। मन्दिर में सीढ़ीयों के साथ पूर्व दिशा में प्रवेश द्वार रहा होगा, जिसके अवशेष बिखरे पड़े है। गृभगृह वर्तमान में है लेकिन जीर्ण-क्षीर्ण अवस्था में है, गृभगृह के प्रवेश मण्डप पर कुछ भागों पर कुछ देवियों की मूर्तियां अंकित हैं। मंदिर के चारों तरफ बिखरी पड़ी मूर्तियों में युग्म मूर्तियां भी मिली है। अत: मन्दिर के स्थापत्य एवं मूर्तिकला के आधार पर कहा जा सकता है कि यह मन्दिर 14-15वीं शताब्दी का है साथ ही इस मन्दिर की शैली, स्थापत्य और वास्तु कुंभाकालीन मन्दिरों से मिलता-जुलता है।

मचीन्द गांव के इस मातृदेवी के मन्दिर को जाने वाले रास्ते के बीच में एक जैन मन्दिर स्थापित है जिसके गर्भगृह में मूल प्रतिमा का अभाव है, लेकिन मूल प्रतिमा के

स्थल के आस-पास अनेक जैन प्रतिमाएं स्थानक एवं योगी अवस्था में स्थापित है। स्थानक अवस्था में दायीं तरफ एक जैन प्रतिमा के नीचे सफेद पाषाण पर एक लेख अंकित है, जिस पर विक्रम संवत् 1464 वर्ष फागुन उत्कीर्ण है।[5]

जैन मन्दिर का स्थापत्य, मन्दिर के बाह्य तरफ वेदिका भाग पर विभिन्न मातृ शक्तियों की प्रतिमाएं, मन्दिर का गर्भगृह का प्रवेश मण्डप, गर्भगृह का षट्कोणीय होना, प्रत्येक कोने पर स्तम्भ तथा इन स्तम्भों पर अनेक फूल पत्तियों की आकृतियां, प्राचीन मातृदेवी के मन्दिर से पूरी तरह मिलती है। मातृ देवी का मन्दिर भी षट्कोणीय है, हर कोने में स्तम्भ है तथा पूरे मन्दिर में फूल पत्तियों की आकृतियां हैं। इन दोनों मन्दिरों की बनावटी विशेषताओं में समानताएं देखने पर लगता है एंव जैन मन्दिर में लगे अभिलेख के अनुसार यह मातृदेवी का मन्दिर भी लगभग इसी काल का है। अत: कहा जा सकता है कि मातृ देवी का यह मन्दिर भी 14-15वीं शताब्दी का है।

मूर्तियों में परिलक्षित सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन

शिल्पकारों द्वारा निर्मित प्राचीन मचीन्द गांव के इस मातृ देवी मन्दिर का मूल विषय धार्मिक रहा है, लेकिन धार्मिक के साथ साथ मूर्तिकला से तत्कालिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न पहलुओं की जानकारी भी मिलती है।

मन्दिर के बाह्य भाग में अनेक देवी-देवताओं की मूर्तियों का अंकन है, लेकिन रख-रखाव एवं जन चेतना के अभाव मे अनेक मूर्तियाँ टूट गयी हैं। इस मन्दिर के नरथर भाग मे अनेक चित्रपट्टों पर बनी मूर्तियां सामाजिक एंव सांस्कृतिक जीवन के लौकिक पक्ष को उजागर करती है। कलाकारों ने अपनी विद्वत्ता का परिचय इनको निर्माण करने में बहुत रुचि के साथ दिया है। ये छोटे छोटे शिल्प कौटम्बिक जीवन, दाम्पत्य जीवन, धार्मिक जीवन, शिक्षा, मनोरंजन, संगीत एवं नृत्य, सैन्य जीवन एवं युद्ध कला, वस्त्र एवं आभूषण आदि की जानकारी देते हैं।

कौटम्बिक जीवन - प्राचीन काल से ही परिवार को बड़ा महत्व दिया गया है, जिसमें मुखिया एवं अन्य सदस्य अपनी सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये साथ-साथ रहते आये हैं। मातृ देवी के इस मन्दिर के नरथर भाग पर एक पैनल के परिवार का अंकन किया है, जिसमें घर का मुखिया एक ऊचें पत्थर पर आसीन है, साथ दो महिलाएं है जिनकी गोदी में बच्चे है तथा एक पुरुष है, जिसके कंधे पर एक बच्चा बैठा है। साथ में कलाकार ने एक हिरण का भी अंकन किया है।[6] यह फलक एक साधारण परिवार को परिलक्षित करता है।

एक अन्य शिल्प के सभी पुरुषों के युग्मों को बताया है, जिनमें बच्चों को खेलते हुए दर्शाया है। इस पैनल में इस महिला के सिर पर कुछ बोझा रखा हुआ है, बाकी सभी

को किसी न किसी कर्म में व्यस्त रहते हुए अंकित किया है।[7] नरथर भाग में अनेक ऐसी महिलाओं की मूर्तियां हैं जिनके दाहिने हाथ में पानी का पात्र लिए हुए है। एक शिल्प में कुछ आकृतियां हैं, जिसमें महिलाओं के सिर पर तगारीनुमा पात्र है तथा पुरुष के कन्धे पर कुछ खोदने का साधन है।[8] ये फलक ग्रामीण परिवेश को दर्शाता है।

दाम्पत्य जीवन - मातृदेवी के इस मन्दिर के नरथर भाग में पुरुष एवं स्त्री के अंकन साथ-साथ है तथा कहीं कहीं एक पुरुष के साथ दो स्त्रियों के फलक भी है जो बहु-विवाह के प्रमाण है। इस नरथर भाग में सबसे महत्वपूर्ण पैनल विवाह का है। इस पैनल में एक पुरुष किसी उच्च स्थान पर बैठा है और उसके पीछे एक व्यक्ति छत्र लेकर खड़ा है, इसके आगे एक पुरुष अपने हाथों में वाद्य यंत्र लेकर बैठा हुआ है, उसके आगे महिलाएं एवं पुरुष हैं। महिलाओं के हाथों में कमण्डल है। इसी कड़ी में एक सुसज्जित हाथी चल रहा है, जिस पर तीन आकृतियां नजर आ रही हैं। यह परिदृश्य एक बारात का लग रहा है। इस पैनल के बीच में शिल्पकार ने एक विवाह मण्डप बनाया है, जिसमें दायीं तरफ कलश नजर आ रहे हैं। नीचे दो व्यक्ति बैठे हैं। एक व्यक्ति के हाथों में सारंगी है, जो बजाने की मुद्रा है तथा दूसरा ढोलक बजा रहा है। इस फलक में पुरुष के हाथ में महिला ने हाथ रखा हुआ है, जो फेरे लेने की मुद्रा में है। बांयी तरफ एक पुरुष है, जिसने बांह को पकड़ रखा है तथा दायीं तरफ एक महिला अंजलि मुद्रा में है। इस पैनल के अन्त कुछ लोग नृत्य करते हुए तथा एक व्यक्ति पत्थर पर बैठा है जिसके पीछे एक व्यक्ति छत्र लेकर खड़ा है।[9]

इस मन्दिर के उत्तर दिशा के नरथर भाग में एक बड़ा पैनल है, जो डोली ले जाते हुए है। इस डोली में एक आकृति बैठी है, जिसको आगे-पीछे दो व्यक्ति उसको तोक रखा है। इस डोली के नीचे कुत्तेनुमा की आकृति है जो डोली के साथ साथ चल रहा है। इस डोली के आगे पीछे कुछ लोग नृत्य मुद्रा में विभिन्न वाद्य यंत्रों के साथ चल रहे हैं। यह पैनल विदाई के दृश्य को दिखा रहा है।[10] इन मूर्तियों के अलावा विवाहोत्तर संबंधों की अनेक मूर्तियों का अंकन है। यह अंकन समाज के स्तर को भी दर्शाता है।

धार्मिक जीवन - मातृदेवी के इस मन्दिर में योगी, साधु सन्यासियों, पूजा-अर्चना का अंकन नरथर भाग पर अंकन किया गया है। चारों पुरुषार्थों में सर्वप्रथम धर्म को प्रधानता दी गयी है। मन्दिर के इस नरथर भाग में अनेक स्थानों पर एक साधु की प्रतिमा को बनाया है, साधना अवस्था में प्रदर्शित है। इन योगी की मूर्ति के सिर पर जटा बंधी हुई है। मुहँ पर दाढ़ी है, आँखें बंद है तथा दोनों हाथ जंघा पर साधनावस्था में है।[11]

एक फलक पर एक योगी या साधु बैठा है, जिसके दांयी तरफ एक व्यक्ति छत्र लिये खड़ा है, वहीं दूसरी तरफ व्यक्ति पूजा अर्चना की मुद्रा में है।[12] मन्दिर के बाहर टूटी फूटी अवस्था में कुछ पैनल रखे हुए हैं, इसमें एक पैनल में एक संन्यासी है जो अंजलि

मुद्रा में खड़ा है, उसके सामने कुछ व्यक्ति अंजलि मुद्रा में खड़े हैं। पास ही में एक महिला सन्यासनी भी हाथ जोड़े खड़ी है, उसके आगे दो महिला प्रार्थनानुमा अवस्था में बैठी है तथा कुछ आकृतियाँ अंजलि मुद्रा में खड़ी हुई हैं। निरन्तर इसी पैनल में आगे एक चर्तुभुजी व एक दन्त गणेश की मूर्ति है। अब इसके आयुधों में क्रमशः पाश, दण्ड, मोदक और एक आयुध नहीं है।[13]

मन्दिर के उत्तर पश्चिम दिशा में स्थित नरथर भाग एक बड़ा पैनल है जिसमें एक देवी की प्रतिमा है, जिसका बायां हाथ वरद मुद्रा है, दायें हाथ में मातुलिंग है। बाकी दोनों हाथ खण्डित है, निरन्तर इसी पैनल में दो साधुओं की मूर्तियां हैं, जो जाप की मुद्रा में है, जिसके एक के हाथ में अक्षसूत्र है। दायीं ओर बायीं तरफ पुरुष और स्त्रियों का विभिन्न मुद्राओं में अंकन है। इसी पैनल में एक पुरुष योगी की मूर्ति है, जिसके आगे शिल्पकार ने एक पेड़ और उसकी टहनियाँ बनायी है जो वृक्षपूजा की महत्वता को दर्शाता है। अन्त में इस पेनल में शिव-पार्वती का अंकन भी किया हुआ है।[14] एक अन्य फलक में स्थानक अवस्था में गणेश की मूर्ति का अंकन किया गया है जिसमें गदा आयुध स्पष्ट नजर आ रहा है, बाकी खण्डित हो चुके है।[15]

मन्दिर के दक्षिणी पश्चिमी दिशा में एक मूर्तिफलक में एकलिंग की प्रतिमा है, इसके दायीं और बांयी तरफ स्त्री और पुरूष खड़े है, जिनके हाथों में वनमाला है। योगी और साधु सन्यासीयों की मूर्तियों से लगता है कि मचीन्द आस्था का केन्द्र रहा है।

शिक्षा - इस मातृदेवी के मन्दिर के नरथर भाग में कुछ मूर्तियां इस तरह मिली हैं जिससे गुरुकुल प्रथा का आभास होता है तथा स्त्री और पुरुष दोनों ही शिक्षा के पात्र होते थे। नरथर भाग के एक फलक गुरू एक सिंहासन पर बैठा है, सामने विद्यार्थी के रूप में खड़ा व्यक्ति अपने हाथ फैलाये हुए हैं तथा उसके पीछे दो पुरुष वाद्य यंत्रों के साथ बैठे हैं और एक महिला आकृति है।[16]

बाहर पड़े हुए एक पैनल में एक सिंहासन पर एक आकृति बैठी हुई है जो गुरु की प्रतीत होती है। उसके सामने पुस्तकासन रखा हुआ है। दायें-बायें कुछ पुरुष अंजलि मुद्रा में रखे खड़े हैं तथा गुरु के सामने छोटे सिंहासन पर एक महिला हाथ जोड़े बैठी है।[17] इसी तरह की कुछ मूर्तिया और भी मिली है, जिसमें पुरुष के दाढ़ी है और विद्यार्थी सामने खडे हैं। इन अंकन से तत्कालीन शिक्षित समाज होने का संकेत होता है।

मनोरंजन - मध्यकालीन मन्दिरों की मूर्तिकला के शिल्पपट्टों पर मनोरंजन के अनेक साधनों का शिल्पकारों ने अंकन किया है। इस विशेषता से ओत-प्रोत यह मन्दिर भी है। इस मातृदेवी के शिलापट्टों में हिरण, हाथी, घोड़ों को दर्शाया है, वहीं एक शिलापट्ट पर ऊँट को दर्शाया है।

(A) शिकार - शिकार विषय को लेकर इस मन्दिर के नरथर भाग में निरन्तर दो फलक प्राप्त हुयी है। एक फलक में शेर का शिकार करते हुए बताया है जिसमें शिकारी घोड़ों पर सवार है, उसके हाथ में एक लम्बा भाला है, वहीं कुछ सैनिक शेर पर भाले से वार कर रहे है। पास में कुछ सैनिक है, जिनके हाथ में तलवार और ढाल अस्त्र है। एक कुत्ता भी है, जो पुचकारने वाली स्थिति में बैठा है।[18] दूसरे फलक में शिकारी घोड़े पर सवार है और अपने भाले से सूअर को मार रहा है। घोड़ों के दोनों पाव ऊपर है। पीछे एक सैनिक छत्र लिए खडा है, आगे सैनिक तलवार ढाल लिए चल रहे हैं।[19]

(B) मल्ल युद्ध - इस मातृ देवी के मन्दिर में मल्ल युद्ध की दो प्रतिमा मिली है, प्रथम दो व्यक्ति अपने दांव-पेचों के साथ कुश्ती लड़ रहे हैं वही दूसरी मूर्ति में एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति को दबा रखा है।[20]

(C) संगीत एवं नृत्य - मातृ देवी के इस मन्दिर में उत्कीर्ण चित्र वल्लरियों एवं चित्रपट्टों पर संगीत और नृत्य से ओत प्रोत स्त्री पुरुषों को विविध वाद्य यंत्रों को बजाते हुए एवं नृत्य की विभिन्न मुद्राओं में प्रदर्शित किया गया है। संगीत एवं नृत्य तत्कालीन समाज में संगीत एवं नृत्य कला के प्रति अनुराग की ओर संकेत करते हैं। इन फलकों में कुछ में से एक फलक में एक महिला बांसुरी बजाने के भावों के साथ उत्कीर्ण है।[21] एक फलक में छः महिलाओं का दल है जिनके हाथों में मृदंग एवं मंजीरे है और नृत्य की विभिन्न मुद्राओं में है।[22] एक फलक में दो महिलाएं नृत्य मुद्रा में है, जिसमें से एक त्रिभंगी मुद्रा में है।[23] एक फलक में दो पुरुष नृत्य की मुद्रा में है जो पूरे जोश के साथ नृत्य कर रहे हैं।[24] आठ महिलाओं का एक दल की फलक जिसमें चार महिलाएं नृत्य की मुद्रा में है, वहीं चार विभिन्न वाद्य यंत्र यथा वीणा, सारंगी, ढोलक एवं बांसुरी के साथ गीत गाने के भावों के साथ अंकित है।[25]

एक अन्य फलक पर एक व्यक्ति पत्थरनुमा सिंहासन पर बैठा है। एक व्यक्ति छत्र लिये खड़ा है, उसके आगे छः महिलाओं का समूह है जो संगीत एवं नृत्य में लीन है। इनके हाथों में बांसुरी, जालर, ढोलक वाद्ययंत्र है। ऐसा लगता है कि उच्च वर्ग के परिवार का आयोजन है।[26] एक अन्य फलक जो बहुत ही सुन्दरता लिए हुए है, इसमें नर्तकियों के आभूषण एवं वेशभूषा स्पष्टतः नजर आ रही है। ये चार नृतकियां हैं जो विभिन्न नृत्य की मुद्रा में है तथा बीच में एक बालक ढोलक बजा रहा है।[27] वीणा के साथ एक महिला और दूसरी नृत्य मुद्रा में आकर्षित फलक है।[28] इस तरह के पूरे नरथर भाग में गीत गाते और नृत्य करते हुए बहुत से फलक है। बारात एवं विदाई समारोह वाले फलक में भी विभिन्न वाद्य यंत्रों एवं नृत्य की मुद्रा में अनेक व्यक्तियों का समूह दर्शाया है। इसी तरह की एक ऐसा फलक मिला है, जिसमें एक व्यक्ति जिनके हाथों में बांसुरी है, उसके हाव-भाव एवं वेशभूषा से श्री कृष्ण का आभास होता है। दायें-बायें अनेक महिला

पुरुषों को नृत्य एवं संगीत दल के रूप में दर्शाया गया है।[29]

सैन्य जीवन एवं युद्ध कला – इस मातृ देवी के मन्दिर के नरथर भाग में सैन्य एवं युद्ध से सम्बंधित दृश्यों का अंकन कई चित्र वल्लरियों पर किया गया है। सैन्य एवं युद्ध दृश्यों में कई स्थानों पर सेनापति एवं राजा को दल के साथ दर्शाया गया है। सैन्य एवं युद्ध दृश्यों को देखने एवं उनके अध्ययन से बोध होता है कि इन शताब्दियों में काम आने वाले पशु यथा हाथी, ऊँट, घोड़ा, कुत्ता के अतिरिक्त पैदल सैनिक महत्वपूर्ण थे तथा युद्ध में काम आने वाले अस्त्र शस्त्रों का भी परिज्ञान होता है। इस मन्दिर के एक फलक में एक सुसज्जित हाथी जिस पर सवार लेटे होने की मुद्रा में है तथा कुछ सैनिक हाथों में तलवार और ढाल लिए हुए है।[30] एक फलक में हाथी दुश्मन को अपनी सूंड में लपेटे हुए है। हाथी पर दो व्यक्ति बैठे हुए है।[31] एक फलक में सुसज्जित हाथी पर एक व्यक्ति बैठा है, उसके एक हाथ में अस्त्र है तथा दूसरे हाथ में कंधे से ऊपर रहे हैं। उसके आगे दो सैनिक युद्ध करने की मुद्रा में हैं।[32]

एक फलक सैन्य युद्ध प्रणाली जानने के लिए अति महत्वपूर्ण है। इस फलक बहुत ही सुन्दर रथ का अंकन किया है, इस रथ में सेनापति या राजा बैठा है, सारथी रथ हांक रहा है और घोड़े की स्थिति इस तरह बतायी है कि रथ दौड़ रहा हो। रथ के आगे पीछे सैनिक तलवार ढाल लिए हुए है।[33] रथ के आगे घोड़ा है, जिस पर सैनिक सवार है। आगे हाथी है, हाथी पर सवार है तथा हाथी को ऊपर मुंह किये हुए चिंघाड़ते हुए भाव से अंकन किया है, पैनल के अन्त में ऊँट को दर्शाया है, उस पर एक सवार बैठा है। इसके आगे निरन्तर सैनिकों को युद्ध करते हुए दर्शाया है।[34]

मन्दिर में एक फलक में घोड़ा, सैनिक के साथ दो सैनिकों के युद्ध में रत दर्शाया है जिसमें एक सैनिक अपने हाथ में कटार लिए सामने वाले के सिर में घोपने के भाव के साथ है।[35] एक छोटी फलक में एक व्यक्ति को धनुष बाण के साथ उत्कीर्ण किया है।[36] सैन्य एंव युद्ध प्रणाली से प्रतीत होता है कि मचीन्द सामरिक दृष्टि एंव राजनीतिक गतिविधियों का केन्द्र रहा होगा।

वस्त्र एवं आभूषण – मातृ देवी के इस मन्दिर में पुरुष एवं महिलाओं का विभिन्न क्रिया कलापों के साथ अंकन किया गया है। मन्दिर के मण्डोवर भाग पर अनेक नायिकाओं का भी अंकन है। मण्डोवर भाग पर उत्कीर्ण नायिकाओं की वेशभूषा एवं आभूषणों तथा नरथर भाग में उत्कीर्ण महिलाओं की वेशभूषा एवं आभूषणों से समाज में उच्च वर्ग और साधारण वर्ग आधारित समाज का आभास होता है।

शिल्पकार ने नायिकाओं को विभिन्न प्रकार की केश सज्जाओं के साथ अंकन किया है। नायिकाएं अपने कानों में बड़े बड़े कुण्डल पहने हुए तथा अनेक प्रकार के कर्णफूल, गले में हार, नेकलेस, हाथों में बाजुबन्द, हाथों में कड़े, कमरबंद, बीच में

लटकन, पांव में कड़े, पायल आदि विभिन्न प्रकारों के तथा बारीकी लिए आभूषणों को बनाया है। वस्त्रों में कमर तक वस्त्र से ढका है। केचुंकी पहनी हुयी है। गले में दुपट्टा है, जो विभिन्न प्रकार के है। कमर से लेकर पावं तक धोतीनुमा वस्त्र है।[37]

नरथर भाग में बनी महिलाओं की मूर्तियों में महिलाएं कानों में बड़े-बड़े कुण्डल, गले में सांकलनुमा आभूषण, बाजुबन्द, हाथ में कड़े, पांव में पायल नजर आती है। वस्त्रों में ऊपर केचुंकी तथा कमर के नीचे पांव तक धोती पहनी हुई है।

पुरुषों में बाल बड़े तथा जुड़ा युक्त है। दाढ़ी बढ़ी हुई है। गले में सांकलनुमा आभूषण है। गले में दुपट्टा भी लटकाए हुए दर्शाये गये हैं। कमर से लेकर घुटनों तक धोती पहनी हुई है। कहीं कहीं पांव तक भी पुरुषों का कपड़ा नजर आता है। कपड़े की विभिन्न प्रकार नजर आते हैं। सैनिक, नृतक एवं संगीतज्ञ के हाथों में कड़े तथा पांव में भी कड़ों का अंकन किया है।

मचीन्द गांव राजसमंद जिले में स्थित है। मचीन्द नाथ की धुणी की वजह से इस गांव का नाम मचींद पड़ा। मचीन्द में भग्नावस्था में प्राप्त मंदिर जो प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर यह मन्दिर 14-15वीं शताब्दी का है तथा चारों तरह मातृदेवियों के अंकन से यह मंदिर मातृदेवी को समर्पित रहा होगा। सैकड़ों वर्षों के बाद मन्दिर के बाह्य भाग से प्राप्त मूर्तियां तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न पक्षों को दर्शाती है। इस मन्दिर का विस्तृत अध्ययन अपेक्षित है। यह भी सुझाव है कि यह मन्दिर हमारी अमूल्य पुरातात्विक सम्पदा है। इसकी सुरक्षा के सरकार को इस ओर ध्यान देना आवश्यक है तथा आमजन को इस दिशा मे अपनी भागीदारी बढ़ानी होगी।

सन्दर्भ

1. *मचीन्द मातृदेवी मन्दिर के वेदिका भाग पर स्थित।*
2. *मचीन्द मातृदेवी मन्दिर के गर्भ गृह के प्रवेश मण्डप पर स्थित।*
3. *मचीन्द गांव के मातृदेवी मन्दिर के मण्डोवर गांव की सभी दिशाओं में दिवारों पर अंकन।*
4. *मन्दिर के पश्चिम भाग के गवाक्ष पर स्थित मूर्तियां।*
5. *मन्दिर, मचीन्द गांव गर्भ गृह के मूल प्रतिमा के स्थल के नीचे अंकित।*
6. *मचीन्द मातृ देवी के मन्दिर के नरथर भाग पर दक्षिणी दिशा में अंकित।*
7. *मचींद मातृ देवी के मन्दिर के नरथर भाग पर दक्षिणी-पश्चिमी दिशा में अंकित।*
8. *मचींद मातृ देवी के मन्दिर के नरथर भाग पर दक्षिणी-पश्चिमी दिशा में अंकित।*
9. *मचींद मातृ देवी का मन्दिर के नरथर भाग पर पूर्वी-उत्तरी दिशा में अंकन।*
10. *मचींद मातृ देवी का मन्दिर के नरथर भाग पर पूर्व दिशा में अंकन।*
11. *मचींद मातृ देवी का मन्दिर के नरथर भाग पर अंकित।*
12. *मचींद मातृ देवी का मन्दिर के नरथर भाग पर पूर्व दिशा में अंकन।*
13. *मचींद मातृ देवी का मन्दिर के नरथर भाग पर पूर्व दिशा में स्थित ।*

14. *मचींद मातृ देवी का मन्दिर के नरथर भाग पर पश्चिमी-दक्षिणी में स्थित।*
15. *मचींद मातृ देवी का मन्दिर के नरथर भाग पर दक्षिण दिशा में स्थित।*
16. *मचींद मातृ देवी मन्दिर के नरथर भाग पर पूर्वी दिशा में स्थित।*
17. *मचींद मातृ देवी मन्दिर के नरथर भाग पर स्थित बाहर पडे अवशेषों में।*
18. *मचींद मातृ देवी मन्दिर के नरथर भाग पर उत्तर पश्चिम दिशा में स्थित।*
19. *मचींद मातृ देवी मन्दिर के नरथर भाग के उत्तरी पश्चिमी दिशा में अंकन।*
20. *मचींद मातृ देवी मन्दिर के नरथर भाग पर पश्चिमी दक्षिणी दिशा में स्थित।*
21. *मचींद मातृ देवी मन्दिर के नरथर भाग के पूर्वी दिशा में स्थित।*
22. *मचींद मातृ देवी मन्दिर के नरथर भाग के उत्तरी पूर्वी दिशा में बाहर पड़े अवशेष है।*
23. *मचींद मातृ देवी मन्दिर के नरथर भाग पर उत्तरी पूर्वी दिशा में स्थित।*
24. *मचींद मातृ देवी मन्दिर के नरथर भाग पर उत्तरी पूर्वी दिशा में स्थित।*
25. *मचींद मातृ देवी मन्दिर के नरथर भाग के दक्षिणी दिशा में अंकन।*
26. *मचींद मातृ देवी मन्दिर के नरथर भाग की दक्षिणी दिशा में स्थित ।*
27. *मचींद मातृ देवी मन्दिर के नरथर भाग में उत्तरी पश्चिमी दिशा में स्थित।*
28. *मचींद मातृ देवी मन्दिर के नरथर भाग में उत्तरी पश्चिमी दिशा में स्थित।*
29. *मचींद मातृ देवी मन्दिर के नरथर भाग में दक्षिण दिशा में स्थित।*
30. *मचींद मातृ देवी मन्दिर के नरथर भाग में पूर्वी दिशा में स्थित।*
31. *मचींद मातृ देवी मन्दिर के नरथर भाग में पूर्वी दिशा में स्थित।*
32. *मचींद मातृ देवी मन्दिर के नरथर भाग में पूर्वी दिशा में स्थित।*
33. *मचींद मातृ देवी मन्दिर के नरथर भाग में उत्तर-पूर्व दिशा में स्थित।*
34. *मचींद मातृ देवी मन्दिर के नरथर भाग पर पश्चिमी दक्षिणी दिशा में स्थित।*
35. *मचींद मातृ देवी मन्दिर के नरथर भाग पर उत्तरी दक्षिणी दिशा में स्थित।*
36. *मचींद मातृ देवी मन्दिर के नरथर भाग में दक्षिणी-पश्चिमी .दिशा में स्थित।*
37. *मचींद मातृ देवी मन्दिर के मण्डोवर भाग की दीवारों पर पर स्थित।*

बीकानेर रियासत में धातु मुद्रा का विकास

डॉ. राजेन्द्र सिंह शेखावत

राजपूताने की रियासतों के इतिहास के विभिन्न पक्षों का आधिकारिक अध्ययन कुछ समय से शोधकर्ताओं का ध्यान आकर्षित किये हुए है। पूर्व में केन्द्रीय सत्ता के अध्ययन और उनके सैनिक, राजनैतिक और धार्मिक पक्षों का ही अध्ययन करने की परम्परा रही। परन्तु आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था की लगभग अवहेलना ही होती रही है। वस्तुत: राज्य अभिलेखागारों में पूर्व रियासतोंके समृद्ध रिकॉर्ड का सांगोपांग उपयोग अभी तक सीमित ही हो पाया है। 1750 से 1818 ई. के बीच जब ये रियासतें अपने राज्य निर्माण के दौर से गुजर रही थी क्योंकि इस काल को इन रियासतों के अंतरिम काल के रूप में माना जा सकता है, क्योंकि 1750 ई. तक मुगल तथा 1818 की संधि के पश्चात् ये अंग्रेजों के अधीन हो गई थी। अत: इस काल में इनकी अर्थव्यवस्था में क्या परिवर्तन हुए तथा किस प्रकार इसकी निरन्तरता बनी रही। बीकानेर रियासत ने किस प्रकार पुन: संगठन एवं पुनर्निर्माण के समय व्यापारिक एवं अन्य इकाइयों की व्यवस्था और संचालन किया तथा वस्तुत: रेगिस्तान में एवं इस क्षेत्र में मुगलों का कोई प्रभाव या योगदान है अथवा नहीं, यह एक रोचक एवं शोध का विषय रहा है।

17वीं सदी से पूर्व राजपूताने के उत्तरी व पश्चिमी भाग की व्यापारिक केन्द्रों के रूप में प्रमुख महता रही। राजस्थान का यह भाग न केवल दूसरे राज्यों की सीमा से जुड़ा था वरन् यहां के शासकों की मध्यकालीन मुगल प्रशासन में प्रमुख भूमिका भी रही जिसकी बदौलत यहां व्यापारिक केन्द्रों को फलने-फूलने का पूर्ण अवसर मिला।[1] पश्चिमी राजपूताने में इस काल के स्थानीय व्यापारिक केन्द्र अच्छी तरह संगठित थे जो चलते फिरते व्यापारिक केन्द्रों का काम करते थे और पीठ पर या ऊंट पर माल लादकर उसे गांव-गली में ले जाकर बेचते थे। इनकी व्यापारिक वस्तुओं में कपड़ा, घी, तेल मुख्य हुआ करते थे जिन्हें ग्रामीण खरीदकर उपरोक्त वस्तुओं का मूल्य धान (अनाज) में चुकाते थे। इस क्षेत्र के शिल्प व्यवसाय में लखारों, मनिहारों, सिलावटों का विशेष योगदान रहता था जो फुटकर व थोक में अपना माल बेचते थे।[2] इस काल के राजस्थान के इस भू-भाग के प्रत्येक कस्बे में बाजार व मंडी हुआ करती थी, जहां सम्बन्धित व्यापारियों, किसानों व जमीदारों द्वारा माल का आदान-प्रदान हुआ करता था। राजगढ़ निजामत के आर्थिक परिदृश्य का विवेचन निम्न बिन्दुओं से स्पष्ट किया गया है।

व्यापार और व्यावसायिक दृष्टिकोण से राजगढ़ का बड़ा महत्व रहा है, क्योंकि भारत का उपजाऊ प्रदेश पंजाब इसके पास ही लगता था। हिसार और हांसी, शेखावाटी और जयपुर राज्य, देहली और रेवाड़ी आदि के साथ व्यापार के मार्ग राजगढ़ से होकर ही निकलते थे। राजगढ़ निजामत में क्रय-विक्रय के विनिमय का माध्यम धातु मुद्रा ही था। बीकानेर के शासकों ने मुगल सम्राटों से सम्पर्क स्थापित करने से पूर्व अगर कोई सिक्के चलाये हो तो ये सिक्के आज उपलब्ध नहीं है। महाराजा गजसिंह (1746-1787) के काल में बीकानेर में एक टकसाल स्थापित की गई और जो रुपया टकसाल में गढ़ा गया था उसको फर्रुखशाही रुपया कहा जाता था, जो मुगल सम्राट फर्रूखशाह के जमाने में प्रचलित हुआ। इसके लिए महाराजा गजसिंह ने सम्राट आलमगीर द्वितीय से सनद के द्वारा सिक्का ढालने की अनुमति प्राप्त की थी। इससे यह विदित होता है कि 1759 से पहले कोई सिक्का बीकानेर राज्य में नहीं गढ़ा गया। महाराजा गजसिंह के समय के शाहआलम के नाम से सिक्के चलते रहे और 1859 में इंग्लैण्ड की महारानी के नाम का सिक्का जारी किया गया। बीकानेर के नरेश अपने सिक्कों को अपने पहले वाले शासक से भिन्न करने के लिए विशेष चिह्नों का उपयोग करते थे। बीकानेर रियासत के सिक्कों का राज्य चिह्न, पताका, त्रिशूल, किरनिया, छत्र आदि मिलते हैं। महाराजा गजसिंह के सिक्कों में पटका और ध्वज होता था और महाराजा सूरतसिंह का विशेष चिह्न त्रिशूल था। महाराजा रतनसिंह का किरनिया (साफे का सितारा) एवं महाराजा सरदारसिंह का चिह्न छाता था। इसी प्रकार महाराजा डूंगरसिंह की चिह्न चंवरी और महाराजा गंगासिंह का चिह्न मोर छल था। बीकानेर राज्य में सोने के सिक्के कभी भी नहीं गढ़े गये। यहां के शासकों ने चांदी और तांबे के सिक्के ही चलाये थे। रुपया जो नजर कहलाता था, वह अच्छी क्वालिटी का होता था और वजन में पूरा होता था। दूसरा साधारण रुपया होता था। महाराजा सरदारसिंह और डूंगरसिंह ने अठ्ठनी, चवन्नी और दो आनी के सिक्के चलाये थे। जो चांदी के थे। बीकानेर में रुपये का वजन 174 ग्रेन होता था। जिसमें शुद्ध चांदी 167.47 ग्रेन होती थी। महाराजा सरदारसिंह और डूंगरसिंह के तांबे के सिक्के अच्छी क्वालिटी के होते थे। इनसे पहले के तांबे के सिक्के घटिया तरीके से गढ़े होते थे।

महाराजा गंगाासिंह के समय (1880-1943) के सिक्के राजपूताने के राज्यों में सबसे अच्छे माने जाते थे। इन दोनों प्रकार के सिक्कों पर सम्बन्धित महाराजा का नाम अंकित होता थ। इसके आगे शाही शब्द लिखा होता था।[3] दरबार अपनी ओर से सिक्के जारी नहीं करते थे बल्कि जब कभी भी कोई साहूकार सिक्के गढ़वाने के लिए आता था तब वह 1.25 माशा चांदी देता था और उसके बदले 100 रुपये के सिक्के उसको गढ़ दिये जाते थे। जिनका वजन 10 माशा होता था। 25 माशा चांदी गढ़ते समय टूट-फूट राज्य का कर, छपाई इत्यादि के खर्चे के रूप में ली जाती थी। अत: राज्य में तांबे, चांदी

के सिक्के प्रचलन में थे। जगात की बहियों, टकसाल की विगतों में इन सिक्कों का विस्तृत विवरण है। इसके अतिरिक्त व्यापारियों द्वारा राजकीय टकसाल में सिक्के घड़वाने की प्रथा के प्रचलन की जानकारी भी मिलती है। चांदी व तांबे के सिक्के घड़वाने पर सिक्कों में उसे शुल्क में आधी छूट की व्यवस्था थी। बड़े सिक्कों में रुपया हुआ करता था। छोटे सिक्कों में व्यापारी लोग टका, पैसा, छदाम व दमड़ी का प्रयोग किया करते थे तथा सबसे कम मूल्य के सिक्के के रूप में कौड़ी का उपयोग भी होता था। इसके अतिरिक्त राज्य के व्यापारी वास्तविक सिक्कों के साथ-साथ हिसाबी मुद्रा का भी काफी उपयोग करते थे।

हिसाबी मुद्रा में दाम, टुकड़ा, दुकानी व फुदिया आदि नामों का उल्लेख मिलता है। किन्तु उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में मुद्रा की स्थिति में परिवर्तन आ गया और सन् 1893 में अंग्रेजी प्रभाव के फलस्वरूप बीकानेर राज्य में अंग्रेजी ढंग का रुपया प्रचलन में आ गया।[4] मुद्रा प्रचलन निम्नलिखित प्रकार से था।

25 दाम	= 1 टका
4 टका	= 1 आना
4 आना	= 1/4 रुपये
8 आना	= 1/2 रुपये
16 आना	= 1 रुपया

बीकानेर में प्रचलित सिक्के शुरूआत में तो मुगलकालीन ही थे परन्तु महाराजा गजसिंह के समय राज्य में 1754 ईस्वी में स्वयं की टकसाल पर सिक्के ढालने की अनुमति मुगल दरबार से प्राप्त कर ली गयी थी।[5] धात्विक मुद्रा से पूर्व अन्य अनेक प्रकार की वस्तुएं विनिमय का माध्यम होती थीं। वैदिक युग में गाय का उपयोग मुद्रा के रूप में होता था, रामायण काल में भी यह रूप सुरक्षित था। राजा अम्बरीश ने ऋचीक मुनि से एक लाख गाय लेकर अपने एक पुत्र को बलि-पशु बनाने हेतु बेचने का प्रस्ताव किया था—'गवां शतसहस्रेण विकीरणीषे सुतं यदि।'

पाणिनी के समय में भी गाय अदला बदली का साधन थी। गाय को बेचते समय उसका स्वाम्य परिवर्तन उसी समय पूरा होता था, जब बेचने वाला गाय की पूंछ खरीदने वाले के हाथ में पकड़ा देता था।[6] कालान्तर में जब धात्विक मुद्राएं बनीं तब मुख्य रूप में उन्हीं का उपयोग होने लगा। वैदिक युग में निष्क स्वर्ण का एक आभूषण था जो संभवत: महाभारत काल में सिक्के का रूप ले चुका था। महाभारत में कीचक द्रौपदी से कहता है कि मैं तुम्हारे दैनिक व्यय के लिए प्रतिदिन सौ निष्क देता रहूंगा, 'आहाय तव सुश्रोणि शतं निष्कान् ददाम्यहभू।'[7] प्राचीन भारत का मशहूर सिक्का चांदी का कार्षापण था। इसे ही संभवत: मनु-स्मृति में धरण और रजत पुराण भी कहा गया है।[8]

राजगढ़ निजामतकालीन सिक्के

राजगढ़ निजामत क्षेत्र से प्राप्त विभिन्न प्रकार के सिक्कों से यह स्पष्ट है कि जिस समय जो मुद्रा प्रचलन में होती थी, वही यहां भी चलती थी। राजगढ़ निजामत क्षेत्र की मुद्रा के संबंध में एक महवपूर्ण सूचना ठक्कर फेरू की 'द्रव्य-परीक्षा' जो सन् 1318 ई. में रचित हुई, नामक पुस्तक से प्राप्त होती है। इस पुस्तक में मुद्राओं के मूल उपादान, धातुओं की चासनी, मुद्राओं के नाम, टकसाल स्थान आदि के संबंध में महत्वपूर्ण जानकारियां दी गई है। फेरू ने तत्कालीन रौप्य मुद्रा के अन्तर्गत 'रीणी मुद्रा' का उल्लेख किया है-

'रीणी जे मुद्दा लग स तिहा गुणचासि तोलओ तेवि,

अन्नं जं जि करारिय खट्टा लग नरहडाइ रीणीय। रीणी मुद्रा तो 49,

रीणी खटिया लग नरहडादि करारी एते दृष्टि अथवा चासनी प्रमाणे मूल्यं।'[9]

फेरू ने विभिन्न मुद्राओं का उल्लेख करते समय प्रारम्भ में ही उपयुक्त 'रीणी मुद्रा' आदि की गणना की है, जिससे ऐसा आभास मिलता है कि ये मुद्रायें पर्याप्त महत्वपूर्ण रही होंगी। बीकानेर के राठौड़ शासकों में महाराजा गजसिंह (1746-87 ई.) के समय में बीकानेर में सिक्के बनने प्रारम्भ हुए। डब्ल्यू.डब्ल्यू. वेब के अनुसार बीकानेर में चांदी व तांबे के ही सिक्के बनते थे, लेकिन ओझा का कथन है कि बीकानेर में सोने की मोहरें भी बनती थीं।[10] राजगढ़ के संस्थापक महाराजा गजसिंह का चांदी का रुपया राजस्थान के सर्वोत्तम सिक्कों में गिना जाता था। 100 गजशाही ने रुपयों के बदले 103 तक अंग्रेजी सिक्के मिल जाते थे। गजशाही रुपयों का उल्लेख यहां के लोक गीतों में भी मिलता है।[11] चांदी के रुपये दो तरह के होते थे, नजर के और साधारण। नजर के सिक्के विशेष रूप से सुन्दर व पूरे वजन के बनाये जाते थे। चांदी के सिक्कों में पहले केवल रुपया ही बनता था, लेकिन बाद में चांदी की अठन्नी, चवन्नी और दुअन्नी भी ढाली गई।

महाराजा गजसिंह का चिह्न पताका, सूरतसिंह का त्रिशूल, रत्नसिंह का किरणियां, सरदारसिंह का छत्र, डूंगरसिंह का चंवर एवं गंगासिंह का मोरछल था।[12] डब्ल्यू.डब्ल्यू. वेब के अनुसार तांबे के सिक्कों के लिए तांबा कलकत्ता से आता था। टकसाल के चालू ना रहने के समय भी हवलदार, गुमाश्ता सहित 5 कर्मचारी कार्यरत रहते थे, जिनका कुल मासिक वेजन 38 रुपये होता था।[13] सन् 1857 ई. के महान विद्रोह के बाद इन सिक्कों के स्वरूप सर्वथा बदल गये। सन् 1893 ई. में अंग्रेज सरकार के साथ बीकानेर राज्य का एक समझौता हुआ जिसके अनुसार अंग्रेजी राज्य में प्रचलित रुपयों के समान ही बीकानेर राज्य के लिए सिक्के बनने लगे। लेकिन इन सिक्कों में पीछे की ओर 'महाराजा गंगासिंह

बहादुर', 'बीकानेर स्टेट' और दोनों किनारों पर दो 'मोरछल' बने होते थे। तांबे के पैसे और अधेले भी बने, जिनमें पीछे की ओर 'बीकानेर स्टेट' और दो मारेछल होते थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय जब छोटे सिक्कों का बहुत अभाव हुआ, तब बीकानेर राज्य में कुछ समय के लिए गत्ते की रेजगारी (पैसा, इकती, दुअन्नी आदि) चली थी।[14] लेकिन बाद में इनका बनना बन्द हो गया।

उपरोक्त सिक्कों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रकार के सिक्के प्रचलन में थे। बीदावतों की ख्यात में लिखा है कि सौभागदेसर का बीदावत रुपयों का लेन-देन करता था। वह बीदासर के ठाकुर उम्मेदसिंह के 70 रुपये मांगता था। उम्मेदसिंह ने अपने आदमी सूरत राम को रुपये देकर सौभागसर भेजा तो बीदावत ने कोठे की चाबी सूरतराम को देते हुए कहा कि रुपये कोटे में डाल आ। कोठे में मुठिया ताला लगा था, 9 पागों का कोठा था। अलग-अलग पागों में अलग-अलग सिक्के भरे थे। गजशाही, सुरतशाही, बिजैशाही, झाड़शाही, अखेशाही, भूणाशाही, फरखशाही, महमदशाही, अजमेरी, चित्तौड़ी वगैरह।[15] इनको कच्चे रुपये भी कहते थे और नेगचार आदि में प्राय: यही रुपये दिये जाते थे। बीदावतों की ख्यात में 125 रुपये कच्चे नेगियों को देने लिखे हैं। सिक्कों का मूल्य उनके धात्विक मूल्य के आधार पर रहता था। लेन-देन के समय स्पष्ट कर दिया जाता था कि कौनसे सिक्के के रुपये दिये या लिये गये हैं। छोटे सिक्कों के रूप में टका, पैसा, अधेला, छदाम और दमड़ी का उल्लेख मिलता है। इनमें टका का उल्लेख सर्वाधिक मिलता है।

अधेला एक पैसे का 1/2, छदाम 1/4 और दमड़ी 1/5वां भाग होता था। पाई (पैसे का 1/3 भाग) का प्रचलन बहुत बाद में हुआ। आइने अकबरी के अनुसार पहले पैसे को बहलोली भी कहते थे। लेकिन बादशाह अकबर के समय में पैसे या कहलोली को दाम कहा जाने लगा जो रुपये का चालीसवां भाग होता था। अधेला एक पैसे का आधा, पावला चौथाई और दमड़ी आठवां भाग होता था।[16] सबसे कम मूल्य के सिक्के के रूप में कौड़ी का उपयोग होता था। डा. तोलाराम अग्रवाल के अनुसार बीकानेर राज्य में बैंकिंग का धन्धा करने वालों पर प्रति रुपया एक कौड़ी कर लगता था जिसे 'कौड़ी बाछ' कहते थे। मध्य युग में देश के अन्य भागों में भी कौड़ी का उपयोग सिक्के के रूप में होता था। चीन के राजदूत चेंग-हो के दल के एक दुभाषिये माहुग्रान ने जो 1406 ई. में बंगाल आया था, लिखा है कि छोटी-छोटी खरीदों के लिए वह लोग कौड़ी का उपयोग करते हैं। जिनको विदेशी लोग 'कओ-ली' कहते हैं।[17]

मारवाड़ की भांति यहां भी प्राचीन काल में चिह्नांकित (पंच-मार्क) और फिर यौधेय और तत्पश्चात् गुप्ताओं, प्रतिहारों, चौहानों आदि के सिक्के चलते रहे। मुसलमानों के राज्य की स्थापना के साथ यहां भी पूर्व मध्यकालीन सिक्कों का प्रचलन हुआ। मुगलों

के राज्य काल में मुगल सम्राटों के सिक्के यहां चलते थे। अन्य देशी राज्यों की भांति सर्वप्रथम महाराजा गजसिंह को बादशाह आलमगीर द्वितीय से सिक्के बनाने की सनद प्राप्त हुई। सम्भवत: 1759 के लगभग बीकानेर टकसाल से शाहआलम के सिक्के बनने आरम्भ हुए और उस सम्राट का नाम सिक्कों पर 1859 ई. तक चलता रहा। बीकानेर के कुछ शासकों ने इस शैली के सिक्कों पर अपने विशेष चिह्न भी अंकित करवाये जिससे उनकी पहचान में सुविधा हो गई।[18] जिनका उल्लेख ऊपर किया जा गया है। कप्तान वेब का तो कहना है कि बीकानेर राज्य में सोने का सिक्का नहीं बना, परन्तु ओझाजी का कहना है कि राज्य में सोने के सिक्के बनते थे। महाराजा रतनसिंह, सरदारसिंह तथा डूंगरसिंह के सिक्के ओझाजी को देखने को मिले जिन पर अंकन आदि चांदी के सिक्कों की शैली के अनुसार था। महाराजा डूंगरसिंह के सोने के सिक्के के दूसरी तरफ 'जर्ब श्री बीकानेर' एवं पताका, त्रिशूल, छत्र, चंवर और किरणीया अंकित है। इसके एक तरफ के छोटे दायरे के अन्दर 'औरगआरायं हिन्द व इंग्लिस्तान क्वीन विक्टोरिया' सुन्दर अक्षरों में खुद हुआ होता था।

गजसिंह के समय के चांदी के सिक्कों पर एक ओर 'सिक्कह मुबारक साहब किरांसनी आलम बादशाह गाजी' और दूसरी ओर सन् 1121 जूलूस मैमनत मानूस लेख फारसी में होता था। गदर के बाद वाले सिक्कों पर एक तरफ 'औरंग आराय हिन्द व इंग्लिस्तान क्वीन विक्टोरिया 1859' तथा दूसरी तरफ 'जर्ब श्री बीकानेर 1916' फारसी लिपि में होता था। महाराजा गंगासिंह के पहले के सिक्कों पर भी वही लेख है, जो महाराजा डूंगरसिंह के सिक्कों पर था, परन्तु उन पर मोरछल का चिह्न विशेष रूप से रहता था। महाराजा सरदारसिंह और डूंगरसिंह के समय में चांदी की अठन्नी, चवन्नी और दुअन्नी भी बनने लगी थी।

चांदी के सिक्कों के वजन 175 से 177 ग्रेन के बीच में देखे गये थे। गजसिंह, सूरतसिंह, रतनसिंह एवं गंगासिंह के समय तांबे के सिक्के भी देखने को मिलते हैं। इनका वजन 14 एवं 7 माशा था और क्रमश: इनका दाम 4 पाई और दो पाई के बराबर था। नजर के सिक्कों का भी यहां प्रचलन था।[19] ई.सन् 1893 में राज्य का अंग्रेजी राज्य के सिक्कों के संबंध में समझौता हुआ। इस समझौते के अनुसार अंग्रेजी राज्य के प्रचलित रुपये जैसे चांदी के रुपये कुछ हेर-फेर के साथ बीकानेर की टकसाल में बनाये जाने लगे। इन रुपयों के एक तरफ साम्राज्ञी विक्टोरिया का चेहरा और अंग्रेजी अक्षरों में 'विक्टोरिया एम्प्रेस' तथा दूसरी तरफ मध्य में ऊपर-नीचे क्रमश: नागरी और उर्दू लिपि में 'महाराजा गंगासिंह बहादुर' लिखा रहता था। उर्दू लिपि में सन् विशेष रूप से दिया जाता था। इनके किनारे पर अंग्रेजी में 'वन रूपी' और नीचे बीकानेर स्टेट तथा किनारों पर मोरछल अंकित रहता था। 1895 ई. में यहां तांबे के सिक्के-पाव आना और अधेला

बनाये गये जिनके किनारों पर अंग्रेजी में 'बीकानेर स्टेट' और मोरछल बनाया गया था। इन सिक्कों का प्रचलन अंग्रेजी सिक्कों के साथ बना रहा, परन्तु धीरे-धीरे यहां भी कलदार का प्रचलन आरम्भ हो गया।[20]

सन्दर्भ

1. *जवानरी जकात बही नं. 84 ए, विक्रम संवत 1865, बीकानेर रिकार्डस, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर*
2. *वही*
3. *पंवार राजेश, बीकानेर राज्य के रियासत कालीन सिक्के, मुद्राएं व उनकी विशेषताएं, राजस्थान इतिहास कांग्रेस, वाल्यूम 20, पृ. 522*
4. *वही, पृ. 523*
5. *'मयंक' डॉ. मांगीलाल व्यास, राजपूताने के हिन्दू रजवाड़ों के सिक्के, पृ. 73*
6. *अग्रवाल वासुदेवशरण, पाणिनीकालीन भारतवर्ष, पृ. 238*
7. *अग्रवाल गोविन्द, चूरू मण्डल का शोधपूर्ण इतिहास, पृ. 22*
8. *अग्रवाल वासुदेवशरण, पाणिनीकालीन भारतवर्ष, पृ. 256*
9. *अग्रवाल गोविन्द, चूरू मण्डल का शोधपूर्ण इतिहास, पृ. 22*
10. *ओझा गौरीशंकर हीराचंद, बीकानेर राज्य का इतिहास, खण्ड 1, पृ. 39*
11. *लोकगीत - 'गजशाही ये रपइया निछिरावल करें'*
12. *डब्ल्यू.डब्ल्यू. वेब, करेंसीज ऑव दि हिन्दू स्टेट्स ऑव राजपूताना, पृ. 54-63*
13. *वही, पृ. 59*
14. *ओझा गौरीशंकर हीराचंद, बीकानेर राज्य का इतिहास, खण्ड 1, पृ. 39-41*
15. *बीदावतों की ख्यात, पृ. 111-112*
16. *आइने अकबरी, पृ. 41*
17. *भारतीय मध्य युग का इतिहास, पृ. 524*
18. *वेब, दि करेन्सीज ऑफ दि हिन्दू स्टेट्स ऑफ राजपूताना, पृ. 55-63*
19. *ओझा गौरीशंकर हीराचंद, बीकानेर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 38-41*
20. *शर्मा गोपीनाथ, राजस्थान का इतिहास, भाग 1, पृ. 135*

बीकानेर की निकाय प्रणाली

सुनीता स्वामी

बीकानेर राज्य में बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में छोटी कमेटियां व निगम (बोर्ड) थे। बीकानेर राज्य की राजधानी में सबसे अधिक महत्व नगरपालिका का था। इससे पूर्व में साफ-सफाई की व्यवस्था कोतवाल या स्वास्थ्य सहायक या विशेष अधिकारी की देखरेख में की जाती थी। कमेटियों का मुख्य कार्य शहर में रोशनी की व्यवस्था करना, भूमियों पर कब्जों को रोकना, शहर में आपसी छोटे-मोटे झगड़ों को रोकना व उनका निराकरण करवाना तथा बूचड़खानों को स्थापित करना। सन् 1917 में राज्य सरकार ने नगरपालिकाओं को और अधिक सक्रियता प्रदान की। सरकार ने उनको आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाने के लिए राशि में टैक्स लगाने की अनुमति प्रदान की तथा गैर सरकारी सदस्यों की संख्या बढ़ाने की भी स्वीकृति प्रदान की।[1]

नगरपालिका की मूलभूत आवश्यकताओं तथा उसके आधुनिकीकरण के लिए सन् 1923 में बीकानेर नगरपालिका एक्ट पारित किया गया। बीकानेर रियासत में बीकानेर नगरपालिका अधिनियम पारित होने के बाद म्यूनिसिपल कमेटी का नाम म्यूनिसिपल बोर्ड रखा गया। सदस्यों की संख्या 21 से बढ़ाकर 40 कर दी गई। वर्ष 1923 नगरपालिका प्रशासन के लिए यादगार वर्ष रहा क्योंकि बीकानेर राज्य में प्रथम बार निर्वाचन की व्यवस्था की गई तथा सन् 1925 में निर्वाचन हुए। इस एक्ट में इस बात का ध्यान तथा व्यवस्था की गई कि नगरपालिका तथा नगरनिगम दोनों में कम से कम 9 सदस्य हो तथा निर्वाच सदस्य एवं अनिर्वाचित सदस्य सम्मिलित हो और सरकार इस बारे में दिशा-निर्देश दे सकती है कि कम से कम 3/5 सीटों पर निर्वाचन करवाया जाये।[2]

निर्वाचन की योग्यताएं

1. जिसके पास स्वयं का घर व सम्पत्ति होगी तथा वह सम्पत्ति बीकानेर नगरपालिका के क्षेत्र में हो।
2. या उसका मुख्यालय पर न्यूनतम 10 रु. किराया हो और
3. सम्पत्ति का मूल्य कम से कम 100 रु. हो अगर दूसरी नगरपालिका में हो तो उसका मूल्य कम से कम 500 रु. हो।
4. जिला नगरपालिकाओं में 5 रु. किराये पर मकान या दुकान हो।

 ISSN 2321-1288

5. या वह बीकानेर के महाराजा के यहां कर्मचारी हो जिसका वेतन 50 रु. महीना हो।
6. किसी मान्यता प्राप्त विश्वविद्यालय में स्नातक हो।
7. वकील या मुख्तयार का लाइसेंस बीकानेर हाइकोर्ट से प्राप्त किया हो।
8. उसकी उम्र 21 वर्ष से कम नहीं हो।
9. महिलाओं को मताधिकार नहीं है।[3]

एक्ट 1923 के अंतर्गत नगरपालिकाओं के अधिकार में वृद्धि कर उसमें संशोधन किया गया। इसकी अनुपालना में नगरपालिका बीकानेर में एक स्वास्थ्य अधिकारी की नियुक्ति की गई जिसका कार्य शहर में साफ-सफाई की देखभाल करना है और एक अधिकारी जिसका कार्य दूसरे विभाग को देखना तथा इसके अलावा एक सेक्रेटरी और इंजीनियर की भी नियुक्ति की गई।[4]

नगरपालिका की आय के स्रोत निम्न थे-

1. आयातित सामान (माल) पर चुंगी लगाना।
2. बाहर उगने वाले माल पर कर लगाना।
3. तांगा व रिक्शा पर कर लगाना।
4. अस्थायी भूमि पर कर लगाना।
5. निर्यात सामान (बाहर जाने वाला सामान) अनाज आदि पर ब्याज लगाना है।[5]

लोक स्वायतशासी निकायों के कार्य-जिम्मेदारियां-

1. साफ-सफाई कार्य में सुधार करना।
2. आम रास्तों पर रोशनी की व्यवस्था करना।
3. पीने के पानी के लिए कुएं व डिग्गियों का निर्माण करना।
4. शहर में निगरानी के लिए चौकीदार रखना।
5. स्थानीय स्कूलों, अस्पतालों का रख-रखाव।
6. सड़कों व रास्तों का निर्माण करना।

सन् 1924-25 से पूर्व बीकानेर राज्य में 15 नगरपालिकाएं थी जो बीकानेर जिला क्षेत्र के अंतर्गत थी। 1944-45 की प्रशासनिक रिपोर्ट के अनुसार बीकानेर नगरपालिका के अतिरिक्त 26 नगरपालिकाएं पूर्व बीकानेर में थी जो इस प्रकार है-भीनासर, गंगाशहर, लूणकरणसर, नापासर और नोखा का क्षेत्र।

गंगाशहर नगरपालिका सन् 1939 में स्थापित की गई थी। नापासर 1941 में और

नोखा, लूणकरणसर और भीनासर की स्थापना 1942-43 में की गई थी।[6]

राजस्थान का गठन होने के बाद 1951 में राजस्थान शहर नगरपालिका एक्ट को समान अधिकार पर लोक स्वायत्तशासी निकायों को राज्य में लागू किया, जिसके द्वारा वयस्कों को मताधिकार दिया गया तथा 1952 में प्रथम बार सदस्यों का चुनाव किया गया। तत्कालीन शहरी नगरपालिका को राजस्थान शहरी नगरपालिका एक्ट 1959 में समाप्त कर दिया गया और एक समानरूपी नगरपालिका प्रशासन की व्यवस्था की गई।[7]

जिन शहरों की आबादी 80,000 से अधिक है। वहां पर नगरपालिका परिषद् (बोर्ड) का गठन किया गया और जिन शहरों (कस्बों) की आबादी 50,000 से अधिक है। वहां पर नगरपालिका का गठन किया गया। लूणकरणसर और नापासर नगरपालिका बोर्ड की आबादी, जितनी नगरपालिका बोर्ड के लिए आवश्यक है, उसमें कम थी इसलिए बोर्ड को इनके अनुसार ग्राम पंचायतों में परिवर्तित कर दिया।

जिले में 1958 में नगरपालिकाओं की संख्या घटकर 4 हो गयी लेकिन 1959 में इनकी संख्या बढ़कर 5 हो गई। जब देशनोक नगरपालिका का गठन हुआ। इस एक्ट के अंतर्गत नगरपालिकाओं को यह अधिकार दिया गया कि वह अपने कर्मचारी रख सकते हैं लेकिन नगरपरिषद के आयुक्त (कमिश्नर) को नियुक्त करने का अधिकार राज्य सरकार का होगा।

नगरपालिका को उगाही का अधिकार निम्न होगा-1. गृहकर, 2. चुगी कर, 3. व्यावसायिक कर या भेंट कर के रूप में वह निम्न कर भी लगा सकती हैं-1. वाहन कर, 2. यातायात कर और सुरक्षा बनाये रखने का कर तथा अन्य दूसरे कर। इसके अलावा राज्य सरकार द्वारा आर्थिक सहायता और समय-समय पर ऋण दिये जाएंगे।[8]

राज्य में रोशनी की व्यवस्था राजस्थान स्टेट बिजली बोर्ड द्वारा की जाती है और नगरपालिका उसके रख-रखाव के लिए भुगतान करती थी। 1965-66 में बिजली की सप्लाई बीकानेर ग्रिड में दी गई। राजकीय जलदाय विभाग द्वारा जलदाय की व्यवस्था की जाती है। पानी की पूर्ति विभिन्न कुओं पर लगे पम्पों द्वारा की जाती है।[9]

नगरपालिका के कार्य संस्थापन की 6 शाखाएं हैं-साधारण शाखा, लेखा शाखा, पी.डब्ल्यू.डी. शाखा (सार्वजनिक निर्माण विभाग), भण्डार शाखा, स्वास्थ्य शाखा, कर शाखा आदि।

बीकानेर नगरपालिका 16 अनिवार्य प्राथमिक पाठशालाएं चलाती हैं। इन स्कूलों को बीकानेर अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा 1928 कानून के अंतर्गत प्रारम्भ किया गया था।[10] बीकानेर राज्य की सरकार इन स्कूलों को चलाने के लिए 2/3 हिस्से का भुगतान करती थी। खर्चे का 70 प्रतिशत हिस्सा राज्य सरकार देती थी।

नगरपालिका के पास अग्नि बुझाने का एक इंजन, अग्निशमन और इसमें 19 अग्नि रक्षक कर्मचारी और तीन वाहन चालक हैं।[11]

सन्दर्भ

1. *विश्वास चितरंजन, बीकानेर द लैण्ड ऑफ मारवाड़ी, पृ. 62*
2. *वही, पृ. 62-63*
3. *म्यूनिसिपल एक्ट 1923*
4. *फोर डिकेड्स प्रोग्रेस इन बीकानेर, 1437, पृ. 76*
5. *वही, पृ. 76-77*
6. *रिपोर्ट आफ द एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ द बीकानेर स्टे, 1942-43, पृ. 12*
7. *राजस्थान डिस्ट्रिक गजेटियर ऑफ बीकानेर स्टेट, पृ. 322-323*
8. *वही, पृ. 323*
9. *वही*
10. *राजस्थान राजपत्र, पृ. 441*
11. *राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर आफ बीकानेर स्टेट, पृ. 325-26*

जैसलमेर पर अलाउद्दीन खिलजी का आक्रमण

डॉ. (सुश्री) बिन्दु भसीन

इतिहास के अनुसार महाभारत युद्ध के पश्चात् यादवों का मथुरा से काफी संख्या में बर्हिगमन हुआ। इस जिले में यादवों के वंशज भाटी राजपूतों की प्रथम राजधानी तनोट, दूसरी लौद्रवा और तीसरी जैसलमेर रही। राजस्थान के प्रसिद्ध मरु शहर जैसलमेर की स्थापना 1156 ई. में भाटी राजा जैसल ने की थी।

जैसलमेर का क्षेत्रफल 38401 किलोमीटर है। यह क्षेत्रफल की दृष्टि से राजस्थान का सबसे बड़ा जिला है। जैसलमेर राज्य ने भारत के इतिहास के कई कालों को देखा है। सल्तनत काल के लगभग 300 वर्ष के इतिहास से गुजरता हुआ यह राज्य मुगल साम्राज्य में भी लगभग 300 वर्षों तक अपने अस्तित्व को बनाए रखने में सक्षम रहा। भारतीय गणतंत्र के विलीनीकरण के समय इसका भौगोलिक क्षेत्रफल 16062 वर्ग मील के विस्तृत भू-भाग पर फैला हुआ था। जैसलमेर का क्षेत्र थार रेगिस्तान में स्थित है। इन्हीं रेतीले टीलों के मध्य कहीं-कहीं पर पथरीले पठार और पहाड़ियां भी स्थित है। इस सम्पूर्ण इलाके का ढाल सिंध नदी और कच्छ के रण अर्थात् पश्चिम-दक्षिण की ओर है।

सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के जैसलमेर आक्रमण के सम्बन्ध में इतिहासकारों में मतभेद है। सल्तनतकालीन फारसी तवारिखों में केवल भक्खर के मीर मुहम्मद मासूम ने अपनी तवारिख तारीख-ए-मासूमी (तारीख-ए-सिन्ध)[1] में अलाउद्दीन खिलजी के जैसलमेर आक्रमण का उल्लेख अलाउद्दीन के गुजरात अभियान के सन्दर्भ में किया है।

पश्चिमी इतिहासकारों ने अलाउद्दीन खिलजी के जैसलमेर पर आक्रमण की घटना को ऐतिहासिक नहीं माना। वूल्जले हेग ने राजस्थानी ख्यातों में उल्लेखित और प्रदेश में बहुचर्चित इस आक्रमण की घटना को राजपूतों के प्रशंसक चारण भाटों की कल्पना की संज्ञा दे डाली।[2] किन्तु अब यह घटना ऐतिहासिक आधारों पर प्रमाणित हो चुकी है कि अलाउद्दीन खिलजी ने जैसलमेर राज्य को खिलजी साम्राज्य के अधीन लाने का प्रयत्न किया था।[3] आक्रमण की ऐतिहासिकता प्रमाणित हो जाने के उपरान्त भी जैसलमेर पर आक्रमण की तिथि की समस्या का समाधान नहीं हो पाया।[4] जैसलमेर के इतिहास से सम्बन्धित स्रोतों का गहनतम अध्ययन करने से तिथि में जो संशय की स्थिति पैदा हुई है, उसका समाधान करने का प्रयत्न किया जा सकता है।

मीर मुहम्मद मासूम के अनुसार अलाउद्दीन खिलजी ने गुजरात अभियान के समय अपने भाई उलुगखां को आदेश दिया कि वह जैसलमेर पर आक्रमण करता हुआ नुसरत खां के नेतृत्व में गुजरात भेजी जाने वाली सेना में सम्मिलित हो। सुल्तान के आदेशानुसार उलुग खां ने निरन्तर सिंध से जैसलमेर पर आक्रमण किया और असंख्य हिन्दुओं का वध करने के बाद दुर्ग पर विजय प्राप्त की।[5] तदुपरान्त वह अपने विश्वसनीय सैनिक अधिकारियों के नेतृत्व में दो सौ अश्वारोही सैनिकों को जैसलमेर में रखकर शेष सेना सहित नुसरत खां की सेना में सम्मिलित हो गया।[6] उल्लेखनीय है कि अधिकांश इतिहासकार अलाउद्दीन खिलजी के गुजरात विजय का समय सन् 1299 ई. मानते हैं।[7] जैसलमेर से सम्बन्धित सभी राजस्थानी ख्यातों में अलाउद्दीन खिलजी द्वारा राजस्थान के विजय अभियान में रणथम्भौर, चित्तौड़, सिवाना और जालौर की अपेक्षा जैसलमेर विजय में उसके दीर्घकाल तक कष्टमय संघर्ष का उल्लेख है[8] किन्तु नैणसी, लखमीचन्द, अजीतसिंह और ऊमजी भाट आदि इतिहासकार आक्रमण की तिथि पर एकमत नहीं है।

खिलजरी आक्रमण और दुर्ग के पतन के सम्बन्ध में उपलब्ध स्रोतों को तीन भागों में बांटा जा सकता है-

1. फारसी इतिहासकार-

i. मीर मुहम्मद मासूम की तवारिख के अनुसार सन् 1297 ई. में कादर के नेतृत्व में मंगोल आक्रमण के बाद उलुग खां ने गुजरात विजय से पूर्व जैसलमेर पर आक्रमण किया था।[9]

ii. जियाउद्दीन बरनी ने नुसरत खां के गुजरात विजय से पूर्व दिल्ली से प्रस्थान करने की तिथि 24 फरवरी 1299 ई. दी है।[10]

iii. दुर्जनसाल (दूदा) का शासनकाल 10 महीने 7 दिन माना गया है।

इस प्रकार दुर्जनसाल और त्रिलोक सिंह के शाका एवं जौहर करने का समय 1313-14 ई. निर्धारित होता है। यद्यपि इस तिथि क्रम को स्वीकार करने पर उपरोक्त दोनों शाका और जोहर का अलाउद्दीन के काल में घटित होना प्रमाणित हो जाता है तथापि यह कहना असंगत नहीं होता कि अलाउद्दीन का पराभव 1313 ई. के बाद तीव्रता से होने लगा था।[11] अलाउद्दीन के पराभव को सत्य साबित करते हुए कुछ तथ्य सामने आये हैं जैसे कि-

i. उसके शासन काल के अन्तिम वर्षों में अलाई अमीर और सेनानायक परस्पर ईर्ष्या और द्वेष में संलग्न थे।

ii. सुल्तान की मानसिक और शारीरिक दुर्बलता का लाभ अपने हितों की पूर्ति कर कर रहे थे। ऐसे समय में जैसलमेर के दुर्ग के पतन और रावल दर्जनसाल जैसे

पराक्रमी शासक द्वारा शाका और जौहर करना उचित प्रतीत नहीं होता।

iii. यदि हम जैसलमेर के किले के घेरे का काल कम मान लें तो भी तिथि क्या रही, इस समस्या का समाधान नहीं होता क्योंकि ख्यातों में जैसलमेर के घेरे का समय 12 वर्ष लिखा है।

iv. दुर्ग के दीर्घकालीन घेरे के दौरान रावल जैत्रसिंह की मृत्यु।

v. प्रधान विक्रमसिंह का ईडर से पुनरागमन।

vi. रावल मूलराज द्वारा शाका व जौहर के बाद खिलजी सेना का दुर्ग पर आधिपत्य।

vii. प्राकृतिक विपदाओं और भाटियों के प्रतिशोध से मुस्लिम सेना का दुर्ग परित्याग।

viii. राव जगमाल द्वारा दुर्ग पर अधिकार का प्रयत्न करना।

ix. तोलाजी पाहु का वध और अंत में रावल दुर्जनसाल का द्वितीय शाका और जौहर किया जाना आदि इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि दुर्ग का घेरा चिरकाल तक रहा।

इतनी घटनाओं का अल्पकाल में घटित होना सम्भव होना प्रतीत नहीं होता।

2. राजस्थानी इतिहासकार

लखमीचन्द ने प्रथम आक्रमण का समय वि.सं. 1351 दिया है जो असत्य है।[12] यदि नैणसी द्वारा दी गई तिथि सन् 1304 को खिलजी सेना के जैसलमेर पर प्रथम आक्रमण मान लिया जाये तो रावल मूलराज और रतनसिंह के शाके का समय 1304+12 =1316 ई. होता है। प्रथम आक्रमण और दुर्ग विजय के बाद जैसलमेर 2 वर्ष तक मुस्लिम सेना के आधिपत्य में रहा तत्पश्चात् दुर्जनसाल ने दुर्ग पर आधिपत्य कर 1 वर्ष तक शासन किया। नैणसी के अनुसार 10 महीने 7 दिन और फिर द्वितीय शाका और जौहर में वीरगति प्राप्त की अर्थात् 1316+2+1=1319 ई.। यह तिथि अलाउद्दीन खिलजी की सेना द्वारा दुर्ग पर दूसरी बार आधिपत्य दर्शाती है।

1319 ई. में दिल्ली में अयोग्य सुल्तान कुतुबुद्दीन मुबारक शाह शासन कर रहा था। उसके शासन काल में सल्तनत के अनेक प्रान्त स्वतंत्रता के लिये प्रयत्नशील थे। इन परिस्थितियों में जैसलमेर का पतन असम्भव प्रतीत होता है।[13]

3. शिलालेख और आधुनिक लेखक

जैसलमेर दुर्ग से प्राप्त अनेक शिलालेखों के अध्ययन के बाद प्रथम शाके की तिथि वि.सं. 1365 (1308 ई.) निश्चित की जा सकती है। इन शिलालेखों में अनेक वीर पुरुषों के नाम हैं जिन्होंने 'खर्पर' (मुसलमान) से लड़ते हुए वीरगति प्राप्त की। यद्यपि इन शिलालेखों में जैसलमेर के शासकों के नाम नहीं है तथापि 'खर्पर' शब्द की

समानता अलाउद्दीन खिलजी की सेना से स्थापित की जा सकती है। इन्हीं शिलालेखों में भट्टिक संवत् 681 के एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि पोष सुदी 11, भट्टिक संवतृ 691 (वि.सं. 1371 सन् 1315) को दुर्ग के पतन के समय कुछ चौहानों ने रावल मूलराज के साथ वीरगति प्राप्त की।[14] इस शिलालेख से प्रथम शाका और जौहर का समय 1315 ई. मानना निश्चय ही एक नए विवाद को जन्म देना है क्योंकि अलाउद्दीन खिलजी की सेना के प्रथम आक्रमण सन् 1298 से 1315 ई. अर्थात् 17 वर्षों तक दुर्ग का घिरा रहना सम्भव नहीं है। यदि इस समय को स्वीकार कर लिया जाये तो रावल दुर्जनसाल के समय हुए आक्रमण को किस सुल्तान का आक्रमण माना जाये? यह सम्भव है कि शिलालेख घटना के बाद अंकित किया गया हो और इसे लगाने की तिथि को घटना का वास्तविक काल मान लिया गया हो। यह भी सम्भव है कि भट्टिक संवत् और विक्रम संवत् का त्रुटिपूर्ण सामंजस्य अथवा जैसलमेर के विक्रम संवत् एवं राष्ट्रीय विक्रम संवत् के अंतर के कारण यह भूल हुई हो।[15]

जैसलमेर पर खिलजी सेना के आक्रमण के संबंध में आधुनिक इतिहासकार भी ख्यातों में उल्लेखित काल क्रम से दिग्भ्रमित हो गए हैं। अधिकांश लेखकों ने यद्यपि जैसलमेर पर आक्रमण को अलाउद्दीन के समय में होना स्वीकार किया है[16] किन्तु दुर्जनसाल के समय हुए आक्रमण को ये इतिहासकार गयासुद्दीन् गलक अथवा फिरोज तुगलक के शासन काल में होने की सम्भावना व्यक्त करते हैं।[17] मुहममद तुगलक के जैसलमेर अभियान की किसी भी स्रोत से पुष्टि नहीं होती। ख्यातों और तवारिखों में लिखे गए अस्पष्ट मुस्लिम नामों से जैसलमेर पर फिरोज तुगलक के आक्रमण की सम्भावना कदाचित निर्मूल जान पड़ती है। शिलालेखों में रावल घडसिंह की मृत्यु की तिथि 1361 ई. (वि.सं. 1418) ज्ञात होती है। फिरोज तुगलक ने तो अलाउद्दीन खिलजी द्वारा विजित जैसलमेर पुनः घडसिंह को सौंप दिया था और अबोहर के भाटी रणमल का दौहित्र होने के कारण जैसलमेर के भाटियों ने उसके शासनकाल में आशातीत उन्नति की। रावल दूदा (दुर्जनसाल) का काल घडसिंह से बहुत समय पूर्व का है अतः फिरोज तुगलक के काल में जैसलमेर पर आक्रमण की संभावना नितान्त असंगत है। ऊमजी की ख्यात में अलाउद्दीन खिलजी का जैसलमेर पर आक्रमण समय वि.सं. 1356 (1299 ई.) दिया गया है। ऊमजी इस आक्रमण का कारण पीरा अलीशाह (जलालुद्दीन फिरोज खिलजी) के परिवार की सम्पत्ति युवराजों द्वारा लूट लिया जाना बताते हैं। नैणसी की भांति ऊमजी ने भी जलालुद्दीन के पारिवारिक सदस्यों के वही नाम दिये हैं।[18] अलाउद्दीन खिलजी द्वारा विभिन्न शासकों से वसूले धन को 1500 खच्चरों और 1500 घोड़ों पर लाद कर जैसलमेर के रास्ते दिल्ली भेजा था। इस काफिले की सुरक्षा के लिए कई सौ हथियार बंद सैनिक भी तैनात थे जिसकी सूचना मिलने पर रावल जैतसी के

राजकुमारों ने उन्हें लूटा और खजाने को जैसलमेर ले आए। इस लूट की सूचना मिलने पर खिलजी ने नवाब महबूब खां के नेतृत्व में एक बड़ी सेना भेजी। इस सेना का जैसलमेर के भाटियों ने मुकाबला किया। जैसलमेर के राजकुमार हम्मीर और देवराज ने जो किले के बाहर सेना के साथ तैनात थे, ने खिलजी की सेना को शिविर से बाहर तक आने नहीं दिया। उनकी खाद्य सामग्री में भी रुकावटें डाली। कर्नल टॉड के अनुसार इस शुरूआती लड़ाई में खिलजी सेना के 7 हजार सैनिक मारे गये।

खिलजी सेना का जैसलमेर किले पर यह घेरा वर्षों तक चला, इसी दौरान रावल जैतसी का निधन भी हो गया और उनके बड़े पुत्र मूलराज का राजतिलक भी हुआ। वर्षों चले इस घेरे के बाद किले में खाद्य सामग्री का अभाव होने लगा था अत: रावल मूलराज ने खिलजी सेना के आगे आत्मसमर्पण करने की बजाय शाका[19] करने का निर्णय लिया।

जैसलमेर के किले में बचे भाटी वीरों ने केसरिया वस्त्र धारण कर किले के दरवाजे खोल दिये और दुश्मन सेना पर टूट पड़े। भाटी वीरों द्वारा शाका कर वीरगति पाने के बाद खिलजी सेना किले में प्रविष्ट हुई परन्तु उसे अपने खजाने के बजाय मिली राख की ढेरियां और क्षत-विक्षत शव। अत: निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जैसलमेर पर अलाउद्दीन खिलजी का प्रथम आक्रमण सन् 1298 ई. में हुआ और 12 वर्ष निरन्तर घेरे के पश्चात् 1310 ई. में मूलराज रतनसिंह की मृत्युपरांत खिलजी सेना का आधिपत्य दो वर्ष तक रहा। ततपश्चात् दूदा ने 10 महीने 7 दिन राज्य करके खिलजी सेना के दूसरे आक्रमण में वीरगति प्राप्त की अत: खिलजी सेना का द्वितीय आक्रमण सन् 1314-15 ई. निश्चित होता है। इस कालक्रम की पुष्टि अजीतसिंह मेहता कृत भाटीनामा से भी हो जाती है।[20]

निष्कर्ष रूप सेकहा जा सकता है कि जैसलमेर पर अलाउद्दीन के दो आक्रमणों को स्वीकार करना अधिक युक्ति संगत है। अलाउद्दीन के पश्चात् उसके अयोग्य उत्तराधिकारियों और मुहम्मद तुगलक अथवा फिरोज तुगलक के जैसलमेर पर आक्रमण की पुष्टि किसी भी ऐतिहासिक स्रोत से नहीं होती अत: जैसलमेर के इन दो प्रसिद्ध शाकों और जौहरों की तिथि क्रमश: 1310 ई. ओर 1314-15 ई. माना जाना चाहिये।

सन्दर्भ

1. *तारख-ए-सिन्ध, तारीख-ए-मासूमी, सम्पादक U.M. Daudpota, पृ. 44*
2. *हेग, वुल्जले, केम्ब्रिज हिस्ट्र ऑफ इण्डिया, भाग 3, पृ. 532*
3. *लाल, के.एस., हिस्ट्री ऑफ खिलजी, पृ. 98*
4. *वही*
5. *लाल, के.एस., हिस्ट्री ऑफ खिलजी - जैसलमेर के प्रथम शाका और जौहर में 24000 स्त्रियों एवं 3800 राजपूतों और द्वितीय शाका और जौहर में 700 भाटी योद्धाओं और जौहर में 16000 स्त्रियों ने आत्मोसर्ग किया*
6. *तारीख-ए-मासूमी, पृ. 44*
7. *खुसरो, अमीर, खजइन-उल-फतह, पृ. 35; फरिश्ता, तारीख-ए-फरिश्ता, भाग 1, पृ. 103*
8. *नैणसी री ख्यात, भाग 2, पृ. 289, बांकीदास की ख्यात, पृ. 111; ऊमजी की अप्रकाशित ख्यात, तवारीख जैसलमेर, पृ. 34, 36*
9. *तारीख-ए-मासूमी, पृ. 44*
10. *बरनी, जियाउद्दीन, तारीख-ए-फिरोजशाही, सम्पादक इलियट और डाउसन, भाग 3, पृ. 163*
11. *नैणसी री ख्यात, ाग 2, पृ. 300*
12. *तवारीख जैसलमेर, पृ. 36*
13. *नैणसी ने जैसलमेर पर खिलजी सेना के आक्रमण की तिथि वि.सं. 1361 (सन् 1304 ई.) दे कर भूल की है। नैणसी द्वारा भूल होने का कारण सम्भवत: यह हो सकता है कि सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी ने तर्गी के नेतृत्व में हुए मंगोल आक्रमण के विरुद्ध सनृ 1304 ई. में एक शक्तिशाली सेना पश्चिमोत्तर भारत में भेजी और वह सेना सम्भवत: जैसलमेर से भक्खर और मुल्तान गई। इसलिये ही 1304 ई. को जैसलमेर पर आक्रमण का समय मान लिया गया होगा। तवारीख जैसलमेर, पृ. 34*
14. *सोमानी, आर.वी., हिस्ट्री ऑफ जैसलमेर, पृ. 34, 190*
15. *शर्मा, नन्द किशोर, त्रिकूटगढ़ जैसलमेर, पृ. 54, 56*
16. *श्रीवास्तव, ए.के., खिलजी सल्तनत, पृ. 133-34; अहलूवालिया, एम.एस., मुस्लिम इक्सपेंशन इन राजस्थान, पृ. 104-05*
17. *सोमानी, आर.वी., हिस्ट्री ऑफ जैसलमेर, पृ. 37; शर्मा, दशरथ, राजस्थान थ्रू द एजेज, पृ. 687*
18. *निगम, एस.बी.पी., नोबेलिटी अंडर द सुल्तान ऑफ दिल्ली, पृ. 55*
19. *जौहर के बाद जो युद्ध किया जाता था, उसको शाका कहा जाता था। जौहर की चिता की राख को अपने सिर पर लगाकर अपनी मां, बहनों, पत्नियों को अपनी आंखों के आगे जौहर की ज्वाला में कूदते देख पुरुष कसुम्बा दान कर केसरिया वस्त्र धारण कर दोनों हाथों में तलवार या दूसरे अस्त्र-शस्त्र धारण कर दुश्मन की सेना पर टूट पड़ते थे। दुश्मन को मारेंगे या मरेंगे। योद्धाओं का यह कदम शाका के नाम से विख्यात हुआ। शाका शब्द में केसरिया और जौहर दोनों सम्मिलित होते हैं।*
20. *'भूरे अनड जैसलमेर ऊपर अलाउद्दीन खिलजी जो सिकन्दर तेरह सौ अउसऐ जंग कीनो, दूदो तिलोकसी साको कीनो अलाउद्दीन खिलजी राज लिया, राजपूता रा राज्य बड़ा-बड़ा जुल्म किया, इज्जत कारा काज' -भाटीनामा, पृ. 33*

पूर्व बीकानेर राज्य में परम्परागत हस्तकला उद्योग एवं व्यवसाय : एक अवलोकन (1818-1947 ई.)

डॉ. राजशेखर पुरोहित

प्राचीन जांगल प्रदेश व मरुक्षेत्र के नाम से अभिहित पूर्व बीकानेर राज्य मध्ययुग में राजपूताना की एक सम्पन्न और प्रभावपूर्ण रियासत के रूप में भी परिचित रहा। बीकानेर की स्थापना वि.सं. 1545 में पूर्व जोधपुर राज्य के शासक राव जोधा के पुत्र राव बीका के द्वारा की गई।[1] राव बीका के पश्चात् उनकी वंश परम्परा को क्रमशः तेईस शासकों ने पोषित किया। इन शासकों ने बीकानेर राज्य को न केवल विस्तार दिया वरन् बीकानेर को उन्नत व प्रशासनिक रूप से संरक्षित रखते हुए समसामयिक केन्द्रीय सत्ताओं से भी समन्वय बनाए रखने में महती भूमिका निभाई।

भौगोलिक दृष्टि से पूर्व बीकानेर का अध्ययन यह प्रतिपादित करता है कि यह क्षेत्र प्रारम्भ से ही प्राकृतिक दृष्टि से विपन्न किन्तु उपजाऊ अवश्य था। वर्षा की अपर्याप्तता व विशिष्ट जलवायु ने यहां के जनमानस को निरन्तर उद्यम करने के लिए प्रेरित किया। सम्भवतः इसी कारणवश यहां किसानों और उद्यमियों ने अपनी मेहनत से ऐसे उद्यम भी विकसित किए जिनके माध्यम से एक ओर जहां रोजगार सृजित हुआ, वहीं हस्तकला जैसे परम्परागत उद्यमों की भी शुरूआत हुई। प्रासंगिक है कि बीकानेर के शासकों में 19वीं सदी के दौरान महाराजा सूरतसिंह ऐसे पहले शासक थे, जिन्होंने परम्परागत व आधुनिक उद्योग नीति को आत्मसात कर नई व्यापारिक नीति की भी शुरूआत की।[2] इसी श्रृंखला में बीकानेर राज्य से बाहर के उद्यमियों को भी आमंत्रित कर उन्हें यहां बसाया गया ताकि बड़े उद्योगों के साथ-साथ स्थानीय महत्व के हस्तकला उद्योगों को भी संरक्षण मिलता रहे। इस नीति के अन्तर्गत राज्य में जिन हस्तकला उद्योगों को प्रश्रय मिला उनका संक्षिप्त अवलोकन निम्नलिखित आधारों पर किया जा सकता है-

1. सूती वस्त्र उद्योग

बीकानेर राज्य में आधुनिकीकरण से पूर्व भी सूती वस्त्र निर्माण उद्योग प्रचलन में था। सूतीवस्त्र निर्माण की प्रक्रिया में काम आने वाले उपकरणों में तकवा, तकली व करघा प्रमुख थे। सूती वस्त्र निर्माण में सलंग्न जातियों में बुनकर, रेजा, कोली अथवा जुलाहे प्रमुख थे। ये वस्त्र निर्माता पहले तकवा और तकली से कच्चे सूत को धागा

 ISSN 2321-1288

बनाकर तत्पश्चात वस्त्र बनाने का कार्य करते थे। यहां बनने वाले सूती वस्त्रों के विषय में प्रसिद्ध इतिहासकार कर्नल टॉड ने भी यह उल्लेखित किया कि राजस्थान में बीकानेर व मारवाड़ राज्य सूती वस्त्र के प्रमुख उत्पादक थे यहां कोरे (सादे) वस्त्रों का निर्माण होता था।[3] इसके अतिरिक्त बीकानेर में कुछ उद्यमी चूंदड़ी व मलमल का निर्माण करते थे, लेकिन उत्पादन की अपर्याप्तता के करण यह उद्योग स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति तक ही सीमित रहा।

2. रंगाई व छपाई उद्योग

सूती कपड़ा उद्योग के सह-उद्योग के रूप में घरेलू स्तर पर रंगाई व छपाई (प्रिंट) उद्योग भी प्रचलन में आया। बीकानेर में इस व्यसाय को अपनाने वाले उद्यमी छींपा, रंगारा, रंगरेज, नीलगर, रंगसाज, पटवे आदि के नाम से भी जाने गए।[4] ये सभी कारीगर अपने हाथ के हुनर व प्राकृतिक रंगों के माध्यम से कपड़ों को रंगने व उन पर छपाई का कार्य करते थे। बीकानेर में रंगाई उद्योग में छींट का कार्य विशिष्ट था जो कि लकड़ी के सांचों द्वारा किया जाता था तथा कलात्मक सुन्दर रंगाई के क्षेत्र में बंधेज की रंगाई सर्वाधिक प्रसिद्ध थी, जो कि बीकानेर के साथ-साथ राजस्थान के अन्य नगरों में भी प्रचलन में आई।[5]

3. चूड़ी निर्माण उद्योग

नारी आभूषणों में चूड़ी एक आवश्यक आभूषण है जो प्राचीन काल से नारी श्रृंगार का प्रतीक रहा है। इस संदर्भ में कालीबंगा सभ्यता से प्राप्त साक्ष्यों से विदित होता है कि इस क्षेत्र में चूड़ी निर्माण प्राचीन काल से ही प्रचलन में रहा लेकिन एक व्यावसायिक हस्तकला उद्योग के रूप में चूड़ी उद्योग कैसे विकसित हुआ? इस विषय में प्रमाणों का अभाव है। इतना अवश्य है कि यह एक घरेलू उद्यम के रूप में प्रारम्भ हुआ तथा इसको प्रचलन में लाने का श्रेय 'लखार' जाति को दिया जा सकता है, जो कि मारवाड़ राज्य से यहां आकर बसी।[6]

इस संदर्भ में पौराणिक मान्यता के अनुसार चूड़ी निर्माण करने वाले लखारे अथवा चूड़ीगर के नाम से भी जाने गए।[7] मध्यकाल में इस कार्य को मुस्लिम उद्यमियों ने अपना लिया। इससे पूर्व यह मुस्लिम उद्यमी काजल, पंखी की डंडी, कंघी व हाथी दांत से निर्मित उत्पाद बेचते थे, समय के साथ-साथ इन उद्यमियों ने लाख की चूड़ी, चूड़े, मुठिये, पाटले, कंगन, बाजूबंद गले के हार व आभूषण रखने की छोटी पेटियों का निर्माण करना भी प्रारम्भ किया। अध्ययन काल के दौरान यद्यपि यह उद्योग एक व्यापक रूप ले चुका था, लेकिन राजकीय प्रोत्साहन की कमी व मूलभूत सुविधाओं के अभाव के कारण आज भी यह हस्त उद्योग गिने चुने घरों में संचालित हो रहा है।

4. धातु बर्तन निर्माण उद्योग

दैनिक उपयोग में आने वाले घरेलू उपकरणों के संदर्भ में बर्तन निर्माण का कार्य भी बीकानेर राज्य में एक लघु उद्योग के रूप में विकसित हो गया था। 18वीं एवं 19वीं सदी के दौरान बीकानेर में पीतल तथा तांबे के बर्तनों का उपयोग सर्वाधिक हुआ। यहां के कारीगर (ठठेरा) पीतल व तांबे के ठोस व कलात्मक बर्तन बनाने में माहिर थे, उदाहरण के लिए पीतल के बर्तन प्रायः भोजन आदि बनाने के उपयोग में आते थे, वहीं तांबे बर्तन जल संरक्षण व पूजा पात्रों के रूप में अधिक उपयोग में लिए जाते थे। इन पात्रों में थाली, कलश, लोटडी, करवा, चरी, रामझरा व गंगासागर आदि प्रमुख थे। राजस्थान में पीतल व तांबे के बर्तन उद्योगों का विकास बीकानेर के साथ-साथ जयपुर व धौलपुर में भी हुआ।[8]

5. मिट्टी के बर्तन व खिलौना निर्माण उद्योग

मिट्टी के बर्तनों का उपयोग प्राचीन काल से ही होता आ रहा है। बीकानेर राज्य के सीमावर्ती क्षेत्रों में चिकनी मिट्टी और लाल मिट्टी की समुपलब्धता ने मिट्टी से निर्मित बर्तन उद्योग व बच्चों के मनोरंजन हेतु खिलौना निर्माण उद्योग को फलने फूलने का अवसर दिया। मिट्टी से विविध उत्पाद बनाने वाले ये उद्यमी कुम्हार के नाम से जाने गए। ये कुम्हार मिट्टी की मटकी, टांके, कुल्हड़, सकोरे, हांडी, नांद (सुराही/कुंजे), दीपक, तस्तरियां, अनाज रखने के बर्तन, हटड़ी व पाळसिए आदि का निर्माण कर अपना रोजगार चलाते थे।[9]

इसके अतिरिक्त बहुत से कुम्हार बर्तन बनाने के साथ-साथ बच्चों के लिए मिट्टी के खिलौने बनाने का कार्य भी रूचि से करते थे ये खिलौने बच्चों की आयु के आधार पर उनकी रुचि को ध्यान में रख बनाए जाते थे, इनमें ऊंट, हाथी, घोड़ा, बैलगाड़ी, झुनझुने, चक्की, चूल्हा, सीटी आदि खिलौने मुख्य थे। मिट्टी के बर्तनों व खिलौने में सजावट का कार्य भी मिट्टी के विविध रंगों से किया जाता था।[10]

6. मूंज एवं टाट पट्टी उद्योग

बीकानेर राज्य में अनुपयोगी व प्राकृतिक सामग्री से भी उपयोगी उत्पाद बनने वाले उद्यम प्रचलन में आए। उदाहरण के लिए इस क्षेत्र में घास की पर्याप्तता रही, इनमें लूम्प व मूंज घास प्रमुखतया थी। घरेलू स्तर पर मूंजड़ी (घास की रस्सी) उद्योग प्रचलन में आ चुका था। अध्यनन काल के दौरान राज्य के बीदासर क्षेत्र में हाथ से मूंज व टाट पट्टी बनाने का उद्यम एक अच्छे व्यवसाय का रूप ले चुका था। इसके साथ ही कोडाला नामक पेड़ से प्राप्त रेशों से पतली रस्सी बनाने का कार्य भी प्रचलन में आया जिसके द्वारा खाट बनाने का कार्य भी होता था।[11]

हस्तकला पर आधारित इन उद्योगों के साथ-साथ बीकानेर में अन्य घरेलू उद्योग धन्धों की भी अथाह सम्भावनाएं थीं, लेकिन 19वीं सदी में नई उद्योग नीति के चलते हस्त कला से संबंधित उद्यमों को निराशाजनक परिस्थितियों से भी गुजरना पड़ा। प्रचलित हस्तकला से संबंधित उद्योगों जैसे - कपड़ा-हथकरघा, लकड़ी उद्योग, घातु बर्तन निर्माण उद्योग, रंगाई छपाई उद्योग, चटाई, दरी, टाट पट्टी उद्योग आदि ऐसे अनेक हाथ से उत्पाद बनाने वाले उद्योग थे जो समुचित संरक्षण न मिलने के करण धीरे-धीरे सीमित हो गए तथा कालान्तर में बीकानेर के आस-पड़ोस के अंचलों तक ही इनका प्रचलन रहा।[12]

संदर्भ

1. *नैणसी मुहणौत, नैणसी री ख्यात जिल्द 2 पृ. 198-99; मुंशी सोहन लाल, तवारीख राजश्री बीकानेर पृ. 94*
2. *कागद बही नं 10 वि.सं. 1854/1797 (रा.रा.अ.बीकानेर); शर्मा दशरथ, दयालदास की ख्यात अनुवाद भाग 2 पृ. 96, 101, 103,110*
3. *द इम्पीरियल गजेटीयर ऑफ इण्डिया जिल्द -21 पृ. 131*
4. *सावा बही चरू संवत 1893-96-97 रंगारों व लीलगरों के लेखे दृष्टव्य हैं, रा.रा.अ.बी.*
5. *राजपूताना गजेटीयर जिल्द 1 पृ. 92 (रा.रा.अ.बी.)*
6. *मुंशी देवी प्रसाद, पृ. 471*
7. *लोहिया बजरंगलाल, राजस्थान की जातियां, पृ 178*
8. *द इम्पीरियल गजेटीयर आफ इण्डिया जिल्द 3, पृ. 240-41*
9. *कागद बही संवत् 1888 नं. 36 कुम्हारें के लेखे दृष्टव्य (रा.रा.अ.बी.;*
10. *द इम्पीरियल गजेटीयर आफ इण्डिया, वही, पृ. 190-91*
11. *एडम्स, ए मडिको टेपोग्राफी एण्ड जनरल एकाउण्ट आफ मारवाड (1900 ई.), पृ. 417*
12. *रिपोर्ट ऑफ बीकानेर बैंकिग इन्क्वायरी कमेटी, पृ. 72-73*

सारांश/Summary

Khejarli - National Forest Martyr's Day

Dr. K. Rani Lakshmi

सिर साठे रूंख रहे तो भी सस्तो जाण

Means if you can protect the trees even by getting your head cut, then consider it a win-win deal.

These words are used to describe the immortal mystery of the sacrifice of Khejar.

The dominating population of Rajasthan are the Rajputs. The state is also popularly known as the 'Land Of Rajputs' which means the 'son of the ling'. It is believed that the Rajputs are of Scythian origins who were originally the residents of Iran and Caucasia in central Europe. The social concern for the environment in medieval Rajasthan manifested itself in various forms. Apart from taxes, they had a pride of place even in the teachings of sects like the Jains and Bishnois.

The Khejarli massacre was an event in which 363 Bishonois were killed while trying to peacefully protect a grove of Khejri trees in the village aof Khejarli. The killings were carried out by soldiers of the Maharajah of Marwar, who ordered the sacred trees be cut down to provide for a new palace. The effort failed, and the massacre later became known as a precursor to the 20th century Chipko movement.

In 1726, Abhai Singh of Marwar gained control of the village of Jehnad also known as Jalnadi, in Rajasthan. In 1730, he dispatched one of his ministers, Giridhar Bhandari, to collect wood to be used in the construction of a new palace; some sources report that the wood was needed to build the palace, while others note the Marwars intended to burn the trees to create lime. Regardless of intended purpose, Bhandari and his entourage of soldiers arrived in Jehnad, where they demanded access to the village's trees. Led by a woman named Amrita Devi Bishnoi,

the villagers refused to surrender their trees to the Raj's soldiers. Amrita stated that the Khejri trees were sacred to the Bishnoi, and her faith prohibited her from allowing the trees to be cut down.

The situation escalated, and the Marwar party offered to leave village's KLjekri trees alone in exchange for a bribe. However, this seen s a grievous insult to the Bishnoi faith, and Amrita announced that she would rather die than allow the trees to be cut down. She and her family began hugging the Khejris, shielding the trees with their bodies. Angered by the rebuke, the Marwans beheaded sAmrita and three of her daughters before beginning to cut down the trees. Amrita's last words were recorded das being "A chopped head is cheaper that a chopped tree", and this couplet later became a rallying cry for the Bishnois. News of the ongoing desecration of Jehnad's trees quickly spread among Rajasthan's Bishnoi population. In all, Bishnois from 83 villages began to travel to Jehnad in an attempt to save the trees, and a council was convened to determine what could be done about the situation. The council's decision was that each Bishnoi volunteer would lay down their life to defend one of the threatened trees. Older people went forward first, with many of them being killed as they hugged the Khejris. Seeing this as an opportunity, Giridhar Bhandari claimed that the Bishnoi were only sending forward people whom they thought were useless to be killed. In response, younger men, women and children began to hug the trees, resulting in many of them being killed as well. In all, 363 Bishnois were killed while protecting the trees.

Shocked by the passive resistance of the Bishnois, Abhai Singh recalled his men and personally travelled to the village to apologize for his minister's actions. He decreed that the village would never again be compelled to provide wood for the kingdom. The village was later renamed Khejarli, and the site of the massacre became a place of pilgrimage for the Bishnoi faith. The Khejarli Massacre was a partial inspiration for the 20th century environmentist Chipko movement. Several temples and a cenotaph in Khejarli commemorate the massacre and the village is the site of an annual Bishnoi ceremony held in honour of the event. In the arid and semi-arid regions of western Rajasthan, Bishnoism as a sect has not only proposed, but over the ages, has also learnt to internalise a historical prudence in practising a conservation ethic in the Thar Desert. The social concern for the environment in medieval Rajasthan manifested itself in

various forms. Most of the Bishnoi rules suggested maintenance of harmony with the environment, such as the prohibition on cutting green trees and animal slaughter. One plausible explanation is that the economy was primarily sustained by animal husbandry. Hence, any slaughter, even during droughts, would have reduced the means of livelihood. The Bishnoi community was very attentive to environment well-being in the areas surrounding their house and fields (Kumar 2005: 147).

Individual incidents of martyrdom in the protection of wildlife have been reported in 1603 and 1643 A.D. However, it was the massacre at Khejarli that displayed for the first time how seriously the Bishnois can take this adherence to the 29 rules or their sect. The army's axes had already killed 363 people, when the king Maharaja Abhay Singh, hearing of their courage, halted the logging and declared the Khejarli region a preserve, and off limits for logging and hunting. He issued a royal decree engraved on a tambra patra (a letter engraved on a copper plate) prohibiting the felling or trees in the Bishnoi areas. The Bishnois as well as no-Bishnois refer to the tabra patra declaration as a victory of people's efforts at conservation. Incidentally, the last words uttered by Amrita Devi (also known in local parlance a 'Ma Amrita Devi'), the first woman who died in defence of the khejri trees during the 1730 Khejarli massacre, as explained by the priest at the Khejarli Temple.

❊ ❊ ❊

सरदारशहर में शिक्षा के लिए प्रवसन जातियों का मूल्यांकन

डॉ. विश्वेश्वर शर्मा

मारवाड़ियों में प्रवसन स्पष्टत: स्वैच्छिक तथा अधिक अवसरों के लिए था। राजस्थान की ऊसर भूमि, निरन्तर पड़ने वाले अकाल और राजाओं की शोषक नीति ने भी प्रवसन की धारा को गति प्रदान की। राजस्थान के देशी रजवाड़ों में लूटमार की प्रवृत्ति भी एक कारण रही है। अंग्रेजों ने राजस्थान के रजवाड़ों के व्यापार पर कई प्रतिबंध लगा दिये और दूसरी ओर ब्रिटिश भारत में जायदाद और सम्पत्ति की सुरक्षा के कई प्रबंध किये। राजपुताने के व्यापारी पन्द्रहवीं शताब्दी से पहले ही अल्पकालिक प्रवसन करते रहते रहे हैं। बंगाल से मारवाड़ी व्यापारियों का संबंध 1564 से माना जाता

है। दिल्ली की ओर मारवाड़ियों ने 1803 ई. से ही जाना शुरू कर दिया था। मध्य भारत में सन् 1780 के पहले ही कुछ मारवाड़ियों का प्रवसन सन् 1800 के पश्चात् प्रारंभ होता है। इसमें 1846 ई. तक काफी तेजी आई।

प्रवसन करने वाले व्यापारियों में अपने क्षेत्र के सामाजिक कल्याण एवं दानदाताओं के रूप में विशेष योगदान भी रहा है। शेखावाटी क्षेत्र में मोहता, मोदी, गोयनका, बिरला आदि वैश्य वर्गों के सामाजिक कार्य ऐतिहासिक योगदान रहा है। जैसे महाविद्यालयों के निर्माण, कुआं, बावड़ी, शैक्षणिक संस्थाओं के निर्माण किया है। साथ ही स्थापत्य कला एवं शिल्पी लोगों के लिए नये अवसरों की उपलब्धता प्रदान की। सरदारशहर में आने वाले और बसने वाले लोग प्रवास के इस तथ्य से सुपरिचित थे और जानते हैं कि प्रवासी लोगों ने अतुल धन संपत्ति अर्जित कर ली थी। ऐस प्रवास करने वाले लोग उनकी प्रेरणा के स्रोत थे। सरदारशहर में प्रवसन मारवाड़ियों ने शिक्षा के क्षेत्र में सर्वप्रथम समाज कल्याण का कार्य प्रारम्भ किया था। बीकानेर के 20वें शासक महाराजा डूंगरसिंह के समय सरदारशहर में कोई अंग्रेजी बोलने वाला नहीं होने के कारण कोलकाता के रेल विभाग में कार्य करने वाले धनसुख बामणिया (सुनार) को अपने निजी शिक्षक के रूप में नौकरी पर रखा। उसके कुछ समय बाद सरदारशहर के कुछ मातबर लोग महाराजा से मिले और सरदारशहर में एक विद्यालय की स्थापना का प्रस्ताव रखा। महाराजा ने धनसुख को विद्यालय में प्रधानाध्यापक बनाकर भेजा। यह शहर का प्रथम सरकारी विद्यालय राजकीय प्राथमिक विद्यालय बोड़िये कुएं के पास खोला गया।

बाणिका विद्यालय–वि.सं. 1993 में स्व. धनराज जी रूंथला (गुरुजी) द्वारा घंटाघर के पास श्री रंगलाल जैसनसरिया की दुकान के ऊपर बाणिका विद्या हेतु श्री भारतीय विद्या मंदिर समिति के नाम से एक विद्यालय की स्थापना की गई। यह विद्यालय आज भी नामी विद्यालय के रूप में कार्य कर रहा है।

लक्ष्मण गुरु पाठशाला–सन् 1918 में श्री शिव नारायण टांटीया की हवेली में विद्वान वैद्य पंडित लक्ष्मी नारायण जी महर्षि ने एक विद्यालय की स्थापना की। यह विद्यालय वि.सं. 1935 तक प्रतिष्ठित गुरुकुल पद्धति पर आधारित ज्ञानगंगा प्रवाहित करता था।

चुन्नीदेवी पाठशाला–इस विद्यालय को पूरे क्षेत्र में चुन्नीदेवी की स्कूल के नाम से जाना जाता रहा है। अब यह विद्यालय रा. पाठशाला 2 नं. के नाम से संचालित है। इस पाठशाला का निर्माण चुन्नीदेवी ब्राह्मणी पुत्री हुणताराम की धर्मपत्नी श्री रामनारायण पुत्र श्री दुल्लाराम खंडेलवाल धर्मार्थ करवाया गया है। इसके प्रथम प्रधानाध्यापक बंशीधरजी पारीक रहे थे।

ओसवाल विद्यालय-अत्यन्त सक्रिय समाज सेवी एवं प्रतिष्ठित श्रेष्ठिजन पन्नालालजी बैद ने दूगड़ विद्यालय की जगह ओसवाल द्यिालय की संस्थापना की थी। मान विद्यालय, अनिवार्य स्कूल, बजरंग पाठशाला, सरस्वती विद्यालय श्री अनुमान संस्कृत विद्यालय, ताल मैदान के पास आदि विद्यालयों का निर्माण एवं स्थापना प्रवसन लोगों द्वारा एवं इन्हें स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व किया गया। इनका वर्तमान संकटमय दिखाई दे रहा है, क्योंकि मुख्यत: ये विद्यालय गुरुकुल पद्धति पर आधारित थे। कुछ विद्यालयों ने अपनी पद्धति को आधुनिक करके अपना वजूद बचाया हुआ है। स्वतंत्रता के पश्चात् बापा सेवा सदन, बाल मंदिर, बालिका विद्यालय, श्री महावीर, राजेन्द्र महाविद्यालय, मदरसा इस्लामिया, लतीफिया तालीमुल कुर्आन, एस.बी.डी. महाविद्यालय, राजकीय टांटिया बालिका उ.मा. विद्यालय, मित्तल महिला महाविद्यालय, श्रीमती सुआदेवी टांटिया बाल भारती, दुगड़ विद्यालय, श्री भंवरलाल आयुर्वेद महाविद्यालय आदि का निर्माण प्रवसन सेठों द्वारा किया गया। प्रवसन मारवाड़ियों एवं सेठों का लक्ष्य केवल धनार्जन ही नहीं था बल्कि समाज कल्याण एवं मार्गदर्शन का भी कार्य किया था। उनके इस सोच के कारण सरदारशहर में कुएं एवं जल मंदिरों का निर्माण करवाया गया था।

❊ ❊ ❊

मुगलकालीन डाक व्यवस्था : मारवाड़ के विशेष सन्दर्भ में

सोनिया शर्मा

केन्द्रीय शासन, जिसके द्वारा देश के समाचारों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करता है,उसमें (1) वाकियानवीस (2) सवानिह निगार (3) खुफीया-नवीस और (4) हलकारा सम्मिलित थे। हलकारा का अर्थ समाचार लाने और ले जाने वाले (संदेशवाहक) से था। वस्तुत: कभी-कभी ये जासूसी का काम भी करते थे। बाबर जिन्होंने भारत में मुगल साम्राज्य की नींव रखी थी, संदेशों का आदान-प्रदान करने के लिए अपनी राजधानी आगरा से काबुल तक घुड़सवारों को तैनात किया। अकबर के शासन काल में डाक का अधिकारी 'दरोगा डाक-ए-कुल'/'मुमालिक-ए-महरूसा' कहनलाता था। अकबर ने एक ऐसी विधि अपनाई थी, जिसमें यह सुनिश्चित किया गया कि प्रत्येक 5 कोस की दूरी पर एक चौकी होगी, जिसमें 2 घोड़ों को 'मेओराह' के साथ रखा जायेगा, पिछली चौकी से जब दो घोड़े सूचना लेकर आते तो मेओराह द्वारा उन्हें अगली चौकी तक पहुंचाया जाता था। जहांगीर ने पत्र-वाहन के रूप में कबूतरों का प्रयोग किया, ये कबूतर प्रशिक्षित थे, जो युद्ध के समय और घेरे की स्थिति में शत्रुओं के बीच जाकर समाचार लाया करते थे।

सरकारी पत्र कई प्रकार के होते थे और उनमें से प्रत्येक का अपना अलग नाम था-फरमान, शुक्का, अहकाम, निशान, अर्जदाश्त, रूक्का आदि।

प्रान्तों से केन्द्र तक खबरें पहुंचाने के लिए सुविधाजनक स्थानों पर संदेशवाहकों की टोलियां नियुक्त रहती थी। मध्ययुग में यातायात के साधनों की कठिनाई के कारण जीवन संकटपूर्ण था, ऐसी स्थिति में ग्राम मुखिया 'चौकडिया व्यवस्था' के अन्तर्गत गांव की सुरक्षा का प्रबंध करते थे। दशरथ शर्मा के अनुसार ये डाक चौकी के धावक होते थे। मुगलकाल में गुजरात की डाक मारवाड़ से होकर बादशाहों के पास जाया करती थी। 1-1 डाक चौकी हर 10 कोस की दूरी पर होती थी। उन पर जो सरकारी ओहदेदार नियुक्त होता था वह 'मिर्धा' कहलाता था। जब मारवाड़ से कोई डाक बादशाह के पास भेजी जाती थी, उस समय मिर्धा को एक चांदी की घुंघरूओं वाली छड़ी मिर्धाओं के मार्फत डाक भेजने हेतु दी जाती थी। इस छड़ी को मिर्धा के जो आदमी बादशाह के पास डाक लेकर जाते थे, वह वहां जाने पर इस छड़ी के घुंघरूओं को बजाते थे, जिससे बादशाह को मारवाड़ राज्य की ओर से डाक आने की इतला हो जाती थी।

इसके अतिरिक्त हलकारा एक तरह के गुप्तचर भी हुआ करते थे, जिनका प्रयोग मुख्यत: युद्ध या घेरे की स्थिति में शत्रु सेना के बीच जाकर समाचार लाने ले जाने के लिए किया जाता था। समस्त सूचनाएं हाकिम के अधीन गुप्तचरों के माध्यम से डाक चौकी के दरोगा के पास भेजे जाते थे। वे उन्हें बिना खोले ही शासक के सम्मुख रखने के लिए दीवान अथवा प्रधान को दे दिया करता था। सभी गुप्तचर इसी दरोगा के अधीन कार्य करते थे। मारवाड़ राज्य की डाक व्यवस्था अन्य पश्चिमी राजपूताने के राज्यों की अपेक्षा उत्तम प्रकार की थी।

❊ ❊ ❊

रेलवे का बीकानेर राज्य पर प्रभाव (1891-1947 ई.)

डॉ. मयंक गुप्ता

बीकानेर राज्य में रेलवे के विकास में महाराजा गंगासिंह का शासनकाल (1887-1943 ई.) स्वर्णकाल है। बीकानेर राज्य में पहली रेल लाइन का निर्माण मारवाड़ सीमा से बीकानेर (76.40 किमी.) के रूप में 1891 ई. को हुआ। इसके पश्चात् 1947 ई. तक राज्य ने 1394.75 किमी. लम्बी रेल लाइनों के निर्माण द्वारा राज्य के प्रमुख स्थानों को आपस में जोड़ दिया। इस अवधि में बीकानेर राज्य ने रेलवे निर्माण में बड़ौदा के पश्चात् दूसरा स्थान प्राप्त कर लिया। बीकानेर राज्य में प्रति वर्ग किमी. क्षेत्र में रेल मार्गों की लम्बाई 56 किमी. थी जो अन्य राज्यों जैसे जोधपुर (40 किमी.),

मैसूर 39.32 किमी.), ग्वालियर (33.52 किमी.), हैदराबाद 32 किमी.) से काफी अधिक थी।

बीकानेर राज्य ने रेलवे को लाभदायक निवेश के रूप में हाथ में लिया था। तद्विषयक स्रोम सामग्री में प्राप्त आंकड़ों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि समीक्षाधीन काल में राज्य ने लगभग सवा चार करोड़ रुपये का पूंजीगत व्यय रेलवे निर्माण के लिए किया। राज्य की आय में रेलवे से होने वाली आय सर्वप्रथम 1891-92 ई. में प्रारम्भ हुई। जो शीघ्र ही राज्य की आय का प्रमुख साधन बन गई और 1911-12 ई. के बाद तो यह मद राज्य की आय में सदैव प्रथम स्थान पर रहा।

रेलवे ने राज्य की जनता की जो सबसे बड़ी सेवा की वह थी-अकाल राहत। अकाल के दौरान बेरोजगार लोगों को रोजगार देने के लिए रेल लाइनों के निर्माण में लगाया गया। 1899-1900 ई. के अकाल के दौरान बीकानेर-भटिंडा रेल लाइन के निर्माण कार्य पर आकल पीड़ित लोगों को रोजगार दिया गया। इससे 38876 लोगों को लाभ हुआ। रेलवे द्वारा अकाल के दौरान अनाज के परिवहन द्वारा उसे प्रभावित स्थानों तक पहुंचाया जाता था, अन्यथा ऐसे क्षेत्रों में गम्भीर स्थिति उत्पन्न हो सकती थी। ऐसी स्थिति में रेलवे द्वारा अनाज व चारा बारह से मंगाया जाता था। 1891-92 ई.के अकाल में नवस्थापित 'जोधपुर-बीकानेर रेलेव' की लाइन काफी लाभदायक सिद्ध हुई क्योंकि इससे अनाज व चारे का आयात होने से इनकी कीमतों में अधिक वृद्धि नहीं हुई।

कृषि की उन्नति अतिरिक्त उत्पादों के लिए बाजार व्यवस्था की सुविधा पर काफी निर्भर करती है। इस सम्बन्ध में बीकानेर राज्य की रेलवे विकास के पूर्व व पश्चात् की स्थिति की तुलना करने पर यह अन्र स्पष्ट हो जाता है। रेलवे के विकास से कृषि उत्पादों के विक्रय व कच्चे माल के निर्यात एवं निर्मित वस्तुओं के आयात के नए मार्ग खुले। अब काश्तकार अपनी उपज दूरस्थ स्थानों व राज्यों के आन्तरिक भागों में आसानी से भेज सकता था।

रेलवे ने राज्य के कोयला, जिप्सम व दुलमेरा के पत्थरों के परिवहन से उनके आन्तरिक व बाहरी निर्यात को बढ़ाकर खनिज विकास को तेज गि दी। रेलवे ने राज्य में निर्माण कार्यों में भी सहयोग दिया। गंगनहर के निर्माण में रेलवे की महत्ती भूमिका रही। रेवले ने जीवन के सभी क्षेत्रों में तथा विशाल भू-भाग को एकबद्ध कर लोगों को नजदीक लाने में भी योगदान दिया। राव जोधा द्वारा स्थापित जोधपुर व उनके पुत्र राव बीका द्वारा पारिवारिक विवाद के कारण स्थापि बीकानेर को 1889 ई. के रेल समझौते द्वारा एकबद्ध नियंत्रण में लाया गया। जिसने दोनों राज्यों की मित्रता के नए आयाम स्थापित किए। 1924 में दोनों राज्यों द्वारा रेल प्रशासन को पृथक करने का कार्य मित्रवत व सहयोग की भावना से हुआ। रेलवे के विकास के बाद बीकानेर के व्यापारी भी

बंगाल, बिहार व आसाम में बड़ी संख्या में निष्क्रमण करने लगे। रेलवे द्वारा वस्तुओंका आयात-निर्यात भी द्रुतगति से होने लगा जिससे यहां के व्यापारी बड़ी संख्या में व्यापारिक नगरों में बसने लगे।

❊ ❊ ❊

सरदारशहर : जल संसाधनों की धरती

आकाश भोजक

सन् 1839 के आसपास बीकानेर के राजा रतनसिंह ने अपने पुत्र सरदारसिंह के नाम शहर बनाने हेतु अपने सामंत मदनसिंह छाजेड़ व उनके सहयोगी इन्द्रचन्द चिण्डालिया के हाथोंएक योग्य भूमि की खोज की, नाम था राजावास। तत्काल में जिसे सरदारशहर नाम से स्थापित किया गया। नगर विकसित करने की प्रक्रिया में गढ़ निर्माण, मुख्य बाजार विकसित करने, चौपड़ निर्माण व जल संसाधनों की खोज मुख्य थी जिसमें ताल भूमि जो आज संत दादू पंथी ताल भूमि ट्रस्ट (रजि.) है, एक वर्षा जल संग्रहण जोहड़ का निर्माण करवाया। कुछ कुओं का पानी खारा व कुछ का अत्यन्त मीठा भी है। यह बताया जाता है कि जम्मड़ों के कुएं के नीचे एक निरन्तर बहती हुई सरस्वती नदी की वितरिका है।

कुएं एवं जोहड़-जल बिना जीवन की कल्पना ही निरर्थक है। जल जीवन की प्रथम आवश्यकता है। सरदारशहर संस्थापना के साथ कुएं का इतिहास जुड़ा है। राजीया कुआं से राज वाला कुआं में नामांतरित इस ऐतिहासिक कुएं ने इस शहर का जन्म देखा है। जीवंत चश्मदीद गवाह रहा है इस शहर का।

राजवाला कुआं-विक्रम संवत् 1895 से पूर्व इस कुएं के जल से गढ़ सहित अनेकानेक बड़ी हवेलियों का निर्माण सम्पन्न हुआ। यहां के नागरिकों के पेयजल की आपूर्ति इसी कुएं से आरम्भ हुई।

ताल जोहड़-वि.सं. में सरदारशहर की स्थापना से पूर्व सिंगरावट से आए हुए दादू पंथी प्रीतमदासजी ने वि.सं. 1898 में ताल जोहड़ का निर्माण करवाया।

मौलाणी जोहड़-स्थानीय ढल्ला परिवार के पूर्वज पुरुष स्व. बाजीराव जी सोनी ने बीकानेर स्टेट को 300 रु. जमा करवा कर 19 बीघा 3 बीस्वा भूमि जोहड़ी एवं पायतन का निर्माण करवाया था।

भैरूदानजी का कुआं-नगर स्थापना के समय श्री भैरूदानजी भंसाली का परिवार भी यहां आकर बसा इस परिवार के आदि पूर्वज श्री खेतसीदास भंसाली थे। सन् 1914 में भैरूदानजी द्वारा एक विशाल कुएं का निर्माण गढ़ से उत्तर-पूर्व दिशा में

करवाया गया। यह कुआं अपनी ऊंची बुर्जों, विशाल कोठों (जल संग्रह हेतु) के लिए जाना जाता है। शीघ्र ही इस कुएं में जलापूर्ति आरंभ हो गई। श्री भैरूदानजी भंसाली ने इस कुएं के साथ विशाल बाग एवं एक कोठी का निर्माण भी करवाया। महाराजा गंगासिंह इस कोठी में दो बार ठहरे थे। यह परिवार प्रतिष्ठा प्राप्त परिवार था। कुएं के निर्माण के समय एक घरट भी बनाया गया था। इस घरट में कारीगरों एवं मजदूरों के लिए तम्बाकू तैयार होती थी।

जम्मड़ों का कुआं-घंटाघर के दक्षिण की ओर बाल मंदिर के पीछे की तरफ स्थित है, यह विशाल कुआं है। कुएं की विशाल बुर्ज, मीनार एवं विशाल जल संग्रह टेंक (कोठे) आज भी लोगों का ध्यान आकर्षित करते हैं।

अतीत से प्रेरणा लेकर अगर हम वर्तमान को नहीं सुधारते हैं तो इतिहास लेखन का एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण उद्देश्य अधूरा ही रह जाता है। हमारे पूर्वजों की गौरवशाली धरोहरों को सुरक्षित रखते हुए शहर का सौन्दर्यकरण भी हमारी जिम्मेवारी है कि हम आने वाली पीढ़ी से नजर मिला सके, मगर शहर का वर्तमान परिदृश्य देख कर लगता है कि हम अपने कर्तव्य का समुचित पालन करने में असमर्थ हो रहे हैं।

❊ ❊ ❊

1857 की क्रान्ति में राजस्थानी साहित्यकारों की भूमिका

डॉ. आनन्द श्रीवास्तव

1857 की क्रान्ति के समय यहां के कवियों व साहित्यकारों ने समाज के सभी वर्गों ने अपनी लेखनी, गीतों के माध्यम से जनजागृति लाकर क्रांति का नूतन संचार किया। प्रसिद्ध कवि बांकीदास ने अपनी कविताओं के माध्यम से शासकों की अंग्रेजी दासता वृत्ति को धिक्कारा एवं कोसा साथ ही जनता को फिरंगियों के विरुद्ध शस्त्र उठाने का आह्वान किया। महाकवि सूर्यमल्ल मिश्रण ने अपने ग्रंथों (वीर सतसई) में जागीरदारों एवं जनसामान्य में जोश भर दिया। दलजी कवि (डूंगरपुर) ने अपनी व्यंग्य कविताओं के माध्यम से शासकों, सामन्तों व जनता में ब्रिटिश विरोधी भावना का संचार किया। सभी जगहों के चारण, भाटों ने स्थानीय वीर नायकों जैसे कुशालसिंह चांपावत, डूंगर-जवारजी, करमा मीणा, लोटिया जाट की प्रशंसा में वीर रस के गीतों की रचना कर व जगह-जगह इन्हें गाकर जनसामान्य को क्रांति के लिए प्रेरित किया।

राजस्थानी के प्रसिद्ध क्रांतिकारी केसरीसिंह बारहठ की जन्मभूमि शाहपुरा (भीलवाड़ा) एवं कर्मभूमि कोटा थी। उन्होंने राजस्थान के सभी वर्गों को क्रांतिकारी गतिविधियों से जोड़ने के लिए 1910 ई. में 'वीर भारत सभा' की स्थापना की।

राजस्थान में सशस्त्र क्रांति का संचालन किया तथा स्वतंत्रता की आग में अपने सम्पूर्ण परिवार को झोंक दिया। 1903 ई. में 'चेतावनी रा चुंगट्या' लिखकर मेवाड़ महाराणा फतेहसिंह में राष्ट्रीय भावना जागृत की। प्रताप चरित्र, दुर्गादास चरित्र, रूठी रानी आदि ग्रंथ लिखकर अपनी साहित्यिक रुचि का परिचय दिया। इस वीर रस के कवि, साहसी क्रांतिकारी का 1941 ई. में स्वर्गवास हुआ।

भारत के प्रसिद्ध क्रांतिकारी भूपिसिंह (विजयसिंह पथिक) की जन्म भूमि बुलंद शहर एवं कर्मभूमि राजस्थान था। इन्होंने 'राजस्थान केसरी', 'नवीन राजस्थान' पत्रिकाओं का संपादन किया। क्रांतिकारियों की भर्ती व प्रशिक्षण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। संकट की घड़ी में राजस्थान की जनता एवं स्वतंत्रता सेनानी विजयसिंह पथिक से ही प्रेरणा पाते थे। राजस्थान में स्वतंत्रता आंदोलन के प्रसिद्ध स्वतंत्रता सेनानी एवं क्रांतिकारी अर्जुनलाल सेठी की जन्म भूमि जयपुर थी। आपने अजमेर को अपनी कर्मभूमि बनाया जहां 'शूद्र मुक्ति', स्त्री मुक्ति, महेन्द्र कुमार आदि पुस्तकें लिखीं। इन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करने का प्रयास किया। इनका 1945 में अजमेर में देहावसान हुआ।

❊ ❊ ❊

भारतीय संस्कृति के सम्प्रत्यय, महत्व एवं आवश्यक तत्व

कुमार गौरव

मानव अपने विकासक्रम में जिन विश्वासों, मान्यताओं, जीवन यापन विधियों, परंपराओं को स्वीकृति दी है, उसी ने उसके लिए एक संस्कृति को जन्म दिया है। प्रत्येक व्यक्ति की संस्कृति उसके संस्कारों से बनती है। यह संस्कार ही व्यक्ति को सुसंस्कृत बनाते हैं। जो किसी भी विकासशील बालक को उसके सदाचार पूर्ण कर्तव्य का स्मरण दिलाते हैं और एक आदर्श मानव बनाने के लिए प्रेरित करते हैं। भारतीय संस्कृति का जन्म तो व्यक्ति के व्यक्तिगत, शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक, आध्यात्मिक तथा सामाजिक विकास के समन्वित रूप में हुआ है और व्यक्ति के व्यक्तिगत एवं सामाजिक व्यवहार, मान्यताएं, परंपराएं, विश्वास, रहन-सहन, खान-पान इत्यादि प्राचीनकालीन संस्कृति के ही पोषक रहे हैं। संस्कृति एक स्थान से दूसरे स्थान, एक देश से दूसरे देश में बदलती रहती है। इसका विकास एक स्थानीय क्षेत्रीय अथवा राष्ट्रीय संदर्भ में विद्यमान ऐतिहासिक प्रक्रिया पर आधारित होता है। संस्कृति इतनी व्यापक और वृहद् चेष्टा का भंडार है जो सनातन काल से क्रमिक रूप से निखरती आई है और जिन्होंने मानव के सर्वांगीण विकास में पूरा पूरा योगदान दिया है। संस्कृति मानव समूह के आचार विचारों की

प्रणाली का प्रतिनिधित्व करती है जो मनुष्य को सुसंस्कृत बनाकर सभी प्रकार से योग्य एवं समर्थ बनाती है। श्री राजगोपाल आचार्य के अनुसार ''किसी भी जाति अथवा राष्ट्र के शिष्ट पुरुषों में विचार, वाणी एवं क्रिया का जो रूप व्याप्त रहता है उसी का नाम संस्कृति है।'' मानव को सभ्य बनाने में संस्कृति की बहुत आवश्यकता है। भारतीय संस्कृति का उद्देश्य मनुष्य के आंतरिक आस्थाओं और व्यक्तिगत तथा सामाजिक गतिविधियों को उच्च नैतिक आधारों पर विनिर्मित करना है। यह महत्वपूर्ण निर्माण कार्य मानव जीवन में बिना संस्कृति के नहीं हो सकती है। संस्कृति का प्रधान उद्देश्य जहां नैतिकता का निर्माण है वहां राष्ट्रीयता को मजबूत बनाना भी है। संस्कृति सदैव ही मनुष्य को स्वीकृत व्यवहारों के तरीके प्रदान करती है तथा यह भी बताती है कि कैसे एक कार्य को संपादित किया जाना चाहिए एवं कैसे एक व्यक्ति को समुचित व्यवहार करना चाहिए। संस्कृति के कुछ प्रमुख तत्व होते हैं। जिनमें विषय प्रयोजन और कार्य की दृष्टि से अंतर होने पर भी वे सामान्यत: सभी समाजों को देखने को मिलते हैं। जैसे कि भाषा, मानव संसर्ग अथवा साहचर्य की आधारशिला है, जो कि किसी भी संस्कृति का प्राणस्वरूप होती है। किंतु आधुनिक भारतीय संस्कृति संस्कार विहीन संस्कृति ही रह गई है। आज का मानव ना तो मानवीय गुणों से पूर्ण होकर बंधुत्व, सहयोग, परोपकार पर आधारित सर्वहितकारी कार्य करने की इच्छा रखता है और ना ही वह सत्य अहिंसा को जीवन का अंग बनाकर मानव जीवन के सर्वोच्च दिशा तक पहुंचने का प्रयास करता है बल्कि वह तो केवल अपने भौतिक सुखों की प्राप्ति की ही चिंता में लगा रहता है। जो सिद्धांत, आदर्श और आचार-विचार आज कुछ अटपटे से लगते हैं और जिनकी वास्तविकता में संदेह होने के कारण लोग उन्हें अपनाने को तैयार नहीं होते, यदि उनको संस्कृति के वैज्ञानिक दृष्टि से उपयोगिता और व्यवहारिक दृष्टि से आवश्यकता को समझा दिया जाए तो उपहास करने के स्थान पर वे इन तथ्यों को हमारे जीवन के एक महत्वपूर्ण अंग बनाकर हमारे उत्थान में भारी सहायता पहुंचा सकते हैं। पुरानी होने पर भी हर वस्तु में कुछ विकार होते हैं। हमारी संस्कृति में भी आए हैं, पर मूल वस्तु शुद्ध हो तो भारी विकार जल्दी ही दूर हो जाते हैं, जैसे कि चांदी जमीन में पड़ी रहे तो मैली हो जाती है पर उसे मांजने पर फिर से पहले जैसा निखार आ सकता है। भारतीय संस्कृति ने भी प्राचीन काल में इस देश के कोने कोने में आदर्शवादिता का शुभ प्रकाश फैलाया था और सुख शांति की स्वर्गीय परिस्थितियों का इस भूमि पर अवतरण किया था। अत: प्रयत्न करने पर फिर से वैसा ही संस्कृति का स्वरूप प्राप्त किया जा सकता है। सांस्कृतिक पुनरुत्थान आज की महान आवश्यकता है। उसकी उपेक्षा करने से प्रगति पथ पर आगे नहीं बढ़ा जा सकता है।

❊ ❊ ❊

झुंझनूं जिले के प्रमुख दर्शनीय स्थल

श्रीमती एकता

झुंझनूं जिले की स्थापना 1730 ई. में जुझारूसिंह नेहरा ने की थी। झुंझनूं का अंतिम नवाब रूहेल खान था जो आसपास के अपने वंश के नवाबों द्वारा प्रताड़ित किये जाने से दुखी था इसलिए उसने शार्दुल सिंह शेखावत को अपने यहां बुला लिया तथा रूहेल खान की मृत्यु के बाद विक्रम संवत् 1767 में झुंझनूं पर राजपूतों का अधिकार हो गया। शार्दुलसिंह की मृत्यु के बाद इस क्षेत्र को उसके पांचों पुत्रों जोरावरसिंह, किशनसिंह, अक्षयसिह, नवलसिंह एवं केसरीसिंह के बीच में बांट दिया गया और यही क्षेत्र पंचपना कहलाया। जोरावरसिंह व उनके वंशजों के अधीन चोंकड़ी, मलसीसर, डाबड़ी, सुल्ताना, बगड़, गांगियासर, काली पहाड़ी आदि का शासन था जबकि किशनसिंह और उसके वंशज खेतड़ी, अलसीसर, हीरवा आदि के शासक थे। नवलसिंह और उनके वंशजों के अधीन नवलगढ़, मंडावा, महनसर, मुकुंदगढ़, इस्माईलपुर आदि का शासन था। केसरीसिंह व उनके वंशजों का बिसाऊ, सूरजगढ़ व डूंडलोद के शासन में रहा तथा अक्षयसिंह नि:संतान थे। झुंझनूं जिले में 8 तहसीलें - झुंझनूं, चिड़ावा, खेतड़ी, बुहाना, नवलगढ़, उदयपुरवाटी, मलसीसर, सूरजगढ़ तथा गांवों की संख्या 945 तथा 22 शहर व कस्बे हैं। यहां के दर्शनीय महल हैं-खेतड़ी महल, अख्येगढ़ महल, डूंडलोद का गढ़, नवलगढ़ का किला, बिसाऊ का गढ़, मंडावा का किला, दलेलगढ़, मुकुंदगढ़ आदि।

❊ ❊ ❊

साहित्य और कलानुशासन : अन्तरावलम्बन की भूमिका

डॉ. कल्पना मौर्य

साहित्य अथवा कोई भी सृजन कार्य अपने समय की अन्य सक्रियता से निरपेक्ष नहीं रह सकता है। वास्तव में साहित्य और कला अन्य अनुशासनों से उत्प्रेरणा ग्रहण करती है और अपने आप को ज्यादा समृद्ध करती है। विभिन्न अनुशासनों के बीच एक अंतरसंवाद होता रहता है। जो रूप और कथ्य दोनों ही स्तरों पर उद्घाटित होता है। यह कहना सही होगा कि समस्त अनुशासनों का सहअस्तित्व एक सत्य है और यह कभी समाप्त न होने वाली प्रक्रिया है। यही वजह है कि साहित्य और कला के क्षेत्र में अन्तरअनुशासन की दृष्टि सतत गत्यात्मक दृष्टि है। यह दृष्टि किसी भी सृजक की रचना-प्रक्रिया का एक अंग होती है। इस दृष्टि के जरिये रचनाकार अपनी कल्पना को रूप देता है और उस शैली को अपनाता है। जिससे उसकी रचना अस्तित्व में आती है।

साहित्य का अपना एक व्यक्तित्व है और इस व्यक्तित्व में विभिन्न अनुशासनों के सिद्धांत और विचार अपने आप ही आ जाते हैं। लगभग उसी तरह जैसे किसी व्यक्ति को सांस्कृतिक उत्तराधिकार प्राप्त होता है। भाव संवेदना और ज्ञान संवेदना दोनों ही स्तरों पर हम यह प्रक्रिया देख सकते हैं। चूंकि सभी कलाओं और साहित्य में सौन्दर्य बोध एक प्रमुख तत्व है, वह कलाओं को परखने के लिए समान आधार उपलब्ध करता है।

भारतीय परम्परा के अनुसार व्यक्ति के मन में भाव स्थिर होते हैं। जो नये-नये रूप में सौन्दर्य को देखकर और सुनकर जागृत हो जाते हैं। यह सौन्दर्य मूलक चेतना कलाकार और रसिक के मन में समान रूप से प्रकट होती है। माध्यम अलग होने के बावजूद सौन्दर्य चेतना का स्वरूप एक ही होता है। इसी वजह से एक-दूसरे अनुशासनों के बीच अन्तरक्रिया एक सहज प्रक्रम है। वास्तव में जब साहित्य और कला अनुशासन एक-दूसरे से बेखबर होने लगते हैं तब उनमें संकीर्णता आती है और सार्वकालिकता का अभाव होता है। अन्य अनुशासनों से निरपेक्ष रहकर स्वायत्त सत्ता वाला साहित्य या कलानुशासन पाठक, श्रोता और दर्शक को एक बन्द संसार में ले जाता है। वही साहित्य और कलानुशासन हमारे अनुभव-जगत का विस्तार करता है जो स्वयं समावेशी और संवेदनशील होता है।

* * *

शेखावाटी के पर्यटन स्थलों का ऐतिहासिक अध्ययन

डॉ. धर्मराज शिवाजी पवार

पर्यटन ही एकमात्र ऐसा उद्योग है जिससे प्रत्येक राष्ट्र की धार्मिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और सामाजिक विकास की क्रियाएं आबद्ध है। पर्यटन के माध्यम से राष्ट्रीय कोष में विदेशी मुद्रा की प्राप्ति होती है, साथ ही रोजगार के नए अवसर भी निर्मित होते हैं। प्राचीन काल से ही भारतीय परंपरा 'अतिथि देवो भव:' की रही है।

झुंझनूं-यह शेखावाटी खेत्र का प्राचीन एवं ऐतिहासिक कस्बा है। 11वीं सदी में यहां जोड़ चौहानों का शासन था। मालूम होता है कि सिद्धराज चौहान ने झुंझारों की स्मृति में इसका नाम झुंझारनूं अर्थात् जो झुझारों की स्मृति में इसका नाम झुझारनूं अर्थात् झुझारों का। 'नू' गुजराती का 'का' का सूचक है। इस प्रकार यह झुंझारों का स्थान झुंझनूं हो गया है। जोड़ चौहानों ने यहां विक्रम की 16वीं शती के प्रारम्भ तक शासन किया। विक्रम संवत् 1507 के लगभग झुंझनूं पर कायमखानी मुसलमानों का अधिकार हो गया। मुहममद खां यहां का प्रथम नवाब था। इससे लेकर अंतिम नवाब रोहिला खां तक यहां नवाबों का राज्य रहा। विक्रम संवत् 1787 में शार्दुलसिंह शेखावत ने रोहिला खान से

झुंझनूं परगने का राज्य छीन लिया। शार्दुलसिंह की मृत्यु विक्रम संवत् 1799 के बाद यह कस्बा उनके पांच पुत्रों के अधीन हुआ। पंचपानोंके अधिकार में रहा। यहां पर्यटकों के लिए निम्नलिखित स्थान देखने योग्य हैं—शेखावतों की छतरियां, खेतड़ी महल, मंदिर, हवेलियां आदि। इनके अतिरिक्त काना पहाड़ की गोद में बनी कमर दी शाह की दरगाह, बादलगढ़, शहीद भीखन का मकबरा, कायमखानी नवाब समसखां एवं रोहिला खान के मकबरे, जोरावरगढ़ आदि भी दर्शनीय है।

बिसाऊ-झुंझनूं के उत्तर-पश्चिम में चूरू जिले की सीमा पर स्थित बिसाऊ भी एक पर्यटक स्थल है। शार्दुलसिह के पुत्र केसरीसिंह यहां के प्रथम शासक थे। विक्रम संवत् 1803 में इन्होंने यहां एक गएत्र का निर्माण करवाया। आजादी तक इनके वंशजों ने यहां शासन किया। यहां के बिसाऊ शासक केसरीसिंह की हवेली आकर्षक है।

अलसीसर-झुंझनूं राजगढ़ मार्ग पर उत्तर में 25 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। शार्दुलसिंह झुंझनूं के पौत्र समर्थसिंह द्वारा विक्रम संवत् 1840 में यहां गढ़ का निर्माण करवाया गया था। आजादी तक यहां इनके वंशजों का जो अधिकार रहा। गढ़ के अतिरिक्त यहां हरमुखराय राजाराम जयराम तुलस्यान की हवेली, झाबरमल झुंझनूंवाला की हवेली, मदनलाल बहादुरमल की हवेली, तेजपाल झुंझनूंवाला की हवेली, बस स्टेण्ड के पास लालबहादुरमल का कुआं, लक्ष्मीनाथ मंदिर, सत्यनारायण मंदिर, मंगलचंद मरोटिया द्वारा बनाया गया तालाब आदि स्थापत्य और भित्ति चित्रों की दृष्टि से देखने योग्य है।

मलसीसर-अलसीसर से लगभग उत्तर में 5 किमी दूरी पर स्थित है। ठाकुर शार्दुलसिंह झुंझनूं के पौत्र महानसिंह ने सुंदर गढ़ व महल बनवाए। जो दर्शकों के लिए आकर्षण के केंद्र हैं। इनके अलावा प्रेमागिरी का स्थान बंका कुआं, जोशीराम झुंझनूंवाले का कुआं, जोगीराम झुंझनूंवाले का कुआं तथा कई हवेलियां दर्शनीय है।।

चिड़ावा-झुंझनूं से 30 किलोमीटर पूर्व में स्थित है। विक्रम की तेरहवीं सदी में चौड़सी चौहान द्वारा बसाया गया माना जाता है। यहां के दर्शनीय भवनों में ठाकुर सिदास नागौर की छतरी करीब करीब 125 वर्ष पुरानी दुलीचंद की हवेली, विक्रम संवत 1956 में बनवाई गई गोरखराम सेखसरिया की हवेली, जवाहरमल डालमिया की हवेली, रघुनाथजी का मंदिर आदि देखने योग्य है।

बगड़-यह इस क्षेत्र का प्राचीन स्थान है। यह झुंझनूं से 14 किलोमीटर पूर्व में स्थित है। संभवत् बागड़ प्रदेश का केंद्र स्थल होने के कारण बागड़ 'बगड़' कहलाया। यहां सोलहवीं सदी विक्रम संवत् से 1788 विक्रम तक नागड़ पठान व बाद में पंचपानो का शासन रहा। यहां फतेहसागर तालाब, विक्रम संवत 1934 पीरामलजी की हेली,

गंगाधरजी की हवेली, रूगटा हवेली आदि दर्शनीय है।

खेतड़ी-झुंझनूं से 60 किलोमीटर पूर्व दक्षिण में स्थित है। खेतड़ी कस्बा 400 वर्ष से भी पुराना है। वि.सं.1691 में रचित 'क्यामखांरासा' में खेतड़ी का नाम आता है। पहले यहां निर्वाणों का शासन था, फिर भोपालसिंह, किशनसिंह व उनके वंशजों ने आजादी तक शासन किया। भोपालसिंह द्वारा बनवाया गया पहाड़ी दुर्ग तथा इसके महल पर्यटकों के आकर्षण है। गढ़ और महलों की स्थापत्य तथा भित्ति चित्र और प्राकृतिक दृश्य पर्यटक के लिए आकर्षक का केंद्र है।

उदयपुरवाटी-सही नाम उदयपुर है। 'वाटि' का अर्थ होता है' क्षेत्र या 'इलाका'। अत: उदयपुरवाटी का अर्थ उदयपुर का इलाका अब शहर का नाम उदयपुरवाटी रख दिया गया है। यहां के दर्शनीय स्थानों में टोडरमलजी महल, गोपीनाथजी का मंदिर, मोहन शाह की बावड़ी, 52 कुई अकबर के समय में इनसे तांबा निकाला जाता था। वि.सं. 1758 में निर्मित जोगीदास की छतरी, शेखावाटी के प्रारंभिक भित्ति चित्रों की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थल है।

परसरामपुरा-परसरामपुरा भोजराज के पुत्र टोडरमल उदयपुर के पुत्र रघुनाथसिंह के वंशज शिवसिंह व विष्णुसिंह के अधिकार में था। वि.सं. 1772 के लगभग शार्दुलसिंह शेखावत के अधिकार में हुआ।

नवलगढ़-यह नगर झुंझनूं से दक्षिण पश्चिम में 35 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। वि.सं. 1794 शार्दुलसिंह झुंझनूं के पुत्र नवलसिंह ने यहां गढ़ बनवा कर इस नगर की स्थापना की। उस समय से आजादी तक यह नवलसिंह के वंशजों के अधिकार में रहा। नवलगढ़ स्थापना के समय यहां गोपीनाथजी का मंदिर भी बनवाया गया। इसके अलावा गढ़ में बने महल आदि भी दर्शनीय है।

डूण्डलोद-झुंझनूं से उत्तर पश्चिम में 32 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। शार्दुलसिंह के पुत्र केसरीसिंह ने यहां 1807 वि.सं. में गढ़ का निर्माण करवाया तथा बाद में समय-समय पर इस गढ़ में महल आदि बनते रहे। रावल हरनाथसिंह जी का यहां दीवानखाने में दुर्लभ पुस्तकों का संग्रह है।

मुकन्दगढ़-डूण्डलोद के उत्तर में थोड़ी सी दूरी पर मुकंदसिंह शेखावत के नाम से मुकन्दगढ़ कस्बा बसा हुआ है। यहां के गढ़ और उसमें स्थित महल तथा अनेकों हवेलियां दर्शनीय है। मण्डावा, सीकर, खंडेला, हर्ष, लक्ष्मणगढ़, फतेहपुर, रामगढ़ आदि स्थल समृद्ध सांस्कृतिक परंपरा को समेटे हैं।

शेखावाटी में पर्यटन से संबंधित समस्याएं-1. यातायात से संबंधित समस्याएं, 2. आवाज संबंधित समस्या, 3. उचित पर्यटन विपणन एं विज्ञापन विधि का अभा, 4. टूर

ऑपरेटर्स एवं ट्रेवल एजेंसी की कमी, 5. पर्यटन अवधि का कम होना, 6. बिचौलियों एवं अभिकर्ता उसे संबंधित समस्या, 7. पर्यटन स्थलों पर हाइजेनिक खानपान की व्यवस्था का अभाव, 8. प्रशिक्षित एवं अनुभवी मार्गदर्शकों का अभाव, 9. व्यवसायियों द्वारा दूर व्यवहार की समस्या, 10. स्वास्थ्य संबंधित सेवाओं की कमी, 11. शेखावाटी क्षेत्र में सरकार द्वारा मेला आयोजनों का अभाव।

❊ ❊ ❊

राजकीय संग्रहालय (अकबर दुर्ग) अजमेर में प्रदर्शित शिल्प व मूर्तिकला का ऐतिहासिक विश्लेषण

रमा शर्मा

अजमेर नगर का पुराना नाम अजयमेरु है, अजय का अर्थ है जिसे जिता ना जा सके मेरु का अर्थ होता है पर्वत, अजमेर जिला भारत के पश्चिमी भाग में तथा राजस्थान के मध्य में स्थित है। कर्नल टॉड अपनी पुस्तक 'राजस्थान का इतिहास' के पृष्ठ 608 पर कहते हैं कि ''आठवीं शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक चौहान राज्य अजमेर से सिंध की सीमा तक फैला हुआ था। उनकी राजधानियां अजमेर, नागौर, जालौर, सिरोही और चुनाचोटन थी। यों तो साधारण तौर पर वे सभी स्वतंत्रता का जीवन व्यतीत करते थे परन्तु उनको कुछ बातों में अजमेर की अधीनता स्वीकार करनी पड़ती थी। अजमेर का सांस्कृतिक आर्थिक और सामाजिक इतिहास बहुत समृद्ध रहा है। वर्तमान में यहां राजकीय संग्रहालय स्थित है। यहां की प्रमुख दीर्घाएं निम्नलिखत हैं-

उत्खनन दीर्घा-इस संग्रहालय की प्रथम दीर्घा उत्खनन दीर्घा है। इस दीर्घा में प्रदर्शित संग्रह 20वीं शताब्दी के प्रारम्भिक उत्खननों से प्राप्त पुरावशेषों से लेकर 1947 में भारतीय आजादी के बाद तक उत्खनित पुरावस्तुओं से की गई है। माना जाता है कि हडप्पा सभ्यता मिश्र और मेसोपोटोमिया के साथ सबसे पुरानी विश्व सभ्यताओं में से एक है। हडप्पा सभ्यता सभ्यता विशाल सिंधु नदी के किनारे विकसित हुई है और इसी कारण से इसे सिंधुवाटी सभ्यता के रूप में जाना जाता है। इस दीर्घा में अधिकांश प्रदर्शन हडप्पा सभ्यता के महत्वपूर्ण केन्द्रों, प्राचीन शहरों जैसे हडप्पा, मोहन जोदड़ो, काली बंगा की पुरावस्तुओं का है, जिनमें कुछ मूल है और बाकी प्रतिकृतियां। हडप्पा सभ्यता ने कई मुहरों का निर्माण किया जिनकी प्रतिकृतियां प्रदर्शित है। कई मुद्राओं में अभिलेख एक जैसे भाषा वर्गों और प्रतीकों में है जिनका अभी तक उद्वाचन नहीं हो सका है। यह मुद्राएं सिंधु घाटी सभ्यता के बारे में उपयोगी जानकारी देती है और अलग-अलग ज्यामितीया आकृतियों में इन्हें देखा जा सकता है।

एक और उल्लेखनीय संग्रह विविध प्रकार के खिलौने, पशु आकृति वस्तुओं और घरेलु उपकरणों का है। दीर्घा में मिट्टी के बर्तनों की एक शृंखला प्रदर्शित की गई है जो कि विभिन्न क्षेत्रीय शैलियों के बर्तन के आकार एवं प्रकार का प्रतिनिधित्व करती है। इनमें स्टेण्ड, गांवलेट, बीकर, टम्बलर, धिद्रित मिट्टी के बर्तन और छोटे-छोटे मटके शामिल है। मिट्टी के बर्तनों को मुक्हारों द्वारा पहिये पर बनाकर अच्छी तरह से पकाया गया है और उन्हें बारीक लाइनों, समानान्तरण लाइनों एवं समकक्ष चक्कों की विभिन्न ज्यामितीय आकृतियों से सुसज्जित किया हुआ है। इस दीर्घा में प्रदर्शित पुरासम्पदा एवं उसकी विविधता, भारतीय सांस्कृतिक विरासत की व्यापक जानकारी एवं निरन्तरता के साक्ष्य प्रदान करती है। यहां लघु मृदभांड, कलश फूलदान, काले चित्रित हडप्पा कालीन लाल मृदभाण्ड, शीष्ट ब्लेड्स, शीष्ट पत्थर के टुकड़े, विभिन्न ताम्र उपकरण, ताम्र कुल्हाड़ियां, मानव आकृतियां, पशु आकृतियां, पक्की ईंट, बाट आदि प्रदर्शित है।

मूर्तिकला दीर्घा-इस दीर्घा में भिन्न-भिन्न कला श्रेणियों के चयनित उदाहरण है जो इस अवधि के दौरान विभिन्न क्षेत्रों में एक साथ विकसित हुई। छठी शताब्दी ई. के अन्त में गुप्त साम्राज्य के विघटन के परिणामस्वरूप कला के क्षेत्रीय शाखाओं में वृद्धि हुई एवं स्थानीय शक्तियों का उदय हुआ है। पूर्व में पाल एवं सेन जैसे क्षेत्रीय शक्तियों, दक्षिण में चोल, होयसल, विजयनगर के शासक और नायक तथा उत्तर में प्रतिहार, चहमान (चौहान), गहडवाल, परमार और चन्देलों आदि ने भारत में मंदिर कला और वास्तुकला को प्रोत्साहित करना जारी रखा। राजस्थान में विभिन्न शासकों और राजवंशों के संरक्षण के तहत कुछ शानदार और अति सुंदर मंदिर बनाये गये थे। इस अवधि की कला में देव एवं मानव रूप में विस्तार को दर्शाया गया है। चेहरे की विशेषता में तीक्ष्णता, अलंकरण में वृद्धि और औपचारिक मुद्राओं की झलक मिलती है।

प्रमुख मूर्तियां निम्नलिखित हैं-शिव और पार्वती, शिव, शेषशायी विष्णु, सूर्य, विष्णु, चतुर्भुज विष्णु, कुबेर, कृष्ण की प्रतिमा, लिंगोद्भव, गणेश, लक्ष्मीनारायण, ब्रह्मा, विष्णु और शिव, लक्ष्मी, लकुलीश, नक्षत्रगण, भैरव, वराह।

जैन दीर्घा-प्रत्येक तीर्थंकर का एक विशिष्ट चिह्न होता है, जिसके माध्यम से भक्तगण एक समान दिखने वाली प्रतिमाओं में भी भेद कर सकते हैं। महावीर को आमतौर पर सिंह के प्रतीक चिह्न पर बैठे हुए या खड़ी अवस्था में ध्यान मग्न रूप में चित्रित किया जाता है। सिंह के प्रतीक चिह्न को अधिकांशत: महावीर के पैरों के नीचे अंकित किया जाता है। महावीर को अन्य तीथ ंकरों के समान श्री वत्स चिह्न और निर्लिप्त आंखों के साथ दर्शाया गया है। भगवान महावीर के वक्षस्थल पर श्रीवत्स के चिह्न का उत्कीर्णन ध्यान मुद्रा को प्रदर्शित करता है। कलाकृतियों का प्रारम्भ कुषाण काल से हुआ। दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों की महावीर प्रतिमाओं के बीच अंतर,

5वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में और इसके बाद की बनी कलाकृतियों में प्रकट होते हैं। इस दीर्घा में विभिन्न प्रकार के पत्थर (सफेद और काले संगमरमर रेत पत्थर आदि) की प्रतिमाओं द्वारा भगवान महावीर के आकार और मुद्रा प्रदर्शित किये गये हैं। इस दीर्घा में प्रदर्शित धातु कला उल्लेखनीय है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि वर्तमान में यह राजकीय संग्रहालय जो हमारी सभ्यता एवं संस्कृति को समेटे हुए हैं। इसके अन्दर न केवल वैदिक सभ्यता बल्कि परवर्ती काल की जैन, बौद्ध सभ्यताओं व भागवत के विषय में भी जानकारी मिलती है।

❊❊❊

राजस्थान में किसान आन्दोलन

श्रवण कुमार खीचड़

राजस्थान में ब्रिटिश आधिपत्य के बाद अत्यधिक ऊंची लगान दरें, लाग-बाग एवं बैठ-बेगार में बढ़ोतरी, कठोर कर वसूली तथा सामंती अत्याचारों आदि के कारण किसानों को आंदोलन करना पड़ा। राजस्थान में कृषकों के आन्दोलन बिजौलिया, बेगूं, बून्दी, अलवर, शेखावाटी, मारवाड़, बीकानेर आदि स्थानों पर हुए। इन किसान आन्दोलनों को राजनीतिक कार्यकर्ताओं ने कुशल नेतृत्व प्रदान किया। इन आंदोलनों ने शासकों और अंग्रेजी सरकार की दमनकारी नीति को जनता के सामने रखा तथा राजनैतिक चेतना के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

बजौलिया किसान आन्दोलन-भारत में एक संगठित किसान आंदोलन की शुरूआत का श्रेय मेवाड़ के बिजौलिया क्षेत्र को जाता है। बिजौलिया के राव सवाईसिंह के समय वहां की जनता से 84 प्रकार की लागें ली जाती थी। उसने जनता पर 'चंवरी कर' लगाया। किसानों के विरोध के कारण अन्तत: चंवरी कर की लाग माफ कर दी। इसके पश्चात् राव पृथ्वीसिंह ने लगान में वृद्धि की तथा किसानों पर 'तलवार बंधाई' की लागत लगा दी। प्रारम्भ में इस आन्दोलन का नेतृत्व साधु सीतारामदास और बाद में विजयसिंह पथिक ने किया। जागीरदारों द्वारा किसानों पर लगाये गये करों और विभिन्न लाग-बाग व बेगार के विरुद्ध यह आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। साधु सीतारामदास के नेतृत्व में किसानों ने एक वर्ष तक के लिए खेती करना स्थगित कर दिया परन्तु सफलता नहीं मिली, तत्पश्चात् विजयसिंह पथिक ने इसको नेतृत्व प्रदान किया। राजपुताना स्थित एजेन्ट सर रॉबर्ट हॉलेण्ड के प्रयत्नों से राजस्थान सेवा संघ के कार्यकर्ताओं-रामनारायण चौधरी, माणिक्यलाल वर्मा आदि के बीच समझौता हो गया। समझौते के अनुसार

किसानों की अनेक मांगें स्वीकार कर ली गई जिनमें बेगार प्रथा की समाप्ति, लाग-बाग का उन्मूलन, किसानों के मुकदमे वापस लेना आदि प्रमुख थे। यह आन्दोलन 1941 ई. में समाप्त हुआ।

बेंगू किसान आंदोलन-बेंगू के किसानों ने अनावश्यक व अत्यधिक करों, लाग-बाग, बेगार व सामंती जुल्मों के विरुद्ध रामनारायण चौधरी के नेतृत्व में 1921 ई. में आन्दोलन शुरू किया। यहां के दो प्रमुख किसान नेता रूपाजी व कृपाजी धाकड़ सेना की गोलीबारी से शहीद हो गये परन्तु किसान अपनी मांगों के लिए जूझते रहे। अन्ततः 53 में से 34 लागतें समाप्त करने, बेगार पर रोक लगाने की घोषणा कर किसानों से समझौता करना पड़ा।

बूंदी किसान आन्दोलन-पं. नयनूराम, रामनारायण चौधरी और हरिभाई किंकर के नेतृत्व में 1922 ई. में बूंदी के किसानों ने भी अन्याय व लाग-बाग के विरुद्ध आन्दोलन किया। डाबी व बरड़ गांव में किसानों की सभा पर गोलियां चलाई। इस गोलीकांड में नानकजी भील नामक किसान मारा गया। फिर भी किसानों की मांगों की उपेक्षा की गई।

अलवर किसान आन्दोलन-सूअरों के उत्पात से दुखी होकर किसानों ने 1921 ई. में आन्दोलन शुरू किया। अन्ततः राजा ने किसानों से समझौता कर सूअर मारने की इजाजत दे दी। इसके पश्चात् किसानों ने लगान वृद्धि के विरोध में नीमूचाणा गांव में 14 मई 1925 ई. को सभा का आयोजन किया। इस सभा पर सैनिकों ने अंधाधुंध गोलियां चलाई जिसमें सैकड़ों किसान मारे गये। गांधीजी ने इस घटना को 'जलियांवाला बाग हत्याकांड से भी वीभत्स' बताया।

शेखावाटी किसान आन्दोलन-लगान में वृद्धि एवं अन्याय के विरुद्ध सीकर, झुंझनूं, चिड़ावा, मण्डावा, डूण्डलोद आदि के किसानों ने भी आन्दोलन प्रारम्भ किया। वर्षा न होने पर भी सीकर ठिकाने के राजा कल्याणसिंह ने 25 प्रतिशत कर वृद्धि की व लगान को कठोरता से वसूल किया। कूदर गांव में केप्टन वेब द्वारा व्यापक नरसंहार करवाया गया। रामनारायण चौधरी के प्रयासों से मई 1925 ई. में इंग्लैण्ड के 'हाउस ऑफ कॉमन्स' में सदस्य पेट्रिक लॉरिन्स ने सीकर के किसान मामले में प्रश्न पूछा। सीकर किसान आन्दोलन में महिलाओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही। सिहोट के ठाकुर मानसिंह के द्वारा सोतिया का बास नामक गांव में किसान महिलाओं के साथ किये गये दुर्व्यवहार के विरोध में 25 अप्रैल 1934 ई. को कटराथल नामक स्थान पर श्रीमती किशोरी देवी की अध्यक्षता में एक विशाल महिला सम्मेलन का आयोजन किया गया। इस सम्मेलन में लगभग 10 हजार महिलाओं ने भाग लिया। अन्ततः जयपुर राज्य की मध्यस्थता से लगान में कमी व भूमि बंदोबस्त करने पर आन्दोलन समाप्त हुआ। इसी

प्रकार झुंझनूं में भी किसानों के शोषण के विरुद्ध आन्दोलन किया। इसका समर्थन अखिल भारतीय जाट महासभा ने किया तथा किसानों की मांगों को मानने पर बल दिया। 1938 ई. में जयपुर प्रजामण्डल ने भी इसका समर्थन किया परन्तु इसका स्थायी समाधान स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ही हो पाया।

मारवाड़ किसान आन्दोलन-मारवाड़ में किसानों का नेतृत्व श्री जयनारायण व्यास व राधाकृष्ण तात आदि कार्यकर्ताओं ने किया। लगान वृद्धि के विरोध में मारवाड़ के किसानों ने भी आन्दोलन शुरू किया। मारवाड़ हितकारिणी सभा के माध्यम से कृषकों की समस्याओं के प्रति सक्रिय जनमत तैयार हुआ। 1939 ई. मारवाड़ लोक परिषद ने भी किसानों की मांगों का समर्थन किया। 'हरिजन' समाचार पत्र में राज्य की आलोचना होने के बाद दिसम्बर 1943 ई. में दरबार ने जागीरों के भूमि बंदोबस्त के आदेश दिये। इस कारण जागीरदारों ने किसानों पर अत्याचार बढ़ा दिये। इसकी पराकाष्ठा 'डाबड़ा कांड' के रूप में हुई, जहां 13 मार्च 1947 ई. को पुलिस ने परिषद कार्यकर्ताओं व किसानों के शांतिपूर्ण जुलूस पर हमला कर दिया। इसमें सैकड़ों लोग मारे गये व कई घायल हुए। इस हत्याकाण्ड की पूरे देश में समाचार पत्रों - वंदे मातरम्, लोकवाणी, प्रजासेवक, हिंदुस्तान टाईम्स आदि ने कठोर निंदा की। इस गम्भीर समस्या का समाधान भी स्वतंत्रता के पश्चात् ही हो पाया।

बीकानेर किसान आन्दोलन-यहां के किसान भी मनमाने राजस्व, लाग-बाग, पशुकर एवं बेगार के भार से त्रस्त थे। इस राज्य में घोर निरंकुशता एवं सामंती शोषण था। यहां के जागीर क्षेत्रों में जागीरदार लगभग 37 प्रकार की लाग-बागें किसानों से लेते थे। यहां विरोध की शुरूआत सर्वप्रथम 1937 ई. में उदरासर के किसानों ने की थी। उन्होंने गैर कानूनी लाग-बागों के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई थी। बीकानेर राज्य में महाजन, दूधवाखारा तथा कांगड़ आदि स्थानों पर किसानों के आंदोलन हुए। कांगड़ा आंदोलन जागीरदारों के अत्याचारों से उपजा किसान आंदोलन था। 1946 ई. में खरीफ की फसल नष्ट होने के कारण अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। लगभग 35 किसान महाराजा को याचिका प्रस्तुत करने बीकानेर पहुंचे। जागीरदारों ने कांगड़ गांव के किसानों के साथ खुलकर लूटपाट की। पुरुषों, महिलाओं एवं बच्चों पर अमानवीय अत्याचार किये। यह घटना 'कांगड़ काण्ड' के नाम से प्रसिद्ध है। यहां के किसानों की समस्याओं का निराकरण स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ही हो सका। इस प्रकार राजस्थान में किसान आन्दोलनो ने सामंती व्यवस्था को समाप्त करने तथा प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था की भावना को विकसित करने में उल्लेखनीय योगदान दिया। किसानों व जनता केपक्ष में राष्ट्रीय नेताओं और कांग्रेस का भी समर्थन प्राप्त किया।

❊ ❊ ❊

भरतपुर के जाट शासक जवाहरसिंह द्वारा दिल्ली की लूट का ऐतिहासिक अध्ययन

डॉ. कुलराज व्यास

बलराम इस समय सबसे शक्तिशाली था, जवाहर से उसने साफ कह दिया कि जहां-जहां सूरजमल के खजाने पड़े हैं उन्हें नहीं बतलाएगा। नाहरसिंह धौलपुर में बैठकर उसे गद्दी से उतारने की साजिश कर रहा था। बैर के राजा बहादुरसिंह ने जवाहरसिंह को राजा मानने से इनकार कर दिया और वह स्वयं स्वतंत्र शासक बनने के प्रयत्न करने लगा। राजा के कई उच्च पदाधिकारियों ने युवक राजा जवाहरसिंह को हिसाब देने और शेष द्रव्य लौटाने से मना कर दिया। जवाहरसिंह के हाथ में अभी सत्ता आई थी इसलिए वह उन्हें मजबूर नहीं कर सकता था।

कुछ समय तक जवाहरसिंह शांत बना रहा। उसने अपने उद्दण्ड सरदारों की हरकतों को नजरअंदाज कर दिया आम लोगों के हृदय में सूरजमल के खून का बदला लेने की ज्वाला उठ रही थी और अधिकांश सरदार भी इसी पक्ष में थे किन्तु जवाहरसिंह को इसका श्रेय देना नहीं चाहते थे। जब जवाहरसिंह ने इस बात का प्रस्ताव किया तो किसी ने भी उसका अनुमोदन नहीं किया। जवाहरसिंह ने स्पष्ट शब्दों में उनको भला-बुरा कहा और धमकी दी कि यदि उसे 3पया मिल जाए तो वह अकेला ही दिल्ली पर हमला करेगा। इस समय दिल्ली का सांविक वजीर गाजीउद्दीन इमादुलमुल्क 1760 ई. में से भरतपुर में कैद था। उसने भी जवाहरसिंह को दिल्ली के मौजूदा वजीर नजीबुद्दौला खां के विरुद्ध भड़काया। वह जवाहरसिंह को प्रसन्न करके दिल्ली की वजारत हथियाना चाहता था। जवाहरसिंह ने अपनी माता किशोरी से आर्थिक सहायता के लिए निवेदन किया जिसने अपने दत्तक पुत्र दिल्ली पर आक्रमण करेन की अनुमति दे दी व आर्थिक सहायता भी दी। इस सहायता के संबंध में बलराम को कोई भेद मालूम ना हो सका।

माता किशोरी से अपार धन-संपत्ति प्राप्त करके जवाहरसिंह ने बड़े पैमाने पर युद्ध की तैयारी आरंभ कर दी। सर्वप्रथम उसने अपनी सेना को बढ़ा हुआ वेतन देकर उनको संतुष्ट किया। महाराजा सूरजमल इस सेना को दो वर्ष का वेतन नहीं दे पाए थे। फर्रूखनगर में जो सेना उसके अधीन थी और जिसने विरोधियों को परास्त करने में विशेष वीरता दिखाई थी उसे इनाम दिए गए। जवाहरसिंह ने अपने राजदूत रूपराम कटारिया को दक्षिण में मल्हार राव होल्कर के पास भेजा और पेशवा को भी सहायता के लिए रखा। रूपराम ने 22 लाख रुपये में होल्कर से 20000 सैनिक लेना तय किया। इसके अलावा

उसने 15000 सिक्ख सेना भी सहायता के लिए बुलाई। पेशवा ने मल्हारराव को संदेश भेजा कि युद्ध में जवाहरसिंह की सहायता की जाए और नजीब खान से पानीपत के अपमान का बदला लिया जाए। यह तैयारियां एक लंबे समय तक चलती रही अत: यह नजीबुद्दोला से छिप नहीं सकी। रूहेला के सरदार नजीब खां ने जवाहरसिंह को अनेक प्रकार से संतुष्ट करना चाहा किंतु उसकी क्रोधाग्नि शांत नहीं हुई। अंत में उसने कहा कि जो कुछ आपके पिता के भाग्य में लिखा था वह हो गया। यदि मेरे साथ लड़कर आप उन्हें जीवित कर सकते हो तो लड़े। मैंने आपके राज्य का कोई हिस्सा नहीं दबाया है और आप मुझ से लड़ाई क्यों मोल लेते हैं। हार-जीत तो भगवान के हाथ में है। अपने महान नरेश के घातक को दंड देना जाट जाति के लिए आत्मसम्मान का विषय बन चुका था। कुछ विरोधियों के अलावा सभी जवाहरसिंह के पक्ष में आ चुके थे। यदि जाट लोग खून का घूंट पीकर रह जाते तो उनकी प्रतिष्ठा बिल्कुल मिट्टी में मिल जाती।

❊ ❊ ❊

List of Members

Founder Members

Late Dr. A.L. Srivastva
Late Dr. S.P. Srivastva
Late Shri R.S. Kapur
Shri L.P. Vaisya
Late Dr. M.S. Jain
Late Rao Narayan Singh Of Masooda
Late Shri N.R. Khadgawat
Late Dr. Dasharatha Sharma
Late Shri N.N. Acharya
Late Prof. G.N. Sharma
Late Dr. R.P. Vyas

Patrons

Shri G.C.Kanungo, Managing Director, Alcobex Ltd., Jodhpur
Shri S.R. Mehta, Mehta Vanaspati Products, Chittorgarh
Shri Hemendra Singh, Banera, District Bhilwara
Dr. S.S. Bhandawat, Bhandawat Foundation, Manak Chowk, Jodhpur
Dr. Nagendra Singh, Justice, International Court Of Justice, The Hague
United Books Traders, Ratanada, Jodhpur

Life Members

The Bank Of Rajasthan(Ltd.), Jaipur
Principal, Dr. Bhimrao Ambedkar Govt. P.G. College, Nimbahera
Shri K.K. Purohit, Jodhpur
Dr. Manohar Singh Ranawat, Natnagar Sodh Sansthan, Sitamau
Professor Mananori Sato, Faculty Of Economics, Asia University, Tokyo-Iso-(Japan)
Professor D.C.Shukla,'Parijat'c-38,Krishna Nagar,Pali Road, Jodhpur
Shri Om Prakash Mohta House, 29-Srand Road, Calcutta
Shri Mullapudi Timmragugaru,Tanuka{Andhra Pradesh}
Shri Prasanna Mal Mohnot, 67, Mahaveer Nagar, Pali
Shri C.P. Mathur, E-27, Chanakya Place (I), Pankha Rad, New Delhi-110059
Shri Sajjan Singh Ranawat,Udaipur
Dr. V.K.Trivedi, 26, Shanti Nagar, Sirohi
Dr. Arvind Parihar, Dept.Of History, JNV University, Jodhpur
Dr. B.L.Upmanyu, Mahavir Colony, Housing Board Road, Beawar
Dr. Girish Nath Mathur,1 Gh 41,Gayatri Nagar, Hiran Magri, Sector-5, Udaipur

Dr. Ishwar Singh Ranawat, Research Officer,Pratapsodh Pratisthan,Udaipur
Dr. J.K.Ojha,Near Post Office, Kanore, Udaipur
Dr. M.R.Choudhary,Dept.Of History,JNV University, Jodhpur
Dr. Manoramaupadhyaya, 128, Nehru Park, E Road, Sardarpura, Jodhpur
Prof. Meena Gaur,19-Gokul Nagar, Near Bohra Ganesh Temple, Udaipur
Dr.Mohabat Singh Rathore, Research Office,Pratap Sodh Pratisthan, Udaipur
Dr. Mrs. Shashi Arora, B-9, Flat No. 403, Saumya Enclave, Dhurva Marg, Tilak Nagar, Jaipur
Dr. N.K. Upadhayay, Lecturer In History, Govt. College Ajmer, Ajmer
Dr. Pramila Singhvi, Pranjal, Sector 3, Hiran Margi, Udaipur
Dr. S.C. Agarwal, E-108, Shastri Nagar, Ajmer
Prof. S.K. Purohit, Behind Bannath Temple, Sukhanand ki Bagechi, Siwanchi Gate, Jodhpur
Prof. S.P.Vyas, Asop ki Pole, Near Juni Mandi, Jodhpur
Dr. S.S. Bais, C-217, Krishna Nagar, Pali Road,Jodhpur
Prof. Vinita Parihar, B-16, Shatri Nagar, Jodhpur
Dr. Mrs. Digvijay Bhatnagar, E 27, University Qtrs., Durga Nursury Road, Udaipur
Dr. Mrs. Usha Purohit, Lecturer In History, Mahila Mahavidyalaya, Jodhpur
Mr. C.S. Sharma, Lecturer In History, Govt. College, Sheoganj
Mr. Dinesh Rathi, Hariom Bhawan, Bada Bas, Mathania, Jodhpur
Mr. F.K. Kapil, Secretary, Jaya Kapil Poort Nyas, Pakon Ka Bas, Jodhpur
Dr. Raju Ram, V & P Rarod, Via Asop, Jodhpur
Mrs. Kamla Jain, 26, Sharda Nagar, Near Bohra Ganesh Temple, Udaipur
Mrs. Pawan Maru, C/O Manish Agency, Kala Khet, Mandsore, Mandsore (M.P.)
Mrs. Shashi Kala, C-71, Dharam Narayan Ka Hatha, Paota, Jodhpur
Prof. G.S.L. Devra, B-9, Flat No. 403, Saumya Enclave, Dhurva Marg, Tilak Nagar, Jaipur
Prof. V.K. Vashishtha, 195-B, Univrsity Marg, Bapu Nagar, Jaipur
Prof. Nilima Vashishtha, 195-B, Univrsity Marg, Bapu Nagar, Jaipur
Dr. Usha Shah, Govt. College Pali, Pali-Marwar
Dr. Shobhagya Goyal, C/O Ram Goyal, Advocate, H.M. Mohalla, Ghaseti Bazar, Ajmer
Dr.Hukum Chand Jain, 19,Basant Vihar Special, Kota
Prof. K.G. Sharma, Deptt. Of History, University Of Rajasthan, Jaipur
Mrs. Tara Jain, W/O U.C. Jain, G-34, Shastri Nagar, Jodhpur
Dr. Seema Garg, Opp. 107, Vallabhbari, Kota
Dr. Usha Vyas, 1 Gha Sabarmati Clny., Kota

Mrs. Nidhi Sharma, D-299, Ktps, Sakatpura, Kota
Mrs. Seema Gupta, A-9, Gayatri Vihar, Police Line, Kota
Dr. Karuna Joshi, 150, Pwd Quarter, New Colony, Dungarpur
Dr. Shankar Goyal, 41, Sardar Club Scheme, Jodhpur
Dr.Anila Purohit, 'Kamla Kunj', 5th D/76, Hudgo, J.N.Vyas Colony, Bikaner
Dr. Meghna Sharma Paliwal, Asst.Prof. Deptt. Of History, Maharaja Ganga Singh University, Bikaner
Dr. Neelam Sharma, Near Water Works, Old City, Kishangarh
Dr. Satish Kumar Trigunayat, B 48 A, Jawahar Nagar, Bharatpur
Dr. Pushpa Dullar, 52- Arvind Niwas, Banasthali Vidyapeeth, Basasthali
Ms. Urmila Parihar D/O Shri Mool Chand, Behind Adarsh Vidya Mandir, Sheoganj, Sirohi
Dr. Alok Kumar Gupta, Lecturer In History, R-398, Padam Vilas, Bharatpur-321001
Dr. Sharda Sharma, E-47, Khaturia Colony, Bikaner
Dr. Meenakshi Sharma, Shri Ram Swaroop Bohra, 12- Inder Nagar, Sunderwas, Udaipur
Ms Iti Mograkaran Singh Mogra, C/O Phool Chand Mehta, 382/B, Ashok Nagar, Moksh Marg, Udaipur
Dr. Neelam Gaur, Near Govt. Hospital, Von Girls College, Hanumangarh Town
Dr. Anita Kavdia, 202, Kutumb, 17-C, Madhuban, Udaipur
Ms Pratibha, A-342, Chandvardai Nagar, Ajmer
Dr.(Mrs.) Nirmal Kashyap, House No. 30, Type III, MD university, Rohtak
Dr. Sushila Shaktawat, 21 Ghati magri, Penariyon ki Madri, Holi Chowk, Udaipur
Avinash Parek, Savitri Villa, Kishan Hostel, Sardarsaher, Churu
Dr. Aashish Chouhan, Aashish Sadan, Godon Ka Chowk, Jodhpur
Ms Shikha Choudhary Charan Singh Girls Hostel, Tilak Nagar, Bikaner
Dr. Anju Suthar, 3/46, New Officer's Colony, Opp. Police Line, Barmer
Mahendra Chudhary, Stadium Road, Nehru Nagar, Barmer
G.S. Gupta, 4/267,Malviya Nagar, Jaipur-302017
Dr. Dinesh Bhargava, R-399,Padam Villa, 1 G.P. Office, Bharatpur-321001
Sowrabh Sharma, 8-Bapuji Marg, opp.State Motor Garge, 22-Gogam, Jaipur
Kailash Songara, 2 Sa 35, UIT Colony, Pratap Nagar, Jodhpur
Om Prakash Bhati, D-137, Kirti Nagar, P.Mandore Mandi, Jodhpur

Dr. Aruna Soni, 'Aashirwad', Near Ladnun Bus Stand, Naya Bas, Sujangarh
Dr.Mukesh Harsha, Harsho ka Chowk, Bikaner
Dr. Mahendra Purohit, Joshiwada, Bikaner
Dr. V.N. Singh, South Extn. Pawanpuri, Bikaner
Rajshekhar Purohit,3/18, Mukta Prasad Nagar, Bikaner
Dr. Jagdish Narayan Ojha, Barah Guward Ka Chowk, Nahtaniyo ki Saray Ke Pas, Bikaner
Mrs. Champa Agarwal, Sona Devi Sethia Girls' College, Sujangarh
Dr. Prabhat Swami, N.M.P.G. College, Hanumangarh
Gyarsi Swami, Vill.Tedi via Jaswantgarh, T.Ladanun, Nagaur
Ms. Nayna Acharya, 72-Amarnath Bhawan, opp. M.G. Hospital, Jodhpur
Mrs. Sonal Purohit, C/o Sunil Bora, Near Tapi Baori, Nathawaton Ki Gali, Jodhpur
Dr. Nidhi Srivastava, Sona Devi Sethia Girls' College, Sujangarh
Dr. Vikram Singh Gundoj, 160, Teacher's Colony, Chopasani, Jodhpur
Mrs. Santosh Vyas, Principal, Sona Devi Sethia Girls' College, Sujangarh
Ms. Asha Bhargava, Vice-Principal, Sona Devi Sethia Girls' College, Sujangarh
Dr. Anju Jain, w/o Jatan Kumar Jain, Mertawari, Nagaur
Mrs. Darshana Joshi, Rai Bahadur Gali, Daga Chowk, Bikaner
Dr. Pradeep Singh Rathore, Govt. College Dhorimanna, Barmer
Ms Rashami Meena, Asst. Prof.,Department of History, JNV University, Jodhpur
Nand Kishore Bhutra, Jaiselmerion ki Gali, Navchowkiya, Jodhpur
Dr. T.V.Vyas, Nathawaton ki Bari, Near Nyon-ka-Bar, Navchowkiya, Jodhpur
Dr. O.N. Singh, Purohiton ka Bas, Samdari Rly. Station,-344021
Sh. K.R. Choudhary, Kolari Mohalla, Navchokiya, Jodhpur
Dr. Deepa Kaushik, D-5, Mota Campus, Pilani Road, Rajgarh, Churu
Dr. Anil Purohit, 21/143, Chopasni Housing Board, Jodhpur
Dr. Sadhna Meghwal, W/o Dr. B.R. Meghwal, IPS, JH-7, Bhaghat ki Kothi Extn. Scheme, Jodhpur
Dr. Sajjan Poswal, 97-A, Gali No. 3, Krishna Nagar, Bajrang Nagar, Kota
Vijesh Gandhi, Foz-ka-Bada, Dungarpur-314001
Ms Anuradha Srivastava, Govt. Girls College Pali, Pali
Rajni Sharma, C-211, Gautam Marg, Hanuman Nagar, Jaipur
Dr. Pushpa Sharma, 1262/12, Near Durga Temple, Shastri Nagar, Krukhshetra
Dr. Ramji Lal Kohli, Aman Vihar, Behind Gas Godam, Dausa

Dr. Sunita Mehta, C/o Rakesh Mehta, C-3, Sir Pratap Colony, 5-Batti Circle, Ratanada, Jodhpur

Ms Nirmala Meena, 64, Prem Nagar, Jagatpura, Jaipur

Savita Choudhary

Reenu Meena, 85, Bhagwati Nagar 1st ,Kartarpura, Jaipur

Dr. Preeti Sharma, 4, Vivekanand Niwas, Banasthali Vidyapeeth, Banasthali

Dr. Sulekha Shekhawat, opp. Khuchaman College, 13 Venkatesh Nagar, Kuchaman City

Dr. Neekee Chaturvedi, 3-Da-14, Jawahar Nagar, Jaipur-302004

Dr. Manju Gupta, 24/59, Swarn Path, Mansarowar, Jaipur

Dr.(Mrs.) Vibha Upadhayaya, B-38, Prabhu Marg, Tilak Nagar, Jaipur-04

Mrs. Bindu Tiwari, Deptt. Of History, SD Govt. College, Beawar

Dr. D.P. Goswami, 131, Shastri Nagar, Beawar Road, Ajmer

Mrs. Minakshi Deviratam, 2, Virendra Nagar, Near Mandore, Jodhpur

Dr. Ravindra Tailor, 79-B, Munot Nagar, Out Side Nehru Gate, Beawar

Virendra Sharma, 54-A, Jawahar Nagar, Near Glass Factory, Tonk Road, Jaipur

Dr. Anita Surana, D-19-B, Meera Marg, Bani Park, Jaipur-302016

Dr. Anuradha Mathur, H-619, Shalimar, Tijara Road, Alwar

Dr. Smita Mishra, 284- Arya Nagar, Scheme No.1, Alwar-301001

Dr. Rakesh Kumar Sharma, E-327, Ambedkar Nagar, Alwar-301001

Dr. Satyendra Sharma, H-30, Shastri Nagar, Meerut City(U.P.)

Mrs. Meera Ambesh, D-79, Hasan Khan Mewat Nagar, Alwar-301001

Dr. Tafique Hussain, E-26, Civil Line, Shriganganagar-355001

Surendra D.Soni, Lecturer in History, C/o Prem Khandelwal, Advocate, Shiv Mandir, Naya Bas, Churu 331001

Dr. Jyotsana Vyas, Plot no. 150, Patrakar Colony, NPH Road, Jodhpur

Dr. B.N.Benjamin, 934, Faith Cottage, 9th D Road, Sardarpura, Jodhpur

Yogwati Pareek, 2243-A, Sec-3, Faridabad-121004

Dr. Alpanas Dubhashe, III, Ganga Nagar, AB Road, Dewas (M.P.)

Rajesh Panwar, C/o Ambica cosmetics, Shop No. 271, Ganpati Plaza, KEM Road, Bikaner

Sushil Kumar Moyal, Near Ramdeo Temple, Otside Jassusar Gate, Bikaner

Gopal Krishna Vyas, Near Samta Bhawan, Chabili Ghati, Bikaner

Dr. K.R. Motsara, Kamla Sadan, Sir Chotu Ram Marg, Maharaja Jhujarmal Nagar, Hanumangarh Road, Sangaria

Dr. Tamanna Singh, Kamla Sadan, Sir Chotu Ram Marg, Maharaja Jhujarmal Nagar, Hanumangarh Road, Sangaria

Dr. Shilpa Mehta, R-4, AbhayBagh, Sardarpura, Udaipur

Dr. Ambika Dhaka, H.No. 67, Bajrang Niwas, Near Durgapura Ral. Station, Jaipur

Rakesh Kumar Yadava, VPO- Sirohe, The. Khetri, Jhunjunu

Dr. Pranay Dev, 2 D 23, Housing Board Colony, Jhalawar

Sunita Sawmi, Swami Mohalla, Inside Jasussar Gate, Bikaner

Sharmila Swami, 6 B 04, JNV Colony, Bikaner

Dr. Suman Dhakha, 224, Dr. Rajendra Prasad Nagar, Near Rani Sati Nagar, 200 Feet Byepass, Ajmer Road, Jaipur

Dr. Archana Kalra, 56, Pratap Nagar Colony, Near Glass Factory, Tonk Road Jaipur

Shri Harphool Singh, H.No. 67, Bajrang Vihar, Near Durgapura Rly. Station, Jaipur

Dr. Rahul Tripathi, 94/4, Agarwal Farm, Mansarovar, Jaipur

Meena Bhaskar, VPO- Ghassu via Khudi Badi, Sikar

Sukharam, C/o H.R. Choudhary, 23, Lavkus Nagar 1st , Tonk Fatak, Jaipur

Dr. Kulwant Singh Shekhawat, A-17, Marudhar Vihar, Khatipura, Jaipur

Mahendra Jalwaniya, 23/29, Chopasani Housing Board, Jodhpur

Dr. Vishnu Prasad Sharma, Plot no.4, Patel Nagar, Gopalpura Byepass, Jaipur

Dr. Vidhi Sharma, 7, Janakpuri II Exetension, Imli Fhatak, Jaipur

Smt. Rekha Jorwal, ARG-40, Near Collector Residence, Alwar

Dr. Rakhi Yadav, B-2/493, Chitrakoot Scheme, Jaipur

Jayantilal Khandelwal, 634 B, Brkat Nagar, Tonk Fhatak, Jaipur

Dr. Sangeeta Sharma, B-141, Kirti Nagar, Near Gopalpura Byepass, Jaipur

Dr. Anuradha Rathore, A-5, Shastri Nagar, Opp. SBI, Jaipur

Rajesh Arya, Plot no.-147, Shripuram Colony, Gurjar ki Thadi, New Sanganer Road, Jaipur

Dr. Alok Kumar Chaturvedi, 82/139, Near Giri Marg, Mansarovar, Jaipur

Dr. Gyaneshwar Meena, Ganesh Colony, Udai Mode, Gangapur City, Swaimadhopur-322201

Rajeshwari Devi Rathore, HH's Flat No. 5, C Scheme, Tilak Marg, Jaipur

Mrs. Sarika Kaul,408, Ground Floor Lane No. 2 Raja Park, Jaipur - 302004

Dr. Ankan Garg, 41/6 Near Varun Parth, Mansarovar, Jaipur - 302020

Dr. Geeta Singh, 44, Vardhaman Nagar-B, 200 Feet Byepass, Ajmer Road, Jaipur

Ms Twinkle Sharma, Lecturer History, Govt. Lohiya College,

Dr. Kalpana Sharma, 2 CH 14, Sector 5, Shanti Nagar, Hiran Magri, Udaipur
Kamal Singh Kothari, Kothari Sadan, Chacha Nehru Marg, Behind The Fort, Churu-331001
Dr. Tarun Pratap Yadav, 307, Pragati Nagar, Nagla Battu Road, Meerut
Dr. Amrita Choudhary, E-205, Shiv Park, Amba Bari, Jaipur
Dr. Jeewan Singh Kharakwal, 18, Prem Nagar, C Block, Near Arihant Vatike, Roop Sagar Road, Udaipur
Rahul Pareek, Ward No.13, Cheta Kheri, Chhapar, Churu
Dr. Madan Lal Meena, Bagwala Kuwan, P.Hasampur, T.Neem-ka-Thana, Sikar
Dr. Vineet Godhal, Agrasena Colony, Opp. BPRV Mandir, Near Power House, Delhi Darwaja, Kotputli, Jaipur
Bhagwan Singh Sekhawat, 70-71 Shiv Shakti Nagar, Out Side Mahamandir 3rd Pole, Paota, Jodhpur
Bhawani Singh Rajpurohit, In Side Siwanchi Gate, Jodhpur
Dr. Suresh Kumar Choudhary, A-4, Krishna Nagar, New Pali Road, Jodhpur
Bharat Deora, III /B, Sector-2, University Staff Colony, Residency Road, Jodhpur
Lalit Kumar Panwar, III/F-19, Sector-2, University Staff Colony, Residency Road, Jodhpur
Dr. Peeyus Bhadviya, D-16, Adarsh Nagar, University Road, Udaipur
Dr. Harish Chandra, 311, Ashapurna Valley, Near New High Court, Pali Road, Jodhpur
Dr.T.C.Bairawa, 22 Mahaveer Nagar II, Durgapura, Jaipur
Dr. Archna Dwivedi, 2 D 23, Housing Board Colony, Jhalawar
Dr. Kalpana Malik, Sector - 4, Dwarka, New Delhi, New Delhi-110075
Shri Pankaj Chandak,Opp. Soni Building,Nehru Nagar, Barmer
Dr. Pooran Lal Meena,18-C, Pocket- B,Ashok Vihar II,Delhi-110052
Dr.Mamta Yadav,Plot No. A-58-59,Nandpuri Colony, 22 Godown,Hawa Sarak,Jaipur
Dr. Jagruti Upadhayaya,128, Madhukunj,Behind Nehrupark,Sardarpura E Road,Jodhpur
Shri Nitin Goyal,17-C Block, Near Muthagujari School,Rai Singh Nagar,Sriganganagar-335051
Ms Kusum Rathore,76/II/I, Dak Bangalow Campaus,Sirohi
Shri Achala Ram Choudhary,Vill & P. Luni Nadi Dudho,T. Dhorimanna, Disst. Barmer
Dr.Manisha Parmar, 304 'A', Devnandan House, Near Nagar Palika Office, Chandkheda, Ahmedabad-382424

Shri Aidan Singh,310, Kesariya Ji Nagar, Falna-306116
Dr. Shilpi Gupta,702, ramanujan Niwas,Banasthali Vidyapeeth, Banasthali-304022
Dr. N.S. Rao, Department of History, MGSU, Bikaner
Dr. Manjulata Parihar, 2A, Gayatri Nagar, Prabhat Niketan Street, Badgaon, Udaipur
Dr. Balberer Choudhary, 31-32, Vakil Colony, Paota 'C' Road, Behind RTO, Jodhpur
Dr. Sandeep Prajapat, D-188, Saraswati Nagar, Basni-I, Jodhpur
Dr. Sanjeev Kumar, VPP Bakara, Dostt. Jhunjhunun-333001
Dr. Etee Bahadur, B-22, Dukadev Vihar, New Delhi-25
Dr. Hemendra Choudhary, 17-18, Madar Colony, Kalka Mata Road, Udaipur
Pramod Kumar, Village Bhagwan, Ward No. 1, T. Nohar, Hanumangarh
Dr. Rajesh Kumar, Director JP&L, ICHR, 35 Ferozeshah Road, New Delhi
Dr. Suresh Kumar Sandu, Govt. girls College, Ajmer
Dr. Rajendra Singh, Deptt of History, IASE, Deemed to be Universtiy, Sardarsahar
Dr.Mahesh Kumar, 11/MB/488, Indira Gandhi Nagar, Jagatpura, Jaipur
Dr. Somesh Kumar Singh, 35-36, Zadin Nagar-B, Durga pura, Jaipur
Dr. Yashveer Singh,Near Satyam Dharam Kanta, Old Jhajjar Road, Charhi Dadri-127306
Dr. Kanchan Lawaniya, CAS, Department of History, AMU, Aligarh
Dr. Pankaj Gaur, 9 V I T Quarter, Pratap Nagar, Mayo Link Rooad, Ajmer
Mrs. Praveen Choudhary, 170, Krishna Mandir, 2nd Street, Bhagat ki Kothi, Jodhpur
Dr. Sammer Vyas, C-15, Staff Quarter, VBRIPG College, Udaipur
Gajendra Singh Rajpurohit, 202,Sri Achaleshwar Market, Opp. JNVU Old Campus, Jodhpur
Ms Vandana Choudhary, 4E-483, Jai Narain Vyas Colony, Bikaner
Mahendra Singh Rathore, V&P Janadeshar, Tehsil Luni, Jodhpur
Dilip Kumar, Meghwalon ka Bas, V&P Tinwari, Tehsil Tenwari, Jodhpur
Shiv Ratan Singh Yadav,VPO Jhonakha (Khurd), Neemarana, Alwar
Veer Singh, Village Tabniyar, Post Fogera, Tehsil Gadra Road, Barmer
Dr. Snageeta Gupta, 69, Shri Akanksha LIC Colony, Vaishali Nagar, Ajmer
Mahendra Singh Rao, Subhash Nagar, Gali No. 7, Neasr Aashapura Sweets, Sheoganj, Sirohi
Dr. Shobha Singh, 5, Asha Vihar, Opp. Tagore Nagar, Ajmer Road, Jaipur
Devendra Kulhar, Research Scholar, Department of History, JNVU, Jodhpur

Dr. Tamegh Panwar, Deptt. History, UOR, Jaipur
Harilal Balai, V. Etawa, P. Ganhuli, T. Kotadi, Bhilwara
Vatsal Gurjar,S/o Phool Singh Gurjar, 12 Tilak Nagar, Khanpur Mega Highway, Jhalawar-326001
Saurav Layek,Taliganj Colony, P.O.Dishergarh, West Burdwan (W.B.)
Moola Ram, Department of History & Culture, SPUP, Jodhpur
Dr. Pratibha Sankhala, Department of History, JNV University, Jodhpur
Jigyasa Meena, L4-C, University of Rajasthan Campus, Near Jhalana Road, Jaipur-302004
Vagta Ram Choudhary, V.Akawa, P.Taliyana, T. Sayla, Jalore
Dr. Persis Latika Dass, "Persis Lodge", 11 Domes Compound, Jaipur Road, Ajmer
Prem Pal Yadav, Deptt. Of History, Government P. G. College, Behror, Alwar

Annual Members

Mola Ram, V & P beru, T. Jodhpur, Jodhpur
Shipra Choudhary, Commandent Residence, CRPF RTC Jodhpur, Palri Khichiyan, Jodhpur
Deepak Solanki, Room No. 249 Ex, Brahmagupra Hostel, JNU, Delhi
Ravina Meena, A - 362, Kardhani Yojna, Kalwar Road, Jhotwada, Jaipur
Radha Devi, Village Sirla, PO Bhaga, T & D. Reasi, Jammu & Kashmir
Ms Nisha Bhardwaj, House No. 119, Sector - 1, H.U.D.A., Rohtak, Haryana - 124001
Ms Marzeena Bano, D/o Mohammad Iliyas, Near Ishakiya School, Kabutaron ka Chowk, Jodhpur
Ms Nigar Khanam, K -120, Gayatri Nagar, Chandna Bhakhar, Devi Road, Jodhpur
Ms Fhirdosh Bano, K - 102, Near Silawaton ki Masjid, Sharmikpura, Masuriya, Jodhpur
Kavita Kumari, Gyasi Ram House-225, Danni Mohalla, village Jonapur, New Delhi-110047
Jitendra, Gyasi Ram House-225, Danni Mohalla, village Jonapur, New Delhi-110047
Mamta Rani, E-4, Police Line, Sriganganagar
Soniya Sharma, Lal Bagh, Jodhpur
Dr. Phool Singh Sahariya, E-195, Ambedkar Nagar, Alwar
Swati Kulshrestha, Deptt. Of History, AMU, Aligarh
Rajpal Singh Yadav, BTTC College, Sardarsahar

Dr. (Mrs.) Sumit, Maharaja Mansingh pustak Prakash Sodh Kendra, Mehrangarh Fort, Jodhpur
Dr. Narayan Lal Mali, Brahamani Mata Mandir, VPO Bagore, Bhilwara
Dr. Indra Vishnoi, 25, Civil Lines, Bikaner
Dr. Rajendra Kumar Purohit, 5-D-76, (Hudo), JNV Colony, Bikaner
Dr. Mohammad Farooq Chouhan, Jagman Well Road, Kasaiyon ka Bas, Bikaner
Dr. Rajkumar Mali, Basic Teachers Traning College, GVM, Sardarsahar
Ganpat Ram, Deptt. Of History, JNV University, Jodhpur
Dr. Mayank Gupta, Hanuman Mandir Gali, Jail Well Bikaner
Shyam Sunder Thenuan, Indira Colony, Bikaner
Om Prakash, Jhalamand, Jodhpur
Kumar Gaurav, C/o Ambedkar Bhawan, IASE, Deemed to be University, Sardarsahar
Ms Mayuri Singhal, 145, Milap Nagar, Tonk Road, Jaipur
Sunita Gupta, 145, Milap Nagar, Tonk Road, Jaipur
Pooja Charan, Kesari Nandan Apartment, Flat No. FI, Near Vaishali Nagar Police Station, Vaishali Marg, Jaipur
Mahendra Somarwal, Research Scholar, Deptt. Of History, JNVU, Jodhpur
Pinal Jain, Government College, Mavli, Udaipur
Ajay Mochi, Deptt. Of History, MLSU, Udaipur
Sharwan Kumar Khichar, SBD Government College, Saradarsahar, Churu
G.S. Rathore, IASE, Demmed to be University, GVM, Sardarsahar, Churu
Raj Kumar Lata, E - 163, Agrasen Nagar, Churu
Dr. Krishna Lal Nai, IASE, Demmed to be University, GVM, Sardarsahar, Churu
Rajshree Shekhawat, Research Scholar, Department of History, IIS University, Jaipur
Lal Chand Meena, Neem Ka Thana, Sikar
Usha Lamlor, P - 27, Gaudlsi Nagar, Bikaner
Richa Choudhary, L - 15 - A, Railway Colony, Sikar
Dr. Lata Agrawal, SPC Government College, Ajmer
Himanshu,
Dr. Sunil Kumar, IASE, Demmed to be University, GVM, Sardarsahar, Churu
Shv Kumar Vyas, D - 184, MDVN, Bikaner
Dr. Arvind Srivastava, Head, Faculty of Education, IASE, Demmed to be University, GVM, Sardarsahar, Churu
Dr. Neeraj Sahai, M -71, Sector 25, Noida
Om Prakash Singh, M -71, Sector 25, Noida

Rajshree Dhali, M -71, Sector 25, Noida

Surajbhan Bhardwaj, M -71, Sector 25, Noida

Dr. Mayank Kumar, Delhi

Ekta, Room No. 7, Indra Bhawan, GVM, Saradarshara

Lalita, Krishna Tower, Tantiya Well, Sardarsahar

Prateek, CHS, JNU, Delhi

Dr. Ramma Sharma, BTTC, IASE, Demmed to be University, GVM, Sardarsahar, Churu

Dr. Mahender Kumar Khardiya, VPO Jaleu, The. Ratngarh, Churu

G.D. Gulati, 117, Sansad Vihar, Delhi

Dr. Vikas Panwar, Department of History, MD University, Rohtak

Dr. Monika, Department of History, MD University, Rohtak

Dr. Uma, IASE, Demmed to be University, GVM, Sardarsahar, Churu

Dr. Alpana Sharma, IASE, Demmed to be University, GVM, Sardarsahar, Churu

Dr. Bindu Bhasin, D - 1-14, Vallabh Garden, Bikaner

Dr. Prerna Maheshwari, Y - 191, Sudarshan Nagar, Bikaner

Rachana Soni, Pallu, Hanumangarh,

Dr. Dharmraj Shivaji, Sardarshar

Dr. Rohitesh Kumar, SNMT Girls College, Jhunjunu

Dr. Kanehan Sharma, IASE, Demmed to be University, GVM, Sardarsahar, Churu

Akash Jhanjak, IASE, Demmed to be University, GVM, Sardarsahar, Churu

Aruna Jangid, IASE, Demmed to be University, GVM, Sardarsahar, Churu

Pooja Choudhary, IASE, Demmed to be University, GVM, Sardarsahar, Churu

Ravikant, IASE, Demmed to be University, GVM, Sardarsahar, Churu

Ramchandar Bawariya, IASE, Demmed to be University, GVM, Sardarsahar, Churu

Sunita Saini, IASE, Demmed to be University, GVM, Sardarsahar, Churu

Kuldeep Charan, IASE, Demmed to be University, GVM, Sardarsahar, Churu

Manishah Chahar, IASE, Demmed to be University, GVM, Sardarsahar, Churu

Anita, IASE, Demmed to be University, GVM, Sardarsahar, Churu

Monika Sharma, IASE, Demmed to be University, GVM, Sardarsahar, Churu

Priyanka Sharma, IASE, Demmed to be University, GVM, Sardarsahar, Churu

Hemlata Sharma, IASE, Demmed to be University, GVM, Sardarsahar, Churu

Sunita, IASE, Demmed to be University, GVM, Sardarsahar, Churu

Sahib Ram, IASE, Demmed to be University, GVM, Sardarsahar, Churu

Dr. Kalpana Maurya, IASE, Demmed to be University, GVM, Sardarsahar, Churu

Dr. Pratibha Sakhala, Deptt. Of History, JNVU, Jodhpur

Dr. Kanika Bhanot, Bikaner

Prof. K.Rajlakshmi, FHSS, IASE, Demmed to be University, GVM, Sardarsahar, Churu

Ekta, Research Scholar, Deptt. Of History, JNVU, Jodhpur

Kamna Singh, Bikaner

Nidhi Soni, Sardarsahar

Prof. K.S.Gupta, 23, Ravindra Nagar, Padmini Marg, Udaipur

Dr. Ritika Meena, D - 9/62, Chitrakoot Yojna, Ajmer Road, Jaipur

PArmila Devi, JVMGRR College, Chakri Dadri, Haryana

Narendra Parmar, JVMGRR College, Chakri dadri, Haryana

Tarsem, JVMGRR College, Chakri dadri, Haryana

Rajkumari, BTTC, IASE, Demmed to be University, GVM, Sardarsahar, Churu

Suman, BTTC, IASE, Demmed to be University, GVM, Sardarsahar, Churu

Punita, BTTC, IASE, Demmed to be University, GVM, Sardarsahar, Churu

Kulraj Vyas, IASE, Demmed to be University, GVM, Sardarsahar, Churu

Sandeep Kumar , IASE, Demmed to be University, GVM, Sardarsahar, Churu

Dr. Digvijay Singh, , IASE, Demmed to be University, GVM, Sardarsahar, Churu

RAJASTHAN HISTORY CONGRESS

Receipts and Payments A/c

For the period 01 April to 31st March 2020

Receipts		AMOUNT	Payments	AMOUNT
To Opening Balance		291,769.84	By Paid to ICHR	250,000.00
Bank Account	291,769.84		By Postage Exp.	1,410.00
Cash Account	-		By Printing Exp.	104,093.00
To Funds		10,000.00	By Photocopy Exp.	1,180.00
To Proceding Grant		48,000.00	By Accounting Exp.	14,000.00
To Proceding Sales		2,944.00	By Bank Charges	69.40
To Life Member Ship Fund		30,000.00	By Prize Paper	2,600.00
To Annual Membership		27,750.00	By Balance C/d	
To Bank Interest		12,654.00	Bank Account	298,015.44
To Rec. From ICHR		250,000.00	Cash Account	1,750.00
		673,117.84		673,117.84

Income & Expenditure A/c

For the Year ending 31st March 2020

EXPENDITURE	AMOUNT	INCOME	AMOUNT
To Procedding Exp.	98,680.00	By Annual Membership	27,750.00
To Accounting Exp.	14,000.00	By Interest on Saving A/c	12,654.00
To Postage Exp.	1,410.00	By Life Membership	
To Bank Charges	69.40	By Proceeding Sales	2,944.00
To Advertisment Exp.	6,593.00	By Proceeding Grant	60,000.00
		By Exp. Over Income	17,404.40
	120,752.40		120,752.40

Balance Sheet as on 31st March 2020

LIABILITIES		AMOUNT	ASSETS	AMOUNT
CAPITAL FUND:-			Current Assets	
Capital Fund	244,369.84		Proceeding grant Receivable	12,000.00
Less- Exp. Over Income	(17,404.00)	226,965.84	Cash & Bank Balance	
Prize Paper Fund		14,800.00	Bank A/c	298,015.44
Life Membership Fee		70,000.00	Cash	1,750.00
		311,765.84		311,765.44

Place:- Jodhpur
Date:- 22/08/2021

Checked and Found Inconformity with the Books of Accounts and Records Produced Before Us.

For:-Rajasthan History Congress
Secretary/

For:-VIJAY SINGH
C.A. Vija
Proprietor
M.NO 418049

OBITUARY

We, the all members of Rajasthan History Congress express our heartfelt condolences and pay tribute to the eminent historians who are no more with us. The world of historians will be always highly indebted for their contribution and will forever remember their guidance. We express our grief for the departed souls of: -

Prof. M.C. Joshi

Prof. S. K. Purohit

Prof. N.K. Sharma

Prof. Manohar Singh Ranawat

Dr. Jibraiel

All Members
Rajasthan History Congress